जी० नी० जथार तथा के० जी० जथार

भारतीय अर्थशास्त्र

अंग्रेजी पुस्तक Indian Economics का अनुवाद

प्रस्तुतकर्ता

डी० एस० कुशवाहा

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

भूमिका

स्वतन्त्रता के बाद के दस वर्षों में आर्थिक क्षेत्र में इतनी अधिक उथल पुथल हुई है कि इसे उन्माद के वर्ष कहा जा सकता है। इस राष्ट्रीय उथल पुथल के बाद आज आर्थिक क्षेत्र का जो दृश्य है, इस पुस्तक में उसी का चित्रण करने का प्रयत्न किया गया है। इन लगभग छ सौ पृष्ठों में देश की अर्थ-व्यवस्था के महत्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि मुख्यत यह पुस्तक विश्वविद्यालयों के छात्रों के लिए लिखी गई है, हमें आशा है कि राजनीतिज्ञ, प्रचारक और अन्य पाठक भी इसे दिलचस्पी से पढ़ेंगे।

प्रसिद्ध भूगोल शास्त्री प्रो० ओ० एच० के० स्पेट ने कहा है "जुगाली करने वाले पशुओं में भारतीय मामलों पर लिखने वालों का एक विशेष वर्ग है। इनमें से कुछ को छोड़कर, सभी साम्राज्यीय आयोगों, प्रशुल्क जाँच और गजेटीयरों के चारे की जुगाली करते रहते हैं। इस चारे में चाहे कितना ही पौष्टिक तत्त्व हो, वह धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।"[1] हम इस मीठी भर्त्सना को स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि हम जुगाली करने वाले इस वर्ग मे शामिल हैं। पिछले कुछ वर्षों मे इस विषय पर बहुत सा सरकारी और अर्ध-सरकारी साहित्य प्रकाशित हुआ है और हमने उसे सारा का-सारा नहीं तो उसके अधिक महत्त्वपूर्ण अंश का प्रयोग करने की चेष्टा की है।

लेखक आकाशवाणी के धारवाड केन्द्र के श्री एस० पी० खेर, बी० काम० के प्रति कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अध्याय १७ १८ और २० २२ पर काम किया है। अध्याय १७ और १८ लगभग उसी रूप में हैं जिस रूप में उन्होंने लिखे हैं।

जी० बी० जथार
के० जी० जथार

पूना, १९५७

१ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान ए जनरल एण्ड रीजनल ज्याग्रफी १९५४।

परिशिष्ट

लागू नही हो सकते थे, क्योंकि वे ऐसी मान्यताओ पर आधारित थे जिनका भारतीय आर्थिक जीवन की वास्तविकता से कोई मेल न था ।

१८९२ में डकन कालिज पूना में रानाडे द्वारा दिया गया प्रसिद्ध भाषण मूलत इन दोना विचारों पर आधारित था । साठ वर्ष से कुछ अधिक समय बीत जाने के बाद यह आशा तो की जा सकती है कि उनके तर्क का बल और सत्यता कुछ कम हो गई हो, लेकिन भारतीय विचारधारा के विकास में एक नये ढग के योगदान की दृष्टि से उनकी व्याख्या अब भी गम्भीर रूप से विचारणीय तथा श्रद्धा और सावधानी-सहित अध्ययन का विषय है ।

§२ रानाडे के विचारों का सक्षेप—ऊपर निर्देश किये गए भाषण में रानाडे द्वारा प्रस्तुत विचारो का साराश निम्नलिखित है—

सापेक्षिकता (लॉ आफ़ रिलेटिविटी) का नियम अर्थशास्त्र के सम्बन्ध मे उसी प्रकार लागू होना चाहिए जिस प्रकार वह सामान्यत राजनीति या अन्य सामाजिक विज्ञानों पर लागू होता है । जातीय (एथ्निकल), सामाजिक, न्यायिक (जूरिस्टिक), नैतिक तथा आर्थिक परिवेशगत विभिन्नताएँ अवश्य ही आर्थिक सिद्धान्तो के व्यावहारिक प्रयोग में सशोधन प्रस्तुत करेंगी ।

आर्थिक नीति-सम्बन्धी निर्णयों पर पहुँचने के पूर्व विचारणीय बातें म स्थिति, जलवायु, भूमि, विधान सस्थाएँ, पूर्व-इतिहास, राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ, आवश्यकताएँ, आदतें और रीति रिवाज भी हैं । जसा कि जे० एस० मिल ने कहा है—सम्भवत कोई भी व्यावहारिक प्रश्न ऐसा नही होता जिसका निर्णय आर्थिक सीमाओं के अन्दर ही दिया जा सके । अनेक आर्थिक प्रश्नो के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक एव नैतिक पहलू होते हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । अर्थशास्त्र की सामान्य मान्यताएँ निम्न हैं—

१ राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मुख्यत वैयक्तिक है जिसका अलग से कोई सामूहिक पहलू नही है ।

२ व्यक्तियो की निर्बाध और असीम प्रतिस्पर्धा ही सामाजिक जीवन की स्वाभाविक एवं सुरक्षापूर्ण नियामक है ।

३ राजकीय एव प्रथा द्वारा लागू नियमन सभी स्वाभाविक स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करते हैं ।

ये मान्यताएँ शाब्दिक अर्थ में किसी भी वर्तमान समाज के लिए सच नहीं हैं । जहाँ कही ये मुख्यत सत्य भी हैं वे समुदाय की स्थैतिक अर्थ-व्यवस्था की द्योतक हैं, उनसे गत्यात्मक प्रगति अथवा विकास के लिए कोई सुझाव नही मिलता । भारत के लिए तो निश्चय ही ऐसी मान्यताएँ भ्रामक हैं, और यदि उनके आधार पर प्राप्त निष्कर्षों को भारतीय आर्थिक समस्याओ को सुलझाने में लागू किया जायगा तो देश का भारी अहित होना आवश्यम्भावी है । स्वतन्त्र व्यापार इगलण्ड के लिए ठीक हो सकता है, किन्तु भारत के लिए सरक्षण-नीति आवश्यक है । तथाकथित प्रादेशिक श्रमविभाजन की पद्धति के नाम पर प्राचीन अर्थशास्त्री तो इस बात को उचित मानते

है कि भारत जसे देश सदैव कच्चे माल के उत्पादक रहे तथा परिवहन, निर्मित वस्तुएँ और अन्य तृतीय कोटि (अर्थात् कृषि और उद्योग को छोडकर) के पर्श शीतोष्ण कटि बन्ध के विकसित देशों के लिए छोड दें। इन और अन्य विषयों में रानाडे ने यूरोपीय ऐतिहासिक विचार धारा, जिसे वे अधिक विकसित समझते थे और जो प्राचीन आर्थिक सिद्धान्तों के सार्वभौमिकता और शाश्वतत्व' (युनिवर्सलिज्म एण्ड परपैच्वलिज्म) को अवैज्ञानिक एवं असत्य मानती थी से पथ प्रदर्शन प्राप्त करना अधिक अच्छा समझा।

रानाडे का आक्रमण प्रत्यक्ष रूप से पुरातनवादी अर्थशास्त्र के नियमों पर था, जिन्हें सरकार भारत में अपनी अर्थनीति के समर्थन के लिए उद्धृत किया करती थी। सरकार की औपनिवेशिक ब्रिटिश-पक्षीय नीति की ओर उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से संकेत किया और उसकी आलोचना में कि इस नीति में तर्कसम्मत होने का गुण नहीं है हलका व्यंग्य भी था। ब्रिटिश सरकार की सामान्य नीति भारत के अनुकरण के लिए इंगलण्ड को नमूने के रूप में रखने की थी। कभी-कभी उन्हें इंगलैण्ड के नमूने से विभिन्नता अपनाना भी लाभदायक प्रतीत होता था। इस प्रकार इन लोगों ने, जो ऐसे देश के थे जहाँ भूमि पर वैयक्तिक सम्पत्ति का अधिकार एकदम निरपेक्ष था इस विषय पर यहाँ समाजवादी सिद्धान्तों का विकास किया। इंगलण्ड में जमींदारों को कोई कर नहीं देना पड़ता था। किन्तु भारत में लगान को अनर्जित आय बताकर सम्पूर्ण भूमि पर कर लगाया जाता था। हैसियत और विशेषाधिकार अंग्रेजी समाज व्यवस्था की नींव थे और मध्यवर्ग इंगलण्ड की महानता का मेरुदण्ड माना जाता था। परन्तु भारत में कर देने वाले दरिद्र वर्ग और राज्य के बीच मध्यवर्ग के लिए कोई स्थान ही नहीं था।

संक्षेप में रानाडे की आलोचना का सारांश यह है कि किसी न किसी बहाने भारत सरकार की नीति भारत को आर्थिक रूप से पिछड़ा देश बनाए रखने और भारत के हितों को शासक शक्ति इंगलण्ड के हितों के अधीन रखने की थी।

§३ आर्थिक सिद्धान्त और भारतीय अर्थशास्त्र—उनके समय से लेकर अब तक पाश्चात्य अर्थशास्त्र की सैद्धान्तिक प्रगति तथा भारतीय परिस्थितियों में हुए परिवर्तनों के कारण रानाडे के इस मत में कि (ऐतिहासिक विचार धारा के अतिरिक्त) पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्त भारत में न तो लागू ही हो सकते हैं और न उनका कोई उपयोग ही है, अब संशोधन आवश्यक है।[1]

अर्थशास्त्र अब निरपेक्ष और सार्वभौमिक अधिकार का दावा नहीं करता जिसके प्रति ऐतिहासिक विचार धारा ने विरोध प्रकट किया था। इसने सापेक्षिकता के नियम को स्वीकार कर लिया है और वस्तुतः ऐतिहासिक विचारधारा में जो कुछ भी ग्राह्य और महत्त्वपूर्ण था उसे अपना लिया है। इसका यह दावा नहीं है कि ... हुई स्थितियों में ... करना चाहिए। इस सम्बन्ध में आर्थिक सिद्धान्त स्वतः सदैव

१ हम 'पाश्चात्य' अर्थशास्त्र की चर्चा इसलिए करते हैं क्योंकि इसका विकास मुख्यतया पाश्चात्य विचारकों (जिनमें अमरीकन भी शामिल हैं) की देन है। इसके विकास में भारतीयों का दान प्राय नहीं के बराबर है।

सिन्धु-गगा का मैदान बना है, जो अत्यन्त उपजाऊ तथा विश्व के कृषि-योग्य समतल भूभागों म एक है। 'भौगोलिक दृष्टि से हिमालय तिब्बत का भी उतना ही है जितना कि भारत का, परन्तु ये नदियाँ इन पर्वतों का सब लाभ केवल भारत को ही पहुँचाती है।'[1]

प्रायद्वीपीय पठार सिन्धु-गगा के मैदान स अनेक छोटी-छोटी पर्वत-श्रेणियों द्वारा अलग है, जिनकी ऊँचाई १ ५०० से ४,००० फीट के बीच है। इनम प्रमुख अरावली विन्ध्य, सतपुडा, मकाल और अजन्ता की श्रेणियाँ हैं। इसके एक ओर १,५०० फीट की औसत ऊँचाई वाला पूर्वी घाट और दूसरी ओर ३,००० फीट की औसत ऊँचाई वाला पश्चिमी घाट है। पश्चिमी घाट की यह ऊँचाई कहीं-कहीं ६ ००० फीट तक भी है। आन्तरिक पठार चट्टानी और ऊबड खाबड है तथा इसके दक्षिण मे नीलगिरी और काडमम जैसी ४ ००० फीट ऊँची पहाडियाँ हैं। इस पठार में होकर बहने वाली नदियाँ नर्मदा और ताप्ती हैं जो अरब सागर मे गिरती हैं तथा महानदी गोदावरी कृष्णा और कावेरी हैं जो बगाल की खाडी में गिरती हैं।

हिमालय और दक्षिणी पठार के बीच सिन्धु-गगा का मैदान पूर्वी पाकिस्तान की पश्चिमी सीमा तथा पश्चिमी पाकिस्तान की पूर्वी सीमा के बीच लगभग १,५०० मील फैला है। इसम बहने वाली प्रमुख नदियाँ गगा, यमुना, गोमती घाघरा और गडक हैं। ब्रह्मपुत्र हिमालयोत्तर भाग से निकली है तथा भारत मे उसके पूर्वी छोर पर प्रवेश करती है। ब्रह्मपुत्र आसाम और पूर्वी बगाल म बहती हुई गगा के बगाल की खाडी मे गिरने से पूर्व ही उससे मिल जाती है। पूर्वी पजाब का कुछ भाग रावी, व्यास और सतलज से सींचा जाता है।

§३ जलवायु—मुख्यत भारत की जलवायु मानसूनी और उष्ण कटिबन्धीय है जिसमें स्थानीय परिवर्तन भी पाए जाते हैं। इसमें मौसमी परिवर्तन हुआ करते हैं और इन ऋतुओं का विभाजन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—(१) शीतकाल—अक्तूबर के अन्त से फरवरी के अन्त तक, (२) ग्रीष्मकाल—मार्च के आरम्भ स जून के अन्त तक और (३) वर्षाकाल—जून के अन्त से अक्तूबर के अन्त तक।

उत्तर पूर्वी मानसून के मौसम को निम्न प्रकार से उपविभाजित किया जा सकता है—(१) शीतकाल ऋतु जनवरी स फरवरी तक, (२) ग्रीष्मकाल ऋतु मार्च से जून तक। दक्षिण-पश्चिमी मानसून को निम्न प्रकार से उपविभाजित किया जा सकता है—(१) सामान्य वृष्टि-काल—जून स मध्य सितम्बर तक (२) मानसून का वापसी का समय—सितम्बर के मध्य से दिसम्बर तक। जनवरी में जो शीत का महीना है दक्षिण से उत्तर तक तापमान म पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। दिन गरम और रातें निश्चित रूप से ठण्डी होती हैं। जनवरी का औसत तापमान पजाब मे ५५° फा०, गगा की घाटी में ६०° फा० और मद्रास म प्राय ७८° फा० रहता है। अप्रैल और मई जब कि सूर्य भारत पर सीधे रूप म होता है, सबसे गर्म महीने होते

[1] केमरन मौरीसन 'ए न्यू ज्योग्रेफी ऑफ दि इण्डियन एम्पायर एण्ड सीलोन' पृ० ६७, जिसे किंग्सले डेविस ने 'दि पापुलेशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान' में पृ० ६ पर उद्धृत किया है।

हैं। पश्चिमोत्तर भारत मे मई का औसत तापमान १००° फा० से भी अधिक होता है। गंगा की घाटी में ८५° फा० होता ह और इस प्रकार जाडो में दैनिक परिवतन भी काफी मिलते ह। मानसूनी वृष्टि जून के मध्य में आरम्भ होती है। इस समय बादलो की गडगडाहट और बिजली की चमक के साथ-साथ मूसलाधार वष्टि होती है। अधिकाशत भारत के उन भागो में, जहाँ दक्षिणी पश्चिमी मानसून से वृष्टि होती है, वर्षा जून और सितम्बर मे होती है। मद्रास के तट को छोड़कर प्राय शेष भारत की ९० प्रतिशत वर्षा इसी दक्षिण पश्चिमी मानसून से होती है। उत्तर पूर्वी मानसून से केरल और मद्रास के कुछ भागो में वष्टि होती है।

भारत मे वष के कुछ निश्चित भागो मे ही वर्षा होती है, और अधिकतर मूसलाधार वृष्टि होने के कारण कितनी ही उपजाऊ भूमि पानी के साथ बह जाती हैं। देशवासियो का प्रधान पेशा कृषि है, जिसके लगभग पूणतया मानसून के अस्थिर व्यवहार पर निभर होने मे कारण देश की अथ-व्यवस्था अत्यन्त अनिश्चित रहती है।

§४ खेतिहर जमीन—भारत की कृषीय भूमि को वाष्पीकरण और वर्षा के आधार पर तीन भागो में विभाजित किया जा सकता ह। (१) ऐसे भूमि-खण्ड जहाँ वर्ष भर में वर्षा वाष्पीकरण से अधिक होती ह। इन खण्डो में घुलनशील खनिज पदाथ और जीवाश-सम्बन्धी पदार्थ बहकर नदिया द्वारा समुद्र में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार भूमि की उवरा शक्ति क्षीण हो जाती है, जब तक कि इसे अन्य साधनो द्वारा पूरा न किया जाय। इसके अन्तगत ट्रावनकोर, आसाम, पश्चिमी घाट, बगाल, बिहार तथा हिमालय के दक्षिणी ढाल के कुछ भाग हैं, (२) ऐसे भूमि-खण्ड जहाँ वष भर में वाष्पीकरण वृष्टि से अधिक होता ह। बरसात का पानी जमीन के नीचे अधिक दूर तक नही जा पाता; ऊपर तरता और वाष्पीकृत होता है और इस क्रिया में जमीन के अन्दर से घुलकर आए कितने ही खनिज पदाथ भूमि की सतह पर जमा हो जाते हैं। इस प्रकार भूमि अधिक गुणवान हो जाती है, परन्तु अत्यधिक क्षार पदाथ (नमक) जमा हो जाने पर जमीन अनुत्पादक भी हो सकती ह। इस प्रकार की भूमि राजस्थान, सौराष्ट्र और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में पाई जाती ह। (३) तीसरे प्रकार की भूमि ऐसे स्थानो में पाई जाती हैं जहाँ शुष्क और वर्षा ऋतुएँ बारी-बारी से होती हैं। इस प्रकार की मिट्टी पजाब, दक्षिण-पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मद्रास, बम्बई और मध्य भारत में पाई जाती है।

कृषि आयोग के विभाजन को स्वीकार करने पर हम कह सकते हैं कि भारत मे मुख्यत चार प्रकार की मिट्टी पाई जाती है—(१) नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी, (२) काली मिट्टी, (३) लाल मिट्टी, और (४) लाल रग लिये हुए भूरी मिट्टी, जिसे अग्रेजी मे लेटराइट कहते हैं। इनमें से पहली तीन प्रकार की मिट्टी में पोटाश और चूना तो पर्याप्त होता है, परन्तु फास्फोरस, नाइट्रोजन और हरी पत्तियो से निर्मित तत्त्व की कमी होती है। लाल रग लिये हुए भूरी मिट्टी में हरी पत्तिया से निर्मित तत्त्व (ह्यूमस) तो पर्याप्त मात्रा में होता है किन्तु अन्य रासायनिक तत्त्व नही होते। नदियो द्वारा लाई हुई मिट्टी सबसे अधिक उपजाऊ होती है तथा उस पर खेती आसानी से हो

जाय। किसी भी विकास-योजना में प्राथमिकता का क्रम निम्न होना चाहिए—(१) जहाँ बडे बडे क्षेत्र मिला दिये गए हो या निजी वन जमींदारी और जागीरदारी के उन्मूलन-स्वरूप राज्य के स्वामित्व में आ गए हो वहाँ वन प्रशासन को और दृढ करना चाहिए। (२) उन स्थानो को पुन नया बनाया जाय जिनका युद्ध के कारण आवश्यकता से अधिक शोषण हुआ हो। (३) जहाँ बडे पमाने पर भूमि-क्षरण हुआ हो वहाँ वन लगाए जायें। (४) वनों में सचार तथा साधना का विकास हो। (५) ईंधन की समस्या हल करने के लिए गाँव के वनो का विकास। (६) लकडी की पूर्ति बढाई जाय, जिसके लिए अब तक व्यवहृत न होने वाली लकडी का रासायनिक ढग से उपचार करके तथा ऋतुओ के प्रभाव से सुरक्षित करके, बनाकर प्रयोग किया जाय, तथा ऋतुओ के प्रभावो से सुरक्षित करने वाले भट्टा तथा उपचार करने वाली इकाइयों की सख्या बढ़ाई जाय।

आयोग ने राज्यो म कार्यान्वित हो रही योजनाओं के केन्द्रीभूत समन्वय की सिफारिश की है। इस समय वन सम्बन्धी खोज-काय और उनके औद्योगिक उपयोग में काफी समय का अन्तर है। एक ऐसे कार्यालय की स्थापना होनी चाहिए जोकि खोज के इन परिणामो का लिपिबद्ध करे और इस प्रकार प्रकाशित करे ताकि जनता उसे समझे और लाभ उठा सके। इन वनो की उत्पत्ति का उपयोग करने वाले उद्योगा तथा वन अनुसन्धान-सस्था (फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीचूट) के बीच उचित सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। आयोग न अखबारी कागज, बडे रेश और रेयन (एक प्रकार का नकली रशम) के निमाण हेतु लुगदी बनाने के लिए शीघ्र योजना चलाने की महत्ता पर भी जोर दिया है।

योजना आयोग द्वारा निर्धारित प्राथमिकताओ के आधार पर प्रान्तीय सरकारा ने केन्द्रीय योजनाओ के लिए निश्चित २ करोड रुपये की धन राशि के अतिरिक्त निम्न प्रकार से व्यय करन की व्यवस्था की है—वन विभाग ६२१ ३ लाख, प्रशासन २४६ ४ लाख, वन उद्योग ४६ ५ लाख, शिक्षा और प्रशिक्षण ३६ ३ लाख, अनुसन्धान १०० लाख। भूमि सरक्षण के लिए ३६ लाख रुपये, गाँवो में वृक्ष लगाने के लिए २६ लाख रुपये और सचार-साधन के लिए १०४ लाख रुपये के अतिरिक्त वन विकास योजनाओं मे सरकारी बेकार भूमि तथा निजी वनो के प्रबन्ध और विकास की व्यवस्था भी शामिल है।

खनिज ससाधन—औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक आधारभूत साधन हैं कोयला और कच्चा लोहा। ये तो भारत के पास हैं ही। परन्तु ताँबा, टिन, सीसा, जस्ता कोबाल्ट, मबणीतु (मालडिनम), टगस्टेन, गन्धक, पट्रोलियम फास्फेट, पोटाश, काला सीसा (ग्रेफाइट), एस्बेसटस इत्यादि का अभाव है। अलमोनियम, घिसन वाली धातुएँ (अब्रेसिव्स), चूने के पत्थर आदि के सम्बन्ध मे स्थिति सन्तोषजनक है। टिटेनियम, थोरियम, अभ्रक, क्रोमियम, मग्नेशियम, बैरिटीज, केनाइट और सिलिमेनाइट भी पर्याप्त मात्रा में हैं।

अभी हाल तक भारत से खनिज पदाथ केवल निर्यात के लिए निकाले जाते

थे। चूंकि शाति तथा युद्ध दोनों स्थितिया में खनिज पदार्थ आधुनिक उद्योगो का आधार हैं, क्योकि वह ऐसी सम्पत्ति हैं जो बेकार होती जाती है, अतएव इनके सम्बन्ध मे सयोजित और व्यवस्थित विकास की ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिसका आधार इनकी सुरक्षा और आर्थिक उपयोग हो। इस प्रकार की नीति मे मुख्यत निम्न बातें होगी—(१) साधनो का उचित रूप से आंकना विभिन्न खनिज निक्षेपा की उपयोगिता और विस्तार का पता लगाने के लिए व्यवस्थित खोज, (२) खदान-सम्बन्धी उचित काय जिसमे सुयोग्य प्रविधिज्ञा (टेक्नीशियन्स) को रखना, उच्चकोटि के खनिज पदार्थों की निषेधक तथा चुनी हुई खुदाई को बन्द कर देना, बेकार ढेरो से बहुमूल्य खनिज पदार्थों की पुन प्राप्ति, विभिन्न वर्ग के खनिज पदार्थों के लिए आर्थिक सीमाओ का निर्धारण करना और महत्त्वपूर्ण खनिज पदार्थों, जसे कच्चा लोहा, मगनीज, क्रोमाइट, बक्साइट के पट्टो के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार की सहमति प्राप्त करना सम्मिलित हैं, (३) गन्धक, टगस्टेन, टिन जसे महत्त्वपूर्ण खनिजो के निक्षेपो की खोज (४) निम्न श्रेणी के कच्चे खनिजो का अनुमान लगाना और उनकी विभिन्न क्रियाओ के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना, (५) निर्यात के लिए खनिज पदार्थों को आधे तयार या तैयार माल मे परिणत करना, और (६) भारतीय खान कार्यालय (इण्डियन ब्यूरो ऑफ माइन्स) को भारत तथा अन्य देशा के उद्योगा के अथशास्त्र तथा खनिज व्यापार सम्बन्धी आंकडे एकत्रित करने का अधिकार देना।

निम्न अनुच्छेदा मे अधिक महत्त्वपूर्ण खनिजों के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है।

६८ कोयला—भारत में कोयले का लगभग ८२% बिहार और पश्चिमी बगाल मे पाया जाता है। कोयला उत्पन्न करने वाले अन्य क्षेत्र मध्य प्रदेश उडीसा, हैदराबाद और आसाम मे हैं। १९३२ मे काम मे लाने योग्य कोयला २,००,००० लाख टन आंका गया था। इसमें से अच्छा कोयला ५०,००० लाख टन रहा होगा। एक हाल के सर्वेक्षण के अनुसार पत्थर के कोयले की रक्षित निधि २०,००० लाख टन है। यदि कोयला सरक्षण की विधियो उदाहरणार्थ प्रक्षालन (वाशिंग) और मिश्रण (ब्लडिंग) आदि को अपनाया जाय तो आधुनिक खुदाई के ढग से १६ ००० लाख टन कोयले की पुनर्प्राप्ति सम्भव है। पत्थर के ठोस तथा अर्द्ध ठोस कोयले (कोकिंग तथा अर्ध कोकिंग) के सम्बन्ध मे परिस्थिति असन्तोपजनक होने के कारण यह आवश्यक है कि भविष्य में १९४९ की विशेष समिति द्वारा प्रस्तावित रक्षण के उपाय कठोरतापूर्वक लागू किये जायें।

विगत ३० वर्षों म कोयले का उत्पादन प्राय दूना हो गया है। १९५४ मे इसका उत्पादन ३७० लाख टन हो गया। कोयले के प्रमुख उपभोक्ता रेलवे (३१%) और इजीनियरिंग उद्योग (१४ ६%), सूती और ऊनी कपडे की मिलें (५ ५%) हैं। धात्विक कोयले के उत्पादन का ४०% रेलवे और २१% इस्पात के उद्योग द्वारा उपभोग होता है। शेष अन्य विविध उद्योगा तथा सग्रह के काम आता है। विकसित होते हुए लोहे और इस्पात के उद्योग तथा कोयले के सरक्षण के हित म यह आवश्यक है कि धात्विक कोयले को लोहे और इस्पात के उत्पादन के प्रयोग के लिए छोडकर

बाक्साइट लगभग ३५० लाख टन होगा। उत्पादन १९४०-४४ के १५,००० टन के औसत से बढ़कर १९५१ में औसतन ६७००० टन हो गया। कुल उत्पादन के आधे से कुछ कम का प्रयोग एल्युमिनियम धातु के बनाने में होता है। योजना में निर्देशित एलुमिनियम के उत्पादन विस्तार के अनुसार इसकी मांग बढ़कर १९५५-५६ में ४५,००० टन हो जायगी। योजना में बाक्साइट के विभिन्न निक्षेपों के गुण तथा मात्रा की दृष्टि से परीक्षण की व्यवस्था है।

§१४ भ्राजांगिज (मगनेसाइट)—मैगनेसाइट के बड़े-बड़े निक्षेप सालेम (मद्रास राज्य) तथा मैसूर राज्य में हैं। सालेम के निक्षेपों की सुरक्षित मात्रा अनुमानतः ९०० लाख टन है। योजना में मगनेसाइट और क्रोमाइट के सम्बन्ध में शोध के लिए व्यवस्था है।

§१५ अभ्रक—भारत में उच्चकोटि की अभ्रक की पर्याप्त मात्रा पाई जाती है तथा भारत संसार की अभ्रक की ८०% आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अभ्रक के प्रमुख निक्षेप बिहार, राजस्थान और मद्रास में हैं। भारत के कुल उत्पादन का ६०% बिहार में होता है। उत्पादन की वर्तमान दर के अनुसार सुरक्षित मात्रा कई दशाब्दियों के लिए पर्याप्त है। विगत दस वर्षों में अभ्रक का उत्पादन दुगने से भी अधिक हो गया है और निर्यात का औसतन वार्षिक मूल्य १९४०-४७ के १०५ करोड़ रुपये से बढ़कर १९५०-५१ में ९५ करोड़ रुपये हो गया। अभ्रक का उद्योग, निर्यात के लिए खनन और विपायन (खोदने और साफ करने) तक ही सीमित है। यद्यपि उत्पादन में वृद्धि हुई है, परन्तु खुदाई की विधि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उत्पादन का अधिकांश छोटी खानों से प्राप्त होता है। व्यवस्थित खुदाई और सुयोग्य प्रबन्धकों के निरीक्षण के अभाव में काफी अपव्यय होता है। निर्यात व्यापार में अभ्रक के वर्गीकरण एवम् श्रेणीकरण का विशेष स्थान है। इस समय इसका गुण-यापन प्रधानतः अपने अपने निर्णय की बात है। इस दिशा में क्रेताओं और विक्रेताओं के मतान्तरों को कम करने के लिए भारतीय मानदण्ड संस्था (इण्डियन स्टण्डर्ड इन्स्टीटयूशन) ऐसे मान-दण्डों को तयार कर रही है जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त हो सके। अभ्रक के लिए योजना में की गई सिफारिशों में (१) बिहार और मद्रास की खानों का पुनः मान-चित्रण तथा राजस्थान में भूगर्भात्मक विस्तृत कार्य, (२) खान कार्यालय (ब्यूरो आफ़ माइन्स) तथा राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला (नेशनल फिजिकल लेबोरेटरी) द्वारा गुणों के आधार पर अभ्रक के वर्गीकरण तथा मेकेनाइट के निर्माण एवम् अभ्रक पीसने के सम्बन्ध में उपयुक्त मितव्ययी विधियों के बारे में अनुसन्धान, (३) छोटे उत्पादकों का सहकारी संगठन तथा (४) अभ्रक के लिए केन्द्रीय विपणन परिषद् की स्थापना की सम्भावनाओं की खोज सम्मिलित हैं।

§१६ चूर्ण निल्यिज (जिप्सम)—सिन्दरी में उर्वरक खाद (फर्टीलाइजर) के उद्योग की स्थापना के कारण जिप्सम की पूर्ति विशेष महत्त्वपूर्ण हो गई है। दक्षिणी भारत और राजस्थान में इसके पर्याप्त निक्षेप हैं। उत्तरी और पश्चिमी भारत के छोटे निक्षेपों की खोज करना भी आवश्यक है। ६७० लाख टन की अनुमानित सुरक्षित मात्रा में से ५०० लाख टन राजस्थान में पाया जाता है।

१९४५ ४८ के ६५,००० टन के औसत उत्पादन से बढकर १९५० में उत्पादन २०६,००० टन हो गया। आशा है कि उवरक (खाद) और सीमेंट के उद्योगो के कारण जिप्सम की वार्षिक खपत ८७०,००० टन हो जायगी। योजना आयोग ने जिप्सम के क्षेत्रो के सुव्यवस्थित परीक्षण तथा नमक क्षेत्रो से जिप्सम की पुनर्प्राप्ति सम्बन्धी अनुसधान की सिफारिश की है।

§१७ गधक—भारत म गधक के अधिक निक्षेप नही हैं। परिट के रूप में गधक काश्मीर, शिमला, अमजोर (बिहार), बम्बई और मसूर मे तथा कोयले के साथ आसाम तथा विन्ध्य प्रदेश के कोयला क्षेत्रो म पाया जाता है।

वतमान समय मे गधक की वार्षिक आवश्यकता अनुमानत ६५,००० टन है, यद्यपि वास्तविक खपत केवल ५०,००० हजार टन है। १९४८ में गधक की आयात ३८,३०० टन थी जो १९५० में बढकर ५५,००० टन हो गई। इनका मूल्य क्रमश ६१ ६५ लाख तथा ११० लाख रुपये था। गधकीय अमल के हेतु गधक की आवश्यकता १९५५-५६ के लिए अनुमानत ८५ हजार टन है। योजना मे गधक के सभी सम्भव साधनो तथा उच्च गधकीय कोयले एवम् तांबे व सीसे के गलाने की क्रिया से गधक की पुनर्प्राप्ति-सम्बन्धी परीक्षण की सिफारिश की गई है। गधक के स्थान पर यथा-सम्भव अन्य वकल्पिक कच्चे पदार्थों के उपयोग की सिफारिश भी की गई है।

§१८ खनिज विकास का कायक्रम—योजना में भारतीय भू-सर्वेक्षण सस्था (जियालॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया) खान कार्यालय (इण्डियन ब्यूरो आफ माइन्स), राष्ट्रीय धात्विक प्रयोगशाला (नेशनल मेटालर्जिकल लेबोरेटरी), केन्द्रीय चीनी व शीशा अनुसधान-सस्था (सेण्ट्रल ग्लास एण्ड सिरेमिक रिसच इन्स्टीटयूट) और ईंधन अनुसन्धान सस्था (फ्यूयल रिसच इन्स्टीट्यूट) द्वारा सुयोजित और विस्तृत सर्वेक्षण की व्यवस्था की है। कायक्रम में निम्नलिखित बात सम्मिलित हैं—(१) भारतीय भू-सर्वेक्षण सस्था तथा खान कार्यालय द्वारा विस्तृत मानचित्रण और सुरक्षित मात्रा की लभ्यता की पुष्टि। (२) खनिज उद्योगो के आर्थिक आँकडो का खान कार्यालय द्वारा सकलन। (३) कोयले को प्रत्येक स्तर का रासायनिक एवम् भौतिक सर्वेक्षण तथा कोयले की धुलाई, मिलावट, कावनीकरण तथा हाइड्रोजनीकरण के सम्बन्ध में अनुसन्धान सस्था (फ्यूअल रिसच इन्स्टीटयूट) द्वारा परीक्षण। (४) राष्ट्रीय धात्विक प्रयोगशाला तथा खान कार्यालय द्वारा निम्नकोटि के खनिजों का प्रभिशोधन, तथा (५) चश्मे के शीशे, चीनी के वतन, आवतक और कुचालक इत्यादि के निर्माण में केन्द्रीय चीनी व शीशा पात्र अनुसधान सस्था (सेण्ट्रल ग्लास एण्ड सिरमिक इन्स्टीटयूट) द्वारा अनुसन्धान।

§१९ खनिज विकास की एजेन्सियां—खनिज विकास के कायक्रम को कार्यान्वित करने के लिए निम्न सरकारी सगठन काम करते हैं—(१) भारतीय भू सर्वेक्षण सस्था (जियालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया), (२) भारतीय खान कार्यालय (इण्डियन ब्यूरो आफ माइन्स), (३) राष्ट्रीय प्रयोगशालाएं, उदाहरणत ईंधन अनुसन्धान शाला, राष्ट्रीय धात्विक प्रयोगशाला, केन्द्रीय चीनी व शीशा अनुसन्धान सस्था, आदि। भारतीय

भू सर्वेक्षण संस्था का प्रधान कार्य भूगर्भिक मानचित्रण, खनिजीय खोज, पृथ्वी के जल का परीक्षण, बाँध के स्थानों तथा भूगर्भ विद्या के अन्य अभियान्त्रिक (इंजीनियरिंग) पहलुओं की परीक्षा करना है।

खान कार्यालय के कर्तव्य निम्नलिखित हैं—उत्खनन विधियों में सुधार व खनिज पदार्थों का संरक्षण, विस्तृत पूर्वेक्षण और वेधन द्वारा सुरक्षित मात्रा का पता लगाना और आँकना, खनिज सम्बन्धी आँकड़ों का विस्तृत संकलन और प्रसार, खनिज विकास के सभी कार्य तथा छूट देने के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देना। तीनों राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ—ईंधन अनुसन्धान संस्था, राष्ट्रीय धात्विक प्रयोगशाला, केन्द्रीय चीनी व शीशा अनुसन्धान संस्था—खनिजीय अनुसन्धान से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं तथा प्रत्येक दशा में यथोचित अनुसन्धान, प्राकृतिक साधन एवम् वैज्ञानिक अनुसन्धान मन्त्रालय ने योजना आयोग की सिफारिशों पर एक प्राविधिक संयोजन समिति (टेक्नीकल कोआर्डिनेशन कमिटी) की स्थापना की है जिसमें उपर्युक्त सभी संगठनों के प्रतिनिधि हैं। इस समिति की बैठक समय-समय पर होगी जिसमें यह इन संस्थाओं की प्रगति का सर्वेक्षण करेगी तथा मन्त्रालय को पंचवर्षीय योजना के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इन संस्थाओं की क्रियाओं को अपनाने की राय देगी।

§२० जल विद्युत शक्ति—जैसा कि हम देख चुके हैं, भारत की कोयले की सम्पत्ति देश के कुछ भागों तक ही सीमित है। इसके अतिरिक्त इसका वितरण असमान है तथा उद्योग केन्द्रों से कोयले की खानों की दूरी इतनी अधिक है कि खानों के आस पास के स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर विद्युत् शक्ति उत्पन्न करना अनार्थिक सिद्ध होता है। पेट्रोल के ज्ञात साधन सीमित हैं। इसके विपरीत भारत में जल विद्युत् शक्ति के साधन बहुत हैं यद्यपि इनका अभी तक पूर्ण रूप से सर्वेक्षण नहीं हुआ है। भारत की जल विद्युत् शक्ति की सामर्थ्य ४०० लाख किलोवाट के लगभग है। योजना आयोग द्वारा कृषि को दी गई प्राथमिकता की दृष्टि से प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रकाशित होते समय चालू योजनाओं को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया ताकि पंचवर्षीय अवधि में सिंचाई का अधिकतम विस्तार सुगमता से हो सके। विद्युत्जनन वर्तमान तथा भावी माँग से सम्बन्धित रखा गया है। बाँध और अन्य कार्यों की अभिरचना में अधिक माँग बढ़ने पर और इकाइयों की स्थापना की व्यवस्था की जा रही है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ऐसी योजनाओं की लागत का अनुमान ७६५ करोड़ रुपया है। योजना-काल में हुई इनकी प्रगति से वर्तमान सिंचाई तथा विद्युत्जनन के अलावा ८५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई तथा ११ लाख किलोवाट के विद्युत्जनन की और आशा की जाती है। इन योजनाओं के पूरे होने पर सिंचाई और विद्युत्जनन में कुल वृद्धि क्रमशः १६६ लाख एकड़ की तथा विद्युत् शक्ति १४ लाख किलोवाट होगी। पंचवर्षीय योजना का कार्यक्रम—चालू तथा प्रस्तावित योजनाओं सहित—एक दीर्घकालीन कार्यक्रम के अंश के रूप में समझना चाहिए, जिससे दो दशाब्दियों के भीतर वर्तमान सिंचित भूमि में ४०० से ४५० लाख एकड़ की वृद्धि तथा

विद्युत्जनन में ७० लाख किलोवाट की वृद्धि सम्भव होगी। कुछ महत्त्वपूर्ण जल-विद्युत् योजनाओं का विवरण नीचे दिया जाता है।

(१) भाकरा बांध—पूर्वी पजाव मे स्थित है जो दुनिया में सबसे ऊँचा सीधाकार बाँध होगा। इसके द्वारा ५६ मील लम्बी झील तयार होगी। भाकरा बांध के समीप दो बिजली घर होगे और ८८,००० किलोवाट की इकाइयाँ स्थापित की जायेंगी। नगल जल विद्युत् कुल्यिका (नगल हाईडेल चेनल) पर दो बिजली घर होंगे। प्रत्यक में २४,००० किलोवाट विद्युत्जनन के यन्त्र होंगे। चरम विकास की स्थिति में भाकरा नगल की कुल विद्युत्जनन शक्ति ४,००,००० किलोवाट होगी जब कि भार-वहन अक (लोड फेक्टर) १०० प्रतिशत होगा। विविधता जन्य कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि यह ८००,००० किलोवाट के भार को पूरा करेगा। इसके प्रथम चरण की पूर्ति तथा भाकरा-नगल बाँध की कुल अनुमानित लागत १२६ करोड रुपया है। इससे पजाव, पेप्सू बीकानेर मे ६८ लाख एकड भूमि की सिंचाई होगी। नगल-योजना से पानी, भरे क्षेत्रो से पानी निकालने और सूखे क्षेत्रो की सिंचाई मे मदद मिलेगी। इससे धरातल की सिंचाई और पृथ्वी के अन्दर के पानी के बीच सन्तुलन स्थापित होगा। यह भी आशा की जाती है कि दिल्ली और अमतसर के बीच चलने वाली रेलो मे बिजली लग जायगी। यह भी आशा है कि इससे दिल्ली और पजाब के हर घर और कुटीर मे भी बिजली हो जायगी तथा औद्योगिक विकास की गति बहुत तीव्र हो जायगी। (२) उत्तर प्रदेश में हिन्द नदी के आर-पार पिपरी बाँध और बिजली घर की स्थापित सामर्थ्य २३०,००० किलोवाट होगी। इसकी लागत २६ करोड रुपये होगी और यह छ वर्ष मे पूरा होगा। बिहार की कोसी योजना से ५० प्रतिशत भारवहन अक पर १८ लाख किलोवाट विद्युत्जनन की आशा की जाती है। इसकी लागत ६० करोड रुपये होगी।

कोयना घाटी विद्युत् योजना कोयना वली पावर ग्राइड दक्षिणी सतारा जिले बम्बई म करहद रेलवे स्टशन से ४० मील की दूरी पर स्थित है। इसमे स्थापित यन्त्र महत्तम और विद्युत्जनन शक्ति अन्य इकाइयो मे अधिक होगी, जिसकी सामर्थ्य २५०,००० किलोवाट से भी अधिक होगी। इसकी लागत २५ करोड रुपये होगी।

तुगभद्रा योजना से मद्रास और हैदराबाद को लाभ पहुँचेगा। सिंचाई के अतिरिक्त इससे १५५,००० किलोवाट विद्युत् उत्पन्न होगी।

सबलपुर नगर से ६ मील दूर महानदी पर बाँध बनाकर हीराकुण्ड बाँध उच्छृंखल महानदी को रोक देगा। उत्पादन शक्ति ३५०,००० किलोवाट तथा व्यय ६२ करोड रुपया होगा।

पश्चिमी बगाल की दामादर घाटी योजना में दामोदर और उसकी सहायक नदियो पर बनाए जाने वाले आठ बहुद्देशीय बाँध सम्मिलित हैं जिनका क्षेत्र ८,००० वर्गमील होगा। लगभग ५५ करोड रुपये की लागत की इस योजना से ३००,००० किलोवाट विद्युत् उत्पन्न होगी। यह प्रसिद्ध टिनेसी वैली अथारिटी के नमूने पर बने एक कार्पोरेशन के अधीन है। विश्व बक से लिये एक बृहत् ऋण से यह पनपा है

और अब पूर्ण होने की दृष्टि से इस पर हुआ कार्य काफ़ी बढ़ी हुई अवस्था में है।

इस समय भारत में शक्ति (विद्युत्) विकास की दशा निम्न है—

दक्षिणी भारत—अधिकांशत जल विद्युतीय, बम्बई क्षेत्र—अधिकांशत जल-विद्युतीय परन्तु सीमित ढंग से ओष्मिक शक्ति भी प्राप्त होती है, बिहार और बंगाल में कोयले की खानें प्रमुख तथा ओष्मिक शक्ति, मध्यभारत हैदराबाद, उडीसा एवम् मध्यप्रदेश प्रमुखत ओष्मिक, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश मुख्यत जल विद्युतीय, अंशत ओष्मिक। वर्तमान योजनाओं के अनुसार भारत में शक्ति विकास विभिन्न प्रदेशों में परस्पर-सम्बद्ध जल विद्युत् तथा ओष्मिक शक्ति का रूप लेगा। यह भी सम्भव है कि प्रादेशिक पद्धति समय आने पर इस प्रकार परस्पर-सम्बद्ध कर दी जायें ताकि एक अखिल भारतीय शक्ति झंझर (ग्राइड) बन सके।[1]

विद्युत्जनन के शीघ्र एवम् व्यवस्थित विकास को निश्चित करने के लिए संसद् ने १९४८ म विद्युत पूर्ति अधिनियम पास किया। इसमें पूरे देश के लिए एक केन्द्रीय विद्युत् प्राधिकारी तथा राज्यों के लिए राज्य विद्युत् परिषदों की स्थापना की व्यवस्था है। अधिनियम की धाराओं के अनुसार १९५० में केन्द्रीय विद्युत् प्राधिकारिणी संस्था (सी० ई० ए०) की स्थापना हुई। इसमें एक सभापति तथा चार सदस्य हैं। मध्य प्रदेश और दिल्ली म राज्य विद्युत् परिषदों का भी निर्माण हो चुका है।

ग्रामीण विद्युतन (इलेक्ट्रीफिकेशन) की प्रगति अभी नहीं के बराबर हुई है। औसतन २०० गाँवों में १ गाँव को ही बिजली प्राप्त हो रही है। पंचवर्षीय योजना में ग्रामीण विद्युतन के लिए २७ करोड रुपया व्यय करने की व्यवस्था है। यह योजना अभी मुख्यत दक्षिण के राज्य मद्रास, मसूर, ट्रावनकोर और कोचीन तक ही सीमित है, लेकिन अन्य क्षेत्रों में विद्युत्-शक्ति के अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध होने के बाद ग्रामीण विद्युतन का क्षेत्र निस्सन्देह और अधिक विस्तृत होगा। बिजली खेती के कामों, जैसे पानी निकालने के अतिरिक्त कृषि उत्पत्ति के विधायन तथा गाँवों के कुटीर एवं लघुप्रमाप उद्योगों, के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी। कृषि के लिए विद्युत भार को प्रोत्साहित करने में विशेष लाभ है। एक तो यह कि उद्योगों की तुलना में कृषि के लिए आवश्यक विद्युत्-शक्ति (उद्योगों की) केवल एक तिहाई होगी। साथ ही शक्ति के उपयोग के लिए अपेक्षित मशीनें भी अधिकांशत देश ही में बनाई जा सकती हैं और उनको चलाने के लिए उच्चकोटि की प्राविधिक कुशलता भी अपेक्षित नहीं है।

§२० मत्स्य पालन—हमारे यहाँ मीठे और खारे पानी दोनों प्रकार की मछलियों के उत्पादन को बढ़ाने का पर्याप्त क्षेत्र है। इस समय इसके बहुत थोड़े अनुपात का ही उपयोग हो रहा है तथा प्रतिव्यक्ति वार्षिक औसतन ३४ औंस है। मत्स्यदेशीय मछलीगाहों (मीन क्षेत्रों) के विकास के लिए जलाशयों के सर्वेक्षण से मछलियों के बीज की पूर्ति तथा अण्डे देने की कृत्रिम प्रक्रियाओं सम्बन्धी उपायों को प्राथमिकता देनी होगी। मत्स्यदेशीय विकास के लिए प्रसार-संगठनों का उपयोग होना चाहिए। कृषि कालेजों और स्कूलों म मत्स्य पालन कृषि शिक्षा का एक अंग होना चाहिए।

१ इण्डिया १९५५, पृष्ठ २३१।

समुद्री मीन-क्षेत्रों के विकास के लिए योजना आयोग ने निम्न बातों को उच्च प्राथमिकता दी है—

(१) मछुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति, (२) देशी बेडे का यन्त्रीकरण अथवा यन्त्रीकृत नावों का प्रयोग, (३) विपणन का विकास, (४) परिवहन की सुविधा, बर्फखाने तथा ठंडे भंडार गृहों की व्यवस्था, (५) मातृपोत (मदरशिप) की क्रियाओं का प्रारम्भ, (६) किनारे से दूर मत्स्य-ग्रहण के लिए बृहद् विद्युत् चालित नावों की व्यवस्था, और (७) आवश्यक बन्दरगाही सुविधाओं की व्यवस्था।

इन प्राथमिकताओं के आधार पर योजना में १४० देशी नावों के यन्त्रीकरण तथा बहु-उद्देशीय प्रकार की १८ यन्त्रीकृत नावें चालू करने, मातृपोत की क्रियाओं के लिए दो नावें प्रस्तुत करने, समुद्र-तट से दूर मत्स्य-ग्रहण के लिए दो ग्रन्थि भेदक (पर्स-सीनर्ज़) तथा बंगाल की खाड़ी और अरब सागर में गहरे समुद्र में मत्स्य-ग्रहण करने के लिए तीन आनायक अथक जाल खींचने के सम्भार (ट्रालस) की व्यवस्था है। बन्दरगाहों की सफाई के लिए एक निकर्षक (ड्रागर) ९ बर्फ की फैक्टरियों, ९ ठंडे भण्डार-गृहों, तथा मछलियों के भण्डार और परिवहन के हेतु सडक पर चलने वाली विसवाहित ९ गाडियों (मोटस) की व्यवस्था है। मीन क्षेत्रों का सन्तुलित और आयोजित विकास कुशल भौमिक संगठन तथा विशेषज्ञ कार्यकर्ताओं पर निर्भर है। यन्त्रीकृत नावों को चलाने के लिए मछुओं तथा बड़ी नावों के कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण सम्बन्धी प्रबन्धों का भी प्रस्ताव किया गया है।

इस उद्योग से दलालों को हटाने और सहकारी संस्थाओं द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति की भी सिफारिशें की गई हैं। पूर्ति के वितरण की सुविधा के लिए धनराशि निश्चित हो चुकी है। जब बड़े पैमाने पर मछली पकड़ने में प्रगति होगी तो महीने में कुछ दिन मछलियाँ बड़ी मात्रा में बम्बई कलकत्ता, कोचीन के बन्दरगाहों पर लाई हो जायेंगी। फलस्वरूप अति प्रदाय अथवा पूर्ति के आधिक्य की दशा उत्पन्न हो जायगी, जिससे मूल्यों में काफी घट-बढ़ होगी और मछुओं को काफी कठिनाइयों का सामना करना पडेगा। अतएव मछुओं के हितों की रक्षा के लिए सहकारी विपणन तथा इन केन्द्रों पर मत्स्य विपणन परिषदों की स्थापना की सिफ़ारिश की गई है।

ऐसी आशा की जाती है कि उपर्युक्त योजनाओं के फलस्वरूप उत्पादन में ५०% वृद्धि होगी और उत्पादन १९५० ५१ के १० लाख टन से बढ़कर १९५५ ५६ में १५ लाख टन हो जायगा।

§२१ धनी देश के निर्धन निवासी—एक प्रमुख लेखक ने भारतीय उपमहाद्वीप को औद्योगिक सामर्थ्य की दृष्टि से विश्व के क्षेत्रों में तीसरा तथा कृषि साधनों की दृष्टि से दूसरा या तीसरा बताया है।[1] यह बात अविभाजित भारत के सम्बन्ध में कही गई है और विभाजन के बाद भारत या पाकिस्तान किसी पर भी पूरी तरह लागू नहीं होती। फिर भी भारत के प्राकृतिक साधनों की जो रूपरेखा हमने प्रस्तुत की है, उससे एक उन्नत अर्थ व्यवस्था के आधार रूप में उनकी पर्याप्त लम्यता तथा विविधता

[1] किंग्सले डेविस, दि पापुलेशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० ८।

और अब पूर्ण होने की दृष्टि से इस पर हुआ कार्य काफी बढ़ी हुई अवस्था में है।

इस समय भारत में शक्ति (विद्युत्) विकास की दशा निम्न है—

दक्षिणी भारत—अधिकांशत जल विद्युतीय, बम्बई क्षेत्र—अधिकांशत जल विद्युतीय परन्तु सीमित ढग से औष्मिक शक्ति भी प्राप्त होती है, बिहार और बगाल में कोयले की खानें प्रमुख तथा औष्मिक शक्ति, मध्यभारत हैदराबाद, उडीसा एवम् मध्यप्रदेश प्रमुखत औष्मिक, पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश मुख्यत जल विद्युतीय, अंशत औष्मिक। वर्तमान योजनाओं के अनुसार भारत मे शक्ति विकास विभिन्न प्रदेशों में परस्पर-सम्बद्ध जल विद्युत् तथा औष्मिक शक्ति का रूप लेगा। यह भी सम्भव है कि प्रादेशिक पद्धति समय आने पर इस प्रकार परस्पर-सम्बद्ध कर दी जायें ताकि एक अखिल भारतीय शक्ति झझर (ग्राइड) बन सके।[1]

विद्युत्जनन के शीघ्र एवम् व्यवस्थित विकास को निश्चित करने के लिए ससद् ने १६४८ मे विद्युत पूर्ति अधिनियम पास किया। इसमे पूरे देश के लिए एक केन्द्रीय विद्युत् प्राधिकारी तथा राज्यों के लिए राज्य विद्युत् परिषदो की स्थापना की व्यवस्था है। अधिनियम की धाराओं के अनुसार १६५० मे केन्द्रीय विद्युत् प्राधिकारिणी सस्था (सी० ई० ए०) की स्थापना हुई। इसमे एक सभापति तथा चार सदस्य हैं। मध्य प्रदेश और दिल्ली मे राज्य विद्युत् परिषदो का भी निर्माण हो चुका है।

ग्रामीण विद्युतन (इलेक्ट्रीफिकेशन) की प्रगति अभी नहीं के बराबर हुई है। औसतन २०० गावों में १ गांव को ही बिजली प्राप्त हो रही है। पचवर्षीय योजना में ग्रामीण विद्युतन के लिए २७ करोड रुपया व्यय करने की व्यवस्था है। यह योजना अभी मुख्यत दक्षिण के राज्य मद्रास, मसूर, ट्रावनकोर और कोचीन तक ही सीमित है लेकिन अन्य क्षेत्रों में विद्युत् शक्ति के अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध होने के बाद ग्रामीण विद्युतन का क्षेत्र निस्सन्देह और अधिक विस्तृत होगा। बिजली खेती के कामो जसे पानी निकालने के अतिरिक्त कृषि-उत्पत्ति के विधायन तथा गांवों के कुटीर एव लघुप्रमाप उद्योगो, के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी। कृषि के लिए विद्युत भार को प्रोत्साहित करने मे विशेष लाभ है। एक तो यह कि उद्योगों की तुलना में कृषि के लिए आवश्यक विद्युत्-शक्ति (उद्योगो की) केवल एक तिहाई होगी। साथ ही शक्ति के उपयोग के लिए अपेक्षित मशीनें भी अधिकांशत देश ही में बनाई जा सकती हैं और उनको चलाने के लिए उच्चकोटि की प्राविधिक कुशलता भी अपेक्षित नहीं है।

§२० मत्स्य पालन—हमारे यहाँ मीठे और खारे पानी दोनो प्रकार की मछलियों के उत्पादन का उन्नति का पर्याप्त क्षेत्र है। इस समय इसके बहुत थोड़े अनुपात का ही उपयोग हो रहा है तथा प्रतिव्यक्ति वार्षिक औसतन ३४ औंस है। अन्तर्देशीय मछलीगाहा (मीन क्षेत्रों) के विकास के लिए जलाशयों के सर्वेक्षण स मछलियां क बीज की पूर्ति तथा अण्डे देने की कृत्रिम प्रक्रियाओं सम्बन्धी उपायों को प्राथमिकता देनी होगी। अन्तर्देशीय विकास के लिए प्रसार-सगठनो का उपयोग होना चाहिए। कृषि कालेजों और स्कूलों मे मत्स्य पालन कृषि शिक्षा का एक अग होना चाहिए।

१ इण्डिया १९५५ पृष्ठ २३१।

समुद्री मीन-क्षेत्रों के विकास के लिए योजना आयोग ने निम्न बातों को उच्च प्राथमिकता दी है—

(१) मछुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति, (२) देशी बेडे का यन्त्रीकरण अथवा यन्त्रीकृत नावों का प्रयोग, (३) विपणन का विकास, (४) परिवहन की सुविधा, बर्फखाने तथा ठंडे भंडार गृहों की व्यवस्था, (५) मातृपोत (मदरशिप) की क्रियाओं का प्रारम्भ, (६) किनारे से दूर मत्स्य-ग्रहण के लिए वृहद् विद्युत् चालित नावों की व्यवस्था, और (७) आवश्यक बन्दरगाही सुविधाओं की व्यवस्था।

इन प्राथमिकताओं के आधार पर योजना में १४० देशी नावों के यन्त्रीकरण तथा बहु-उद्देशीय प्रकार की १८ यन्त्रीकृत नाव चालू करने, मातृपोत की क्रियाओं के लिए दो नावें प्रस्तुत करने, समुद्र-तट से दूर मत्स्य-ग्रहण के लिए दो ग्रन्थि भेदक (पर्स-सीनर्ज) तथा बंगाल की खाड़ी और अरब सागर में गहरे समुद्र में मत्स्य-ग्रहण करने के लिए तीन आनायक अथक जाल खींचने के सम्भार (ट्रॉलर्स) की व्यवस्था है। बन्दरगाहों की सफाई के लिए एक निकर्षक (ड्रेजर) ९ बर्फ की फैक्टरियों, ९ ठंडे भण्डार गृहों, तथा मछलियों के भण्डार और परिवहन के हेतु सड़क पर चलने वाली विसवाहित ९ गाड़ियों (मोटर्स) की व्यवस्था है। मीन-क्षेत्रों का सन्तुलित और आयोजित विकास कुशल भौमिक संगठन तथा विशेषज्ञ कार्यकर्ताओं पर निर्भर है। यन्त्रीकृत नावों को चलाने के लिए मछुओं तथा बड़ी नावों के कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण सम्बन्धी प्रबन्धों का भी प्रस्ताव किया गया है।

इस उद्योग से दलालों को हटाने और सहकारी संस्थाओं द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति की भी सिफारिशें की गई हैं। पूर्ति के वितरण की सुविधा के लिए धनराशि निश्चित हो चुकी है। जब बड़े पैमाने पर मछली पकड़ने में प्रगति होगी तो महीने में कुछ दिन मछलियाँ बड़ी मात्रा में बम्बई, कलकत्ता, कोचीन के बन्दरगाहों पर लाई ही जायेंगी। फलस्वरूप अति प्रदाय अथवा पूर्ति के आधिक्य की दशा उत्पन्न हो जायगी, जिससे मूल्यों में काफी घट-बढ़ होगी और मछुओं को काफ़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। अतएव मछुओं के हितों की रक्षा के लिए सहकारी विपणन तथा इन केन्द्रों पर मत्स्य विपणन परिषदों की स्थापना की सिफारिश की गई है।

ऐसी आशा की जाती है कि उपर्युक्त योजनाओं के फलस्वरूप उत्पादन में ५०% वृद्धि होगी और उत्पादन १९५०-५१ के १० लाख टन से बढ़कर १९५५-५६ में १५ लाख टन हो जायगा।

§२१ धनी देश के निर्धन निवासी—एक प्रमुख लेखक ने भारतीय उपमहाद्वीप को औद्योगिक सामर्थ्य की दृष्टि से विश्व के क्षेत्रों में तीसरा तथा कृषि साधनों की दृष्टि से दूसरा या तीसरा बताया है।[1] यह बात अविभाजित भारत के सम्बन्ध में कही गई है और विभाजन के बाद भारत या पाकिस्तान किसी पर भी पूरी तरह लागू नहीं होती। फिर भी भारत के प्राकृतिक साधनों की जो रूपरेखा हमने प्रस्तुत की है उससे एक उन्नत अर्थ व्यवस्था के आधार रूप में उनकी पर्याप्त लभ्यता तथा विविधता

[1] किंग्सले डेविस, दि पापुलेशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० ८।

का सकेत मिल गया होगा।

यदि ऐसी दशा की कल्पना की जाय कि देश बिलकुल बसा हुआ नहीं है तथा आधुनिक ज्ञान और साज-सभार से युक्त इज़राइल के यहूदी जैसे शक्तिवान एवम् साहसी प्रवासी यहाँ आकर बसने और देश को विकसित करने के लिए स्वतन्त्र हैं तो निश्चय ही कुछ वर्षों में देश का सयुक्त राज्य जैसा धनी देश बनना सम्भव है। लेकिन वर्तमान स्थिति के अनुसार हमें कोरी स्लेट पर नहीं लिखना है वरन् औद्योगिक एवम् कृषि-उत्पादन की पुरानी पड़ी हुई टेक्नीक से युक्त प्राचीन अर्थ व्यवस्था, कठोर सामाजिक व्यवस्था तथा बेजोड़ दरिद्रता से ग्रस्त अत्यधिक जनसंख्या की समस्याओं को हल करना है।

ऐसी दशा में यह कथन कि भारतीय धनी देश के निर्धन निवासी हैं, विशेष व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। भारत सामर्थ्य की दृष्टि से धनी देश अवश्य है, किन्तु वस्तुत धनी होने के लिए देशवासियों के पर्याप्त बलिदान और त्याग तथा वर्षों तक सुयोजित एवम् कठोर प्रयत्नों की आवश्यकता है। स्लेट पर अंकित अवनति लेख को मिटाने तथा उसके स्थान पर सुख और समृद्धि का लेख लिखने में अभी बहुत समय लगेगा।

अध्याय ३

जनसख्या[1]

§१ कुल जनसख्या—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् पहली जनगणना सम्बन्धी कार्य फरवरी १९४९ से लेकर मार्च १९५१ तक किये गए। पूर्ववर्ती तथा इस जनगणना में यह मुख्य अन्तर था कि पहले की जनगणनाओ की भांति इसमें धर्म जाति के वर्गीकरण पर जोर न देकर कार्यानुसार (फंक्शनल) वर्गीकरण पर जोर दिया गया। इसका उद्देश्य देशवासियो की आर्थिक दशा पर पूरी तरह से प्रकाश डालने का था।

भारत की कुल जनसख्या ३५६,८७९,३९४ है (लगभग ३६ करोड)। (इसमें जम्मू और काश्मीर तथा आसाम के कबायली क्षेत्र सम्मिलित नही है, जिनकी जनसख्या क्रमश ४० ४१ लाख तथा ५ ६ लाख है।) १९५१ में समाप्त होने वाले दशक मे जनसख्या मे ४४० लाख की वृद्धि हुई, जो १९४१ की जनसख्या की तुलना में १३ ५% की औसत दशक वृद्धि-दर[2] तथा १३ २% की वृद्धि प्रदर्शित करती है। पजाब और अण्डमान निकोबार को छोडकर जिनमे औसत दशक वृद्धि-दर क्रमश ० ५% और ८ ६% से घटी है प्राय सभी राज्यो की जनसख्या में वृद्धि ही हुई है। सबसे अधिक वृद्धि दिल्ली (६२ १%) और कुर्ग (३० ५) मे हुई है। अधिकतर राज्यो में जनसख्या की वृद्धि की दर १० और २२ के बीच रही हैं। इनके अपवाद बिहार, उडीसा, मध्य प्रदेश और पेप्सू हैं जहाँ वृद्धि दर १०% से कम रही है (पेप्सू मे सबसे कम—केवल २ ६% ही थी)।

१९५१ की जनगणना रिपोर्ट जनसख्या के घनत्व के अनुसार विभिन्न प्रदेशों को निम्न प्रकार से विभाजित करती है।

---

१ यह अध्याय भारतीय जनगणना १९५१, खण्ड १, भाग १ ए रिपोर्ट पर बहुत आभारी है।

२ दशाब्दी (दशक) औसत वृद्धि-दर दो जनगणनाओं के बीच जनसख्या की वृद्धि-दर की ओर सकेत करता है। इसकी गणना प्रतिशत परिवर्तन से किंचित् भिन्न प्रकार से होती है, जिनके लिए पूर्व जनगणनाओं में आकडे प्रस्तुत किए जाते थे, जबकि 'प्रतिशत परिवर्तन' दोनों में से पहले वाली जनगणना पर आधारित होता है—दशाब्दी वृद्धि-दर (Mean Decimal Growth Rate) दोनों गणनाओं की मध्यवर्ती जनसख्या पर आधारित होती है।

उच्च घनत्व वाले उप प्रदेश

उप प्रदेश का नाम	जनसंख्या (लाख)	घनत्व (प्रति वर्गमील)	भू क्षेत्रफल (लाख एकड़)	भू क्षेत्रफल प्रति व्यक्ति प्रतिशत (सेन्ट्स)
गंगा का दक्षिणी मैदान	७००	८३२	५३८	७७
गंगा का उत्तरी मैदान	३८६	६८१	३६६	९४
मलाबार-कोचिन	२३८	६३८	२३९	१००
दक्षिणी मद्रास	३०७	५५४	३५५	११५
उत्तरी मद्रास और उड़ीसा तटीय	२११	४६१	२९३	१३९
५ उप प्रदेशों का योग	१,८४५	६६०	१,७९१	९७

निम्न घनत्व वाले उप प्रदेश

उप-प्रदेश का नाम[1]	जनसंख्या (लाख)	घनत्व (प्रति वर्गमील)	भू क्षेत्रफल (लाख एकड़)	भू-क्षेत्रफल प्रति व्यक्ति प्रतिशत (सेंट्स)
रेगिस्तान	४६	६१	४८२	१०४७
पश्चिमी हिमालय	९०	६८	८५२	९४४
पूर्वी हिमालय	१२४	११८	६७४	५४२
उत्तर-पश्चिमी पहाड़ियाँ	१०४	१६३	४०६	३९४
उत्तर मध्य के पहाड़ और पठार	१ ८	१६४	५१७	३८९
उत्तर पूर्वी पठार	२९०	११२	९६७	३३३
६ उप प्रदेशों का योग	७९७	१२६	३ ९२१	४१५

मध्यम घनत्व वाले उप प्रदेश

उप प्रदेश का नाम	जनसंख्या (लाख)	घनत्व (प्रति वर्गमील)	क्षेत्रफल (लाख एकड़)	क्षेत्रफल प्रति व्यक्ति प्रतिशत (सेंट्स)
गंगा पार का मैदान	२५६	३३२	४१६	१६३
दक्षिणी दक्खन	३१५	२४७	८१७	२५९
उत्तरी दक्खन	२१६	२४६	६२१	२६०
गुजरात काठियावाड़	१६१	२२६	४८६	८३
४ उप प्रदेशों का योग	९७४	२ ०	२ ३६३	२४६

[1] रेगिस्तान=राजस्थान के निम्न जिले सम्मिलित हैं—गंगानगर, चूरू, जोधपुर, बाड़मेर, जालोर, पाली, नागौर और जैसलमेर।

पश्चिमी हिमालय=जम्मू तथा काश्मीर, पंजाब के कांगड़ा तथा शिमला जिले, हिमाचल प्रदेश, बिलासपुर और उत्तर प्रदेश के पाँच जिले।

पूर्वी हिमालय=आसाम, मनीपुर, त्रिपुरा, सिक्किम, दार्जिलिंग का जिला, जलपाईगुड़ी और कूच बिहार।

उत्तर-पश्चिमी पहाड़ी=मध्यभारत (भिंड, गिर्द और मुरैना को छोड़कर) और दक्षिण पूर्वी राजस्थान के आठ जिले।

उत्तर-मध्य के पहाड़ तथा पठार—मू० प्र० के पाँच जिले विन्ध्य प्रदेश, भूपाल तथा मध्यप्रदेश के उत्तर-पश्चिमी सात जिले।

उत्तर पूर्वी पठार—छोटा नागपुर, उड़ीसा (चार जिलों को छोड़कर) और पूर्वी मध्य प्रदेश।

§२ जनसख्या का घनत्व—भारत की जनसख्या का औसत घनत्व ३१२ प्रति वर्गमील है। कुछ अन्य देशो का घनत्व इस प्रकार है—रूस २३, सयुक्त राज्य ५०, चीन १३४, जापान ५७६, फ्रास १६३, ब्रिटेन ५३६, ब्राज़ील १५।

असामान्यत उच्च और निम्न घनत्व के क्षेत्र दिल्ली राज्य तथा अण्डमान-निकोबार द्वीप हैं जिनका घनत्व क्रमश ३,००० तथा १० व्यक्ति प्रति वर्गमील है। इनको छोड देने पर ट्रावनकोर, कोचीन का घनत्व (१,०१५) उच्चतम है। उसके बाद पश्चिमी बगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश आदि हैं, जिनका घनत्व क्रमश ८०६, ५७३, ५५८ है।

पृष्ठ २२ पर दी गई तालिकाओ से स्पष्ट है कि आर्थिक समृद्धि और जनसख्या के घनत्व मे कोई सम्बन्ध नही है।[1] औद्योगीकरण मे कुछ प्रगति होने पर भी हमारी अर्थ-व्यवस्था अब भी मुख्यत ग्रामीण तथा कृषि प्रधान है। इसीलिए खेती के अनुकूल तम क्षेत्र ही सबसे अधिक घने वसे हुए हैं। कृषि के लिए निम्न अनुकूलतम दशाएँ होनी चाहिएँ—(१) भूमि का समतल मैदान मे होना, जोकि पहला तथा सबसे प्रमुख कारण है।[2] (२) उवर भूमि, पानी की सुविधा, जो पर्याप्त मात्रा तथा उचित समय फसलो को मिल सके तथा विश्वसनीय वृष्टि अथवा सिंचाई के सन्तोषप्रद साधनो द्वारा उपलब्ध हो। (३) स्वास्थप्रद जलवायु। सबसे घने वसे क्षेत्र उपयुक्त गुणो में सबसे अधिक भरे-पूरे हैं। किन्तु इससे एक आवश्यक परिणाम के रूप मे यह निष्कर्ष न निकाल लेना चाहिए कि इनमें वसने वाले लोग अन्य अनुवर क्षेत्रो के निवासियो से धनी होगे। भूमि की भरण-पोषण की क्षमता के अनुसार जनसख्या का भार लगभग हर स्थान मे समान रूप से ही अधिक है, जिसके फलस्वरूप घनत्व चाहे कम हो या अधिक, सम्पूर्ण देश म निधनता का एक ही स्तर सभी के भाग्य मे है।

§३ लिंग अनुपात[3]—१९५१ की जनगणना के अनुसार सम्पूर्ण देश को लेते हुए लिंग अनुपात १००० पुरुष तथा ९४७ स्त्रियो का था। यह अनुपात एक खण्ड से दूसरे खण्ड म बहुत वदलता जाता है। उत्तर-पश्चिमी भारत मे इस अनुपात का अक निम्नतम ८८३, और दक्षिणी भारत मे अधिकतम था ९९९, जहाँ दोनो वर्गों की सख्या में प्राय समानता है। शेष चार खण्डों की भिन्नता इस प्रकार थी—उत्तर भारत मे ९१०, पश्चिम भारत मे ९३८, पूर्वी भारत में ९४५, मध्य भारत मे ९७३, उत्तर तथा उत्तर-पश्चिमी भारत में विना किसी अपवाद के प्रति १००० पुरुष स्त्रियो की सख्या १००० से कम थी। अन्य चार खण्डो मे वे भाग, जहाँ स्त्रियों की सख्या पुरुषो से अधिक है, निम्न तालिका मे निर्दिष्ट हैं—

---

१ देखिए, जथार और बेरी 'एलीमेंटरी प्रिंसिपल्स ऑफ इकनामिक्स' सातवाँ सस्करण।
२ प्राय सभी फसलों के लिए अनुकूलतम मात्रा ४० इंच वार्षिक वृष्टि की है।
३ सेन्सस रिपोर्ट, १९५१ पृ० ५४६।

लिंग अनुपात जहाँ औरतें मर्दों से अधिक हैं।

भू खण्ड	प्राकृतिक भाग	स्त्रियाँ प्रति हजार पुरुष
पूर्वी भारत	उड़ीसा का तट	१,०४०
	मनीपुर	१,०३६
	उत्तरी बिहार का मैदान	१,०१३
	उड़ीसा का अन्तरीय भाग	१,००७
दक्षिणी भारत	पश्चिमी मद्रास	१,०५४
	ट्रावनकोर कोचीन	१,००८
	दक्षिणी मद्रास	१,००६
	उत्तरी मद्रास	१,००१
पश्चिमी भारत	कच्छ	१,०७१
	मध्य-कोंकन	१,०४७
मध्य भारत	पूर्वी मध्य प्रदेश	१ ०१७

साधारणतया गाँवों की अपेक्षा नगरों में स्त्रियाँ पुरुषों से कम हैं। देश भर के लिए गाँवों में लिंगानुपात ९६६ स्त्री १००० पुरुष हैं जबकि नगरों में ८६० स्त्री १००० पुरुष हैं।

सबसे बड़े दस नगरों के लिंगानुपात निम्न तालिका में दिखाये गए हैं। इनमें एक ओर बृहत्तर बम्बई और बृहत्तर कलकत्ता तथा दूसरी ओर मद्रास और हैदराबाद के अनुपात ध्यान देने योग्य हैं।

नगर	लिंग अनुपात
बृहत्तर कलकत्ता	६०२
बृहत्तर बम्बई	५९६
मद्रास	९२१
दिल्ली	७५०
हैदराबाद	९८९
अहमदाबाद	७६४
बंगलौर	८८३
कानपुर	६९९
पूना	८९४
लखनऊ	७८४

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के जन्म की संख्या संसार भर में कम होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति प्रारम्भ में इस प्रकार की विषमता का सृजन करके फिर उसे ठीक करने चलती है। एक वय तक लड़कियाँ की अपेक्षा लड़के अधिक मरते हैं और तदनन्तर स्त्री-पुरुष का अनुपात इसी प्रकार आगामी वर्षों में भी बदलता जाता है। ऐसा कोई व्यापक नियम नहीं है जो कि हर समय और स्थान में इस विषमता की व्याख्या कर सके। देश के विभिन्न भागों में एक ही समय में परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं तथा कभी-कभी एक ही स्थान पर समयानुसार परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। लेकिन प्रारम्भ की तरह ही जीवन के अन्त की ओर भी हमें एक प्रकार की

समानता दिखाई पडती है। अधिक वृद्धावस्था में मृत्यु का हाथ (जैसा कि जीवन के प्रथम वर्षों मे) स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो पर पहले पडता है। कारणो की भिन्नता के कारण स्त्रियो और पुरुषो की मरणशीलता एक सी नही है। उदाहरणत दुर्भिक्ष मे स्त्रियो की अपेक्षा पुरुष अधिक मरते हैं। इसके विपरीत महामारियो में पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक मरती है।[1]

अतएव जब हम किसी समय किसी स्थान के लिंगानुपात पर विचार करते हैं तो हमे याद रखना चाहिए कि वह इस समय से पूर्व स्त्री-पुरुषो के जन्म की विषमता के दीर्घकालीन इतिहास का परिणाम है, जिसमें यह विषमता स्त्री-पुरुषो के बीच साधारण तथा असाधारण मृत्युओ के असमान होने के कारण कभी ठीक और कभी अधिक होती रही है। किन्ही किन्ही स्थानो पर प्रवासियो के आगमन या निवासियो के प्रवास का भी अनुपात पर प्रभाव पड सकता है।

जनसख्या की वृद्धि—निम्न तालिका १८९१-१९५१ के बीच जनसख्या के परिवर्तन दिखा रही है।[2]

जनगणना वर्ष	सख्या (लाख)	वृद्धि(+) ह्रास(—) पूर्व दशक में
१८९१	२,३५९	——
१९०१	२,३५५	—४
१९११	२,४९०	+१३५
१९२१	२,४८१	—९
१९३१	२,७५५	+२७४
१९४१	३,१२८	+३७३
१९५१	३,५६९	+४४१

भारत की जनसख्या १८९१ १९०० में ० २% घटी, १९०१–१० के बीच ५ ६%[3] बढी तथा १९११–२० के बीच ० ४% घटी। इसके अतिरिक्त १९२१ के बाद तीनो दशको में जनसख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही। १९२१ ३० मे १० ४%, १९३१–४० मे १२ ७%, १९४१–५० में १३ २%। यदि दोनो ३० वर्षीय औसतो की तुलना की जाय तो पता लगेगा कि १८९१ से १९३० तक वृद्धि दर १ ७% प्रतिदशक रही तथा १९२१–५० में वृद्धि-दर १२ ०% प्रतिदशक हो गई।

१८९१–१९०० के बीच जनसख्या घटने के कारण देश के विभिन्न भागो में पडने वाले भारी अकाल थे। अगले दस वर्षों में दुर्भिक्ष के अतिरिक्त प्लेग, मलेरिया, काला आजार और महामारी के रूप में फले हुए अन्य ज्वरो के कारण मृत्यु अत्यन्त अधिक हो गई। ऋतुओ के अनुकूल होने के कारण आर्थिक दृष्टि से इस काल को 'साधारण कृषि-समृद्धि काल' कहा जा सकता है। इसके विपरीत विगत दशकों की अपेक्षा प्लेग मे अधिक व्यक्ति मरे। मलेरिया ने पूर्वी तथा मध्य पजाब और उत्तर प्रदेश मे गगा-

१ जनगणना रिपोर्ट, १९५१, पृ० ५६ ६२ और ६७ नीचे।

२ प्रस्तुत आँकडे १९५१ की जनगणना के क्षेत्रफल के अनुसार कर लिये गए हैं (सेन्सस रिपोर्ट पृ० १२२)।

३ वृद्धि अथवा ह्रास-दर अपनी अवधि की औसत जनसंख्या के प्रतिशत रूप में प्रकट किये गए हैं।

जमुना के दोआबे के सिंचित भू भाग में सर्वनाश कर दिया। नवीन दशक (१९११–२१) के प्रथम वर्ष में भी प्लेग कालरा और मलेरिया के कारण बहुत मौतें हुई। दशक के अन्तिम तीन वर्षों में प्रथम विश्व युद्ध के बाद की आर्थिक अवस्था का संयोग लगातार दो बुरी ऋतुओं तथा विस्तृत क्षेत्रों में फसलों के न होने से हुआ। देश के विभिन्न भागों में प्लेग और कालरा आसाम में काला आजार और बंगाल में मलेरिया बड़े घातक सिद्ध हुए। लेकिन इन्फ्लुएंजा की महामारी की तुलना में, जिससे १२० १३० लाख व्यक्ति शिकार हुए, उपर्युक्त बीमारियों की मृत्यु संख्या नगण्य प्रतीत होती है।

१९२१ के उपरान्त जनसंख्या की वर्द्धमान एवम् नियमित वृद्धि का युग प्रारम्भ होता है। संचार-साधनों में सुधार होने के साथ ही दुर्भिक्ष-सहायता सम्बन्धी संगठन इतने अच्छे हो गए कि अभाव के कारण भारी मरण का कोई भय नहीं रहा। इसके अतिरिक्त महामारियों को रोकने का भी कुछ अंशों में सफल प्रयास किया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि १९२१–४१ के बीच जनसंख्या ११०० लाख की बड़ी संख्या से बढ़ गई। (१९४१–५०) आगामी दस वर्षों में बंगाल के दुर्भिक्ष (१९४३) तथा खाद्य-सामग्री के स्थानीय अभावों की तुलना में देश भर में खाद्यान्नों के अभाव की समस्या उत्पन्न होने के बावजूद भी जनसंख्या ४४० लाख और बढ़ गई।

भारत और अमरीका में प्रायः वर्तमान दशक वृद्धि-दर (१२–१३%) है, हालाँकि यह जापान (१४%) की तुलना में निश्चय ही कम है, यद्यपि पश्चिमी यूरोप (उदाहरण के लिए यू० के० ४८) के देशों से अधिक है। इससे हम यह कह सकते हैं कि प्रतिशत के रूप में भारत की जनसंख्या की वृद्धि-दर में कोई असामान्यता नहीं है। हाँ, यदि केवल संख्या की ओर दृष्टिपात किया जाय तो वृद्धि की संख्याएँ अवश्य डरावनी लगती हैं, क्योंकि हम प्रतिवर्ष ३० ४० लाख संख्या में बढ़ते जाते हैं। प्राचीन समय में बस तथा घन बसे और मुख्यतः कृषि प्रधान देश में जनसंख्या की इस प्रकार की वृद्धि का भय है जीवन स्तर का गिरना। एवं अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत में जनसंख्या की वृद्धि जन्म और मरण दरों के अन्तर का परिणाम है। पश्चिमी यूरोप के देशों में जन्म और मृत्यु-दर दोनों बहुत कम हैं।

§५. भारत में विवाह की दर—भारत में विवाहित अवस्था सामान्य नियम है। ब्रह्मचर्य अपवादस्वरूप है तथा स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही छोटी उम्र में ही शादी कर लेते हैं। हिन्दू के लिए विवाह करना और अपने पीछे एक पुत्र छोड़ जाना एक धार्मिक कर्तव्य है। १९२९ के बाल विवाह निषेध अधिनियम (चाइल्ड मेरिज रेस्ट्रेंट एक्ट) के अनुसार १८ साल से कम अवस्था वाले लड़का तथा १४ साल से कम अवस्था वाली लड़कियों का विवाह निषिद्ध है। यह अधिनियम अब भी जनमत से आगे है और परिणामतः व्यवहार में इसे बहुधा तोड़ा जाता है। धार्मिक प्रभाव संयुक्त परिवार प्रथा तथा सामाजिक रीतियाँ वैवाहिक दशा के पक्ष में हैं।[1] विश्व में आगे बढ़े हुए देशों की तुलना में यहाँ विवाह-योग्य पुरुषों का कहीं अधिक प्रतिशत विवाह करता है।

---

१ भारत में ३८ वर्ष की अवस्था की ० १% औरतें अविवाहित रहती हैं। यूरोप में इनकी संख्या इतनी अधिक है कि वह एक सामाजिक समस्या का रूप धारण कर सकता है।

§६ जनसख्या और उत्पादन—१६२१ से जनसख्या की तीव्र एवम् निहस्तक्षेप वृद्धि को दृष्टि मे रखकर यह प्रश्न, कि क्या उत्पादन भी तदनुरूप बढ रहा है महत्त्वपूर्ण हो जाता है। १६५१ की जनगणना रिपोर्ट में इस प्रश्न पर भली प्रकार विचार किया गया, परन्तु उन्हें नकारात्मक उत्तर देना पडा। जहा तक कृषीय उत्पादन का सम्बन्ध है, १६२१ से ही प्रतिव्यक्ति कर्षित क्षेत्र लगातार कम होता गया है जसा कि आगे दी हुई तालिका से स्पष्ट है।

तत्सम्बन्धी आँकडों के परीक्षण से स्पष्ट है कि प्रतिव्यक्ति कर्षित क्षेत्र की तरह १६२१ से प्रति व्यक्ति सिंचित भूमि तथा दोहरी फसलो वाले क्षेत्र भी कम होते गए हैं। औद्योगिक विकास इस कमी की पूर्ति करने में असफल रहे हैं। परिणामत अनजक आश्रिता और वृत्तिहीनता में सामान्य वृद्धि हुई है।

प्रतिव्यक्ति कर्षित भूमि में ह्रास

जनगणना वर्ष	कर्षित क्षेत्र प्रतिव्यक्ति (सेण्टस)[1]
१८६१	१०६
१६०१	१०३
१६११	१०६
१६२१	१११
१६३१	१०४
१ ४१	६४
१६५१	८४

§७ भारतीय जन्म-दर और मृत्यु दर—भारत में पजीकरण (रजिस्ट्री) आँकडो की बहुत कमी होने के कारण विभिन्न अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रस्तुत जन्म दर के अनुमानो में कुछ सीमा तक विभिन्नता पाई जाती है।[2]

निम्न अनुमान किंग्सले डेविस के हैं—

	अनुमानित	प्रतिवेदित (रिपोर्टेड)
१८८१ ६१	४६	—
१८६१ १६०१	४६	३४
१६०१ ११	४८	३७
१६११ २१	४६	३७
१६२१ ३१	४६	३३
१६३१ ४१	४५	३४

१६४१ ५१ के दशक के लिए १६५१ की जनगणना रिपोर्ट का जन्म-दर सम्बन्धी औसत अनुमान ४० प्रति १००० प्रतिवर्ष का है। इसमे १६२१ के बाद जन्म दर का प्रगामी ह्रास का प्रकट होना है। फिर भी यह जन्म-दर काफी ऊँची है तथा ईजिप्ट (मिश्र) (१६३६ मे ४७), फिलिस्तीन (१६३१-५ में ४६) तथा मैक्सिको (१६४५ म ४३ ७) की जन्म दर से तुलनीय है। ऐसा आंका गया है कि १६२० के पूर्व भारतीय मरण-दर प्रति हजार के लिए ४० ५० के बीच थी और १६२० के बाद

१ १०० सेण्टस=१ एकड।

२ किंग्सले डेविस द्वारा 'दि पापुलेशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान', पृ० ६६ पर दी गई तालिका द्रष्टव्य है।

जन्म देगी। विशेष आर्थिक अवसरों के अभाव में ऐसी स्थिति शीघ्र आ जायगी। भारत के आर्थिक विकास की सम्भावना औद्योगिक क्रान्तिकालीन (प्रारम्भ) इंगलैण्ड के समान नहीं है। हमारी जन्म-दर विश्व की सर्वोच्च दरों में से एक है तथा मृत्यु-दर भी ऊँची है जिससे स्पष्ट है कि जनसंख्या जीवन निर्वाह के साधनों को भाराक्रान्त कर रही है। शिशु मृत्यु की उच्च दर से स्पष्ट है कि जितने बच्चों का उचित भरण-पोषण हो सकता है उससे कहीं अधिक बच्चे पैदा होते हैं। विधवा विवाह पर से रोक उठ जाने से जनसंख्या की वृद्धि रोकने का एक अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण कारण भी हट जायगा। बाल विवाह निषेध (जहाँ तक सफल होगा) सम्भवतः जनसंख्या में वृद्धि ही करेगा। औषधि विज्ञान और सार्वजनिक स्वास्थ्य के उपायों की प्रगति तथा दुर्भिक्ष-निवारण के साधनों की पूर्णता आदि से मृत्यु दर बराबर घटती जा रही है जब कि जन्म-दर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

राष्ट्रीय आय के सही अनुमान तो कठिन हैं लेकिन पिछले कुछ वर्षों में अधिकांश व्यक्तियों ने खाद्यान्न, कपड़ा तथा घरों की कमी के कारण अत्यधिक कठिनाइयों का अनुभव किया है और उनकी आर्थिक परिस्थिति काफी गिर जाने के बाद अब देश में योजना के फलस्वरूप कुछ-कुछ सुधर रही है। इस बात का निर्देश किया जा चुका है कि १९२१ से ही उत्पादन में जनसंख्या के अनुपात से वृद्धि नहीं हो रही है। कोलिन क्लार्क के इस मत से सहमत होना कठिन है कि उद्योगपतियों के दृष्टिकोण से भारत की घनी जनसंख्या हानिकर न होकर एक अवसर प्रदान करती है। आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों तथा परिवहन पद्धति के लिए अपेक्षित जनसंख्या से हमारी जनसंख्या अधिक है। आर्थिक विकास के लिए बड़े से-बड़े राष्ट्रीय प्रयत्न के बावजूद भी प्रत्येक व्यक्ति को वृत्ति देना सम्भव न होगा और यदि जनसंख्या की वृद्धि न रोकी गई तो यह कठिनाई और भी बढ़ेगी। औद्योगीकरण स्वतः जनसंख्या की वृद्धि कम नहीं कर सकता। इसके विपरीत यह हो सकता है कि इंगलैण्ड की भाँति यहाँ भी प्रारम्भिक दशाओं में जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हो। जब लोग उच्च जीवन-स्तर के आदी हो जाते हैं तो वे उसे बनाए रखने के साधन रूप में परिवार को सीमित करने के बारे में सोचते हैं। इस विचार का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है कि आर्थिक दृष्टि से समृद्ध लोग दरिद्रों की अपेक्षा कम उर्वर होते हैं। जीवन विज्ञान की दृष्टि से सम्भवतः सत्य इसके विपरीत ही हो। उच्च जीवन स्तर के व्यक्तियों का परिवार सीमित इसलिए नहीं होता कि वे कम उर्वर हैं, वरन् इसलिए कि वे इस हेतु सुविचारित उपाय करते हैं। जो बहुत गरीब हैं वे अपनी गरीबी के कारण ही इस दिशा में असावधान होते हैं तथा कोई उपाय नहीं कर पाते। इसके अतिरिक्त उनके पास न तो आधुनिक गर्भ-निरोधकों के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान ही होता है और न उन्हें खरीदने के लिए धन ही होता है अतएव इस सम्बन्ध में सरकारी सहायता और प्रचार की आवश्यकता है।[1]

1 यद्यपि सरकार ने औपचारिक रूप से द्वितीय योजना में परिवार आयोजन को स्थान दिया है लेकिन अभी तक कोई ऐसा कदम नहीं उठाया गया है जिससे जनसंख्या की वर्तमान वृद्धि को प्रभावपूर्ण ढंग से रोका जा सके। योजना आयोग निश्चित रूप से सम पद्धति (रिदम मैथड) के पक्ष में है, लेकिन

§१० पचवर्षीय योजना की स्वास्थ्य योजना—यह स्पष्ट है कि निम्न स्वास्थ्य-स्तर के व्यक्तियो द्वारा न तो आर्थिक समृद्धि ही अर्जित की जा सकती है न कायम रखी जा सकती है। बीमारियो से बडी सख्या मे मृत्यु होती है तथा व बचे हुए व्यक्तियो को भी बडी दुर्बल अवस्था में छोड जाती हैं।

भारत में निम्न स्वास्थ्य-स्तर के कारण अधोलिखित हैं—

सार्वजनिक स्वास्थ्य की असन्तोषजनक दशा पोषक तत्वो के अभाव के कारण बीमारियों से सामना करने की शक्ति का अभाव, दवाओ और डॉक्टरी सहायता का अभाव साधारण शिक्षा एव स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा की कमी तथा अत्यधिक दरिद्रता। इस सम्बन्ध मे एक गम्भीर बाधा डॉक्टरो की कमी है। अस्तु, प्रशिक्षण की सुविधाओ की वृद्धि बहुत महत्त्वपूर्ण है। जनता को यथोचित सेवा प्रदान करने के लिए जन-सख्या की दृष्टि से अस्पतालो की सख्या बहुत कम है। १९४९ में औसतन शहर की २४ ००० जनसख्या के लिए एक अस्पताल तथा गाँवों की ५० ००० जनसख्या के लिए एक अस्पताल था।

पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य सम्बन्धी प्राथमिकताएँ निम्न हैं—

(१) जलपूर्ति और सफ़ाई की व्यवस्था।
(२) मलेरिया की रोकथाम।
(३) चलते फिरते अस्पतालो द्वारा देहातो की स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध।
(४) बच्चो तथा माताओ की स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाएँ।
(५) स्वास्थ्य शिक्षा।
(६) दवाओ और डॉक्टरी औजारो की आत्मनिर्भरता।
(७) परिवार नियोजन एव जनसख्या की रोक।

औषधि एव जन स्वास्थ्य की योजना के लिए प्रथम पाँच वर्षों मे ९९.५५ करोड रुपये की व्यवस्था थी। इसमे से केन्द्र का भाग १७.८७ करोड था। केन्द्र औषधि-सम्बन्धी उच्च अनुसन्धान तथा विशेष कार्यक्रमो में भी सहयोग देगा। भारत के जन-स्वास्थ्य मे मलेरिया की समस्या सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतएव इसे योजना मे उच्चतम प्राथमिकता दी गई है। राज्यों ने अपनी अपनी योजनाओ मे ७.०४ करोड रुपये की व्यवस्था की है और केन्द्र ने १० करोड की व्यवस्था की है। क्षय रोग का दूसरा नम्बर है। केन्द्र और राज्यो ने इसके लिए पर्याप्त व्यवस्था की है और इस दिशा मे काफी प्रगति भी की है। इसके कार्यक्रम की रूपरेखा मे मुख्यत स्वास्थ्यावासो (सेनेटोरियम) अस्पतालो दवाखानो की व्यवस्था तथा अस्पतालो में और अधिक रोगियो के लिए व्यवस्था तथा बी० सी० जी० के टीके लगवाने वालो की सख्या में वृद्धि करना है। मातृत्व एव शिशु-स्वास्थ्य के क्षेत्र मे डॉक्टरों और नर्सों के उत्तर-

---

अत्यधिक व्यय बचाया जा सके तथा इस पद्धति में निहित आत्म सयम के कारण सामाजिक जीवन की नैतिक आधारों की रक्षा भी हो जाय। इस समय प्रचलित विशेषज्ञ मत के अनुसार सम पद्धति सदैव प्रभावपूर्ण नही होती। अतएव अन्यत्र सफल हुए उपायों को भारतीय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित करके अपनाना अधिक उचित होगा।

सर्वत्र व्याप्त है फिर भी कुछ क्षेत्रों में, जैसे उत्तर का भोजन देश के अन्य भागों, जैसे दक्षिण की अपेक्षा अच्छा है। दूसरे शब्दों में देश के अनेक भागों में दरिद्रता के प्रभाव दोषपूर्ण भोजन-व्यवस्था से और भी तीव्र हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि इस निम्नकोटि के भोजन को सुधारने के लिए ऐसी विधियों की खोज की जाय जिससे भोजन की कीमत न बढ़े और सुधार हो जाय। इधर हाल में काफी अनुसन्धान हुआ है। डॉक्टर एक्रोयड सर जॉन मेगा तथा सर राबर्ट मैक्कारिसन ने बड़ी ही महत्त्वपूर्ण जाँच-पड़ताल की है तथा वे लोगों के भोजन में सुधार लाने के लिए व्यावहारिक सुझाव देने में समर्थ भी हुए हैं। अनुसन्धानों के परिणामों को जनता तक पहुँचाने के लिए अभी पर्याप्त काम करना बाकी है। अब तक प्राप्त ज्ञान को दृष्टिगत रखते हुए सरकार को बीमारी तथा निम्नाहार दूर करने के लिए अपेक्षित विभिन्न साधनों के उत्पादन के अनुपात के प्रश्न पर भी विचार करना चाहिए। देशवासियों की अधभूखी दशा के कारण भोजन की अधिक मात्रा निःसन्देह आवश्यक है परन्तु साथ ही श्रेष्ठतर और सन्तुलित भोजन भी उतना ही आवश्यक है।

§१३ शिक्षा—देश के किसानों दस्तकारों तथा कारखानों में काम करने वालों की कुशलता को बढ़ाने में शिक्षा का महत्त्व इतना स्पष्ट है कि उस पर जोर देना आवश्यक नहीं है। आजकल की दुनिया में जहाँ बाजार तथा सुधरी हुई प्रविधि के सम्बन्ध में लाभप्रद ज्ञान लिखित शब्दों द्वारा प्रसारित होता है, साक्षरता का महत्त्व स्पष्ट है। जैसा कि योजना आयोग ने कहा है, 'प्रजातन्त्र की प्रणाली में शिक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्रजातन्त्र तभी अच्छी तरह काम कर सकता है जबकि जन साधारण देश के कार्यों में विचारपूर्वक भाग लें। प्रजातन्त्र देश में नियोजन की सफलता, लोगों में सहकारिता की भावना, अनुशासनबद्ध नागरिकता के विकास तथा इस बात पर निर्भर करता है कि जनता का उत्साह एवं स्थानीय नेतृत्व कहाँ तक प्राप्त किया जा सकता है। हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली का यह दोष, जिसे बहुधा नोट किया गया है शिक्षा प्रणाली का अत्यधिक साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक होना है। सैद्धान्तिक तथा साहित्यिक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने से अधिकांश विद्यार्थियों में व्यावहारिक ज्ञान, कार्य प्रारम्भ करने की प्रतिभा और साधन सम्पन्नता (रिसोर्सफुलनेस) नष्ट हो जाती है।" अनेक कमेटियों और रिपोर्टों—जैसे ऐबट और उडरिपोर्ट (१९३७), जाकिर हुसैन रिपोर्ट (१९३७) बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त व्यावसायिक परीक्षण समिति (१९३८) ने इस बात पर जोर दिया है।

जाकिर हुसैन समिति ने महात्मा गांधी के बुनियादी शिक्षा के विचार का पूर्णतया समर्थन किया है जिसके अनुसार शिक्षा किसी दस्तकारी या उत्पादक कार्य के माध्यम से दी जानी चाहिए। स्कूल में दी जाने वाली और सभी शिक्षा का यही केन्द्र बिन्दु होना चाहिए। बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में देश भर में प्रयोग हो रहे हैं। यह सत्य है कि अब तक प्राप्त परिणाम सन्तोषजनक नहीं रहे हैं परन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि अध्यापकों की योग्यता तथा प्रणाली में सुधार की आवश्यकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि यह विचारधारा ही परित्याज्य है। साथ ही

हमें यह भी मानना होगा कि जहाँ अनेक विषयो के प्रायमिक अध्ययन मे बुनियादी शिक्षा प्रणाली का लाभ के साथ प्रयाग हो सकता है, वहाँ कितने ही ऐसे विषय हैं जिन पर इस पद्धति को लागू करना कठिन ही नही वरन् व्यय भी है। अतएव ऐसे विषया पर बुनियादी शिक्षा को लागू करने का आग्रह नही करना चाहिए।

कुशलता मे चतुर्दिक सुधार लाने और निरक्षरता में पुनर्वेश को रोकने के लिए प्रौढ शिक्षा भी आवश्यक है। प्रौढ शिक्षा औपचारिक ढग से न होकर रात्रि पाठशालाओ (कण्टिन्यूएशन क्लासेज) द्वारा देनी चाहिए। रेडियो, सिनेमा, मजिक लेण्टन, प्रदशन-गाडी जसे आधुनिक माध्यम इस काय के लिए उपयुक्त हैं।

कहने की आवश्यकता नही कि सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त प्राविधिक (टक्नीकल) व्यावसायिक, कृषीय एवम् व्यापारिक शिक्षा की समस्या भी विभिन्न स्तरो पर शीघ्र ही उचित ढग से सुलझानी चाहिए, क्योकि इसके बिना योजना में सफलता मिलना कठिन होगा।

देश के सुनियोजित विकास को दृष्टिगत रखते हुए योजना आयोग ने शिक्षा के उचित सगठन के लिए व्यापक सुझाव रखे हैं।

वतमान परिस्थितियो की प्रमुख आवश्यकताएँ निम्न हैं—

शिक्षा-पद्धति का नवकरण तथा उसकी विभिन्न शाखाओ का सयोजन, विभिन्न क्षेत्रो में (मुख्यत बुनियादी एव सामाजिक) शिक्षा का विस्तार, वतमान उच्चतर माध्यमिक एव विश्वविद्यालय की शिक्षा में सुधार तथा ग्रामीण क्षेत्रो के लिए उपयुक्त उच्चतर शिक्षा-पद्धति का निर्माण, स्त्री शिक्षा के लिए सुविधाओ का विस्तार, अध्यापकवग मुख्यत अध्यापिकाओ तथा बुनियादी स्कूलों के अध्यापक-वग को प्रशिक्षण, अध्यापको के वेतन, वृत्ति की दशाओ में सुधार, ऐसे पिछडे राज्यो एवं जातियो को प्रोत्साहन एव सहायता, जिनकी शैक्षिक प्रगति भूतकाल में पिछड गई हो।

§१४ सामाजिक शिक्षा—ऐसे देश म, जहाँ बहुत बडे अनुपात में जनसख्या निरक्षर है राष्ट्रीय विकास के लिए सामाजिक शिक्षा का बडा महत्त्व है। केन्द्रीय सरकार की योजना में ७ ५ करोड रुपये सामाजिक शिक्षा के लिए रखे गए हैं। प्रत्येक प्रकार की सामूहिक क्रिया में सामाजिक शिक्षा की आवश्यकता होती है जस ग्राम पचायत सहकारी समितियाँ तथा व्यापार सघ के काय। प्रत्येक शिक्षा सस्था को समीपवर्ती क्षेत्रो में इस प्रकार की सामाजिक शिक्षा के प्रसार का काय करना चाहिए।

§१५ व्यावसायिक शिक्षा—पेशेवर शिक्षा के अनक पहलुओ पर योजना मे प्रकाश डाला गया है। कुछ सिफारिशें निम्न हैं—

(१) उत्तर-स्नातक शिक्षा एव खोज काय की सुविधाओ का विकास।

(२) मुद्रण प्रविधि तथा ऊनी और रेशमी कपडो की प्रविधि सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था तथा औद्योगिक सम्बन्ध एव व्यापारिक प्रबन्ध सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था।

(३) वतमान सस्थाओ का इस प्रकार पुनसगठन, ताकि वे विद्यार्थियो को अखिल भारतीय औद्योगिक शिक्षा परिषद् (ऑल इण्डिया कौंसिल ऑफ़ टेक्नीकल एजूकेशन) के राष्ट्रीय प्रमाण पत्रो के लिए प्रशिक्षित कर सकें।

(४) कारीगर और दस्तकारों के स्तर पर प्रशिक्षण-सुविधाओं का विस्तार तथा शिक्षण (अप्रेंटिसशिप) की व्यवस्था।

(५) अभिनवन पाठ्यक्रम की व्यवस्था।

(६) ग्रामीण प्रशिक्षण-केन्द्रों की स्थापना, ताकि ग्रामीण कारीगरों की कुशलता बढ़ सके।

§१६ स्त्री शिक्षा—शिक्षा के इन क्षेत्रों पर विशेष ध्यान देना चाहिए जिसके लिए स्त्रियों में स्पष्ट अभिरुचि हो। उन्हें व्यक्तिगत रूप से पढ़ने और व्यक्तिगत परीक्षार्थी की तरह उच्च परीक्षाओं में बैठने की प्रचुर सुविधाएँ देनी चाहिए। स्त्रियों की सामान्य शिक्षा तथा दस्तकारी के लिए अल्प समय के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था करनी चाहिए।

§१७ विद्यार्थियों द्वारा शारीरिक काम और समाज सेवा—योजना में विद्यार्थियों के युवक शिविरों तथा श्रम-सेवा के लिए एक करोड़ रुपये की व्यवस्था है। यह भी प्रस्तावित है कि १८ से २२ वर्ष की उम्र के विद्यार्थी अपना समय अनुशासित राष्ट्र सेवा में व्यतीत करें। इससे नागरिक एवं कार्यकर्ता के रूप में उनका विकास होगा। ऐसा प्रस्तावित किया गया है कि प्रारम्भ छोटे-छोटे समूहों, जैसे एम० ए० के विद्यार्थियों, से किया जाय और ३ महीने से लेकर ६ महीने तक के शिविर लगाये जायें।

§१८ गाँव और शहर—भारत विशेषतया गाँवों का देश है। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारतीय संघ में ५५८,०८९ गाँव और ३०१८ नगर और कस्बे हैं। ३,५६९ लाख की आबादी में से २९७० लाख गाँवों में और ६१९ लाख नगरों में रहती है। सम्पूर्ण भारत के लिए नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत १७.३ है। यह अनुपात विभिन्न प्रदेशों के अनुसार बदलता रहता है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी भारत में यह ३१.२ प्रतिशत है तथा पूर्वी भारत में ११.१ प्रतिशत है। शेष चार प्रदेश क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

(१) उत्तर-पश्चिमी भारत २१.४ प्रतिशत।
(२) दक्षिण भारत १९.७ प्रतिशत।
(३) मध्य भारत १५.८ प्रतिशत।
(४) उत्तर भारत १३.६ प्रतिशत।

जनगणना रिपोर्ट नगरों का निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत करती है। ये चार वर्ग इस प्रकार परिभाषित किये गए हैं—(१) नगर, १ लाख या अधिक आबादी वाले; (२) बड़े कस्बे, २०,००० से १,००,००० तक, (३) छोटे कस्बे, ५,००० से २०,००० तक, (४) कस्बे, ५,००० से नीचे।

निम्न तालिका गाँवो ग्रौर नगरो मे जनसख्या के वितरण को प्रदर्शित करती है—

जनगणना वर्ष	जनसख्या (लाख)		वृद्धि (लाख) पूर्वदशक में		वृद्धि की दर पूर्व दशक में	
	ग्राम	नगर	ग्राम	नगर	ग्राम	नगर
१९२१	२ १९९	२८२	—	—	—	—
१९३१	२,४२०	३३४	+२२१	+ ५२	+१० १	+१८ ४
१९४१[1]	२,७१०	४३८	+२९०	+१०४	+१२ ०	+३१ १
१९५१	२,९५०	६१९	+२४०	+१८१	+ ८ ९	+४१ ३

इन सख्याग्रो से स्पष्ट है कि गाँवों मे जनसख्या की वृद्धि नगरों की अपेक्षा कम है। इस अन्तर का कारण गाँवो से नगरो की ओर प्रवास है।[2]

भारत के प्राचीन नगरा की उत्पत्ति ग्रौर समृद्धि मुख्यत नीचे लिखे कारणो से थी—

(१) वे पवित्र ग्रथवा तीर्थ-यात्रा के स्थान थे, जसे प्रयाग, बनारस, गया, नासिक, पुरी।

(२) वे किसी प्रान्त की राजधानी थे या दरवार के स्थान थे, जसे दिल्ली, लखनऊ लाहौर, पूना, तजोर, ग्रकाट।

(३) वे व्यावसायिक केन्द्र थे, क्योकि वे व्यापारिक मार्गों पर स्थित थे, जसे मिर्जापुर हुगली, वगलोर।

प्रथम प्रकार के नगरो का महत्त्व ग्रब भी ग्रक्षुण्ण है। यद्यपि ग्राधुनिक ग्रौद्योगिक नगर, जसे कलकत्ता ग्रौर वम्बई, ने उनका रग फीका कर दिया है।

द्वितीय प्रकार के स्थान ग्रब सरकार के स्थान, राजधानियो तथा प्रशासन मुख्यालयो, म परिवर्तित हो गए हैं।

§१९ जीविका का नमूना—१९५१ की जनगणना से सम्पूर्ण भारतीय जनसख्या के पशेवर विभाजन का प्रयास किया गया है (ग्रर्थात् ३,५६६ लाख जनसख्या के ग्राधार पर, ग्रर्थात् कुल जनसख्या मे से पजाव की ३ लाख जनसख्या घटाकर, जिसके लेखे भाग में जल गए थे)। १,०४४ लाख व्यक्ति ग्रात्म निर्भर हैं (कुल जनसख्या का २९ ३ प्रतिशत), जिनमे से ७१० लाख (ग्रर्थात् ६८ १ प्रतिशत) कृषक हैं ग्रौर ३३४ लाख (ग्रर्थात् ३१ ९ प्रतिशत) कृषिइतर पेशो पर निर्भर हैं। कृपको को चार वर्गों में विभाजित किया गया है—[3]

१ १९४१ की जनगणना के ग्रक हैं। इनमें पश्चिमी बगाल ग्रौर पंजाब में ग्रतिशयोक्ति विवरण के लिए संशोधन नहीं किया गया है।

२ १९५१ की जनगणना रिपोर्ट, पृष्ठ १५२।

३ सेन्सस रिपोर्ट, १९५१, पृष्ठ ९३।

जीविका वर्ग	संख्या (लाख)		सब कृषकों का प्रतिशत	आत्म-निर्भर व्यक्तियों का प्रतिशत
भूमि के मुख्यत या पूर्णत स्वामी कृषक	४५७	५४५	६४ ४	४३ ८
भूमि के मुख्यत या पूर्णत गैर-स्वामी कृषक	८८		१२ ३	८ ४
खेती करने वाले श्रमिक	१४६		२१ ०	१४ ३
खेती न करने वाले खेती सम्बन्धी स्वामी और लगान पाने वाले अन्य व्यक्ति	१६		२ ३	१ ६
योग	७१०		१०० ०	६८ १

५४५ लाख कृषकों में १४६ लाख जोतने वाले श्रमिक हैं अर्थात् चार म एक। इसका यह अर्थ हुआ कि कृषको द्वारा अपने और अपने परिवार के श्रम के अलावा या उसके बदले मे लगाये गए मजदूरो की संख्या अपेक्षाकृत कम है।

३३४ लाख स्वनिर्भर गैर-कृषक भी निम्न प्रकार से चार वर्गों में विभाजित किये गए हैं[1]—

जीविका वर्ग	संख्या (लाख)	सम्पूर्ण गैर-कृषक आत्म निर्भर व्यक्तियों का प्रतिशत	सम्पूर्ण आत्म निर्भर व्यक्तियों का प्रतिशत
सेवा योजक	११	३ ३	१ १
सेवा योजकों के अतिरिक्त स्व-सेवा योजक	१६५	४६ ४	१५ ७
कर्मचारी	१४८	४४ ३	१४ २
लगान पाने वाले गैर कृषक, पेंशन पाने वाले और विविध प्रकार से आय प्राप्त करने वाले	१०	३ ०	० ९
योग	३३४	१०० ०	३१ ६

यदि हम ३३४ लाख के कुल योग म से १० लाख लगान देने वालों को घटा दें तो आत्मनिर्भर व्यक्तियो की संख्या ३२४ लाख रह जायगी, जोकि खेती के अतिरिक्त अन्य पेशा—जैसे उद्योग या नौकरी, म हैं। इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है[2]—

---

१ वही, पृष्ठ ६६।
२ वही, पृष्ठ ६८।

सेवाओं एव उद्योगों का विभाजन	सख्या (लाख)	प्रतिशत
कृषि तथा खनन क अतिरिक्त अन्य प्रारम्भिक उद्योग	२४ ०	० ७ ४
खनन (खानों की खुदाई)	५ ७	१ ८
विधायन और निर्माण—खाद्य, कपड़ा चमड़ा तथा उनसे बनी वस्तुएँ	५५ १	१७ ०
विधायन तथा निर्माण—धातु, रसायन तथा उनसे बनी वस्तुएँ	१२ ४	३ ८
अन्यत्र अनिर्दिष्ट विधायन और निर्माण	२४ ३	७ ५
निर्माण और उपयोगिताएँ	१५ ६	४ ६
वाणिज्य	५९ ०	१८ २
परिवहन संग्रह, सचार	१९ ०	५ ९
स्वास्थ्य शिक्षा एव प्रशासन	३२ ६	१० ०
अन्य अनिर्दिष्ट सेवाएँ	७५ ४	२३ ३
योग	३२३ ७	१०० ०

निम्न तालिका विभिन्न जीविकोपाजन वर्गों के आत्म निभर और आश्रितों की कुल सख्या प्रदर्शित करती है—[1]

जीविका वग	आत्मनिभर व्यक्ति	आश्रित अजक तथा अनर्जक (लाख)	योग	सामान्य जनसख्या से प्रतिशत (आश्रितों को सम्मिलित करते हुए)
मालिक किसान	४५७	१,००१+२१५	१ ६७३	४६ ९
गैर मालिक किसान	८८	१८९+ ३९	३१६	८ ८
श्रमिक	१४९	२४७+ ५२	४४८	१२ ६
लगान पाने वाले	१६	३३+ ४	५३	१ ५
योग—कृषि वग	७१०	१,४७०+३१०	२ ४९०	६९ ८
सेवा योजक	१२२	२२३+ ३२	३७७	१० ५
स्व सेवा योजक	५९	१४५+ ९	२१३	६ ०
कर्मचारी	१७	३७+ २	५६	१ ६
लगान और पेंशन पाने वाले	१३६	२६८+ २६	४३०	११ १
योग—गैर-कृषि वग	३३४	६७३+ ६९	१ ०७८	३० २
सामान्य जनसख्या	१ ०४४	२,१४३+३७९	३ ५६६	१०० ०

यदि भारत के जीविकोपाजन की तुलना ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमरीका से की जाय तो १९५१ की जनगणना रिपोट से स्पष्ट है कि भारत मे आश्रितो का भार अधिक है। यदि भारत के १ ००० आत्म निभर व्यक्ति लिये जायें, जो लाभप्रद नौकरियों या पेशों मे हैं, तो वे अपने अलावा २,५०४ अन्य व्यक्तियों को भी सहारा देते हैं। इनमें २७३ ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित हैं जो कमाने वाले आश्रित हैं अर्थात् आत्म

१ पूर्वोद्धृत, पृष्ठ १०८।

निर्भर व्यक्तियों पर आंशिक रूप से ही आश्रित हैं। इनके अलावा २६ लगान तथा पेंशन पाने वाले व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। यद्यपि ये अपने घर वालों पर भार स्वरूप नहीं हैं फिर भी अन्ततोगत्वा उन्हीं १,००० आत्म निर्भर व्यक्तियों द्वारा ही आश्रय पाते हैं।

हमारे २,५०८ की तुलना में संयुक्त राज्य अमरीका में यह संख्या १,५४७ और ग्रेट ब्रिटेन में १,२०७ है। इन १,००० आत्म निर्भर व्यक्तियों का उत्पादक क्रियाओं के विभिन्न वर्गों में तुलनात्मक विभाजन नीचे दी हुई तालिका प्रदर्शित करता है—

	भारत	संयुक्त राज्य अमरीका	ग्रेट ब्रिटेन
(क) कृषि, पशु-पालन अन्य तथा मछली के व्यवसाय	७०६	१२८	५०
(ख) खान, निर्माण और वाणिज्य	१५३	४५६	५५५
(ग) अन्य सेवाएँ और उद्योग	१४१	४१६	३९५
	१,०००	१,०००	१,०००

'क' वर्ग के मनुष्य मुख्यतः खाद्य पदार्थों के उत्पादन में लगे हैं। भारत में १,००० व्यक्तियों में ७०६ व्यक्ति अपने तथा शेष २९४ व्यक्तियों के लिए खाद्यान्न उत्पन्न करने में लगे हैं जो २९४ व्यक्तियों के लिए कुछ कम पड़ता है। संयुक्त राज्य अमरीका में १२८ व्यक्ति इतना उत्पन्न करते हैं जो उनकी तथा शेष ८७२ व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति तो करता ही है साथ ही निर्यात के लिए भी बच रहता है। ग्रेट ब्रिटेन की अवस्था भिन्न है। यह खाद्यान्न के लिए अन्य देशों पर निर्भर है।

'ख' और 'ग' वर्ग की संख्याओं से अन्य देशों का औद्योगीकरण और भारत का औद्योगिक पिछड़ापन व्यक्त होता है।

भारत के आर्थिक हृदय की ग्रामीण एवं कृषीय विशेषता व्यक्त करने के लिए अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण रिपोर्ट में निम्न बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है—(१) प्राय प्रत्येक ६ भारतीयों में से ५ गाँव में रहते हैं, (२) प्रत्येक ६ आत्म निर्भर व्यक्तियों में से ५ गाँव में रहते हैं, (३) केवल ग्रामीण क्षेत्रों को ही दृष्टि में रखा जाय तो वहाँ रहने वाले हर ५ आत्म निर्भर व्यक्तियों में से ४ कृषक हैं, (४) शहरी क्षेत्र में प्रत्येक ८ में से १ आत्म निर्भर व्यक्ति (गाँव के ५ में से ४ आत्म निर्भर व्यक्तियों के अलावा) कृषक है, (५) भारत में प्रत्येक १० व्यक्तियों में से ७ अपनी जीविका के प्रधान साधन के रूप में कृषि पर आश्रित हैं (६) भारत की राष्ट्रीय आय का प्रायः आधा कृषि, पशु पालन तथा अन्य सम्बन्धित क्रियाओं से प्राप्त होता है (७) हर ५ आत्म निर्भर कृषकों में आत्म निर्भर श्रमिक का अनुपात १ से कुछ ही ज्यादा है। लगान पाने वाले इतने कम हैं कि अगर चार या इससे कुछ ही कम भी प्रायः किसान ही हैं। इसमें मालिक तथा गैर मालिक दोनों किसान शामिल हैं। (८) अगर हम ग्रामीण आत्म निर्भर गैर-कृषक जनसंख्या को लें (जो कुल ग्रामीण आत्म निर्भर जनसंख्या का पाँचवाँ भाग है) और गाँव के प्रत्येक दस गैर किसान पर विचार करें तो हम देखेंगे कि इनमें ३ चार प्रारम्भिक उद्योगों में लगे हैं जिनमें विभिन्न कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों के अतिरिक्त क्रियाएँ और डेरी जो कृषि पर ही आश्रित

हैं भी सम्मिलित हैं। तीन विभिन्न सेवाओं और प्रशासन में लगे हैं (प्रशासन में अपेक्षाकृत बहुत कम लोग हैं), शेष में से आधे तो ग्रामीण व्यापार में लगे हैं तथा आधे मकान बनाने, खाना की खुदाई, गाडी चलाने जैसे विभिन्न पशा पर आश्रित हैं।

§२० गुण (प्रकार) का प्रश्न—आबादी के गुण का प्रश्न उसकी सख्या के प्रश्न से कम महत्वपूर्ण नही है। अभी तक सन्तति शास्त्र इतना विकसित नही है कि उसे विश्वास के साथ विभिन्न पित्रागत समूहो के प्रोत्साहन और नियन्त्रण पर लागू किया जा सके। मानवीय मूल्य का आँकना मनुष्यो की सख्या गिनने से कही दुष्कर काय है। इसके अतिरिक्त सन्तति शास्त्र की सही विधियो को लागू करने मे व्यावहारिक कठिनाई भी है। विश्व के सभी राष्ट्रो के विवाह सम्बन्धी रीति रिवाज यह स्पष्ट करते हैं कि वे राष्ट्र अथवा जाति को अध पतन से बचाने के प्रति जागरूक हैं। लेकिन अभी हाल तक पैतृकता के नियमो के सम्बन्ध में थोडी जानकारी होने के कारण प्राचीन रीति रिवाज अन्धकार मे माग टटोलने के समान हैं। ऐसे नियम, जिनके अनुसार एक ही गोत्र के व्यक्ति कुछ रिश्तेदारियो तक विवाह नही कर सकते, वैज्ञानिक दृष्टि से खरे नही उतरते। सच तो यह है कि वे नियम जो जाति के बाहर विवाह करने से रोकते हैं, वस्तुत लगातार अन्त प्रसवन से जातीय अध पतन का कारण बन सकते हैं।

पश्चिम के कुछ विकसित देशो में वे व्यक्ति, जो भयानक बीमारियो के शिकार होते हैं या जिनमें ऐसी भयानक अपराधी प्रवृत्ति होती है जो पित्रागत सिद्ध हो चुकी है, कानूनन विवाह करने से रोक दिए जाते हैं या अनिवार्यत वन्ध्य कर दिए जाते हैं। इस प्रकार के कुछ प्रयास भारत मे भी किये जा सकते हैं। सन्तति शास्त्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक सूचना भी प्रसारित करनी चाहिए।

कुछ समय पहले प्रचलित ऐसी विचार धाराएँ कि कुछ जातियाँ स्वत श्रेष्ठ होती हैं और कुछ स्वत निम्न होती हैं, आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानो के परिणाम-स्वरूप गलत साबित हो चुकी हैं। इसलिए हमें इन बातो पर विचार करने के लिए रुकने की आवश्यकता नही है कि क्या भारतीय कुछ ऐसी जातिगत कमियो के शिकार हैं जिनके कारण पृथ्वी के अधिक सम्पन्न राष्ट्रो के समान भौतिक सभ्यता की कला मे प्रगति करना उनके लिए असम्भव है। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि चाहे जो भी अन्य कारण हमारी आर्थिक एव भौतिक समृद्धि की प्रगति को रोकते हो, परन्तु किसी भी प्रकार का आन्तरिक जातीय हीनत्व इसका कारण नही है।

§२१ आन्तरिक आवास प्रवास—भारतीय जनता बहुत ही गतिहीन है। १९३१ मे अपनी पदाइश के जिलो के बाहर रहने वाले लोगो का प्रतिशत ९ ८ था। अपने राज्य या प्रान्त के बाहर रहने वालों का प्रतिशत ३ ६ था। १९४० मे सयुक्त राज्य अमरीका में अपनी पदाइश के राज्य के बाहर रहने वालो का प्रतिशत २२ ५ था।[1] भारत में जो कुछ गतिशीलता है वह थोडी दूर की है। इस सापेक्षिक गतिहीनता के मुख्य कारण निम्न हैं—

(१) कृषि की प्रधानता, जिससे लोग भूमि म बँध गए हैं।

---

१ किंग्सले डेविस, द पापुलेशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृष्ठ १०७।

(२) जाति प्रथा।

(३) संयुक्त परिवार प्रथा।

(४) शीघ्र विवाह और अपरिपक्वावस्था में ही पारिवारिक उत्तरदायित्व का भार जिसके कारण गतिशीलता में बाधा पड़ती है।

(५) बीमारियाँ, जिनके कारण लोगों की शारीरिक शक्ति क्षीण होती रहती है और जो लोगों को अपने स्थान को छोड़ने के लिए अशक्त बना देती है।

(६) ऋणदाता का भी यह प्रयास रहता है कि उसके ऋणी, जो अधिकांश गाँव वाले होते हैं, गाँव छोड़कर उसकी पहुँच के बाहर न जा सकें।

(७) भाषा और संस्कृति की प्रादेशिक विविधता।

(८) नये वातावरण के प्रति अज्ञान-जन्य भय।

१९११ की जनगणना रिपोर्ट में निम्न प्रकार के प्रवासों का विवरण है—

(१) आकस्मिक या पड़ोस के गाँवों में गतिशीलता, जो कि हिन्दुओं की अपने गाँव को छोड़कर दूसरे गाँव में विवाह करने की प्रथा का परिणाम है।

(२) अस्थायी प्रवास—कुलियों का नहरों, रेलों में काम करने के लिए या धार्मिक यात्राओं के कारण।

(३) नियतकालिक प्रवास—उदाहरणत सुन्दरबन, बर्मा, उत्तरी भारत के गेहूँ के जिलों में प्रत्येक वर्ष निश्चित ऋतु में होने वाला प्रवास।

(४) अर्द्ध-स्थायी प्रवास—कारखानों में काम करने वालों, सरकारी कार्यालयों के क्लर्कों, व्यापारी और ऋणदाताओं का प्रवास जो अन्त में अपने घर या परिवार को लौटते हैं।

(५) स्थायी प्रवास—उदाहरणत जब सिंचाई या संचार-सुविधा में सुधार के कारण बसने के लिए नई भूमि प्राप्त होती है।

उत्तरी भारत में पुरुषों का प्रवास पूर्व की ओर होता है। इसका कारण आसाम और बंगाल के चाय के बागों में श्रम की माँग तथा कलकत्ता के आस-पास हुआ औद्योगिक विकास है। प्रवासियों के आने पर प्रतिबन्धात्मक नियमों तथा समीपवर्ती क्षेत्रों से ही श्रमिकों की प्राप्यता के कारण चाय के बागों को होने वाला प्रवास कम हो गया है। बंगाल में मध्य भाग की जनता कलकत्ता के आस-पास के औद्योगिक क्षेत्र तथा उत्तरी भारत की ओर बढ़ रही है। प्रवासी उत्तरी जिलों, औद्योगिक जिलों और कलकत्ता की ओर जाते हैं। स्त्रियों की गतिशीलता उत्तरी भारत में प्राय पश्चिम की ओर है। इसका प्रधान कारण अनुलोम विवाह प्रथा अथवा अपने से श्रेष्ठ जाति के पुरुष से विवाह करना है। बम्बई राज्य के औद्योगिक केन्द्र प्रधान तथा शोलापुर और बम्बई में बाहरी श्रमिकों की पर्याप्त मात्रा में खपत होती है। बम्बई उत्तर के तथा शोलापुर दक्षिण और दक्षिण-पूर्व के प्रवासियों को आकृष्ट करता है। बम्बई राज्य का आन्तरिक प्रवास प्राय कारखाने के श्रमिकों का होता है, जो नौकरी की तलाश में औद्योगिक नगरों में जाते हैं।

§२२ विदेश गमन[1]—भारतीया का विदेश-गमन आधुनिक युग में १८३४ के आस-पास प्रारम्भ होता है, जब कि इगलैण्ड में दास प्रथा का अ त हुआ और अनुब ध प्रथा (इण्डचर सिस्टम) के अनुसार श्रमिका की भरती होने लगी। ऐसा अनुमान है कि १८४६ १९३२ के बीच २८० लाख भारतीय अ य देशा को गये। इनमे से २२० लाख फिर भारत लौट आए। परिणामत केवल ६० लाख भारतीय बाहर गये। इस समय विदेशो मे भारतीय प्रवासियो की सख्या ४० लाख है, जिनमे से ३,२५४ ६५१ कामनवेल्थ (दक्षिण अफ्रीका ३६५,५२४, लका[2] ९८५ ३२७, ब्रिटिश मलाया ६४० ७०९, सिंगापुर[3] ८३,६२८, मारिशस ३२२,९७२, केन्या ९० ५२८, यूगेण्डा ३३,७६७, टगानीका ५६ ४९९, ट्रिनिडाड और टेबागो २२७,३९०, फिजी द्वीप-समूह १४८ ८०२) देशो मे हैं। अ य देशो में—बर्मा ७००,०००, ब्रिगायना ६०,०००।[4] भारत में अनुब ध प्रथा के विरुद्ध बडा आन्दोलन चला, क्योंकि इस प्रथा से कितनी ही बुराइयाँ उत्प न हुई थी। अत १९२० में इसे एकदम समाप्त कर दिया गया। इसके स्थान पर कागानी प्रथा प्रारम्भ हुई। इसके अनुसार कागानी या श्रमिको के नेताओ द्वारा श्रमिका की भरती अल्पकाल के लिए होती थी। कागानी प्रथा भी स्वत त्र वैयक्तिक प्रवास के कारण हट गई। यह प्रवास प्राय मौसमी प्रवास होता है। १९२२ के अधिनियम के अनुसार कुशल एव अकुशल दोनो प्रकार के श्रमिका का प्रवास पहले की अपेक्षा काफी नियन्त्रित हो गया।[5]

प्रवासी श्रमिको के पीछे सौदागर, बकर ठेकेदार, दूकानदार फेरी वाले भी गये। ये स्वत त्र प्रवासी थे। इनमें से बहुतो ने अपने साहसोद्यम के रूप में काफी धनराशि भी एकत्र की।

देश की जनसख्या की दृष्टि से भारतीय प्रवासियो की सख्या नगण्य रही है। इधर बीस वर्षों मे यह और भी कम हो गई है। इधर हाल में यह मौसमी भी होती जा रही है। जिन देशो मे भारतीय प्रवासी जाते रहे हैं वे धीरे धीरे भारतीया के विरुद्ध होते जा रहे हैं। इस प्रकार की परिस्थितिया में प्रवास द्वारा देश की जनसख्या के भार को कम करने का भविष्य अच्छा नही दीखता।

भारत सरकार इस बात पर तत्पर है कि बाहर गये भारतीयो को उन देशो मे उचित प्रकार का व्यवहार प्राप्त हो—उ हे न तो तग किया जाय और न उनके साथ भेद भावपूर्ण व्यवहार हो। परन्तु यह तो राजनीतिक समस्या है, भारतीय अर्थशास्त्र की समस्या नही।

---

१ पूर्व उद्धृत अध्याय १३।

२ १५ मार्च १९५३ में भारत व पाकिस्तान में रजिस्टर्ड नागरिकों की सख्या केवल १८,५०० थी।

३ पाकिस्तानियों को लेकर।

४ देखिए, 'इडिया' १९५५, पृ० २९ ३२।

५ विदेशों में भारतीय श्रमिकों की भरती के ऐतिहासिक पुनर्वेक्षण के लिए देखिए, व खिडपा—'इण्डियन ओवरसीज' १८३८ १९४९, अध्याय २।

अध्याय ४

समाज, विधान और धर्म

§१ जाति प्रथा स्वभाव और उत्पत्ति—३,००० वर्षों से जाति प्रथा हिन्दू समाज की विचित्र एवं हानिकर विशेषता रही है। इसके फलस्वरूप भारतीय समाज, विशेषतया हिन्दू एकदम अलग-अलग वर्गों में विभाजित हो गया है और प्रत्येक वर्ग अपने विशिष्ट सामाजिक व्यवहार के नियमों से नियमित है। साधारणतः अन्य जातियों के सदस्यों से विवाह निषिद्ध होता है। 'इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया' के शब्दों में (खण्ड १ पृ० ३२९) 'भारत में जन्म मनुष्य के घरेलू और सामाजिक सम्बन्ध जीवन भर के लिए निश्चित कर देता है। उसे जीवन-पर्यन्त खान-पान, वेश भूषा, विवाह आदि सभी जाति के नियमों के अनुसार करने पड़ते हैं जिसमें वह पैदा हुआ है। जाति प्रथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनुमान तो बहुत लगाये गए हैं, किन्तु उसकी उत्पत्ति के विवादग्रस्त प्रश्न पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका है। जेम्स मिल का विचार था कि समाज का जातियों में विभाजन किसी ऐसे प्रेरणा प्राप्त व्यक्ति का कार्य रहा होगा, जो सुव्यवस्थित श्रम विभाजन के लाभों को समझता होगा। एक वर्ग द्वारा दूसरे को दबा लेने के सम्बन्ध में उसका कहना है कि इसका कारण समाज के कमजोर व्यक्तियों का भय तथा शक्ति प्राप्ति के लिए पुरोहित-वर्ग की चाल भरी कार्यवाहियाँ थीं। उन्होंने दैवी प्रकोप के निवारण का ढोंग रचकर सर्वोच्च जाति का स्थान प्राप्त कर लिया। दैवी प्रकोप के अतिरिक्त आक्रमणों द्वारा विनाश का भय था, परिणामतः सैनिक वर्ग ने दूसरा स्थान ग्रहण कर लिया। इस सम्बन्ध में हमें अन्य सिद्धान्तों की समीक्षा यहाँ नहीं करनी है क्योंकि कोई भी पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है और न जाति प्रथा की बेजोड़ कठोरता स्पष्ट करने में ही समर्थ है। यह कठोरता प्रारम्भ में प्रचलित नहीं थी। तब एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में जा सकता था।

§२ जाति प्रथा के लिए तर्क—जाति प्रथा के पक्ष में कुछ तर्क प्रस्तुत करने की प्रथा सी हो गई है। उदाहरणतः (१) ऐसा कहा जाता है कि जाति प्रथा से आर्थिक कुशलता में वृद्धि होती है, क्योंकि यह श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है। जब तक समाज का आर्थिक संगठन सरल था और पेशे थोड़े थे तथा हाथ की कुशलता महत्त्वपूर्ण थी, तब तक व्यावसायिक जातियों में अपनाई हुई पैतृक व्यवस्था अवश्य ही लाभप्रद थी। पिता से पुत्र दस्तकारियाँ सीखकर फिर अपने पुत्र को हस्तान्तरित कर देता था और इस प्रकार जाति में पीढ़ी-दर पीढ़ी कला चली आती थी। (२) यह भी कहा जाता है कि काम के आधार पर विभाजित जातियाँ एक प्रकार से हित-समितियाँ

(बेनिफट सोसाइटीज) का काम करती थी। वे शिशुओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था करती थी, सदस्यो मे मत्री भाव बढाती थी, दुःख में उनकी मदद करती थीं। सक्षेप मे, वे अपने सदस्यो के लिए प्राय वे सब काम करती थी जो मध्ययुगीन यूरोप की गिल्ड्स किया करती थी। किन्तु वे गिल्डो से अनेक बातो मे भिन्न थी। गिल्ड की सदस्यता ऐच्छिक थी, जब कि जाति की सदस्यता अनिवार्य थी, क्योकि यहाँ सदस्यता का निर्णय जन्म से ही हो जाता था। जाति एक सवृत्त समुदाय था, जब कि गिल्ड ऐसा न थी। यूरोपीय गिल्डो मे भिन्न गिल्डो में विवाह करने की मनाही न थी। जाति-प्रथा द्वारा कारीगरो की पैतृक कुशलता एव निपुणता को बनाए रखने के दावे के साथ यह भी याद रखना चाहिए कि भारतीय दस्तकारो में अनुकूलन के अभाव तथा गति-हीनता के लिए जाति प्रथा के बन्धन ही उत्तरदायी ठहराये गए हैं। (३) कहा जाता है कि हिन्दू समाज जाति प्रथा के कारण ही राजनीतिक आक्रमणो को सहन कर जीवित रह सका। यह बात सरलता से समझ में नही आती। साधारणत तो यही कल्पना की जा सकती है कि जातियो मे विभाजित होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न अशक्तता तथा एकता के अभाव मे समाज की आक्रमण रोकने की क्षमता कम हो जायगी। जाति प्रथा के पक्ष मे यह भी कहा जाता है कि यह भारतीय समाज के मौलिक स्थायित्व एव सन्तोष का भी एक कारण रही है। चूँकि किसी जाति विशेष की सदस्यता लोगो की सामाजिक स्थिति एव भाग्य का निर्धारण प्रारम्भ से ही कर देती है, अत अपूर्ण आकाक्षाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न सामाजिक ईर्ष्या नही होने पाती।

§३ **जाति प्रथा के दोष**—जाति प्रथा के पक्ष में गिनाये गए तर्कों की जो कुछ सत्यता कभी थी वह भी वतमान परिस्थितियो में समाप्त हो गई है और अब लाभ इसमें है कि भारतीय समाज को जकडने वाली इस प्रथा के दुर्गुणो पर जोर दिया जाय। (१) एक जाति में ही शादी की प्रथा के परिणामस्वरूप होने वाला अन्त प्रसवन जाति को पतन की ओर ले जाता है। (२) कुछ जातियो मे पुरुषो की सख्या स्त्रियो से कही अधिक है, कुछ में इसके विपरीत परिस्थिति है। कुछ स्थानो में इसका परिणाम ऊँची दहेज प्रथा है तथा देश के कुछ भागो में इसके परिणामस्वरूप लडकियों की हत्या शैशवावस्था में ही कर दी जाती है। (३) जहाँ तक जाति द्वारा पेशे के निर्धारण का प्रश्न है यह आर्थिक कार्य और अन्तर्हित सामर्थ्य के सम्बन्ध को समझने मे भूल करता है। कितने ही व्यक्ति अपने जातीय पेशो को करने म असमर्थ होते हैं, लेकिन जाति प्रथा के कारण उनके लिए अन्य सब रास्ते बन्द ही रहते हैं। (४) जाति के कारण कुछ पेशो में बडी भीड हो जाती है और अन्य पेशो म आदमियों की कमी का अनुभव होता है। (५) हर जाति अपना रहन-सहन और उपभोग का अलग ढग अपनाती है, इससे उत्पादन मे व्यर्थ की विविधता को प्रश्रय मिलता है। मूलत एक ही प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करना पडता है। (६) समाज को तथाकथित निम्न और उच्च-वर्ग में विभाजित करके जाति प्रथा ने किसी को ऊँचा उठा दिया और किसी को नीचे गिरा दिया। इस प्रकार

की उच्चता एवं हीनता की भावग्रन्थियाँ मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों पहलुओं से बुरी हैं। (७) जाति भौगोलिक गतिशीलता को रोकती है। यदि व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है तो सम्भव है कि उसे अपनी से भिन्न जाति के बीच रहना पड़े और वहाँ समाज से बहिष्कृत रहे। उसे लौटने पर अपने जाति भाइयों में भी कठिनाइयों की सम्भावना हो सकती है यदि इस बीच उस पर जाति-नियमों का भंग करने का सन्देह किया जाता है। (८) जाति प्रथा की सबसे बड़ी बुराई यह है कि उसने समाज को एकदम अलग तथा अनेक वर्गों में बाँट दिया है जो अपने आपको एक दूसरे से भिन्न तथा बहुधा शत्रुवत् समझते हैं। जीवन के इस क्षेत्र में जातिगत भक्ति का राष्ट्रीय भक्ति से सदैव संघर्ष होता रहता है। इससे राष्ट्रीय हितों की अपरिमित हानि होने की सम्भावना रहती है।

§४ जाति प्रथा की शक्ति—अनेक शक्तियों की क्रियाशीलता के कारण वर्तमान समय में जाति प्रथा के कुछ पहलुओं में कुछ परिवर्तन हो गया है। परन्तु इससे जाति प्रथा की प्राण शक्ति में ह्रास नहीं हुआ है। राजनीति में प्रजातन्त्र तथा वैधानिक समता के सिद्धान्तों के कारण जाति-संगठन के अधिकारों को अवमानित कर दिया है और वे पुराने प्रतिबन्ध और रोक लगाने में असमर्थ हैं। उसी दशा में काम करने वाले अन्य कारण अन्तर्जातीय विवाह को विधिवत् ठहराना, दलित-वर्ग की विभिन्न सामाजिक कमजोरियों का वैधानिक ढंग से निराकरण तथा संविधान में अछूत प्रथा को दण्डनीय अपराध[1] घोषित करना है। औद्योगिकीय विकास के कारण कितने ही नवीन धन्धे उत्पन्न हो गए हैं जिनकी जाति प्रथा में कल्पना ही नहीं की गई थी। अतः जाति और धन्धों में जो सम्बन्ध था वह धीरे धीरे समाप्त हो रहा है। जैसा कि इस बात से स्पष्ट ही है कि वर्तमान काल में धन्धे जातियों से कहीं अधिक हैं। पश्चिमी विचारधारा के प्रभाव से जाति प्रथा की अवैज्ञानिकता एवं हानिकारक प्रभाव स्पष्ट होते जा रहे हैं। परिणामतः जातिगत विशेषाधिकार का हठ कमजोर होता जा रहा है तथा जाति प्रथा के अन्यायों के प्रति विरोध की भावना प्रबल होती जा रही है। नगरों के बढ़ने के कारण जाति प्रथा के अत्याचार से बचने के अवसर बढ़ते जा रहे हैं। बड़े शहरों की प्रचलित प्रथाओं के कारण जातीय नियमों का कठोरता से पालन कठिन हो जाता है तथा वहाँ नियमों के भंग होने पर न तो दण्ड ही मिलता है और न ही सामाजिक कटु आलोचना होती है। यही बात रेलवे या बस की यात्रा में हुए अनियन्त्रित व्यवहारों के लिए भी सत्य है।[2] जाति की निरंकुशताओं से बचने का अन्य मार्ग इस्लाम या ईसाई मत अपनाना है। इन सब परिवर्तनों की मात्रा यद्यपि जान से भी हिन्दू समाज इस बार सजग हो रहा है कि यदि इस प्रथा की समाप्ति नहीं तो सुधार निश्चय ही आवश्यक है।

---

१ इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैधानिक समता की निश्चित आधार है ... परन्तु यह भी सत्य है कि बिना सामाजिक विकास के मार्ग को बन्द देना है ... तथा अछूतपन को फिर से कायम होना सम्भव हो जाता है। ए० एम० वनिवकर, 'हिन्दू सोसायटी एट दि क्रास रोड्स,' पृष्ठ ५७-८।

२ फिर भी ये अनियन्त्रित नियम जो कुछ कठिन परिस्थितियों में नहीं चल सकते, अधिकतर लोगों की अन्तर की दृष्टि से दब जाते हैं। रंग आदि के प्रभाव विभिन्नता को मानना भी, जो कि देश को विभिन्न वर्गों में बाँटे हुए है, नहीं नष्ट करते।

यद्यपि इस प्रकार की बाधक परिस्थितियों के कारण जाति प्रथा की शक्ति में कुछ ह्रास हुआ है, तथापि वह काफी जीवित है और इसकी समाप्ति की घडी बहुत दूर दिखाई पडती है। वर्तमान प्रभावों मे भी इसके आवश्यकीय अंग वसे ही अप्रभावित हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न जातियों में परस्पर अन्तर्जातीय विवाह और अन्तर्भोज (इण्टरडिनिंग) अब भी बन्द हैं। विभिन्न जातियों में एकता की भावना के विकास की ओर प्रगति प्राय शून्य ही रही है। तद्विपरीत जातिगत चेतना और जाग उठी है। जाति प्रथा के विनाश की ओर उठाये गए कदमों से विभिन्न जातियों में अपने को संगठित करके अलग रखने की भावना भी उत्पन्न हो गई है। विधान सभाओं में सीटों के संरक्षण के कारण और पिछडी एवं अनुसूचित जातियों के सम्बन्ध में नौकरियों में किये जाने वाले पक्षपात तथा उनको शिक्षा और आवास के लिए दी जाने वाली सुविधाओं के कारण कुछ जातियाँ अनुसूचित एवं पिछडी कहलाते रहने में ही अपना लाभ समझती हैं।[1]

जाति प्रथा भारत में अब भी सर्वव्याप्त है। प्राय सुधारक वर्ग जैसे ब्रह्म समाज आर्य समाज, भी अन्त में अलग जातियाँ बन गए। जाति प्रथा में असमानता निहित है। इसके विपरीत समानता के सिद्धान्त पर आधारित इस्लाम एवं ईसाई मत भी जाति प्रथा को नष्ट करने के बजाय कुछ हद तक उसके शिकार हो गए हैं। १९०१ की जनगणना में मुसलमानों में १३३ जातियाँ पाई गई। ईसाई मत में परिवर्तित हिन्दू भी अपनी जाति की विशेषता को कायम रखते हैं।

अतएव जाति प्रथा की समाप्ति का काम आसान नहीं है, जितना कि कुछ सुधारक समझते हैं। अत इस प्रथा के निरन्तर तथा सशक्त विरोध के हेतु अन्य व्यक्तिगत संस्थाओं की सहायता के लिए खडा होना आवश्यक है। यह याद रखना चाहिए कि जाति प्रथा में निहित अन्याय 'ऐतिहासिक शक्तियों के परिणाम हैं, जिनके लिए न तो कोई व्यक्ति विशेष और जाति विशेष ही उत्तरदायी है।' यह मानते हुए भी कि सुधार आवश्यक है हमें हर हालत में हिंसात्मक प्रवृत्ति, जातिगत घृणा तथा पुरानी प्रथा की कमियों और असमानताओं से सम्बन्धित जातियों के विरुद्ध बदला

---

१ 'किसी भी प्रकार का भेद भाव, चाहे वह किसी जाति या व्यक्ति के पक्ष या विपक्ष में हो, विनाशकारी है। जहाँ तक अस्पृश्यता का सम्बन्ध है यह विनाशकारी है, अतएव इसको समूल नष्ट करना चाहिए। लेकिन इसके लिए अछूतों को बिना सोचे-समझे सुविधाएँ देने से लाभ न होगा। वर्तमान नीति से, जिसमें अछूतों का अलग समुदाय मान लिया गया है और राजनीति तथा अर्थ-व्यवस्था में उनके लाभार्थ अलग स्थान दिया जा रहा है, अछूतों की अन्य जातियों से विभिन्नता नष्ट न होगी वरन् और बढेगी। कितने ही लोग, जो अब तक अछूत कहलाने से हिचकते थे और अन्य वर्गों में मिलना चाहते थे, अब अछूत बने रहने में अपना लाभ समझते हैं। जिन लोगों ने अछूत होने से बचने के लिए ईसाई धर्म स्वीकार किया था अब फिर अछूत बन रहे हैं, क्योंकि अछूत होने में वे अपना आर्थिक लाभ समझते हैं। अछूत होना एक लाभ था धन हो गए हैं न कि एक अभिशाप।' 'क्रिटिक ऑफ 'ग्रुप प्रेजुडिस', लेखक पी० कोदण्ड राव, और मेरी मैक्सवेल राव ग्रुप प्रेजुडिसिज इन इण्डिया' में (नानावती और वकील द्वारा सम्पादित) पृष्ठ २३ २४।

की उच्चता एवं हीनता की भाव ग्रन्थियाँ मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों पहलुओं से बुरी हैं। (७) जाति भौगोलिक गतिशीलता को रोकती है। यदि व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है तो सम्भव है कि उसे अपने से भिन्न जाति के बीच रहना पड़े और वहाँ समाज से बहिष्कृत रहे। उसे लौटने पर अपने जाति भाइयों से भी कठिनाइयों की सम्भावना हो सकती है, यदि इस बीच उस पर जाति नियमों को भंग करने का सन्देह किया जाता है। (८) जाति प्रथा की सबसे बड़ी बुराई यह है कि उसने समाज को एकदम अलग तथा अनेक वर्गों में बाँट दिया है जो अपने आपको एक दूसरे से भिन्न तथा बहुधा शत्रुवत् समझते हैं। जीवन के इस क्षेत्र में जातिगत भक्ति का राष्ट्रीय भक्ति से सदैव संघर्ष होता रहता है। इससे राष्ट्रीय हित की अपरिमित हानि होने की सम्भावना रहती है।

§४ जाति प्रथा की स्थिति—अनेक शक्तियों की क्रियाशीलता के कारण वर्तमान समय में जाति प्रथा के कुछ पहलुओं में कुछ परिवर्तन हो गया है। परन्तु इससे जाति प्रथा की प्राण शक्ति में ह्रास नहीं हुआ है। राजनीति में प्रजातन्त्र तथा वैधानिक समता के सिद्धान्तों के कारण जाति-संगठन के अधिकारों को अवमानित कर दिया है और वे पुराने प्रतिबन्ध और रोक लगाने में असमर्थ हैं। उसी दशा में काम करने वाले अन्य कारण अन्तर्जातीय विवाह को विधिवत् ठहराना, दलित-वर्ग की विभिन्न सामाजिक कमजोरियों का वैधानिक ढंग से निराकरण तथा संविधान में अछूत प्रथा को दण्डनीय अपराध[1] घोषित करना है। औद्योगिकीय विकास के कारण कितने ही नवीन पेशे उत्पन्न हो गए हैं जिनकी जाति प्रथा में कल्पना ही नहीं की गई थी। अतः जाति और पेशे में जो सम्बन्ध था वह धीरे धीरे समाप्त हो रहा है। जैसा कि इस बात से स्पष्ट ही है कि वर्तमान काल में पेशे जातियों से कहीं अधिक हैं। पश्चिमी विचारधारा के प्रभाव से जाति प्रथा की अवैज्ञानिकता एवं हानिकारक प्रभाव स्पष्ट होते जा रहे हैं। परिणामतः जातिगत विशेषाधिकार का हठ कमजोर होता जा रहा है तथा जाति प्रथा के अन्यायों के प्रति विरोध की भावना प्रबल होती जा रही है। नगरों के बढ़ने के कारण जाति प्रथा के अत्याचार से बचने के अवसर बढ़ते जा रहे हैं। बड़े शहरों की प्रचलित प्रथाओं के कारण जातीय नियमों का कठोरता से पालन कठिन हो जाता है तथा वहाँ नियमों के भंग होने पर न तो दण्ड ही मिलता है और न ही सामाजिक कटु आलोचना होती है। यही बात रेलवे या बस की यात्रा में हुए अनियन्त्रित व्यवहारों के लिए भी सत्य है।[2] जाति की निरंकुशताओं से बचने का अन्य मार्ग इस्लाम या ईसाई मत अपनाना है। इन धर्म-परिवर्तनों की मात्रा बढ़ जाने से भी हिन्दू समाज इस ओर सजग हो रहा है कि यदि इस प्रथा की समाप्ति नहीं, तो सुधार निश्चय ही आवश्यक है।

---

१ यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि वैधानिक समता की स्थिति से लाभ हैं [illegible] परन्तु यह भी सत्य है कि विचार सामाजिक विकास के मार्ग को बदल देता है [illegible] तथा अस्पृश्यता को फिर से कायम लाना असम्भव हो जाता है।' के० एम० पणिक्कर, 'हिन्दू सोसाइटी एट द क्रॉस रोड्स,' पृष्ठ ५७-८।

२ फिर भी ये कठिन नियम जो कुछ कठिन परिस्थितियों में नहीं चल सकते, [illegible] में भारत की दृष्टि से [illegible] है। स्वयं जाति के प्रभाव विभिन्नता की भावना का, जो कि देश को विभिन्न वर्गों में बाँटे हुए है, नहीं स्पष्ट करते।

यद्यपि इस प्रकार की बाधक परिस्थितियों के कारण जाति प्रथा की शक्ति में कुछ ह्रास हुआ है, तथापि वह काफी जीवित है और इसकी समाप्ति की घड़ी बहुत दूर दिखाई पड़ती है। वर्तमान प्रभावों में भी इसके आवश्यकीय अंग वैसे ही अप्रभावित हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न जातियों में परस्पर अन्तर्जातीय विवाह और अन्तर्भोज (इण्टरडिनिंग) अब भी बन्द हैं। विभिन्न जातियों में एकता की भावना के विकास की ओर प्रगति प्रायः शून्य ही रही है। तद्विपरीत जातिगत चेतना और जाग उठी है। जाति प्रथा के विनाश की ओर उठाये गए कदमों से विभिन्न जातियों में अपने को संगठित करके अलग रखने की भावना भी उत्पन्न हो गई है। विधान सभाओं में सीटों के संरक्षण के कारण और पिछड़ी एवं अनुसूचित जातियों के सम्बन्ध में नौकरियों में किये जाने वाले पक्षपात तथा उनको शिक्षा और आवास के लिए दी जाने वाली सुविधाओं के कारण कुछ जातियाँ अनुसूचित एवं पिछड़ी कहलाते रहने में ही अपना लाभ समझती हैं।[1]

जाति प्रथा भारत में अब भी सर्वव्याप्त है। प्रायः सुधारक वर्ग, जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज, भी अन्त में अलग जातियाँ बन गए। जाति प्रथा में असमानता निहित है। इसके विपरीत समानता के सिद्धान्त पर आधारित इस्लाम एवं ईसाई मत भी जाति प्रथा को नष्ट करने के बजाय कुछ हद तक उसके शिकार हो गए हैं। १९०१ की जनगणना में मुसलमानों में १३३ जातियाँ पाई गईं। ईसाई मत में परिवर्तित हिन्दू भी अपनी जाति की विशेषता को कायम रखते हैं।[2]

अतएव जाति प्रथा की समाप्ति का काम आसान नहीं है, जितना कि कुछ सुधारक समझते हैं। अतः इस प्रथा के निरन्तर तथा सशक्त विरोध के हेतु अन्य व्यक्तिगत संस्थाओं की सहायता के लिए खड़ा होना आवश्यक है। यह याद रखना चाहिए कि जाति प्रथा में निहित अन्याय ऐतिहासिक शक्तियों के परिणाम हैं, जिनके लिए न तो कोई व्यक्ति विशेष और जाति विशेष ही उत्तरदायी है। यह मानते हुए भी कि सुधार आवश्यक है हमें हर हालत में हिंसात्मक प्रवृत्ति, जातिगत घृणा तथा पुरानी प्रथा की कमियों और असमानताओं से सम्बन्धित जातियों के विरुद्ध बदला

---

१ 'किसी भी प्रकार का भेद भाव, चाहे वह किसी जाति या व्यक्ति के पक्ष या विपक्ष में हो, विवेकहीन है। जहाँ तक अस्पृश्यता का सम्बन्ध है यह विवेकहीन है, अतएव इसको समूल नष्ट करना चाहिए। लेकिन इसके लिए अछूतों को बिना सोचे-समझे सुविधाएँ देने से लाभ न होगा। वर्तमान नीति से, जिसमें अछूतों को अलग समुदाय मान लिया गया है और राजनीति तथा अर्थ-व्यवस्था में उनके लिए अलग स्थान दिया जा रहा है, अछूतों की अन्य जातियों से विभिन्नता नष्ट न होगी बल्कि और बढ़ेगी। कितने ही लोग जो अब तक अछूत कहलाने से हिचकते थे और अन्य वर्गों में मिलना चाहते थे, अब अछूत बने रहने में अपना लाभ समझते हैं। जिन लोगों ने अछूत होने से बचने के लिए ईसाई धर्म स्वीकार किया था अब फिर अछूत बन रहे हैं, क्योंकि अछूत होने में वे अपना आर्थिक लाभ समझते हैं। अछूत होना एक लाभ की बात हो गई है न कि एक अभिशाप।

[2] ट्रिंडिक ऑफ 'ग्रुप प्रेजुडिस', लेखक पी० कोदण्ड राव, और मेरी ग्रेग्वेल द्वारा ग्रुप प्रेजुडिसिज इन इण्डिया में (मानावती और वकील द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ३३ ३४।

लेने की प्रवृत्ति को रोकना होगा।[1]

§५ संयुक्त परिवार प्रणाली लाभ—संयुक्त परिवार एक और भारतीय संस्था है जिसके महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिणाम हैं। इसके अनुसार परिवार के सबसे बड़े पुरुष को परिवार (जिसमें कई पीढ़ियाँ हो सकती हैं) के मामलों के नियमन का पूर्ण अधिकार होता है। परिवार के सभी व्यक्तियों की अर्जित पूँजी इकट्ठा की जाती है जिससे सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। पुराने जमाने में आर्थिक परिस्थितियाँ संयुक्त परिवार के अनुकूल थीं। परिवहन और संचार कठिन था तथा व्यापार और उद्योग से सम्बन्धित विभिन्न धन्धे छोटे पैमाने पर घर में ही चलाए जाते थे। कृषि में, जोकि हमेशा से भारत का प्रधान उद्योग रहा है परिवार के वयस्क पुरुष सदस्यों की संख्या का अधिक होना लाभदायक था विशेषकर ऐसे समय जब मजदूर मिलते ही नहीं थे। यह प्रथा परिवार के सदस्यों का त्याग और स्वार्थहीनता का पाठ भी पढ़ाती थी। इसमें असहाय व्यक्तियों जैसे विधवाओं वृद्धों की रक्षा होती थी। यह काम उस समय और भी महत्त्वपूर्ण था क्योंकि राज्य इस कर्तव्य का पूरा करने में असमर्थ था। इस प्रथा में परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शक्ति और कार्यक्षमता के अनुसार काम देना सम्भव था। उपभोग की दृष्टि से भी अधिक व्यक्तियों के लिए एक ही मकान का होना अधिक मितव्ययी था। इस प्रथा से भूमि के उपविभाजन और उपखण्डन की समस्या नहीं उत्पन्न होती थी जो कि इस समय भारतीय कृषि की प्रधान समस्या है।

§६ हानियाँ—इसके विपरीत संयुक्त परिवार में विशेष प्रयत्न करने की प्रेरणा का हनन होता है क्योंकि उसका फल तो सबमें बँट जायगा। यह भी भावना काम करती है कि काम करो चाहे न करो खाना कपड़ा तो मिलेगा ही। इससे व्यक्तिगत परिश्रम के लिए उत्साह नहीं रहता। भारतीय जनसंख्या की गतिशीलता अथवा संयुक्त परिवार प्रथा के कारण ही है। इस प्रथा से प्राप्त भरण और संरक्षण के कारण कितने ही व्यक्तियों को घर छोड़कर अन्यत्र जीविकोपार्जन की इच्छा शक्ति नष्ट हो जाती है। आशापालन के कारण कार्यारम्भ और साहसकार्य भी हतोत्साहित होता है।[2] परिवार का स्वामी बड़ा ही हिम्मत वाला भी हो सकता है। वह नये प्रयोगों से डरता है और सुरक्षा को सर्वोपरि समझता है। संरक्षक की स्थिति में होने के कारण वह यह सोच सकता है कि परिवार की सम्पत्ति से जुआ खेलने का उसे कोई अधिकार नहीं है। इसके विपरीत यदि घर का स्वामी बेईमान निकला तो वह किसी ऊटपटांग योजना में घर की सब सम्पत्ति, जो पूर्णतः उसकी नहीं है बरबाद भी कर सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त अंतिम लाभों के बजाय संयुक्त परिवार प्रथा मनमुटाव और असन्तोष उत्पन्न करे।

वर्तमान परिस्थितियों में परिवार प्रथा निश्चित रूप से छिन्न-भिन्न हो रही

---

१ सोमन्स कमीशन रिपोर्ट, अध्याय २, पैरा १०।

२ ऐसा हो सकता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र रूप से विकास न हो ... परिवार ... सांस्कृतिक ... से नष्ट हो जाय—और ... [illegible] ... में कमजोर हो जाता। ... [illegible] ... पृ० २५१, ... [illegible] ... पृष्ठ १७४।

है। सचार और परिवहन की सुविधाओ ने महत्त्वाकाक्षी सदस्यो के लिए परिवार की सीमाओं के बाहर जाकर जीविकोपाजन और भाग्य की परीक्षा करना सम्भव कर दिया है। बडे पैमाने के देशी एव विदेशी उद्योगो की आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण पुराने देशो में वृत्तिहीनता की समस्या उत्पन्न हो गई है और लोगो को गाव से दूर अन्य देशो में रोजी खोजने के लिए विवश होना पड रहा है। जनसख्या की वृद्धि और भूमि पर वर्धित भार के कारण भी गाँवा से लोग बडी सख्या मे भाग रहे हैं। इस तरह सयुक्त परिवार प्रथा छिन्न भिन्न होती जा रही है और पश्चिमी विचारो से उत्पन्न वैयक्तिक भावना, मुख्यत अग्रेजी कानून (ब्रिटिश सिविल लॉ), इस क्रिया को और भी गतिशील बना रहे हैं। सयुक्त परिवार प्रथा की समाप्ति, जैसी कि आशा भी की जा सकती है ग्रामीण क्षेत्रो की अपेक्षा नागरिक क्षेत्रो में अधिक दिखाई दे रही है।

§७ **दाय और उत्तराधिकार के नियम**—भारत मे दाय और उत्तराधिकार हिन्दुओ के लिए हिन्दू कानून, जिसमें मिताक्षरा और दाय भाग दो प्रणाली हैं, और मुसलमानो के लिए मुस्लिम कानून के अनुसार होता है। यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो इन तीनो प्रणालिया में अनेक विभिन्नताएँ हैं। लेकिन यहाँ हमारा सम्बन्ध इन तीनो प्रथाओ मे मोटे तौर पर विद्यमान समानता की ओर दृष्टिपात करना है। वह समानता यह है कि सभी के अनुसार विभाजन के उपरान्त सम्पत्ति का विस्तृत वितरण होता है तथा वर्तमान दशाओ में यह और प्रचलित होता जा रहा है। ज्येष्ठाधिकार के अभाव मे सम्पत्ति कुछ थोडे हाथो मे केन्द्रित होने से बच जाती है समता के सिद्धान्त को ही व्यवहार में लाया जाता है, जिसके फलस्वरूप समाज मुट्ठी भर धनिको तथा सम्पत्तिहीन बहुसख्यक सर्वहारा-वर्ग के बजाय अधिकाशत साधारण साधना से युक्त व्यक्तियो से निर्मित होता है। यह प्रथा बडी सख्या वाले मध्य-वर्ग के निर्माण में सहायक है और इस प्रकार समाज की व्यवस्थित प्रगति की सहायता करती है। उत्तराधिकार के नियमो से भूमि (जो भारत की प्रमुख सम्पत्ति है) बहुसख्यक और सदैव वर्द्धमान कृषक स्वामियों के हाथ में बटती जाती है, जिन्हें अपनी सम्पत्ति से बडा मोह होता है। यह आर्थिक एव राजनीतिक लाभ माना जाता है। कहा जाता है कि इससे कृषि पर्याप्त एव सावधानी से की जाती है, क्योकि किसान भूमि का मालिक होने पर उसका सर्वश्रेष्ठ प्रयोग करता है तथा भूमि को अच्छी-से अच्छी दशा में रखता है। राजनीतिक दृष्टि से देश के भविष्य में बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले कृषक पर यह विश्वास किया जा सकता है कि वह क्रान्तिकारी नीतियो और आकस्मिक परिवर्तनो के विरुद्ध रहेगा। अत जब देश की सम्पत्ति अधिक व्यक्तियो में विभाजित होती रहेगी, तो प्राय सभी व्यक्तियो के पास जीवन प्रारम्भ करने के लिए कुछ सम्पत्ति तो होगी। परिणामत औसतन हर व्यक्ति का हिस्सा छोटा होगा और दाय तथा उत्तराधिकार में प्राप्त भाग को बढाने के लिए जी-तोड प्रयास करेगा ताकि वह यथोचित आराम से रह सके।

अब हम इसके दूसरे पहलू को देखेंगे और उसकी हानिया पर दृष्टिपात करेंगे।

थोड़े-से व्यक्तियों के हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रीकरण सामाजिक न्याय और समता की दृष्टि से कितना भी अवांछनीय क्यों न हो, इससे बड़े पैमाने के उद्योगों को सहायता मिलती है क्योंकि पूँजी सचयन, जहाँ अधिकांश व्यक्ति मामूली आय वाले हों और उनकी बचत नगण्य हो, उनकी अपेक्षा उस समाज में सरल है जहाँ कुछ बहुत धनी व्यक्ति हों जो अपनी आय का अधिकांश बचाते हों। इन्हीं कारणों से सरकार धन के समान वितरण के नियम से नियमित समाज की अपेक्षा उस समाज से कर द्वारा अधिक धन एकत्रित कर सकती है जहाँ धन के वितरण में असमानता हो। पर्याप्त धन राशि होने पर ही सरकार शीघ्र और सर्वतोमुखी प्रगति करने में समर्थ हो सकती है।

वर्तमान दाय और उत्तराधिकार कानून का सबसे बड़ा दोष खेतों का अत्यधिक उप विभाजन और खण्डन है जिससे कृषि-सुधार में बाधा होती है। वर्तमान प्रजातान्त्रिक एवं समाजवादी विचारधारा से किसी ऐसी दिशा में परिवर्तन सम्भव नहीं है जिससे असमानता को प्रश्रय मिले। हमारे वर्तमान दाय और उत्तराधिकार के नियमों की समाप्ति अथवा उनमें कोई मौलिक परिवर्तन भी आवश्यक नहीं है। उनको यथावत् रखते हुए भी उनके दोषों से बचा जा सकता है। उदाहरण के लिए मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों (ज्वाइंट स्टॉक कम्पनीज) के विकास से बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए बड़ी मात्रा में धनराशि एकत्रित करना सम्भव हो सकेगा भले ही समाज आर्थिक समता के सिद्धान्त पर संगठित क्यों न हो। पुनः भूमि के अत्यधिक उप विभाजन और खण्डन को भी सहकारी कृषि द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से रोका जा सकता है।

६८ धर्म का प्रभाव—कहा जाता है कि भारतीयों द्वारा गृहीत और व्यवहृत धर्म सदैव आर्थिक प्रगति में बाधक रहा है, क्योंकि इसने भारतीयों को आर्थिक क्षेत्र के बजाय आत्मिक मुक्ति की ओर रुचि प्रदान की है। इतिहास इस बात की पुष्टि नहीं करता है। अतीत पर दृष्टिपात करने पर हम देखेंगे कि भारतीय दूर देशों में औपनिवेशिक विजेता तथा साम्राज्य निर्माताओं की तरह बाहर गये हैं। भारत ने धर्म के अतिरिक्त अन्य (धर्म निरपेक्ष) ज्ञानों में भी पर्याप्त योगदान दिया है यथा गणित, ज्योतिष और औषधि। एक समय भारतीय दस्तकारी की विश्व व्यापक प्रसिद्धि थी। १८वीं सदी तक आर्थिक प्रगति में भारत अन्य देशों के प्रायः समकक्ष था।

यदि हम वर्तमान समय पर विचार करते हैं तो मारवाड़ी भाटिया, मेमन, बोहरा, खोजा—जिनके धार्मिक आधार विचार अपेक्षाकृत पश्चिमी प्रभावों से अछूते हैं—उन जातियों में हैं जिन्होंने औद्योगिक एवं वाणिज्यिक साहसायन के प्रति विशेष प्रवृत्ति दिखाई है। मार्शल का कथन है कि आर्थिक प्रेरणा धार्मिक प्रेरणा के समान ही शक्तिशाली है। यह भारत के लिए भी उतना ही सत्य है जितना कि पश्चिम के लिए। लेकिन आर्थिक प्रगति के लिए एक अनुकूल वातावरण अपेक्षित है।

अरक्षा एवं अराजकता की परिस्थितियों में, मुगल राज्य के छिन्न भिन्न होने पर (जो प्रायः १५० वर्ष तक थी) लोगों का दृष्टिकोण भाग्यवादी और निराशात्मक

होना तथा राज कुआँ खोदना और पानी पीने के ढग पर कठिनता से उदर भर जीविका कमाना स्वाभाविक ही था। जब कोई आक्रमणकारी या लालची सरकार परिश्रम से अर्जित धनराशि और सुख सामग्री को किसी भी क्षण छीन सकती है तो निम्नतम परिश्रम से अधिक प्रयत्न क्यो किया जाय ? इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है कि इस प्रकार की निराशावादी अकर्मण्यता भरी मनोवृत्ति उन परिस्थितियो के हट जाने पर भी—जिनके कारण यह उत्पन्न हुई थी—कुछ दिनो तक चलती रहे। हमे प्राकृतिक आपदाओ और प्रकोपो को ध्यान में रखना चाहिए, जिनका आगमन देश में यदाकदा होता रहता है और जिनसे बचने के आशिक उपाय अभी हाल मे निकाले गए हैं। अकाल और महामारिया से क्षण भर में लाखो लोग मर जाते हैं और शेष इन आपदाओ के आतक से भयभीत जीवित रहते हैं। भुखमरी और बीमारी से यदि लोग मरते नही हैं तो वे शारीरिक, मानसिक और नतिक दृष्टि से इतने कमजोर हो जाते हैं कि लगातार कोई काम करने के योग्य नही रहते। भारतीयो मे दरिद्रता परिव्याप्त होने के कारण उनमें जडता, निराशावाद, उदासी आदि का सचार होता है। परिणामत वे आर्थिक समृद्धि की ओर पूर्ण रूप से तत्पर नही हो पाते। ये दोष दलित-वर्ग में अपनी चरम सीमा पर पाये जात हैं, जिन्हें जाति प्रथा ने धर्म के नाम पर सदियो से अवमानित कर रखा है।

विस्काउण्ट सेमुअल का कथन है कि सभी पूर्वी धर्मों म भाग्यवादिता की भावना पनपती है।[1] उनका कहना है कि इस्लाम शब्द का अभिप्राय ही परमात्मा की इच्छा के आगे झुकने का है। लेकिन जब ईसाई परमात्मा की प्रार्थना करता है तो कहता है, 'परमात्मा तेरी इच्छा ही होगी।" इस समय वह भी परमात्मा की इच्छा के आगे उसी तरह नही झुक रहा है। सच तो यह है कि दुनिया के सभी बडे धर्म अपने आपको परमात्मा की इच्छा पर छोडने तथा भौतिक वस्तुओ के सग्रह की निन्दा करते हैं। यही कारण है कि मार्क्स ने धर्म को 'जनता को सुलाने वाला नशा' कहा है। विस्काउण्ट सेमुअल स्वय इस बात को स्वीकार करता है कि कितनी ही बार ईसाई मत परलोक के लिए इस लोक को त्यागने के लिए तैयार रहा है। उसने आन्तरिक और बाह्य जीवन के तात्विक विरोध पर भी जोर दिया है और यह भी समझा है कि आत्मा की पूर्णता शरीर को कष्ट देन पर ही निर्भर है।

जो यहाँ कहा जा चुका है उससे यह स्पष्ट है कि हम धर्मो को वर्तमान आर्थिक पिछडेपन के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते और न उन्हें आर्थिक प्रगति का प्रधान बाधक ही कह सकते हैं। धर्म स्थतिक और सदा के लिए स्थिर नहीं होता। वह अन्य वस्तुओ की भाँति बदलता रहता है। वह विकसित होते हुए प्रचलित भावनाओ और दृष्टिकोणों को समाहित करता रहता है और स्वय परिस्थितियो के अनुकूल होता है। प्रचलित भावनाओ से मेल न खाने वाली धार्मिक पुस्तकें या तो पिछड जाती हैं या उनकी फिर से व्याख्या होती है। भारत मे स्पष्ट यह हो भी रहा है। राष्ट्र ने अपने सामने शीघ्रतापूर्वक आर्थिक विकास करने का लक्ष्य रखा है। लोग

१ बिलीफ एण्ड एक्शन, पृ० ३२३।

पूर्ण रूप से अवगत हैं कि अनेक कठिनाइयों को पार करना पड़ेगा। लेकिन कोई यह नहीं सोचता कि हमारा धर्म या तथाकथित आध्यात्मिकता[1] भी इस मार्ग की कोई बाधा नहीं है। योजना आयोग की रिपोर्ट में तो इस बाधा की कोई चर्चा भी नहीं है।[2]

१ अन्य शब्दों में अध्यात्मवाद (स्पिरिचुअलिज्म) के नाम से पुकारा जाता है।
२ इस प्रश्न का दूसरा उल्लेखनीय पहलू यह है कि कोई भी धर्म—यह कोई भी क्यों न हो—निश्चित ही उच्च नैतिकता की शिक्षा अवश्य दे। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि हम अन्य राष्ट्रों से इस रूप में अधिक धार्मिक या बुद्धिमान नहीं हैं कि हमारी व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता का स्तर ऊँचा हो।

अध्याय ५

कृषि

§१ कृषि का आधारभूत महत्त्व—कृषि भारत का प्रधान उद्योग है। यह राष्ट्र की ४८ प्रतिशत आय का साधन है और ७० प्रतिशत लोगो की जीविका का साधन है। देश के कुछ प्रमुख उद्योगों के लिए इससे कच्चा माल तो मिलता ही है (जसे चीनी, कपडा), परन्तु देश के निर्यात का प्रधान साधन कृषि ही है। फिर भी भारत अपने लिए पर्याप्त खाद्य सामग्री नही पदा कर पाता और न वस्त्र उद्योग के लिए पर्याप्त कच्चा माल ही पैदा कर पाता है। १९३७ में वर्मा के अलग होने से मांग और पूर्ति के बीच की खाई और बढ गई। देश के विभाजन के उपरान्त (१९४७) सिंध और पजाब के नहरी क्षेत्र पाकिस्तान के अग हो गए। इससे खाद्यान्न में कमी तो हुई ही, जूट और साथ ही लम्बे, मध्यम और छोटे रेशे की कपास में भी कमी हो गई। आर्थिक प्रगति का अर्थ कृषि, उद्योग, वाणिज्य और परिवहन आदि सभी क्षेत्रो का सुयोजित विकास है। देश की अर्थ-व्यवस्था के ये विभिन्न अग परस्पर आश्रित हैं और प्रत्येक की ओर उचित ध्यान देना आवश्यक है। फिर भी खाद्य तथा अन्य वस्तुओ की कमी को दूर करने और देश की अर्थ-व्यवस्था मे कृषि के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए कृषि में लगे श्रम एव भूमि का सर्वोत्तम प्रयोग बड़े महत्त्व का विषय है।

§२ भारतीय श्रम—हमारी कृषि-सम्बन्धी क्रिया-कलापो की पृष्ठभूमि के रूप में गाँवो का वर्णन करना अनुचित न होगा। एक नमूने का भारतीय गाँव जुती हुई जमीनो का एक समूह-सा है। इसके आस पास कुछ बेकार जमीन भी होती है। इसके मध्य में कुछ मकान होते हैं और उसके चारो ओर केन्द्रीय वृत्ति की भाँति गाँव की जमीन फली होती है। कुछ दशाओ में छोटे-छोटे घर और कृषि-गृह खेत पर भी होते हैं, यद्यपि सुरक्षा की दृष्टि से कृषक प्राय अपने गाँव के घर मे ही रहता है। गाँवो के निवासियो को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) कृषक।
(२) गाँव के (अफ़सर) कर्मचारी।
(३) गाँवो के श्रमिक और शिल्पी।

कृषकों में स्वामी-कृषक और शिकमी गाँव के महत्त्वपूर्ण अग होते हैं।

प्रत्येक गाँव के अपने कर्मचारी होते हैं और आज भी गाँव भारतीय प्रशासन की इकाई है। रयतवारी जिलो में गाँव का सबसे प्रमुख कर्मचारी गाँव का प्रधान या

पटेल होता है। उसका स्थान पतृक होता है और वह गाँव की शान्ति के लिए उत्तरदायी होता है। लगान वसूल करता है और बहुधा छोटी मोटी बातों में दण्डाधिकारी (मजिस्ट्रेट) का काम भी करता है। उसके पास थोड़ी जमीन होती है जिसे 'वतन' कहा जाता है, जो उसकी सेवाओं के उपलक्ष में उसे मिलती है। गाँवों का लेखपाल (पटवारी या कुलकरनी) गाँवों का हिसाब और खेतों का लेखा-जोखा रखता है। गाँव में एक चौकीदार होता है। उसका काम अपराधों की सूचना देना, अपराधियों की गिरफ्तारी में पुलिस की सहायता करना होता है। दक्षिण में ये गाँव के कर्मचारी 'अलूत' कहे जाते हैं जो 'बलूत' अथवा गाँव के तीसरे वर्ग—गाँव के सेवक, दस्तकार आदि से भिन्न होते हैं।

हर गाँव के अपने दस्तकार होते हैं—जैसे बढ़ई, लुहार, सुनार, कहार, नाई, जर्राह मोची, धोबी इत्यादि। बड़े गाँवों में जुलाहे भी होते हैं। प्रायः हर गाँव में एक महाजन होता है। वह रुपया उधार देने के साथ ही गल्ले का थोक व्यापारी भी होता है। दस्तकार गाँव के सेवक होते हैं और उनके पेशे प्रायः वंश-परम्परागत होते हैं और उनके काम से उनको बहुत कम मिलता है। उन्हें गाँव में मकान मिला होता है और वे गाँववालों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, जिसके लिए गाँव वाले उन्हें आवश्यक सामान देते हैं। उनके श्रम के बदले में उन्हें या तो जमीन मिली होती है या फसल कटने के समय अन्न दे दिया जाता है। ऐसे दस्तकार, जिनकी सेवाएँ समय समय पर ही आवश्यक होती हैं, अपने काम के लिए रुपये पाते हैं। गन्ने पेरने की मशीन या बैलगाड़ी बनाने के लिए गाँव के बढ़ई को अलग से मेहनताना देना पड़ता है।[1]

§३ क्षेत्रफल, उपज और फसल का नमूना—निम्न सारिणी में प्रमुख फसलों के अन्तर्गत भूमि, क्षेत्र, उपज और फसल की सामान्य प्रणाली सम्बन्धी सूचना दी गई है—

फसल	औसत क्षेत्रफल (००० एकड़ में) १९५४-५५[2]	औसत उत्पादन (००० टन) १९५४-५५
चावल	७७,४७४	२४,२०६
ज्वार	४१,४५६	६,०६२
बाजरा	२७,३५०	३,५५५
मक्का	९,३७५	३,१४४
रागी	५,०४७	१,७३८
बझरी	१३,६८०	३,४३६
गेहूं	२६,८४२	८,५११
जौ	७,६६६	२,७८९
चना	२० ६६१	५,३३५
गन्ना	३,६३६	५,४६४
आलू	६३६	१,९००

१ बी० एच० बेडेन पावेल, 'लैंड रेवेन्यू इन ब्रिटिश इण्डिया', पृ० ६६ ।

२ सरकारी अनुमान, 'कॉमर्स एनुअल', दिसम्बर १९५८, पृ० ६० ।

तम्बाकू	८३७	८७१
तिल	६,४६०	५६२
मूंगफली	१२,६४७	३,८२३
राइ और सरसों	५,६६५	९९२
तीसी	३,२६०	३८८
रेंडी	१,२७३	११२
पाट	१,२७३	३,१५३[1]
कपास	१८,३४६	४,२६८[2]

कुल कृषि क्षेत्र के २२.६ प्रतिशत में चावल, ७.५ प्रतिशत मे गेहूँ, अन्य ३०.४ प्रतिशत में अनाज, १५.२ प्रतिशत मे दालें, ३.४ प्रतिशत मे मूंगफली, ५.२ प्रतिशत में अन्य तिलहन पदार्थ, १.५ प्रतिशत में गन्ना, ४.६ प्रतिशत में कपास, ०.५ प्रतिशत में जूट तथा शेष ८.८ प्रतिशत में अन्य फसलें होती हैं।[3]

§४ मुख्य फसलों का सर्वेक्षण—(क) खाद्यान्नों की फसलें–(१) चावल–भारतीय संघ की कुल कर्षित भूमि का लगभग २३ प्रतिशत चावल के अन्तर्गत है। कुल उत्पादन प्राय २४० लाख टन है और चावल का प्रति एकड उत्पादन ७६१ पौंड है। चावल की वार्षिक खपत उत्पादन से प्राय ८-१० प्रतिशत के बीच कम है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व यह कमी दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों, विशेषतया बर्मा, से पूरी की जाती थी। लेकिन युद्धोत्तर-काल मे इन देशों के निर्यात मे काफी कमी आ गई। साथ ही अधिक चावल-उत्पादन के कुछ क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए हैं। परिणामत चावल के सम्बन्ध में भारत की दशा खराब है। धान का वितरण वर्षा पर निर्भर है। जहाँ वार्षिक वृष्टि ८० इंच से अधिक होती है वहाँ चावल अधिकता से उत्पन्न होता है। ३० इंच से ८० इंच के क्षेत्रों में भी चावल महत्त्वपूर्ण फसल है। ३० इंच से कम वृष्टि के क्षेत्रों मे चावल सिंचाई से उत्पन्न किया जाता है।

१९३२ से भारतीय कृषि अनुसंधान समिति समस्त भारत मे अनुसंधान शालाओं को आर्थिक सहायता देती रही है। परिणामत विभिन्न क्षेत्रों और दशाओं के योग्य धान के प्रकार निकाले गए हैं, जैसे बंग बिहार के लिए बाढ प्रतिरोधक जाति का धान तथा आसाम के लिए गहरे पानी वाली जाति का धान। चावल के उत्पादन में वृद्धि के लिए केन्द्रीय चावल अनुसंधानशाला १९४६ में कटक में स्थापित की गई। विभिन्न राज्य सरकारें भी जापानी पद्धति से चावल उत्पन्न करने को प्रोत्साहन दे रही हैं। विभिन्न राज्यों के कृषि विभागों ने अधिक उत्पत्ति वाली लगभग धान की ३०० प्रकार की जातियों का विकास किया है। ये जातियाँ विशेष प्रकार के परिवेश के लिए उपयोगी सिद्ध होंगी।

(२) ज्वार बाजरा आदि—इनका उत्पादन बरसाती क्षेत्रों में ही होता है। इनसे गरीबों को भोजन और जानवरों को चारा मिलता है। इसके दो मुख्य प्रकार ज्वार

१ हजार गाँठों में (हर गाँठ ४०० पौंड की)।

२ हजार गाँठों में (हर गाँठ ३९२ पौंड की)।

३ जब कि अन्य खाद्यान्नों एवं चने के आंकड़े रिपोर्टिंग और नॉन रिपोर्टिंग दोनों क्षेत्रों के हैं, अन्य फसलों के आंकड़े केवल रिपोर्ट देने वाले क्षेत्र के ही हैं। अतएव कुल कृषि क्षेत्र बड़ा हो सकता है।

और बाजरा है। (उत्पादन के क्षेत्रों के लिए देखिए पृष्ठ ५४ ५५ की तालिका)

साधारणतया ज्वार के लिए बाजरे से अच्छी भूमि की आवश्यकता होती है। इनका अमला का वितरण भूमि पर निर्भर होता है।

(३) दाल—शाकाहारी जनता के लिए प्रोटीन का प्रमुख साधन दालें ही होती हैं। इनमें से कुछ अच्छे चारे का भी काम देती हैं और कुछ से अच्छी हरी खादें तैयार होती हैं। १९४३ से दो भारतीय कृषि अनुसन्धान समितियाँ दालों के सम्बन्ध में सम्मिलित अनुसन्धान पर धन व्यय करती रही हैं। दाल की अनेक जातियाँ हैं—लाल चना, बंगाल चना, काला चना, हरा चना।

(४) गेहूँ—इसके अन्तर्गत ७.५ प्रतिशत भूमि है। उत्तर में यह रबी की फसल है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में खाद्यान्नों का लक्ष्य ७६ लाख टन था, जिसमें २० लाख टन गेहूँ था। गेहूँ की एक खास भयानक बीमारी होती है जिसे गेरुई या अंग्रेजी में 'रस्ट' कहते हैं। १९३० से भारतीय कृषि अनुसन्धान समिति इस बीमारी को दूर करने के लिए गम्भीर प्रयत्न कर रही है। इस बीमारी की प्रतिरोधक जातियाँ उत्पन्न करने की भी योजनाएँ चालू की गई हैं।

(५) गन्ना—भारत में गन्ने की खेती का क्षेत्रफल सम्भवतः सब देशों से अधिक है। १९३२ से १९५० तक चीनी उद्योग को प्राप्त संरक्षण के परिणामस्वरूप गन्ने की खेती का अपूर्व विस्तार हुआ। इस समय यह भारत का दूसरा सबसे बड़ा राष्ट्रीय उद्योग है। १६० कारखानों में बीस लाख व्यक्ति काम करते हैं और उत्पादित चीनी का मूल्य १२० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष है। उत्तर प्रदेश एवं बिहार में ७३ प्रतिशत (देश की कुल चीनी का) उत्पादन होता है। शेष भाग का उत्पादन उड़ीसा, मद्रास, आन्ध्र, पंजाब और बम्बई में होता है। बम्बई राज्य के अहमदनगर जिले में गन्ने के उत्पादन द्वारा सहकारी आधार पर पहला कारखाना १९५२ में स्थापित किया गया।

योजना आयोग ने १९५५-५६ के लिए चीनी-उत्पादन का लक्ष्य १८ लाख टन रखा था। यह लक्ष्य प्रतिव्यक्ति ८.५२ पौंड दानेदार चीनी के उपभोग तथा ०.५ लाख टन चीनी के निर्यात की व्यवस्था के आधार पर था। यह लक्ष्य गहरी खेती (इन्टेंसिव कल्टीवेशन) द्वारा प्राप्त करना था। इसके लिए किये जाने वाले उपायों का प्रबन्ध केन्द्रीय और सम्बन्धित राज्य सरकारों द्वारा हो रहा है। उद्योग के विकास के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण विभागों की स्थापना—जैसे (१) कृषि अभियान्त्रिकी, (२) गन्ने का कीट विज्ञान, (३) गन्ने का कवक विज्ञान (माईकोलोजी) आदि की स्थापना—से उद्योग के विकास को प्रोत्साहन मिलेगा। विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा भी सिंचाई की सुविधाओं का प्रसार किया जा रहा है।

इधर हाल में गन्ने की कीमत का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठा है क्योंकि चीनी की उत्पादन-लागत पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। १९५१ के उद्योग (विकास और नियमन) अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय सरकार ने इस प्रश्न पर विशेष ध्यान देने का निश्चय किया है और इसे केन्द्र द्वारा नियमित उद्योगों की अनुसूची के अन्तर्गत रखा

है। इन सगठन-सम्बन्धी परिवतनो के अतिरिक्त चीनी उद्योग के उपोत्पाद, जसे बेगेसे यानी बेकार गन्ना, शीरा आदि के उपयोग के प्रश्न को हल करने की भी समस्या है। सबसे अधिक महत्त्वपूण तो वज्ञानिक रीति से रोपण उद्योग की तरह गन्ने की खेती करना है।

निम्न तालिका गन्ने की फसल का क्षेत्र और उत्पादन दिखा रही है[1]—

वर्ष	गन्ने के अन्तर्गत क्षेत्र (दस लाख एकड़)	कच्ची चीनी का उत्पादन (दस लाख टनों में)	मिलों में पेरा गया गन्ना (दस लाख टनों में)	चीनी की प्राप्ति प्रतिशत	गन्ने की प्रति एकड़ औसत उपज (टन)	चीनी का औसत उत्पादन प्रति एकड़ (टन)
१९४९ ५०	३ ६	४ ९३	९ ९	९ ८८	१३ ५	० ८१
१९५१-५२	४ ७	५ ८९	११ ०	९ ५७	१३ ३	१ २
१९५३ ५४	३ ८	४ ६	९ ९	१० ०८	१२ ८	१ ३

प्रति एकड गन्ने की उपज इस समय १३ टन है। इसके विपरीत जावा मे ५६ टन (११ ५ प्रतिशत चीनी की प्राप्ति) और हवाई में ६२ टन (१० ६ प्रतिशत चीनी की प्राप्ति) है। १९५०–५१ मे आस्ट्रेलिया में चीनी की प्राप्ति का प्रतिशत १४ ३, क्यूबा मे १२.३ प्रतिशत और मारीशस में १२ १ प्रतिशत था। उत्तर प्रदेश और बिहार मे विधान द्वारा गन्ने की न्यूनतम कीमत निर्धारित करने की नीति का अनुसरण किया गया है। यह कारखाने वालो और गन्ना के उत्पादको के बीच हमेशा से झगडे की जड रहा है। सरकार द्वारा इन झगडा मे हस्तक्षेप सदव उत्पादको के पक्ष मे रहा है, क्योंकि राज्य सरकारों का लाभ गन्ना के उत्पादन मे है। उत्तर प्रदेश और बिहार में गन्ने के अनुसन्धान और विकास का उपकर १९३८ और १९३९ से क्रमश बढ़ाया जाने लगा है। लेकिन इसका मूल उद्देश्य राज्य की आय मे वृद्धि करना था।

भारतीय चीनी की ऊँची लागत के कारण गन्ने की कम उपज, गन्ने से चीनी की पुनर्प्राप्ति न्यूनता तथा उद्योग की सापेक्षिक कुशलता है। इसके अतिरिक्त उत्पादन की ८० ऐसी अनर्थिक इकाइयाँ ह जिन्ह उत्तर प्रदेश और बिहार से हटाकर दक्षिण के उपयुक्त क्षेत्रो म स्थापित करने की आवश्यकता है। उन्हें किसी-न किसी तरह जीवित रखने का अथ उपभोक्ताओं के हितों का अनावश्यक वलिदान है।[2]

(ख) अखाद्य फसलें[3]—तिलहन और तेल देने वाली फलो—(६) मूँगफली और मूँगफली का तेल—भारत की प्राय १३० लाख एकड़ जमीन म मूँगफली बोई जाती है जिसका वार्षिक उत्पादन ३० लाख टन है। भारत का मूँगफली का उत्पादन दुनिया में सबसे अधिक है। निम्न तालिका से कुल बोआई का क्षेत्र तथा अवार्षिक

१ समुद्र पार आर्थिक सर्वेक्षण भारत, पृष्ठ १८२।

२ बम्बई के दक्षिणी पठार में गन्ने की उपज प्रति एकड़ ५६ टन है। इसके विपरीत उत्तरी भारत में यह १३ टन प्रति एकड़ है।

३ देखिए, समुद्र पार आर्थिक सर्वेक्षण भारत, पृष्ठ १६९-८१।

पर प्रतिबन्ध इसलिए लगाया गया है ताकि देश के अन्दर इसका तेल पेरने का उद्योग बढ़ सके।

(११) तिल—भारत में तिल का उत्पादन दुनिया के उत्पादन का ३३ प्रतिशत है। १९५४-५५ में इसका उत्पादन ५९२,००० टन था।[१] इसके प्रधान उत्पादक मद्रास और उत्तर प्रदेश हैं। इसके बाद राजस्थान, हैदराबाद और मध्य भारत का नम्बर है। इसकी आन्तरिक माँग पूर्ति से अधिक है। फलतः इसका निर्यात प्रायः बन्द-सा हो गया है।

(१२) सरसों—उत्तर प्रदेश में प्रायः भारतवर्ष के उत्पादन की आधी सरसों पैदा होती है। अन्य प्रमुख उत्पादक बिहार, पंजाब और राजस्थान हैं।

(१३) कपास—कपास भारत की रेशे वाली मुख्य फसल है, इसका उत्पादन संयुक्त राज्य अमरीका के बाद भारत में सबसे अधिक होता है। किन्तु भारत में ५०,००० गाँठों के बराबर कपास एक इंच या उससे अधिक लम्बे रेशे वाली कपास की होती है। ११/१६ इंच से कम रेशे वाली कपास प्रायः फसल की ३० प्रतिशत होती है। भारत अपनी मिलों के लिए आवश्यक छोटा कपास उत्पन्न करता है। लेकिन एक इंच से लम्बे रेशे वाली कपास प्रायः बाहर से मँगानी पड़ती है। पाकिस्तान बन जाने के बाद भारत को ७/८ इंच से एक इंच तक के रेशे वाली कपास के लिए अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। पाकिस्तान से विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण प्रायः पूर्वी अफ्रीका और अमरीका की कपास पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। मैसूर, मद्रास और पूर्वी पंजाब में लम्बे रेशे की कपास उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(१४) जूट—जूट भारत की व्यापारिक फसलों में बड़ा महत्वपूर्ण है। निम्न तालिका से भारतीय संघ में १९४८ से १९५४ तक जूट का उत्पादन क्षेत्र और उत्पादन स्पष्ट हो जाता है—[२]

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ में)	उपज (गाँठों में)
१९४८	८३४,०००	२,०५९,०००
१९४९	१,१५८,०००	३,११७,०००
१९५०	१,४५४,०००	३,३०१,०००
१९५१	१,९५१,०००	४,६७७ ०००
१९५२	१,८२० ०००	४ ६०५,०००
१९५३	१,१६६,०००	३,१७८,०००
१९५४	१,२३१,०००	३ १४६ ०००

पाकिस्तान से अपनी जूट मिलों की निर्भरता को दूर करने के लिए (जिसके हिस्से में अविभाजित भारत के कुल जूट-भाग का लगभग ३/४ भाग पड़ा है) यह प्रयत्न किया जा रहा है कि आसाम, बिहार, मद्रास और उत्तर प्रदेश में जूट और इसके स्थानापन्न रेशे उत्पन्न किये जायें, उदाहरण के लिए मेस्ता या बिमली'। १९३९ में

---

१ पूर्वोक्त।

२ देखिए, 'इस्टर्न इकॉनॉमिस्ट ईयर बुक' १९५५-५६, पृष्ठ १०९।

भारत की केन्द्रीय जूट समिति जूट या जूट से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में बराबर अनुसन्धान कर रही है।

(१५) तम्बाकू—भारत तम्बाकू का तीसरा सबसे बड़ा उत्पादक है। इसका नम्बर संयुक्त राज्य अमरीका और चीन के बाद है। इसका उत्पादन भारत में सर्वत्र एक-सा नहीं है। कुल मिलाकर पाँच तम्बाकू क्षेत्र हैं, जिन्हें वाणिज्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

(१) उत्तरी बिहार एवं बंगाल।
(२) चारोतर (गुजरात) क्षेत्र।
(३) निपानी (कर्नाटक)।
(४) गुण्टूर (आन्ध्र)।
(५) मद्रास का दक्षिणी भाग।

भारत की तम्बाकू से सिगरेट, चुरुट, बीड़ी, हुक्के की तम्बाकू, खाने की तम्बाकू, सुँघनी आदि बनती हैं। इनमें सिगरेट के अलावा अन्य वस्तुएँ कुटीर उद्योग-धंधों में हाथ से बनाई जाती हैं।

१९५०-५१ में तम्बाकू के उत्पादन का मूल्य ७१ करोड़ रुपया था। गन्ना मूँगफली और कपास के बाद यह चौथी व्यापारिक फ़सल है। १९४९-५० में २४१ लाख रुपये की तम्बाकू का आयात १९४८-४९ के तम्बाकू मूल्य के आयात से ३४ प्रतिशत कम था। १९५४-५५ में भारत से निर्यात की हुई तम्बाकू का मूल्य ७६.४ लाख रुपया था। निर्यात-व्यापार में मूल्य की दृष्टि से अन्य वस्तुओं की तुलना में तम्बाकू का आठवाँ स्थान है।

(ग) रोपस्थली फसलें (प्लांटेशन क्राप्स)—(१६) चाय—भारत दुनिया में चाय का सबसे बड़ा उत्पादक है। भारत के चाय का ८२ प्रतिशत आसाम और दोआर से आता है। कपास और जूट के कच्चे एवं निर्मित माल के अतिरिक्त चाय विनिमय करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। भारतीय चाय उद्योग की दीर्घकालीन समृद्धि इंगलिस्तान के बाजारों पर निर्भर है, जिनमें भारत को लगभग १०२ करोड़ रुपये की आमदनी होती है। चाय पर लगाये गए उत्पाद और निर्यात-करों से १४ करोड़ रुपये के लगभग प्राप्त होते हैं।

(१७) कहवा—दुनिया के कहवे का १ प्रतिशत से कुछ कम भारत में उत्पन्न होता है। यद्यपि भारतीय कहवे की माँग बाहरी समुद्र-पार बाजारों में है, किन्तु आन्तरिक उपभोग के कारण निर्यात के लिए प्राप्त मात्रा सीमित ही है। भारतीय कहवा दक्षिणी भारत की नीची पहाड़ियों, उड़ीसा के छोटे छोटे क्षेत्रों तथा आसाम और मध्य प्रदेश में पैदा होता है। मसूर सबसे महत्त्वपूर्ण उत्पादक है। इस राज्य में कुल कर्षित क्षेत्र की ५० प्रतिशत भूमि है। इसके पश्चात् मद्रास (२५-३० प्रतिशत), कुर्ग (२०-२५ प्रतिशत) और ट्रावनकोर-कोचीन (४ प्रतिशत) हैं।

(१८) रबर—१९५२ में विश्व में रबर उत्पादन का अनुमान १७ लाख टन था। भारत ने इसका ०.१ प्रतिशत उत्पन्न किया। १९५१-५२ में कुल उत्पादन का

मूल्य ४८८ १ लाख रुपये था। रबर की खेती का अधिकांश छोटे-छोटे टुकडो म है। इसका प्रबन्ध भी चाय या कहवे के बगीचा की तुलना में असन्तोषजनक है। १९४५ से ही उत्पादन घटता रहा है। इसका कारण पुराने बगीचो से उपज का घटना तथा कीमतों के घट जाने से अधिक रबर निकालने का काम बन्द कर देना है।

(१९) मिर्च मसाले—काली मिर्च के अन्तर्गत २०९,००० एकड भूमि है। इसमे भारत को डालर प्राप्त होता है। १९५४-५५ म १३,६८९ टन का निर्यात हुआ जिसमे २० करोड रुपये की आय हुई। भारत के दक्षिण पश्चिम तटीय मैदानो की अर्थ-व्यवस्था में मिर्च मसाला का महत्वपूर्ण स्थान है। इस उद्योग को चाय, कहवा और रबर की तरह प्रबन्धात्मक लाभ प्राप्त नही है जैसा हम पहले देख चुके हैं कि रोपस्थली फसलो का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की दृष्टि से बडा महत्व है। केवल चाय से १९५४ ५५ में १४७ करोड रुपये के बराबर विदेशी विनिमय प्राप्त हुआ। कहवा और रबर की खपत अब देश के अन्दर ही होती है। १९५४ ५५ में भारत ने १०० लाख टन रबर बाहर से मगाया। देश की सुरक्षा एव औद्योगिक विकास के लिए रबर बडे महत्व की वस्तु है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिया की अस्थिरता के कारण विदेशी आयात पर निर्भर रहना उचित नहीं है।

५ मुख्य फसलो का प्रादेशिक विभाजन—प्रमुख खाद्य और व्यापारिक फसला के विभाजन का नमूना निम्न है। चावल पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश बिहार, पश्चिमी बगाल एव आसाम मे होता है। मद्रास की तटीय पट्टियो म, आन्ध्र तथा उडीसा म और पश्चिमी समुद्र-तट पर भी चावल का उत्पादन होता है। गेहूँ प्रधानतया पजाब पप्सू पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार और बम्बई में होता है। ज्वार-बाजरा दक्षिणी पठार मद्रास, बम्बई मध्य प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश और कुछ अशों में राजस्थान और मध्य भारत म भी होता है। मक्का बिहार, मध्य प्रदेश, बम्बई म उत्पन्न होती है। दालो का उत्पादन बिहार, मध्य प्रदेश, पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्य भारत और राजस्थान तथा पजाब में होता है। व्यापारिक फसलों म कपास का उत्पादन गुजरात, काठियावाड और दक्षिणी पठार में होता है जिसमें बम्बई, मध्य प्रदेश, हैदराबाद और मद्रास शामिल हैं। जूट का उत्पादन प्रमुख रूप से बगाल में सीमित है तथा कुछ आसाम और बिहार म भी होता है। तम्बाकू आन्ध्र के गुण्टूर जिले में तथा बम्बई के बेलगाँव और कैरा जिले में उत्पन्न की जाती है। तिलहन के क्षेत्र दक्षिणी पठार, हैदराबाद, बम्बई, मद्रास और मसूर हैं तथा सहायक क्षेत्रो के रूप म उत्तर प्रदेश सौराष्ट्र एव मध्य प्रदेश आते हैं।

§६ कम उपज (लो फील्ड)—जब हम भारत के उत्पादन की अन्य देशा के उत्पादन से तुलना करते हैं तो इस दिशा में हमारी असन्तोषजनक स्थिति स्पष्टत सामने आती है। निम्न तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

		प्रति एकड़ उपज (पौ० में)
चावल	इजिप्ट	५४०
	भारत	८७
	यू० एस० ए०	३१२
गेहूँ	भारत	५६३
	आस्ट्रेलिया	९०६
	यू० एस० ए०	१,०७६
	फ्रांस	१,६१०
कच्ची शक्कर	भारत	३,०६३
	क्यूबा	४ ५६७
	मारीशस	८ १३२
	यू० एस० ए०	३,७०१
कपास (बिनौले निकाला हुआ)	भारत	८७
	इजिप्ट	५९०
	यू० एस० ए०	३१२

फिर भी एक बात ध्यान रखनी होगी कि इन संख्याओं के आधार पर बहुत अधिक परिणाम नहीं निकालना चाहिए। हमें इस निष्कर्ष पर न पहुँचना चाहिए कि किसी देश की सर्वोच्च उपज अवश्य ही हमारा भी प्राप्य लक्ष्य होना चाहिए। हो सकता है कि यहाँ जलवायु सम्बन्धी तथा भूमि की परिस्थितियाँ उतनी अनुकूल न हों। यह भी सम्भव है कि अन्य देशों का उत्पादन भूमि को स्थायी रूप से निर्बल बनाने के भय को ध्यान में न रखकर किया जा रहा हो। निश्चय ही किसी तात्कालिक लाभ के लिए भूमि को स्थायी रूप से क्षतिग्रस्त करना वांछनीय नहीं है।

इन बातों के बाद भी यह स्पष्ट है कि भारतीय उत्पादन अन्य देशों की अपेक्षा कहीं कम है। इसका एक कारण मानसून का स्वेच्छाचारी स्वभाव है। इसको आंशिक रूप से कृत्रिम सिंचाई की योजनाओं द्वारा पूरा किया जा सकता है।

क्या भारत की भूमि की शक्ति का क्रमिक ह्रास हो रहा है, इस प्रश्न का उत्तर अधिकृत क्षेत्रों ने नकारात्मक दिया है। कृषि आयोग को दिये गए अपने स्मृति पत्र में डॉक्टर क्लाउस्टन ने कहा है कि 'अधिकांशतः भारत की भूमि अपनी दुर्बलता की चरम अवस्था सैकड़ों वर्ष पूर्व प्राप्त कर चुकी होगी। और यदि अब उस पर बिना खाद के सैकड़ों वर्ष तक खेती की जाय तो उसकी शक्ति न घटेगी।'[1] लेकिन हम इस सत्य से कोई विशेष सन्तोष नहीं प्राप्त कर सकते कि अब भारत की जमीन की उत्पादन शक्ति न घटेगी। हमारी चिन्ता का विषय तो उत्पादन दर की न्यूनता है। उत्पादन की वृद्धि की आवश्यकता को सभी स्वीकार करते हैं। इसके लिए सबसे महत्वपूर्ण उपाय उचित मात्रा में अच्छी खादों का प्रयोग है।

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ७७।

अध्याय ६

अन्तर्विभाजन और अपखण्डन

१ अन्तर्विभाजन और अपखण्डन के कारण—इसके प्रधान कारण निम्न हैं—

(१) जनसंख्या में वृद्धि तथा पर्याप्त औद्योगिक विकास का अभाव, जो भूमि से अतिरिक्त जनसंख्या को आकर्षित कर ले।

(२) संयुक्त परिवार प्रथा की समाप्ति और इसके फलस्वरूप दाय और उत्तराधिकार नियमों के अनुसार भूमि का विभाजन। यदि १०० एकड़ भूमि बराबर के चार हिस्सेदारों में बँटेगी तो प्रत्येक को २५ एकड़ भूमि मिलेगी, अर्थात् १०० एकड़ की जोत २५ एकड़ की चार जोतों में अन्तर्विभाजित हो जायगी। किन्तु सोचिए कि यदि यह १०० एकड़ २५ एकड़ के चार टुकड़ों में बिखरा हो तो हिस्सेदार इनमें से कोई एक टुकड़ा ले लेगा। इस प्रकार के विभाजन में अन्तर्विभाजन और अपखण्डन न होगा। किन्तु यदि प्रत्येक हिस्सेदार हर २५ एकड़ में १/४ (या अपना हिस्सा) लेना चाहेगा तो १०० एकड़ की एक जमीन न केवल २५ एकड़ के चार टुकड़ों में बँटेगी बल्कि हर २५ एकड़ का टुकड़ा सवा छः एकड़ के टुकड़ों में बँट जायगा। प्रायः बँटवारा इसी दूसरी विधि से होता है। इस प्रकार हम सरलता से अनुमान कर सकते हैं कि किस तरह हर पीढ़ी में बँटवारा होने पर भूमि क्रमशः छोटे छोटे अनार्थिक टुकड़ों में विभाजित होती चली जाती है।

बड़े जमींदार स्वयं बहुधा खेती नहीं करते हैं। अधिकतर हर बड़े जमींदार की जमीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर आसामियों को दे दी जाती है। लाभदायक खेती के लिए यह आवश्यक है कि खेती की जमीन एक जगह और उचित आकार की होनी चाहिए। भारत में केवल यही नहीं है कि प्रत्येक किसान की जमीन बहुत कम है वरन् यह भी है कि वह विभिन्न क्षेत्रों में बिखरी भी है। परिणाम यह होता है कि खेती में सुधार व्यवहारतः असम्भव हो जाता है। आर्थिक दृष्टि से समस्या यह नहीं है कि औसतन प्रत्येक व्यक्ति का स्वामित्व[1] कितने क्षेत्र पर है वरन् यह कि जोत कितनी

---

[1] बड़ी जमींदारियों का अर्थ बड़े पैमाने की खेती नहीं है और न विकेन्द्रित स्वामित्व का यही अर्थ है कि जोत छोटा है। बड़ी जमींदारी छोटे-छोटे खेतों में बाँटकर लगान पर उठाई जा सकती है और एक बड़ा किसान कई स्वामियों से लगान या इजारा ले सकता है—जे० एस० निकल्सन, 'प्रिंसिपल्स ऑफ पालिटिकल इकानामी', खण्ड १, पृष्ठ २४६।

है।[1] जहाँ तक उन लोगो का प्रश्न है जो भूमि के स्वामी भी हैं और किसान भी, स्वामित्व और भूमि के अन्तर्विभाजन और अपखण्डन का अर्थ एक ही है।

§२ अन्तर्विभाजन के दोष—(१) यदि खेत इतना छोटा है कि निर्धन-से-निर्धन किसान के प्रस्तुत साधन हल और बैल से भी वह अच्छी प्रकार जुताई-बुआई के लिए छोटा साबित होता है तो इसका अर्थ है कि उसकी उत्पादन लागत उत्पत्ति की अपेक्षा अधिक है।

(२) कुछ सीमा तक खेत की आकार-वृद्धि लाभदायक है, भले ही उससे व्यय, उदाहरणत बाड लगाने का व्यय, बढ जाय, क्योंकि व्यय की यह वृद्धि आकार और अतिरिक्त मूल्य की तुलना मे कम ही होती है।

(३) यदि खेत अत्यधिक छोटे हैं तो बाड लगाने और रास्ते मे काफी जमीन बेकार जाती है। बहुधा ऐसे छोटे खेतो पर बाड लगाने का खर्च भी बेकार जान पडता है। परिणामत खेती आस पडोस के खेतो की तरह ही होनी चाहिए। यदि एक खेत में फ़सलें खडी हैं और आस पास के खेत खाली हैं तो पशुओ तथा अन्य प्रकार से हानि का भय रहता है।

(४) कितने ही आवश्यक सुधार खेत बडे होने पर किये जा सकते हैं, परन्तु खेत छोटे होने पर नहीं किये जा सकते। उदाहरणत यदि कुआँ खोदना और बाड लगाना लाभहीन है तो फिर आधुनिक बडी मशीनो के उपयोग से ही क्या लाभ होगा? यदि खेत एक उचित आकार का है तो अनेक प्रकार के अपव्ययो से बचा जा सकता है और प्रभावपूर्ण नियोजन, उदाहरणत फसलो का उचित चुनाव और हेर फेर, भूमि सरक्षण और अच्छे औजार आदि, का प्रयोग सम्भव है।

§३ अपखण्डन से हानियाँ—उपलब्ध सम्भार और श्रम के लिए कम भूमि का होना एक गम्भीर दोष है। किन्तु स्थिति उस समय और भी शोचनीय हो जाती है जब ये खेत छोटे होने के अलावा यत्र-तत्र बिखरे होते हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि एक जोडी बैल, एक हल और परिवार के तीन काम करने वाले प्रौढ़ सदस्य बीस एकड की खेती अच्छी तरह कर सकते हैं। यदि केवल दस ही एकड खेत उनके पास है तो उत्पत्ति और उत्पादक प्रयत्न का अनुपात अपेक्षाकृत कम अनुकूल होगा। लेकिन यदि यही दस एकड का खेत दो एकड के पाँच टुकडो में बँटा हो और पाँचो टुकडे एक-दूसरे से काफी दूर पर स्थित हो तो खेती और अधिक अलाभकारी होगी। इस प्रकार अन्तर्विभाजन की समस्या और भी भयकर रूप धारण करती है। अब अलग अलग जोतने के लिए खेत दस एकड के बजाय दो एकड का है। इस प्रकार अन्तर्विभाजन के दोष और गम्भीर हो जाते हैं। किसान को औजार और सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना होता है। इससे खर्च और परेशानी बढ़ जाती है। इस प्रकार के आवागमन में कभी-कभी दूसरों के खेतो से निकलने के कारण

[1] कृषि आयोग ने भू-स्वामी और कृषक (लैंड होल्डर्स एण्ड कल्टीवेटर्स) शब्द का प्रयोग किया है। भू स्वामी वे हैं जिनका भूमि में स्थायी पैतृक अधिकार है, चाहे वे मौरूसी काश्तकार की हैसियत से हों या पट्टेदार अथवा कानूनन मालिक की हैसियत से हो।

झगडे भी हो सकते हैं। चूँकि अन्य व्यक्तियो की जमीन बीच मे आ जाती है, इसलिए वह पानी के निकास या सिंचाई के लिए स्थायी नालियाँ नही खोद सकता। छोटी जोत की हानियो को दूर करने का एक सम्भव उपाय जापानी या चीनी विधि से गहरी खेती (इण्टेंसिव कल्टीवेशन) करना है। लेकिन यह उपाय भी अव्यवहार्य हो जाता है, क्योंकि किसान खेतो के बिखरे होने के कारण किसी खेत पर पूरा ध्यान नहीं दे सकता। डॉक्टर एच० एच० मन अन्तर्विभाजन और अपखण्डन की बुराइयों को बडी अच्छी प्रकार से बताते हुए कहते हैं, "इससे साहसोद्यम नष्ट होता है, श्रम की बरबादी बडे पैमाने पर होती है, सीमा बनाने मे भूमि का काफी हिस्सा बेकार होता है, गहरी खेती भी असम्भव हो जाती है और बाहर के साहसोद्यमी भी खेतिहर सम्पत्ति के खरीदार या अच्छे आसामी के रूप मे नई मशीनो और तरीका का उपयोग नहीं कर पाते।"[1]

जैसा हम पहले देख चुके हैं अन्तर्विभाजन तथा दाय और उत्तराधिकार के नियमो का, जिनके द्वारा ये दोष उत्पन्न होते हैं, समर्थन इस प्रकार किया जाता है कि इनसे समाज के कृषक-स्वामियो के रूप में एक स्थिर तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। लेकिन यदि किसानो के पास आवश्यकता से कम जमीन है तो वे शक्ति और स्थिरता के बजाय देश के लिए कमजोरी और कठिनाइयो का कारण बन जायगे। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि विभिन्न टुकडो में भूमि प्राप्त होने से किसान को विभिन्न प्रकार की, यथा चरागाह, गेहूँ की जमीन या चावल की, जमीन मिलती है, जिनमे विभिन्न प्रकार की फसलें पैदा हो सकती हैं। इस प्रकार उसकी विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति भी होती है और उसकी जोखिम भी बँट जाती है। परन्तु यह कहना तो समस्या को बिलकुल गलत समझना है। यह वाञ्छनीय है कि किसान की जोत विभिन्न प्रकार की भूमि मे हो और निश्चय ही इस परिस्थिति में जमीन के टुकडे विभिन्न क्षेत्रो मे होंगे। विभिन्न प्रकार की जमीन एक स्थान पर तो हो नहीं सकती। अत जब हम अपखण्डन को दूर करने की बात करते हैं तो हमारे मस्तिष्क में एक ही प्रकार के भूमि के खण्डों की बात रहती है जिनकी जमीन और फसलें एक-दूसरे से भिन्न नही हैं।

§४ उदाहरणात्मक संख्याएँ[2]—(१) जोत का अन्तर्विभाजन—अन्तर्विभाजन और अपखण्डन से सम्बन्धित सम-सम्भावित ढग से लिये गए कुछ आँकडे नीचे दिये जाते हैं। अविभाजित पजाब के २३९७ गाँवो म की गई विशेष जाँच के अनुसार वहाँ १७ ९ प्रतिशत भूमि के स्वामियों की जमीन १ एकड से कम थी। २५ ५ प्रतिशत की भूमि एक और तीन एकड के बीच थी। १४ ९ प्रतिशत की भूमि चार-पाँच एकड के बीच थी। १८ प्रतिशत की भूमि ५ से १० एकड के बीच थी। १९२७ में सर चुन्नीलाल मेहता ने यह प्रदर्शित किया था कि किस प्रकार बम्बई प्रान्त में समग्र भूमि की तुलना म जोतो की सख्या बढ रही थी और यह प्रवृत्ति ५ एकड तथा उससे कम की जोतो म

---

१ 'लैण्ड एण्ड लेबर इन ए डक्कन विलेज', खण्ड १, पृष्ठ १५४।

२ वाडिया, जथार और बेरी, 'इण्डियन इकनामिक्स', खण्ड १ (नवाँ सस्करण), पृष्ठ १७७-७८।

अधिक अच्छी तरह लागू थी।

(२) कृषि का अन्तर्विभाजन—(क) किसानो की औसतन जोत बिहार और उडीसा में १/२ एकड से कम, बगाल आसाम मे ३ एकड और उत्तर प्रदेश में २ ५ एकड है।

(ख) पजाब में २२ ५ प्रतिशत किसानो की जोत एक एकड से कम है। १५ ४ प्रतिशत की जोत एक एकड से २ ५ एकड है। १७ ६ प्रतिशत की जोत २ ५ एकड से ५ एकड है और २० ५ प्रतिशत की जोत ५ से १० एकड तक है।[1]

(ग) अपखण्डन—जोतो के अपखण्डन का एक ज्वलन्त उदाहरण डॉ० एच० एच० मैन ने पिम्पला सौदागर गाँव (बम्बई-दक्षिण) से दिया है, जहाँ १५६ मालिको के पास ७२६ खेत थे, जिनमे से ४६३ एक एकड से कम और २११ एक चौथाई एकड से भी कम थे। रामलाल भल्ला द्वारा पता लगाये गए उदाहरणो को कृषि आयोग ने उद्धृत किया है, जिसके अनुसार बरामपुर (पजाब) में ३४ ५ प्रतिशत किसानो में हर एक के पास २५ टुकडे थे।

§५ आर्थिक जोत की परिभाषा—आर्थिक जोत की कुछ परिभाषाएँ नीचे दी जाती हैं—आर्थिक जोत वह है—(१) जिससे इतनी उत्पत्ति का अवसर प्राप्त हो कि किसान आवश्यक खर्चो को चुकाने के बाद सपरिवार यथोचित सुख से रह सके' (कीटिंग)। (२) 'जो एक औसत परिवार को एक सन्तोषजनक न्यूनतम स्तर पर रखने के लिए पर्याप्त हो' (डा० एच० एच० मैन)। (३) 'जो किसानो को उच्च जीवन-स्तर प्रदान कर सके' (स्टेन्ले जीवन्स)। (४) 'जो एक औसत कृषक-परिवार के साधनो (पूँजी और श्रम) को अत्यधिक लाभप्रद काय और उच्चतम वास्तविक लाभ प्रदान कर।'

ये सब पूर्णत या अशत आर्थिक जोत को परिभाषित करने के सफल प्रयास हैं। इस प्रश्न में कितनी ही बातें सम्मिलित हैं जसे प्राप्य पूँजी की मात्रा, उत्पादन की विधि भूमि की प्रकृति वर्षा की मात्रा तथा सिंचाई की सुविधाओ की स्थिति या अभाव, और उगाई जाने वाली फसल का प्रकार आदि।' अत एक बुद्धिमान और अनुभवी व्यक्ति के लिए किसी भूमि विशेष के लिए इसका स्वरूप निर्धारण करना बहुत कठिन बात न होगी। कीटिंग[2] के अनुसार दक्षिण के लिए आदर्श 'आर्थिक जोत (इकनामिक होल्डिंग) होने के लिए ४० से ५० एकड जमीन का एक टुकडा होना चाहिए, जिसमें एक अच्छा कुआँ और किसान का मकान हो। सूरत जिले में अपने परिवार को आराम से रखने के लिए एक माली के लिए ३ एकड जमीन पर्याप्त है। इसके विपरीत दक्षिणी पठार के शुष्क भाग में ३० एकड भूमि भी अपर्याप्त होगी।[3]

§६ दूर करने के उपाय—अन्तर्विभाजन और अपखण्डन के दोषो को दूर करने के लिए

---

१ इस अध्याय के अन्त में दी गई एक अनुसूची में भू स्वामित्व व जोत के अन्तर्विभाजन विषयक नवतम आँकड़े दिये गए हैं। ये आँकड़े योजना आयोग रिपोर्ट (पृष्ठ १९९ २००) से लिये गए हैं।

२ कीटिंग इस बात को भली भाँति समझता है कि किसी भी क्षेत्र के लिए भूमि की मात्रा निर्धारित करने के लिए उसके आकार के साथ-साथ यह भी ध्यान रखना होगा कि वह बिखरे टुकड़ों में न हो।

३ देखिए, 'प्रोग्रेस और एग्रिकल्चर इन वैस्टर्न इण्डिया', पृष्ठ ५२ ३।

किये गए अब तक के उपायों का पुनर्वेक्षण करना आवश्यक है। पहले अपखण्डन की समस्या को लेकर हम चकबन्दी[1] के प्रयोगों को देखना होगा जोकि पंजाब में १९२०-२१ से ही सहकारी विभाग के तत्त्वावधान में प्रचलित हैं। जुलाई १९४३ के अन्त में सहकारी समितियों की संख्या १८०७ और चकबन्दी का क्षेत्रफल १४.८ लाख एकड़ था। (१९४७-८ में रिपोर्ट की गई संख्या १५.७८ लाख एकड़ थी) १९३६ के चकबन्दी अधिनियम ने इसकी गति को और तीव्र कर दिया क्योंकि इससे अल्पसंख्यक अवधाधारियों को अनिवार्यत इसे मानने पर बाध्य करने की व्यवस्था थी। पंजाब में कुछ विशेष बातें हैं जो चकबन्दी के काम में सहायता पहुँचाती हैं। भूमि एक प्रकार की है इससे एक भू-खण्ड से दूसरे को बदलने में बहुत कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता। नहर उपनिवेश में जमीन अभी हाल ही खेती के काम में लाई गई है, अतएव वहाँ उपविभाजन और अपखण्डन की त्रुटियों को दूर करने का अवसर था। भूधृति की व्यवस्था अपेक्षाकृत सरल होने के कारण भी काम में काफी सहायता मिली। अन्य राज्यों की दशाएँ अधिक कठिन थीं फिर भी पंजाब का अनुकरण अन्य राज्यों ने किया और उनके प्रयत्न परिणाम शून्य नहीं रहे।

मध्य प्रदेश में १९२८ के चकबन्दी अधिनियम तथा सहकारी समितियों द्वारा चकबन्दी का कार्य हुआ। प्रारम्भ में अधिनियम केवल छत्तीसगढ़ प्रदेश में लागू किया गया। इसके अनुसार गाँवों के आधे स्थायी अधिकारधारी-स्वामियों को जिनकी जमीन गाँव के २/३ के बराबर थी, यह अधिकार दिया गया कि वे चकबन्दी की योजना में सम्मिलित हों और शेष को उनकी योजना अनिवार्यतः माननी पड़ेगी। इसके अनुसार छत्तीसगढ़ के २,४३६ गाँवों में ५ लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हुई।

१९३९-४० में उत्तर प्रदेश में सहकारी चकबन्दी समितियों की संख्या १८२ थी। इनके द्वारा ७३६७२ पक्के बीघे जमीन की चकबन्दी हुई। लेकिन १९४७ में इस प्रयोग का परित्याग कर दिया गया। उसी वर्ष मद्रास में भी जहाँ १९३९-४० में २२ सहकारी समितियाँ थीं, असफलता स्वीकार करके प्रयत्न करना छोड़ दिया।

१९४७ के बम्बई जोत अपखण्डन की रोक और चकबन्दी अधिनियम के अनुसार सरकार को यह शक्ति मिली कि वह किसी भी क्षेत्र के लिए आदर्श क्षेत्र अर्थात् लाभसहित खेती करने योग्य न्यूनतम क्षेत्र निश्चित कर दे। उस क्षेत्र से कम आकार वाले क्षेत्र को एक टुकड़ा घोषित किया जाय और अधिकार-लेख में उसे एक ही दर्ज कर लिया जाय। जमीन की बिक्री, हस्तान्तरण तथा पट्टा, जिससे टुकड़ा होने की सम्भावना हो रोक दिया जाय, जबकि वह पूर्व स्थित खेत में जुड़ने की दशा में न हो। १९४८ में पंजाब और १९५० में पप्सू में इसी प्रकार के अधिनियम पास हुए। १९३३ में बड़ौदा कृषि-जोत अपखण्डन का रोक अधिनियम के अनुसार पड़ोसियों को समापन्य भूमि क्रय करने का अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार सम्पत्ति विभा

[1] चकबन्दी से अभिप्राय यह है कि भूमि का टुकड़ों में न होकर एक जगह होती है। चकबन्दी किसानों द्वारा भूमि को आपस में स्वेच्छा से बदलने अथवा सरकार अथवा सहकारी समिति द्वारा अनिवार्य रूप से बदलने से होता है।

जन अधिनियम के अनुसार एक सीमा के नीचे सम्पत्ति का विभाजन रोक देने का अधिकार प्राप्त है।

योजना आयोग की रिपोर्ट के अनुसार बम्बई, पंजाब तथा मध्य प्रदेश के प्रयोगो से चकबन्दी की उपयोगिता निश्चित रूप मे सिद्ध हो गई है। रिपोर्ट के सुझाव हैं कि चूँकि किसान इसके महत्त्व को समझते हैं और बहुत कुछ इसकी लागत का भी बर्दाश्त करने के लिए तयार हैं अतएव चकबन्दी की व्यवस्था का प्रसार होना चाहिए। एक न्यूनतम सीमा के नीचे अन्तर्विभाजन एवं विघटन को रोकने के लिए बम्बई और उत्तर प्रदेश की तरह के उपायों की व्यावहारिकता की छानबीन नही हुई है। ये उपाय अच्छे हैं और सम्भवत इनका प्रसार करना होगा।[1]

§७ सहकारी कृषि (को आपरेटिव फार्मिंग)—इन सब विधानों का सामान्य उद्देश्य कृषि की खेती की इकाई के आकार मे वृद्धि करना है ताकि अधिक कुशल कृषि उत्पादन हो सके। जैसा कि हम देख चुके हैं, महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि भूमि का स्वामी कौन है, बल्कि यह है कि उसकी जुताई कैसे होती है। इसका एक समाधान सहकारी कृषि है, जिसके द्वारा स्वामित्व की भावना को हानि पहुँचाए बिना या परिश्रम की प्रेरणा को शिथिल किये बिना ही बड़े पैमाने की कृषि के सभी लाभ उठाए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में योजना आयोग ने सिफारिश की है कि किसी भी क्षेत्र में जिसके बहुसंख्यक तथा आधे से अधिक भूमि के स्वामी सहकारी फार्म स्थापित करने के पक्ष मे हों, उनके लिए पूरे गाँव में सहकारी ढंग की कृषि करना सम्भव बना देना चाहिए। इस प्रकार सारा गाँव एक जायदाद हो जायगा और उसकी खेती बहुत ही कुशल प्रकार से हो सकेगी। रिपोर्ट के सुझाव के अनुसार ये सहकारी समितियाँ निम्न दशाओं में स्थापित की जा सकती हैं—

(१) एक सहकारी समिति द्वारा अर्पित भूमि क्षेत्र एक निश्चित न्यूनतम सीमा से, जोकि परिस्थितियों के अनुसार घट बढ सकती है कम न हो। (२) सहकारी कृषि समितियों को जहाँ तक हो सके पूर्ति, धन आदि विषयक सहायता और विक्रय-सम्बन्धी सुविधाओं में प्राथमिकता दी जाय। (३) चकबन्दी प्रारम्भ करते समय उन गाँवों को प्राथमिकता दी जाय जिनमें सहकारी कृषि समितियाँ हों। (४) सहकारी समितियों को खेती वाली बेकार जमीनों को जिनमें खेती की जा सकती है और जिनका स्वामित्व सरकार के पास है, पट्टे पर दी जाने में प्राथमिकता दी जाय। ऐसी भूमि को खेती के काम में लाने में उपयुक्त सहायता भी दी जाय।

इस प्रकार जब भूमि सहकारी प्रबन्ध मे एकत्र हो जाती है तो उपज बाँटने में नियमों के निर्धारित करने का प्रश्न उठता है। इसका सैद्धान्तिक समाधान तो बड़ा सरल है। जो लोग भूमि के स्वामी हैं उन्हें भूमि की मात्रा, प्रकार तथा राज्य के काश्तकारी नियमों के अनुसार लगान मिलना चाहिए। यदि भूमि के स्वामी खेतों में काम भी करते हैं तो उन्हें खेतिहर मजदूरों की तरह अपने श्रम के लिए अलग से पारिश्रमिक भी मिलेगा।

सहकारी कृषि से उत्पादन निश्चित रूप से बढ़ेगा क्योंकि इसमें वैज्ञानिक

[1] योजना आयोग रिपोर्ट, पृष्ठ १९१।

जानकारी और पूंजी को उगाने की सुविधाएँ अधिक हैं। अतएव यह वाञ्छनीय है कि कृषि के अलावा अन्य प्रकार के कामों में भी सहकारिता का उपयोग किया जाय, ताकि गाँव के सब साधन ग्रामीणों के अधिकतम हित के लिए संगठित एवं विकसित किये जा सकें। सोवियत रूस के अधिकारी शासन में भूमि के प्रभावपूर्ण उपयोग के लिए जो योजना है उसको सामूहिक खेती कहते हैं। इसमें वैयक्तिक स्वामित्व का विनाश तो है ही, साथ ही इसमें स्वीकार कराने के लिए बाध्यता का नियम भी है। लेकिन हम लोगों ने प्रजातान्त्रिक प्रणाली अपनाई है, जिसमें अनुनय को बाध्यता से अधिक महत्त्व दिया गया है चाहे इससे देश का विकास धीरे धीरे ही क्यों न हो। हमें इस भ्रम में न रहना चाहिए कि सहकारी कृषि के लाभों की स्पष्टता के कारण जनता उसे शीघ्रता से स्वीकार करेगी। सहकारी कृषि का विरोध, भले ही वह तर्कहीन हो कठोर है, लेकिन हमें यह विश्वास रखना चाहिए कि व्यापक प्रचार से हम इस विरोध को रोक सकेंगे। अनिवार्यता को अन्तिम अस्त्र के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए। यह ठीक है कि नियम तोड़ने वालों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग अनिवार्य है लेकिन प्रजातान्त्रिक सरकार में कानून जनता की सहमति से निर्मित होते हैं, व ऊपर से आरोपित नहीं किये जाते। सहकारिता में स्वेच्छाचारी शासन की त्रुटियाँ नहीं हैं, साथ ही प्रजातान्त्रिक प्रणाली के सभी लाभ निहित हैं।

८ सिंचाई का महत्त्व[1]—कृषि, जो भारत का सबसे बड़ा उद्योग है मानसून की कृपा पर निर्भर है जो एक निरंकुश पूर्वी शासक की भाँति ही स्वेच्छाचारी है। इसलिए खेती को मानसून से स्वतन्त्र करने तथा कृषि को अधिक सुरक्षित आधार पर प्रस्तुत करने का साधन सिंचाई है जिस पर देश के बहुसंख्यक लोगों का सुख समृद्धि निर्भर है। भारत को खाद्य में आत्म निर्भर बनाने की नीति के कारण सिंचाई का प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हो उठा है। राजस्थान जैसे शुष्क क्षेत्रों और बम्बई तथा दक्षिण के अकाल क्षेत्रों के लिए सिंचाई आवश्यक है। इससे धान और गन्ने जैसी पानी की फसलों को सहायता मिलेगी। इससे गहरी खेती सम्भव होगी और वृत्तिहीनता की समस्या भी हल होगी। सिंचाई भारत में आदिम युग से ही होती आई है। दक्षिण में बरसाती पानी तालाबों में संचित किया जाता रहा है। उत्तर में कुओं और नदियों से पानी निकालकर सिंचाई की जाती रही है। ब्रिटिश काल में सिंचाई के बड़े-बड़े साधन उदाहरण के लिए बाँध और नहरें राज्य द्वारा बनाये गए, फिर भी छोटे साधनों जैसे कुआँ आदि, द्वारा सिंचित क्षेत्र अब भी बड़े साधनों जैसे नहर से सिंचित क्षेत्र, की अपेक्षा कहीं अधिक है।[2] यद्यपि भारत का सिंचित भाग अन्य देशों से कहीं अधिक है, फिर भी कुल कर्षित क्षेत्र का यह ⅕ भाग ही है।

भारतीय नदियों में बहने वाला वार्षिक जल १३,५६० लाख एकड़ फीट है जो औसत वार्षिक वृष्टि का ४८ प्रतिशत है। इसका केवल ७६० लाख एकड़ फीट

१ 'इण्डिया' १९५८, पृष्ठ २३३ ४७।
२ विभिन्न प्रकार के सिंचित भू-खण्ड निम्न प्रकार के हैं—नहर से ५३ प्रतिशत, तालाब से ११ प्रतिशत, कुओं से २५ प्रतिशत अन्य साधनों से ११ प्रतिशत।

(५ ६ प्रतिशत) ही वतमान समय में सिंचाई और विद्युत्जनन के काम आता है। शेष ९४ ४ प्रतिशत बेकार ही बह जाता है और समुद्र में मिलने के पूर्व यह अपूव हानि पहुँचाता है।[1] जब वतमान प्रमुख योजनाएँ पूर्ण हो जायँगी तो हम कुल वहते पानी का १३ ६ प्रतिशत उपयोग करेंगे।

वतमान वहती नदियो से नहर निकालने की सम्भावनाएँ प्राय समाप्त हो चुकी हैं। अत भविष्य की योजनाओ में सूखे मौसम के लिए मानसुनी मौसम में पानी को एकत्र करने पर अधिक ध्यान दिया जायगा। इसके लिए उपयुक्त स्थानों पर बाँध बनाने का काम जारी है। जो क्षेत्र प्रवाह सचन के लिए उपयुक्त नहीं है वहाँ कृत्रिम तरीको से अन्दर के पानी को निकालना पडता है। खर्चीला होने पर भी ऐसे क्षेत्रो में इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है। इसके अतिरिक्त खुले कुआ और नल-कूपो म सिंचाई के अन्य साधनों की अपेक्षा जल्दी परिणाम मिलने की सम्भावना है। अत सिंचाई योजना में पानी उठाने के साधनो का विकास आवश्यक है।

§९ प्रशासन—१९२१ मे माटेग्यू चेम्सफोड सुधार के लागू होने से पूव सिंचाई, विशेष कर वित्तीय दृष्टिकोण से, एक केन्द्रीय विषय था, यद्यपि दैनिक प्रशासन प्रान्तीय सरकारो पर था। बडी-बडी याजनाओ के निर्माण और विकास के लिए केन्द्र से धन मिलता था और केन्द्र उससे प्राप्त आय में भी भाग लेता था। १९०६ मे सिंचाई के प्रधान निरीक्षक (इन्स्पेक्टर जनरल) के पद की सृष्टि हुई। माटेग्यू चेम्सफोड सुधार के अनुसार यह प्रान्तीय विषय बन गया और प्रधान निरीक्षक का पद १९२३ में इन्चेप समिति के सुझाव के अनुसार समाप्त कर दिया गया। फिर भी भारत सरकार प्रान्तो को बडी-बडी योजनाओ के लिए धन राशि दती रही। इस प्रकार के अनिर्धारित उत्तरदायित्व के कारण सुधार के प्रथम चरणो में कठिनाइयाँ उत्पन्न हुइ। १९२६ में स्थिति को स्पष्ट करने के लिए एक केन्द्रीय सिंचाई परिषद् स्थापित की गई। इसका काम उन जलविद्युत् नदी निर्ममन एव सिंचाई की योजनाओ पर रिपोर्ट देना था जिनके लिए भारत सरकार उसे निर्देश दे। यह प्रान्तीय सरकारो को कठिन प्राविधिक विषयों पर भी सलाह देती थी, जिनका सम्बन्ध पानी के उपयोग और बाढ नियन्त्रण से हाता था। यह केन्द्रीय सरकार को प्रान्तो तथा देशी राज्या के झगडो के सम्बन्ध मे भी राय देती थी। खोज-काय को समन्वित करना, प्राविधिक सूचना प्रकाशित करने का भार भी इसी परिषद् पर था। १९३७ मे प्रान्तीय स्वायत्त शासन के आरम्भ के साथ-साथ हर प्रशासकीय इकाई को अपने क्षेत्र में जलमार्गो के सम्बन्ध में कानूनी अथवा प्रशासकीय कदम उठाने का अधिकार मिला।

१९४५ में केन्द्रीय जल-मार्ग एवं सिंचाई तथा नौका-गमन आयोग की स्थापना हुई। इसका काम तथ्य खोज निकालने, नियोजन एव समोजन का था और यह निर्माण-कार्य भी प्रारम्भ कर सकती थी। हाल में इसका विलयन केन्द्रीय विद्युत् आयोग के साथ हो गया और इस नई सस्था का नाम केन्द्रीय जल और शक्ति आयोग हो गया है।

§१० नदी घाटी योजनाएँ—खाद्य की कमी और आर्थिक विकास की समस्या

[1] प्रथम पचवर्षीय योजना, पृष्ठ ३३६।

अनुसूची

जोतों के आकार

(स्वामित्व एवं दखीलकारी सम्पत्तियाँ)

आकार (एकड़)		जोतों की संख्या (१०००)	जोतों का प्रतिशत	क्षेत्रफल (१००० एकड़ में)	क्षेत्र का प्रतिशत	टिप्पणी
उत्तर प्रदेश	०— ५	६,९७१	८१ २	१६,०२४	३८ ८	विलयन के पूर्व का समस्त अधिकृत क्षेत्र (यह वर्तमान अधिकृत क्षेत्र का ९० प्रतिशत था) जाँच में शामिल किया गया था।
	०—१०	१,८६३	१२ ७	१०,८२४	२६ १	
बम्बई	०— ५	१ ३१३	५२ ३१	३,९७२	१४ ००	ये संख्याएँ विलयन के पूर्व के सब रैयतवारी क्षेत्र से सम्बन्धित हैं।
	५—१५	७०७	२८ १२	६,५४८	२४ ६८	
मध्य प्रदेश	०— ५	१,२६६	५१ ५	२,८५६	१० ०	ये संख्याएँ राज्य के कुल अधिकृत क्षेत्र के ७७ प्रतिशत से सम्बद्ध हैं। शेष २३ प्रतिशत क्षेत्र, जो जाँच में न आ सका, उन क्षेत्रों का भाग है जिनका विलयन हो चुका है।
	५—१०	४६३	१६ ५	३,८२८	१२ ०	
उड़ीसा	०— ५	एन ए.	७४ २	एन ए (अप्राप्य)	३० १	ये आँकड़े राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में किये गए नमूने के सर्वेक्षण से लिये गए हैं, जिसमें ६० २३० एकड़ भूमि पर जाँच की गई थी।
	५—१०	एन ए	१५ ३	एन ए (अप्राप्य)	२२ ०	
					एन ए	
बिहार	०— ५	एन ए	८३ ३	एन ए		नमूने के सर्वेक्षण पर आश्रित है, जो पर्याप्त नहीं माना गया था, अत संख्याओं को सामान्य परिस्थिति का निर्देशक मानना चाहिए।
	५—१०	एन ए	३ ४	एन ए.	एन ए	
आसाम	०— ५	एन ए	६६ १	एन ए.	२९ ०	इस नमूने का सर्वेक्षण २६ हजार एकड़ का है जिसमें ५,२६५ जोतें थीं।
	५—१०	एन ए	२२ ५	एन ए	३२ ६	

मद्रास						
१० रु० से नीचे की सम्पत्ति		५,६०६	८२ २	११ ३५६	४१ २	ये आंकड़े रैयतवारी क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं, जिनमें पट्टे भी शामिल हैं जो कुल क्षेत्र के ८२ प्रतिशत हैं।
१० रु० से अधिक ३० से कम		८२२	११ ४	७,८०८	२७ २	
३० रु० से अधिक ५० से कम मूल्य की सम्पत्ति		२६४	३ ७	२ ८२६	१० २	
मैसूर	०—५	८२०	६६ २	२,०६१	२५ ३	समस्त राज्य क्षेत्र जांच के लिए लिया गया था।
	५—१०	२६५	२१ २	२,००२	२४ ०	
ट्रावनकोर कोचीन	०—५	१,५४१	६४ १	१,३०२	४४ ०	
	५—१०	५६	३ ४	३६८	१३ ०	
पेप्सू	०—५	२३६	४५ ४	५१८	८ २	राज्य का कुल क्षेत्र जाँच के अन्तर्गत था।
	५—१०	६३	१७ ६	६८०	१० ७	
दिल्ली	०—५	एन ए	एन ए.	एन ए	एन ए	
	१०—२०	३०	एन ए	१०	एन ए	
हिमाचल प्रदेश	०—५	६६	६५ ०	८३	७१ ०	केवल चम्बा जिले के आंकड़े हैं।
	५—१०	७	३ ०	१३	११ ०	
	१०—१५	१	२ ०	१२	१० ०	
	१५ के ऊपर	१	० १	१	८ ०	
कुर्ग	०—५	४२	७६ ०	१२८	३० ०	राज्य का समस्त क्षेत्र जाच के अन्तर्गत लिया गया था।
	५—१०	७	१२ ०	५४	१३ ०	
	१०—१५	३	५ ०	३१	७ ०	

ही कि इनमें से कितने दोष उसकी व्यक्तिगत कमजोरियाँ के कारण हैं और कितने परिस्थितिजन्य हैं। महत्त्वपूर्ण बात तो है इन दुर्गुणों और कमजोरियों की उपस्थिति को स्वीकार करना और उन्हें दूर करने के लिए कृषक और उसकी परिस्थिति दोनों में सुधार किया जाय।

(२) जमींदार—"युद्ध महामारी और दुर्भिक्ष के बाद यदि ग्रामीण समाज के साथ खराब से-खराब कोई दुर्घटना घट सकती है तो वह अन्यत्रवासी भूमि-पतित्व है।"[1] कुछ अपवादों को छोड़कर जमींदार वर्ग ने ग्रामीण समाज के विकास में कोई सहायता नहीं की। चूँकि वे समय को नहीं पहचान सके हैं और न अपने आपको उसके अनुसार परिवर्तित कर सके हैं, अतएव सरकार अपनी नीति द्वारा शीघ्रातिशीघ्र उन्हें हटाने की सुविचारित नीति का अनुसरण करके इस सिद्धान्त को कार्यान्वित कर रही है कि जमीन जोतने वाले की है।

(३) कृषि-श्रमिक—भारतीय कृषि श्रमिक की भी वे ही त्रुटियाँ और दुर्गुण हैं जो भारतीय किसान के हैं। यद्यपि मूल्य-वृद्धि के साथ उसकी मजदूरी बढ़ी है फिर भी उसकी आर्थिक स्थिति कृषि-स्वामियों से खराब है। १९५१ की जनगणना में २,९५० लाख ग्रामीण जनता में से २,४९० लाख कृषि पेशे में लगे हुए प्रदर्शित किये गए हैं, इनमें से १८ प्रतिशत कृषि श्रमिक और उनके आश्रित थे। कृषि-श्रमिक दो वर्गों में विभाजित किये जाते हैं—प्रथम आकस्मिक श्रमिक तथा द्वितीय स्थायी श्रमिक। इनमें से आकस्मिक श्रमिकों की संख्या कुल श्रमिक-संख्या का ८९ प्रतिशत है। ग्रामीण उद्योग के ह्रास के साथ कितने ही दस्तकार अशकालिक श्रमिक हो गए। खेतों के अपविभाजन और अपखण्डन के कारण कितने ही कृषक आकस्मिक श्रमिक हो गए हैं। बड़े-बड़े फ़ार्मों तथा अन्य कारणों से यह समस्या और भी जटिल हो गई है। वर्तमान कृषि-व्यवस्था की सबसे जटिल समस्या बहुसंख्यक कृषि-श्रमिकों की है जो स्थायी वृत्तिहीन हैं और सामाजिक कठिनाइयों के शिकार हैं।

पंचवर्षीय योजना में इस प्रकार की व्यवस्था है कि कृषि उत्पादन में वृद्धि के लिए ग्रामीण सहकारी संस्थाओं का पुनर्संगठन किया जाय तथा कुटीर उद्योगों का विकास एवं नये वृत्ति के साधनों का निर्माण हो जिससे इस प्रकार की आंशिक वृत्तिहीनता की समस्या हल हो सके। पिछड़ी जातियों के सुधार एवं विकास की योजनाओं से भी इस प्रकार की ग्रामीण वृत्तिहीनता पर प्रभाव पड़ेगा। केन्द्रीय सरकार ने भूमिहीन श्रमिकों को बसाने के लिए दो करोड़ रुपये की रकम निश्चित की है।

देश के अधिकांश भाग में न्यूनतम पारिश्रमिक अधिनियम कार्यान्वित हो रहा है। विशेषकर राज्यों की सरकारें इस कानून को उन स्थानों पर लागू कर रही हैं जहाँ मजदूरी की दर न्यूनता के लिए कुख्यात है और जहाँ बड़े-बड़े फ़ार्म हैं। इसको पूरी तरह लागू करने में बड़ी कठिनाइयाँ हैं, क्योंकि ८९ प्रतिशत श्रमिक आकस्मिक हैं। अनेक अल्पकालिक श्रमिक हैं। वे असंगठित हैं और ग्रामीण क्षेत्रों में दूर फैले होने के कारण कारखाने के श्रमिकों की भाँति उनका संगठित होना भी असम्भव है। इसी

१ डी० एन० ढालवर 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ रूरल इकोनॉमिक्स', पृष्ठ ३०७।

कारण से अधिनियमो को पूरी तरह कार्यान्वित करना भी कठिन है।

§२ **खाद और उवरक**—अभी तक भारतीय जमीनो का व्यवस्थित सर्वेक्षण नही हो पाया है यद्यपि साधारणतया लोग जानते हैं कि भारतीय जमीनों में प्रांगारिक पदार्थ (आगनिक मटर), भूयाति (नाइट्रोजन) एव भास्वीय (फास्फेट) की कमी है। फसलो के उत्पादन के लिए भूयाति (नाइट्रोजन) का वडा महत्त्व है। उसके वाद भास्वीय (फास्फेट) का नम्बर है। पौधे जमीन से भास्वीय (फास्फट) लेते हैं और यह मानवीय मल तथा पशुओ के गोवर, सडे हुए पदार्थ और उनकी राख तथा मरे हुए जानवरो की हड्डियो द्वारा पुन भूमि में पहुँच जाता है। यद्यपि भारतीय जमीनो में नाइट्रोजन और फास्फेट की कमी है, लेकिन इनमें पोटाश काफ़ी मात्रा में पाया जाता है।

खादो को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है—(१) प्रागारिक खादें, (२) अप्रागारिक खादें।

प्रागारिक खादो को पुन दो भागो में विभाजित किया जा सकता है—(क) भारी प्रागारिक खादें और (ख) सकेन्द्रित प्रागारिक खादें।

भारी प्रागारिक खादो मे गोवर इत्यादि की खाद, कम्पोस्ट मल की खाद और हरी खादें आती हैं, जवकि सकेन्द्रित खादो में हड्डी की खाद सुखाया गया खून, सीग एव खुर इत्यादि आते हैं। उष्णकटिबन्धीय जमीनो मे धरण-मृदा (ह्युमस) की कमी होती है। भूमि मे गोबर इत्यादि की खाद वलो स प्राप्त उपोत्पाद है, जिससे भूमि की पानी रोकने की शक्ति में वृद्धि होती है, वायु का प्रवेश शीघ्रता से होता है। ये खादें धीरे धीरे सडकर पोपक तत्त्वो को इस रूप में ला देती हैं कि वे पौधो द्वारा शीघ्र ही ग्राह्य हो जाते हैं। प्रागारिक खादो के प्रयोग से और भी लाभ होत हैं—(१) इससे उपज काफ़ी दिनों तक वढती चलती है। (२) उसके शेष प्रभावो से आगे की फसलो को लाभ पहुँचता है। (३) प्रतिकूल मौसमी प्रभावो को सह लेती हैं। १९५१ की पशु-गणना के अनुसार ताजे गोवर का कुल उत्पादन ८००० लाख टन है, किन्तु यह सब मूल्यवान खाद खेतो में नही पहुँचती। इसका लगभग ५०% किसान इंधन के रूप में जला देता है। यदि ईंधन की अन्य व्यवस्था हो सके तो यह खाद बचाई जा सकती है।[1]

उपयुक्त अनुमान में पशुओ का मूत्र सम्मिलित नहीं किया गया है जो नाइट्रोजन से पूर्ण होता है, परन्तु अधिकतर वेकार ही जाता है।

मानवीय मल मूत्र भूयाति (नाइट्रोजन), भास्वीय (फ़ास्फेट) और प्रांगारिक पदार्थ के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। चीन और जापान में इनका अधिकतम उपयोग होता है लेकिन वहाँ विना कम्पोस्ट वनाये ही इसका उपयोग किया जाता है, जिससे कितने ही हानिकारक बेक्टिरिया प्रवेश पाते हैं और उपभोक्ताओं के स्वास्थ्य को प्रभावित

१ फिर भी गोबर के उपले कुछ उपयोगों, जैसे घी बनाने से नहीं हटाए जा सकते। घने आबाद उत्तर प्रदेश जैसे क्षेत्रों में, जहाँ भूमि का हर इंच अन्य वस्तुओं के उत्पादन में लगा है, यह सम्भावना नहीं है कि ईंधन के लिए पौधे उगाए जा सकें। वहाँ गोबर की खाद के स्थान पर उवरक का उपयोग करना होगा।

होती है। कृषि के सहयोग में गव्यशाला (डेरी) उद्योग के विकास की पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं। भारत में पशुओं की संख्या अत्यधिक है, किन्तु भोजन न मिलने के कारण अत्यन्त कृशकाय और कमजोर हैं। परिणामतः पशु शक्ति की कमी है। लगभग १० प्रतिशत पशु बेकार हैं। जिस काम के लिए भारत में २२ बैल चाहिए उसके लिए मिस्र में ३ बैल काफी हैं।[1] कृषि आयोग (१९२८) ने मत प्रकट किया था कि भारत की पशु-गणना के आँकड़े में एक दुष्ट चक्र (विसियस सर्कल) का संकेत देते हैं। किसी भी जिले की पशु-संख्या बैलों की माँग पर निर्भर और उसी से नियन्त्रित होती है। पशु-पालन जितना ही अस्वास्थ्यकर और असन्तोषजनक होगा उतने ही अधिक पशु पालने होंगे। गायें अनुत्पादक होती जाती हैं। उनके बछड़े छोटे-छोटे होते जाते हैं। इससे पशुओं के सम्बन्ध में किसानों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती। अच्छे बैल पाने की लालसा से वे अधिक बछड़े उत्पन्न कराने की कोशिश करते हैं और संख्या बढ़ती जाती है। ज्यों-ज्यों पशुओं की संख्या और खेती की जमीन बढ़ती जाती है तथा चरागाह कम होते जाते हैं त्यों-त्यों चारे के अभाव में गायें और कमजोर होती जाती हैं। परिणामतः किसान को कृषि-कार्य की सहायता के लिए बैल या भैंसे अन्य राज्यों से मँगाने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए बंगाल का दृष्टान्त पर्याप्त होगा।[2] पशु पालन के ह्रास को रोकने के लिए मि० एच० जे० हार्ले ने सुझाव रखा है कि बच्चा होने के ६ हफ्ते पहले से लेकर दो माह बाद तक गायों से कोई काम न लेना चाहिए। इससे वे अधिक मजबूत व स्वस्थ होंगी तथा दूध भी अधिक देंगी। उन पर ध्यान भी अधिक दिया जायगा जिससे अच्छी जाति के पशु उत्पन्न हो सकेंगे।[3] लेकिन वर्तमान परिस्थिति तो यह है कि एक ओर तो गायों की पूजा होती है तथा दूसरी ओर वे भूख से मरती हैं और उनकी देखभाल बैलों से भी कम होती है।[4]

भारतीय कृषक पशुओं के चारे की उचित पूर्ति का कदाचित् ही प्रयत्न करता है, जैसा कि कीटिंग ने कहा है कि भारतीय कृषकों को सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण पाठ यह सीखना है कि किस प्रकार अच्छा और सस्ता चारा उगाया और संग्रह किया जाय। वनों से प्राप्त होने वाले चारे की सम्भावनाओं की खोज करनी चाहिए, विशेषकर अभाव के समय में यह और भी आवश्यक है। चारे के अपव्यय को रोकना चाहिए और इसे गड्ढों में सुरक्षित रखना चाहिए। खूँटे पर चराना ही अच्छा होगा। चारे की बढ़ती माँग का भार घटाने के लिए पंचवर्षीय योजना में १६० गो-सदनों के निर्माण की व्यवस्था है। इसमें एक करोड़ रुपया लगेगा और वृद्ध-बेकार पशुओं को

---

१ डॉ० एम० दत्त, 'जेनेटिक्स एण्ड एनिमल हसबैण्ड्री', रूरल इण्डिया, जनवरी १९५२।

२ कृषि आयोग रिपर्ट, पैरा ८८।

३ पुस्तिका ३४, नागरिक पशु चिकित्सा विभाग, मद्रास, १९४६।

४ भारत की पशु-संख्या और जन संख्या का निम्न सादृश्य बड़ा शोचनीय है। संख्या की बहुलता तथा औसत कुशलता की न्यूनता, पुरुष-वर्ग की संख्यात्मक श्रेष्ठता, दर्शनीय की उपज्ञा अनिर्यन्त्रित प्रजनन। कमजोर साँड़ आवारा गायों से इच्छानुसार प्रजनन कार्य करते हैं—प्रो० एच० के० स्टेट, इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, ए जनरल एण्ड रीजनल ज्यॉग्रफी, १९५४, पृष्ठ २२६।

आश्रय मिलेगा। लेकिन यह स्पष्ट नही होता कि किस प्रकार इससे देश के चारे के साधन पर पड़ने वाला भार कम हो सकेगा। एकमात्र साथक योजना तो यह है कि बेकार पशुओं को बिना तकलीफ पहुँचाए नष्ट कर दिया जाय। यदि जनमत इसके लिए तैयार नही है तो उसे शिक्षित करने का प्रयास करना चाहिए। योजना में 'की विलेज स्कीम' नाम की योजना को स्थान दिया गया है, जो पशुओं की नस्ल और उत्पादन-क्षमता सुधारने के लिए है। इसमे ३ करोड़ रुपया व्यय होगा। देश के विभिन्न भागो में ६०० केन्द्र स्थापित किये जायेंगे, जिनमे प्रत्येक मे ३ या ४ गाँव होंगे और प्रत्येक मे ५०० दुधारू पशु होंगे। बेकार या हीन प्रकार के सांडो को बधिया कर दिया जायगा। पशु उत्पादन का काम कुछ विशेष सांडो तक सीमित किया जायगा। पशुओं की नस्ल और दूध के उत्पादन का लेखा रखा जायगा। कृत्रिम गर्भाधान का भी उपयोग किया जायगा। स्थानीय चारे मे वृद्धि के लिए विभिन्न उपाय काम में लाए जायेंगे। सामुदायिक योजना क्षेत्रो म फलीदार फसलो की खेती, जैसे बरसीम, लूमन, काउपी और फील्ड पी आदि की खेती, की जायगी। पशु चारण के हेर फेर से चरागाहो के सुधार और घासों के उत्पन्न करने की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया है।

योजना-काल मे अस्पतालो और दवाखानो की सख्या २,००० से २,६०० हो जायगी। योजना में पशु-महामारी (रिण्डरपेस्ट) के उन्मूलन के लिए केन्द्रीय सरकार की एक स्कीम भी है।

§४ सहायक उद्योग—कृषि के ऋतु पर निभर होने के कारण वतमान समय में ग्रामीण श्रम की शक्ति का बहुत ह्रास होता है। १९२१ की जनगणना से स्पष्ट है कि कृषका को उदाहरणाथ उत्तर प्रदेश में, कुछ महीनो में बडा परिश्रम करना पड़ता है—विशेषकर दो बुआई, दो कटाई, वर्षा मे निराई और जाडो में तीन बार सिंचाई के समय। इसके अतिरिक्त शेष समय किसान बेकार रहते हैं। उत्तर प्रदेशीय बैंकिंग जाँच समिति ने पूरे राज्य के विषय में अनुमान लगाया था कि किसान वष भर मे २०० दिन से अधिक काम नही करता। दक्षिण भारत मे कृषक अपने काय के सम्भाव्य समय के ५/१२ भाग तक ही काय करता है। बगाल मे केवल चावल पदा करने वाला किसान प्राय ३ महीने काम करता है, शेष ९ माह बेकार रहता है। यदि वह चावल के साथ जूट पैदा करता है तो ६ सप्ताह का काम और बढ़ जाता है। बम्बई और दक्षिण में १८०-१९० दिन काम होता है। पजाब में १५० दिन काम होता है। कम काम के मौसम मे किसान कोई अस्थायी काम भी स्वीकार कर सकता है जसे कारखाने या सरकारी दफ्तर पर कोई काम, या खुद गाडी चला सकता है। फिर भी पूरे वष भर किसान को काम देने की समस्या अभी हल नही हुई है। कितने ही सम्भव पेशा को प्रस्तावित किया गया है। उदाहरण के लिए गव्य कृषि (डेरी फार्मिग) मे रुपये कमाने की सम्भावना है लेकिन इसमे सावधानीपूवक सगठन करने और पशुओ के चयन तथा वशानिक प्रजनन को ध्यान म रखना होगा। पशुओ के प्रजनन और पालन की मुख्य कठिनाइयाँ निम्न हैं—

(१) गाँवों के मकानों में पशुओं और मनुष्यों का एक स्थान पर निवास ।

(२) उचित चराई की असुविधा तथा चारे का अभाव ।

इस सम्बन्ध मे गाँवो के लिए आशाजनक अनेक उद्योगो का नाम गिनाया जा सकता है । किन्तु बिना सर्वेक्षण के यह कहना सरल नही है कि कौन-सा उद्योग किस क्षेत्र के लिए सबसे उपयुक्त होगा । जलवायु की दशा, बाजारो की समीपता तथा धार्मिक विचार और भावनाओ को ध्यान में रखकर ही किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है । दुर्भिक्ष जाँच आयोग ने कृषि उद्योग तथा जन कार्य के विकास का सुझाव दिया था ।

कृषि उद्योग का अर्थ इस प्रकार के उद्योग (कुटीर उद्योग नहीं) से है जिसका विकास ग्रामीण क्षेत्रो में ही हो सकता है । ग्राम की वस्तुओ के विधायन व कारखाने तथा गाँवो के बड़े-बड़े स्वामियो एव छोटे भू-स्वामियो के सहकारी समितियों के सहयोग से सम्भव कार्य इसके अन्तर्गत आते हैं । गाँवो मे सुधार सम्बन्धी काम तब प्रारम्भ करना चाहिए जब कृषक बेकार बैठा हो । गाधीजी हाथ से सूत कातने को ग्रामीणों की गरीबी दूर करने का सर्वोत्तम उपाय समझते थे । खद्दर और अन्य ग्रामीण उद्योगो पर बाद में विचार किया जायगा ।

अनेक किसानों को जब खेती का कार्य नही रहता तो वे किराये पर गाड़ी हाँकने का कार्य करते हैं । यह एक महत्वपूर्ण सहायक पेशा माना जा सकता है । अनुमानत देश मे ८५ लाख से अधिक बैल-गाड़ियाँ हैं । जहाँ अच्छी सड़कें हैं वहाँ भी ये प्राय २५ मील के अन्दर माल ढोने का काम करती हैं । किन्तु कितने क्षेत्रों म केवल गाड़ियाँ ही चल सकती हैं । गाड़ी चलाने से लाभ की सम्भावना उन स्थानों पर अधिक है जहाँ गाँव शहर से काफी दूर होंगे और सड़कों की दशा खराब और संख्या कम होगी ।

§५ औजार और मशीन—भारतीय कृषक द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले यन्त्रों के पक्ष में काफी कहा जा सकता है । वे सस्ते हैं, हल्के और आसानी स स्थानान्तरित किये जा सकते हैं । बिखरे खेतों के लिए यह एक आवश्यक विचारणीय बात है । वे बैलो की सीमित शक्ति के उपयुक्त हैं तथा उनका निर्माण और उनकी मरम्मत सरलता से की जा सकती है । फिर भी उनके सुधार की गु जायश है । कृषि विभाग इस समस्या पर ध्यान दे रहा है । नये लोहे के हल, गन्ना पेरने की मशीनें, छोटे-छोटे पम्प की मशीनें पानी उठाने के यन्त्र, फावड़े, कुदाल, चारा काटने की मशीनें, बुआई की नली आदि में सुधार किये गए हैं । फिर भी कुल मिलाकर अभी कृषि अभियान्त्रिकी (इजीनियरिंग) और देशी औजारों के सुधारों का काम काफी पिछड़ा हुआ है । इस दिशा में भारतीय कृषि अनुसधान संस्था के कृषि अभियान्त्रिकी विभाग से बड़ी आशा है । यह विभाग १९४५ में स्थापित हुआ है और आशा है कि आगे इस दिशा म व्यवस्थित काम होगा ।

इस सम्बन्ध म योजना आयोग ने निम्न सुझाव दिये हैं—

(१) प्रत्येक सरकार अपने कृषि अभियान्त्रिकी विभाग में पूरे समय तक काम

करने वाला अफसर रखे जो देशी औजारो के सम्बन्ध में खोज कार्य करे।

(२) भारतीय कृषि अनुसन्धान सस्था के अभियान्त्रिकी विभाग की शक्ति भी एक विशेष अधिकारी नियुक्त कर बढानी चाहिए। राज्य और केन्द्र मे इस प्रकार स्थापित विभागो को अनुसन्धान एव प्रयोग सम्बन्धी सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। देशी औजारो में अनुसन्धान के साथ-साथ केन्द्रीय विशेषाधिकारी आयात किये गए औजारो के औचित्य का भी परीक्षण करे। वह देश के विभिन्न भागों मे हुए इस प्रकार के कार्य को समन्वित करेगा और इनके सम्बन्ध में कार्य-पालक एजेन्सियो को सूचना देगा। उसका कर्तव्य होगा कि वह इस प्रकार के अनुसन्धान के परिणामो को निर्माताओ के पास व्यापारिक विकास के लिए प्रेषित करे।

(३) चूँकि औजारो को फ़सल, जमीन और जलवायु की दशाओ के साथ समायोजित करना होगा, अत अनुसन्धान की समस्याओ का एक प्रादेशिक आधार, अर्थात् राज्यो के समूह के लिए परीक्षा करनी होगी। भारतीय कृषि अनुसन्धान सस्था को प्रादेशिक समितिया का निर्माण करना चाहिए, जिसमे जानकार अनुभवी किसान, राज्य-सरकारो के प्रतिनिधि औजारो के निर्माता और व्यापारी सम्मिलित हो।

(४) राज्यो द्वारा निर्धारित तथा प्रादेशिक समितियो द्वारा स्वीकृत कार्य-क्रमो को भारतीय कृषि अनुसन्धान समिति द्वारा प्राथमिकता मिलनी चाहिए, तथा उसे आर्थिक सहायता का भी प्रबन्ध करना चाहिए। इसे प्राविधिक परामर्श भी देना चाहिए और विभिन्न राज्यो में अनुसन्धान-कार्य को प्रेरणा देनी चाहिए।

(५) अनुसन्धान के साथ ही नये औजारों को जनता में प्रचलित और लोकप्रिय बनाने का काम भी राज्य मे नियुक्त विशेषाधिकारी को करना चाहिए। वही उनकी पूर्ति की व्यवस्था के लिए भी उत्तरदायी होगा।

(६) इन नवीन नमूनो को निर्माताओ को देना चाहिए ताकि वे व्यापारिक पैमाने पर इनका निर्माण करें। छोटे निर्माण-केन्द्रो की स्थापना भी वांछनीय होगी। इससे ग्रामीण दस्तकारो को भी काम मिलेगा। नये बने औजारो को राज्य के अधिकारी द्वारा परीक्षा करने के उपरान्त कृषको में प्रचारित करना चाहिए। औजारों की मरम्मत का भी उचित प्रबन्ध नहीं है। गाँवों के बढई और लुहारो को इसके प्रशिक्षण के हेतु अल्पकाल के लिए सुविधाजनक केन्द्रो पर भेजा जाय। औजार बनाने वाली सहकारी समितिया को उचित दाम पर मरम्मत का भी काम हाथ मे लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय एव राज्य सरकारो द्वारा स्थापित किये जाने वाले ट्रैक्टर-स्टेशनो और कारखाना में देशी औजारो की मरम्मत करने का विभाग भी होना चाहिए। औजारो के फुटकर भागो का सग्रह भी इन ट्रैक्टर स्टेशनो और सहकारी समितियो को करना चाहिए।

(७) कुछ मामो में ट्रैक्टर का उपयोग बडा ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। उदाहरणार्थ—

(क) जगली घास वाले क्षेत्र या बेकार जमीन को तोडने के लिए।

(ख) कम आबादी के क्षेत्रो मे, जहाँ श्रम की कमी के कारण जुताई नहीं

हो पाती।

(ग) पानी के विकास और भूमि संरक्षण की क्रियाओं, जैसे मेड़ बनाने, आदि में।

विश्वास है कि ९८० लाख एकड़ खेती करने योग्य बेकार जमीन में से ११० लाख एकड़ निकट भविष्य में खेती योग्य बनाई जा सकेगी। योजना में २६.७ लाख एकड़ की पुनर्प्राप्ति की योजना है। या तो पूरे देश पर ही जनसंख्या का भार है, फिर भी विन्ध्य प्रदेश, मध्य भारत और राजस्थान में कम आबाद ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ श्रम की कमी के कारण कृषि का विस्तार नहीं हो पाता। वहाँ ट्रैक्टरों द्वारा भूमि का उद्धार और यन्त्रों द्वारा खेती की जा सकती है। इस प्रकार के बड़े बड़े क्षेत्रों को सरकारी फार्म की तरह विकसित किया जा सकता है या उन पर सहकारी आधार पर भूमिहीन कृषकों को बसाया जा सकता है। यद्यपि ट्रैक्टरों का उपयोग सुविधापूर्वक किया जा सकता है, तो भी यह ध्यान रखना होगा कि अन्य क्षेत्रों में सामान्य कृषि के लिए इनके उपयोग से बृहत्तर पैमाने पर बेरोजगारी पैदा न हो जाय। छोटी जोतें, कृषि के अतिरिक्त रोजी के अन्य साधनों का अभाव, ईंधन के क्षेत्रों तथा लोहे और इस्पात की कमी इत्यादि के कारण खेती में ट्रैक्टरों का उपयोग अधिक मात्रा में नहीं किया जा सकता। अतः भारतीय खेती को हल-बैल पर काफी दिनों तक आश्रित रहना होगा।

§६ पौधों की रक्षा, निरोधा और संग्रहण—पौधों के संरक्षण करने वाले राज्यीय और केन्द्रीय संगठनों का प्रधान कार्य उन रोगों को दूर करना है जो बड़े पैमाने पर फैलते और फसलों को नुकसान पहुँचाते हैं। ऐसी बीमारियों के फैलने पर पौधों की रक्षा से सम्बन्धित कर्मचारियों को कीटाणुनाशक दवाइयों और सामान के साथ बीमारी से युक्त क्षेत्रों में शीघ्र ही पहुँचना पड़ता है। संगठनों का दूसरा काम पौधों और फसलों की बीमारियों की छानबीन करना और उनके विनाश के साधनों की खोज करना है। इन उपचारों को स्थानीय प्रचलन के अनुसार परिवर्तित करना चाहिए और ऐसा होना चाहिए जो स्थानीय सामान का उपयोग कर सकें।

कीड़ों और बीमारियों से फसल को क्षतिग्रस्त होने से बचाने की विधियों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) निरोधा (क्वरेंटाइन)
(२) जैविक (बायोलाजिक)
(३) कृषीय
(४) रासायनिक

निरोधा सम्बन्धी क्रियाओं के लिए यह आवश्यक है कि इस देश में आने वाले पौधों को धूमित कर लिया जाय। बम्बई में आधुनिक साज-सम्भार से युक्त एक धूमन शाला (फ्यूमीगेटारियम) स्थापित की गई है। योजना में मद्रास और कलकत्ता में निरोधा और धूमन-स्थान स्थापित करने की व्यवस्था है। देश की भू-सीमाओं एवं हवाई अड्डों को भी इस विषय में सतर्कता बरतनी होगी, ताकि पशु और पौधों की बीमारियाँ और हानिकारक कीटाणु प्रवेश न करने पाएँ।

जैविक नियन्त्रण मे एक कीटाणु द्वारा दूसरे का निरोध किया जाता है। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण इन्द्र गोप (कोचिनियल इन्सेक्ट) द्वारा नागफण (प्रिकली पीयर) का विनाश है। जविक पद्धतियाँ गन्ने के कीटाणुओ तथा दक्षिण के नारियल के कीटाणुओ के विनाश मे भी प्रयोग मे लाई जा रही हैं। भारतीय अनुसन्धान सस्था में इस प्रकार के जविक निरोध की सुविधाएँ हैं। खेती की पद्धति के परिवतन से भी नियन्त्रण हो सकता है। रोगरोधी फसलो का प्रचलन, फ़सल चक्र मे परिवतन, बुआई या रोपण के समय मे परिवतन, गहरी और छिछली जुताई, पानी का देना या रोकना इत्यादि प्राय प्रयुक्त विधियाँ हैं।

इधर हाल में डी० डी० टी० और बी० एच० सी० जैसे कीटाणु-नाशक और इसी प्रकार के अन्य रसायनो के प्रयोग काफी बढ़ रहे हैं। योजना में डी० डी० टी० और बी० एच० सी० के निर्माण की व्यवस्था है। रोगा और कीटाणुआ के विनाश के सम्बन्ध में सगठित रूप से निर्देश देना आवश्यक है, क्योकि वतमान समय में कितनी ही कीटाणु-नाशक वस्तुएँ बिकती हैं जो प्रामाणिक प्रयोगो द्वारा परीक्षित नही हैं।

भारतीय कृषि अनुसन्धान समिति ने अनुसन्धान की एक योजना स्वीकार की है। इसमे हानिकारक पौधो के विनाश की सम्भावनाओ पर खोज की जायगी। इसके सम्बन्ध मे आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का काम जारी है। तृणा के नियन्त्रण का, जुताई और यन्त्रो से निरोध करने का भी प्रयत्न करना चाहिए। वतमान शताब्दी मे पाँच टिड्डी-चक्र आये, जिनमें राजस्थान, पजाब, पेप्सू, सौराष्ट्र और बम्बई के कुछ भागा मे काफी क्षति हुई। भारत सरकार के केन्द्रीय टिड्डी सगठन में टिड्डियों को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। इस सस्था द्वारा मरुस्थलीय क्षेत्रा मे टिड्डी नियन्त्रण का काम हो रहा है तथा राज्य अपने कर्पित क्षेत्रा के लिए उत्तरदायी है।

फसला को पशुओ से भी बचाना होता है। पशु या तो असावधानी के कारण छूटकर खेता म पहुँच जाते हैं या असामाजिक व्यक्ति जान बूझकर अपने पशुओ को छोड देते हैं। इसके लिए दोषियो को ऐसा दण्ड देना चाहिए कि इस प्रकार की गलती पुन न करें। पशु अतिक्रमण अधिनियम (कैटिल ट्रैस्पास एक्ट) मे इस दृष्टिकोण से सुधार करना होगा। जगली जानवरो द्वारा भी फसलों को काफी हानि पहुँचती है। इसके लिए सम्मिलित प्रयत्न की आवश्यकता है, क्योकि व्यक्तिगत प्रयत्न भार को अन्य कृषको के कन्धा पर डाल देता है। बन्दूक क्लब, ग्वाइया तथा इसी प्रकार के अन्य उपायो से इनका विनाश करना ही एकमात्र उपाय है।

सग्रह मे भी काफी हानि होती है, क्याकि गोदामो और सग्रहण बाजारो में सग्रह-स्थान लगातार भरे रहते हैं और उनकी दशा अच्छी नहीं है। इसके लिए धूमन-कीटाणु विनाशक उपायो का उपयोग बडे पैमाने पर करना चाहिए।

§७ विपणन[१]—कृषि का उत्पादन मौसमी होने के कारण फ़सल एक बार काट ली जाती है और धीरे धीरे उसका उपभोग होता है। मूँगफली, कपास के सग्रह के

१ योजना आयोग रिपोट अध्याय १७।

लिए अधिक स्थान की आवश्यकता होती है, जो साधारण किसान के पास नहीं होती। इसके विपरीत फल, तरकारियाँ और गन्ने शीघ्र ही नष्ट होने वाले पदार्थ हैं। परिणामत उत्पादक शीघ्र ही अपनी सामग्री को पास की मण्डी या गाँव के बनियों को बेच देता है। छोटे-छोटे किसानों की एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा के कारण बाजार में कभी कभी गल्ले की भरमार हो जाती है और कभी-कभी कमी पड़ जाती है। कपास, गन्ना, जूट, तिलहन जैसी व्यापारिक फसलों को अधिकांश किसान तुरन्त बेच देता है, क्योंकि उसे देय चुकाने और व्यय पूरा करने की जल्दी रहती है। जहाँ तक खाद्यान्नों का प्रश्न है, इसकी विपणनार्थ प्राप्त मात्रा क्षेत्र और फसल के साथ परिवर्तित होती रहती है, फिर भी साधारण दशाओं में इसे बीस-तीस प्रतिशत के बीच रखा जा सकता है। भारत में निर्वाह अव्यवस्थित होते हुए भी, विपणन की जाने वाली कुल मात्रा और उसका मूल्य पर्याप्त होता है।

कृषि-उत्पादन के विक्रय में कितने ही कार्य सम्मिलित हैं, जिनमें से अनेक, जैसे संग्रह, विक्रय, क्रय आदि, के लिए धनराशि की व्यवस्था हेतु विशिष्ट ज्ञान और ससाधन की आवश्यकता होती है। एक साधारण कृषक के पास इतना ज्ञान और ससाधन नहीं होता, अतएव इन कार्यों को करने वाले समाज की काफी सेवा करते हैं। इसके लिए उन्हें उचित प्रतिफल मिलना ही चाहिए।

गाँव का साहूकार या मण्डी का आढ़तिया किसानों को फसल उगाने के लिए—जैसे बीज, खाद व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए—ऋण देता है। इस ऋण में कभी-कभी यह समझौता रहता है कि फसल उसको या उसके अथवा उसके द्वारा नाम निर्दिष्ट व्यक्ति द्वारा बेची जायगी। विक्रय के समय ग्रामीण कृषक की स्थिति लाभप्रद होती है, जो कम कीमतों, अनुचित परिमाण और विलम्बित भुगतान से स्पष्ट है। यदि विक्रय मण्डी या बाजारों में दलालों अथवा आढ़तियों के माध्यम से होता है तो किसान को इन मध्यस्थों को भी देना पड़ता है साथ ही अन्य प्रकार की अनावश्यक कटौतियाँ भुगतनी पड़ती हैं। कृषि आयाग[1] के शब्दों में 'वह अपनी उत्पत्ति के वितरकों और उपभोक्ताओं की तुलना में बहुत ही छोटी इकाई है जबकि वितरक और उपभोक्ता प्रतिवर्ष अधिक अच्छी तरह सगठित एव सुव्यवस्थित होते जाते हैं।'

थोक बाजारों और कभी-कभी नियन्त्रित बाजारों में भी अनेक बुराइयाँ पाई जाती हैं। ग्रामीण विपणन और अर्थ प्रबन्धन की राष्ट्रीय योजना समिति की रिपोर्ट (१९४७) में निम्न दुर्गुणों को गिनाया गया है—

(१) विक्रेता के अहित में बाटों और तराजू में गड़बड़ी।

(२) धार्मिक एव दान कार्यों के लिए अनावश्यक कटौती।

(३) नमूने के तौर पर काफी मात्रा में पदार्थों का लेना।

(४) हाथा प्रथा, जिसके अनुसार विक्रेताओं के लिए एजेंट तथा क्रेताओं के बीच गुप्त रीति से एक कपड़े के नीचे सौदा होता है। परिणामत विक्रेता इस बात से अनभिज्ञ रहता है कि क्या हो रहा है।

१ रिपो०, पेज १२०।

(५) जिन दलालो से आढतिया अपना सौदा तय कराता है, उन दलालो की प्रवृत्ति बनियो और आढतियो की ही ओर अधिक होती है, क्योंकि उनसे उनका दैनिक सम्पर्क रहता है, जबकि किसान से उनकी भेंट यदा-कदा ही होती है।

(६) झगडो के अवसर पर किसान के पास ऐसे साधन नही हैं जिससे वह अपने हितो की रक्षा कर सके। रिपोट में एक प्रकार की बुरी प्रथा के उदाहरणस्वरूप खानदेश की कपास की विक्रय-पद्धति की चर्चा की है, जहाँ प्रारम्भिक बातचीत तय हो जाने पर कपास की गाडी कपास ओटने के कारखानो की ओर भेज दी जाती है जहाँ उत्पादक के एजेंट और क्रेता के बीच वास्तविक सौदा तय होता है। बाजार के अधिकारी यदि विक्रेताओ के हिता की रक्षा भी करना चाहें तो ऐसी स्थिति में कुछ नहीं कर सकते।[1]

मण्डी मे किसान की कमजोरियो को दूर करने के लिए बम्बई, मद्रास, पजाब, हैदराबाद, मैसूर पेप्सू, मध्य प्रदेश आदि में नियमित बाजार स्थापित किये गए हैं, जहाँ पर अनधिकृत कटौतियो की मनाही है तथा दलाला और तोलने वालो की दर नियत है। इनमे से कुछ स्थाना पर खुले नीलाम या विक्रय का भी प्रयोग किया गया है और इनमे किसाना को लाभ हुआ है। उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बगाल, बिहार और उडीसा म नियमित बाजार नही हैं। कुछ राज्यों ने 'कृषि उत्पत्ति बाजार अधिनियम अपना लिया है, परन्तु वहाँ भी अनेक बाजार अनियमित हैं। यह आवश्यक है कि अधिनियम को इतना व्यापक बनाया जाय कि प्राय सभी महत्त्वपूण बाजार इसकी सीमा मे आ जायँ, साथ ही उत्पादको के प्रतिनिधित्व को विक्रय-समितियो मे अधिक महत्त्वपूण स्थान मिलना चाहिए।

§८ सहकारी विपणन का विकास—नियमित बाजारो के लाभ अभी सीमित हैं। ये बाजार वतमान पद्धति मे सुधार लाने की ही चेष्टा करते हैं। जब तक विपणन की सरचना मे परिवतन नही होता तब तक दलाला की सख्या और लागत घटाना कठिन काम है। इस दिशा में प्रयत्न किये जा रहे हं और कुछ राज्यो में सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित भी हुई हैं। उदाहरणाथ इधर कुछ वर्षों मे उत्तर प्रदेश में १६०० सहकारी विक्रय सघ काम करने लगे हैं जिनके सदस्य १० लाख से ऊपर गन्ना उपजाने वाले तथा सहकारी समितियाँ हैं। कारखानो में पहुँचने वाली ईख के ८५ से ९० प्रतिशत का विक्रय इन्ही के द्वारा होता है। चीनी मिल नियन्त्रण अधिनियम के अनुसार सहकारी समिति के हर सदस्य को सहकारी समिति द्वारा कारखाने को निश्चित मात्रा में गन्ना देना होगा। इसके लिए कारखाने से प्राप्त होने वाले मूल्य की न्यूनतम सीमा निर्धारित है। अपनी सेवाओ के लिए सहकारी समितियो को १ रु० ४ आना प्रति टन कमीशन मिलता है। चीनी का विक्रय मूल्य निश्चित करते समय इस पर विचार कर लिया जाता है। विक्रय का प्रबन्ध करने के अतिरिक्त सहकारी समितियाँ ऋण देने के काय को विक्रय मे सम्बन्धित कर रही हैं। व बीज, खाद, उवरक और अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं। सघो द्वारा भी ग्रामीणो की भलाई के लिए काय

[1] ऑल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट, पृष्ठ १०४।

किये जा रहे हैं।

बम्बई में कपास को सहकारी ढंग से विक्रय करने का प्रबन्ध किया गया है जबकि कर्नाटक में समितियाँ अपने सदस्यों के उत्पादन को अलग अलग बेचती हैं, गुजरात के कपास-उत्पादक विक्रय के लिए एक प्रकार की कपास को एक जगह एकत्र कर लेते हैं। राज्य में सहकारी समितियों के पास कपास ओटने और दबाने के कई कारखाने हैं। मद्रास की उत्पादक-उपभोक्ता समितियों को केवल विक्रय-समितियों में परिवर्तित कर दिया गया है। अन्य राज्यों में भी इस दिशा में प्रयत्न हो रहा है।

ऋण और विक्रय को सम्बन्धित करने पर भी ये समितियाँ (जैसे उत्तर प्रदेश की), जो केवल विक्रय के कमीशन एजेंट का ही काम करती हैं प्रभावोत्पादक नहीं हैं। सहकारी आधार पर विधायन की सुविधाओं का स्वामित्व और संगठन, उत्पादकों के हितों की रक्षा तथा अर्थ-व्यवस्था को दृढ़ करने के लिए आवश्यक है। विपणन में कुशलता और मितव्ययता से पर्याप्त लाभ होते हैं और यदि ये लाभ किसान तक पहुँचा दिए जायें तो उत्पादन बढ़ाने में प्रेरक का काम करेंगे। इस प्रकार से काम करने वाली सहकारी संस्थाएँ नवीन जाति की सुधरी बीजों के प्रचार, आवश्यक प्राविधिक राय एवं आर्थिक सहायता देकर फ़सल योजना में सहायता कर सकती हैं।

कुछ ऐसी भी वस्तुएँ होती हैं, जो विस्तृत विधायन के बिना ही बेची जाती हैं। इस दशा में विक्रय सहकारी समितियों को उपभोक्ता समितियों से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना होगा। गेहूँ दाल, फल, तरकारी इत्यादि का अन्तर्राज्यीय लेन-देन भी होता है। अन्य राज्यों की अपनी जैसी संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करके राज्य विक्रय समितियों को आयात एवं निर्यात की व्यवस्था करनी चाहिए। इसी प्रकार का प्रबन्ध राज्य के अन्दर भी किया जा सकता है।

कुछ सहकारी विक्रय समितियाँ आवश्यक हिस्सा-पूँजी के बिना ही संगठित की गई हैं। राज्य की शीर्ष साख संस्था और रिजर्व बैंक द्वारा साख की निर्धारित सीमा और सहायता समिति की पूँजी, संरचना और निजी धन पर निर्भर है और उनका व्यापार का आकार भी इसी से नियमित होता है। अतः आवश्यक है कि विक्रय-संस्थाएँ, विशेषकर वे जो आगे चलकर शीर्ष संस्थाएँ बनेंगी, अपने संघटकों से पर्याप्त पूँजी प्राप्त करें।

विक्रय के लिए प्राविधिक कुशलता एवं विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है। कुछ गाँवों में काम करने वाली समितियाँ या एक ही वस्तु का विक्रय करने वाली समितियों के व्यापार की मात्रा इतनी नहीं कि वे प्रशिक्षित अथवा योग्य सेवी-वर्ग रख सकें। अतएव विक्रय समितियों का क्षेत्र काफी विस्तृत होना चाहिए जैसे एक ताल्लुका या तहसील। अलग अलग वस्तुओं के लिए एक-एक समिति का निर्माण उन वस्तुओं तक सीमित कर देना चाहिए जिनका कोई विशिष्ट थोक बाजार हो।

६९. संग्रहण और भाण्डागार—समितियों की एक बड़ी कठिनाई संग्रह सम्बन्धी सुविधाओं की है। किसी क्षेत्र की अधिकांश उत्पत्ति एक मण्डी में एकत्र होती है और वहीं बिक जाती है। यह मण्डी रेलवे, या मोटर सड़क के पास होती है तथा सस्ता परिवहन और

वर्किंग सुविधाओं से युक्त होती है। प्राधीयित (प्लेज्ड) वस्तुओं के बल पर बक विक्रय-कार्यों का अर्थ प्रबन्धन करती है। वस्तुओं के पोषण या बिक्री पर बाहर भेजने की व्यवस्था गाँव में स्थित गोदामों की अपेक्षा मण्डियों में स्थित गोदामों द्वारा शीघ्रता से हो सकती है। अत संग्रह की सुविधाओं का विकास ग्रामीण क्षेत्रों में न करके मण्डी क्षेत्रों में ही करना अधिक लाभदायक होगा। कुछ स्थायी या अर्ध स्थायी गोदाम सभी मण्डियों में बने हैं, किन्तु वे सन्तोषजनक नहीं। इनमें कीड़े मकोड़ो तथा नमी से नुकसान होता रहता है, इनके किराये भी अधिक हैं। अत सहकारी समितियों को अपने संग्रहालय बनाने होंगे। मद्रास, बम्बई और उड़ीसा की सरकारें इस कठिनाई के प्रति सजग हैं और गोदाम बनाने के लिए ऋण और आर्थिक सहायता देकर मदद कर रही हैं।

भाण्डागार की रसीद के अभाव में, जो ऋण लेने वाले बकों के प्रामिसरी नोट की सम्पार्श्विक है, रिजर्व बक विक्रय-कार्यों के लिए सहकारी तथा अनुसूचित बकों को रिजर्व बक धारा १७ के अन्तर्गत ऋण नहीं दे पाता। अतएव रिजर्व बक ने अनुज्ञा प्राप्त भाण्डागारों की स्थापना की सिफारिश की है। बम्बई, मद्रास, मैसूर, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, ट्रावनकोर-कोचीन ने इसके लिए आवश्यक कानून भी पास किये हैं। अन्य राज्यों को भी ऐसे अधिनियम बनाने चाहिए। केन्द्र तथा रिजर्व बैंक को भाण्डागारों के विकास-कार्य को करने के लिए इच्छुक संगठनों को ऋण देकर या ऐसे ही अन्य उपायों द्वारा मदद करनी चाहिए।

§१० भावी विकास के नमूने—सहकारी समितियों की सफलता इसमें हैं कि वे उत्पादकों की न्यूनतम लागत पर कुशल सेवा करें। न्यूनतम लागत पर कुशल सेवा करना इस बात पर निर्भर होगा कि समितियाँ कहाँ तक विधायन क्रियाओं को करने, भाण्डागार की सुविधाएँ देने, आर्थिक साधन प्राप्त करने तथा ईमानदार, योग्य और कुशल प्रबन्ध करने में समर्थ हैं।

भविष्य में स्थापित होने वाले विधायन-यन्त्र का स्वामित्व और प्रबन्ध सहकारी समितियों के हाथ में होना चाहिए। समितियों को राज्य द्वारा अनुदान तथा अन्य रूपों में सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिएँ। जहाँ इस प्रकार की समितियाँ नहीं हैं वहाँ उनकी स्थापना के लिए उचित समय में क्रियाशील प्रयास करना चाहिए।

जब वस्तुओं के बाजार में समितियों के पाँव जम जायेंगे तो नियमित बाजारों का भी अधिकाधिक उनके हाथ में लाना सम्भव हो सकेगा। अभी नियन्त्रित बाजारों की प्रबन्ध समितियों पर सहकारी समितियों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देना चाहिए।

§११ क्रम-बन्धन (ग्रेडिंग)—राज्य उचित श्रम-बन्धन और मानदण्ड स्थिर करने में भी सहायक हो सकता है। यदि विक्रय से पूर्व किसान की उत्पत्ति का उचित क्रमों के साथ क्रम-बन्धन कर दिया जाय तो एक नियमित बाजार में उसकी उत्पत्ति का उचित मूल्यांकन हो सकेगा जिससे वह अपनी वस्तु के गुण के अनुसार उचित मूल्य माँग सकेगा। इस प्रकार उसे अपनी वस्तु के गुण में सुधार करने की प्रेरणा भी मिल सकेगी। क्रम-बन्धन संग्रहालयों द्वारा परक्राम्य (नेगोशियेबल) रसीदें देने के आधार के रूप में भी

होंगे। इन दोनों सेवाओं को मिलाकर भारत के हर ५ गाँव में से १ गाँव इनके अन्तर्गत होगा। राष्ट्रीय प्रसार-सेवा के लिए स्थानों का चयन आन्तरिक तथा बाह्य साधनों की प्राप्यता एवं जनता की जागरूकता पर निर्भर होगा। प्रशासकीय कुशलता एवं सरलता को दृष्टि में रखकर विकास-खण्ड इस प्रकार चुने जाते हैं कि हर एक ठोस इकाई के रूप में डिप्टी कलक्टर के अधीन हों।

इस योजना पर होने वाला व्यय १०१ करोड़ रुपया (प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्दर) है, जिसमें से अनावर्तक व्यय का ७५ प्रतिशत तथा आवर्तक व्यय का ५० प्रतिशत केन्द्रीय सरकार वहन करेगी। शेष व्यय राज्य सरकारें करेंगी। केन्द्रीय सरकार कर्मचारियों पर होने वाले व्यय का भी आधा बरदाश्त करेगी जो योजना की समाप्ति पर भी काम करते रहेंगे। इस प्रकार ८५,००० व्यक्तियों (जिनमें से अधिकांश प्राविधिक और प्रशिक्षित कार्यकर्ता हैं) को रोजी मिल रही है।

प्रसार सेवा की सफलता प्रशिक्षित सेवि-वर्ग की अपेक्षा करती है। देश के विभिन्न भागों में ३५ केन्द्र बहूद्देश्यीय ग्रामसेवकों को प्रशिक्षित कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त सामाजिक शिक्षा के संगठन कर्ताओं के लिए ५ प्रशिक्षण-केन्द्र प्रयाग, गांधीधाम, हैदराबाद, नीलोखेरी और शान्तिनिकेतन में खोले गए हैं। राज्य-सरकारों द्वारा चुने गए व्यक्तियों को प्रशिक्षण देने के लिए इन केन्द्रों में भेज दिया जाता है। प्रशिक्षण समाप्त होने पर संगठनकर्ता अपने राज्य में सेवा-कार्य प्रारम्भ करते हैं। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय बेसिक शिक्षा के अध्यापकों तथा ग्रामीण क्षेत्रों के लिए भी बहूद्देश्यीय अधिदर्शकों (ओवरसियर) के हेतु प्रशिक्षण-केन्द्र खोलने के लिए कदम उठा रहा है।

इस कार्यक्रम का आधारभूत सिद्धान्त योजनाओं के लिए जनता से ही आवश्यक श्रम और पर्याप्त धनराशि प्राप्त करना है। यह तभी सम्भव है जब सहयोग ऐच्छिक हो और देश के लोगों में वैयक्तिक एवं सामूहिक रूप से सबके हित की सच्ची भावना काम कर रही हो। इसके लिए उनके वर्तमान दृष्टिकोण को बदलना होगा। सामुदायिक तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाएँ दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन लाने के लिए साधन-मात्र हैं।

विकास-योजना को कार्यान्वित करने का काफी उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर है। साधारणतया हर राज्य में एक अधिकारी संस्था दोनों योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी होती है। इस संस्था का नाम राज्य विकास समिति है, जिसमें मुख्यमन्त्री, विकास मन्त्री एवं अन्य कर्मचारी गैर-सरकारी व्यक्ति होते हैं। यह मोटे तौर पर समिति के सिद्धान्तों को निर्धारित करती है। विकास आयुक्त समिति का सचिव होता है। वही विभिन्न विकास विभागों की योजनाओं का समन्वय करता है। जिला नियोजन अथवा विकास समिति का अध्यक्ष जिलाधीश होता है। इसका सचिव जिला नियोजक या विकास अधिकारी या नियोजन अफसर होता है। जिले के हर विकास विभाग के अध्यक्ष समिति में होते हैं जिनमें जिला बोर्ड के सभापति एवं उप-सभापति भी सम्मिलित हैं। उपविभाग (डिवीज़न) में सामाजिक सामान्य अधिकारी

(डिवीजनल रेवेन्यू आफिसर) अपने नत्यक कतव्यो से मुक्त कर दिया गया है, ताकि वह प्रसार-कमचारी का काम कर सके। यह तो राज्य भर के लिए सगठन का सामान्य नमूना हुआ। स्थानीय आवश्यकताओं एव परिस्थितियो के अनुसार परिवर्तन भी सम्भव है ताकि काम सरलता से सम्पादित हो सके। ग्रामीणों का सहयोग प्राप्त करने की दिशा में भारत सेवक समाज जैसी जन-कल्याण की गैर राजनीतिक सस्था से विभिन्न योजना-क्षेत्रों के ग्रामीणों के ऐच्छिक काय के समन्वय द्वारा महत्त्वपूर्ण काय की आशा की जाती है।

§१५ **अनुसन्धान और प्रसार**[1]—केन्द्रीय कृषि विभाग राज्यो में सम्बन्धित विभागों सहित १८९४ मे स्थापित किया गया। इसकी स्थापना १८८० के दुर्भिक्ष आयोग की सिफ़ारिशो का परिणाम थी। इसके पूर्व १८८९ मे डॉ० वोयलकर भारत मन्त्री की ओर से भारतीय कृषि में आधुनिक वज्ञानिक यन्त्र प्रयोग पर सरकार का सुझाव देने के लिए भेजे गए थे। १८९१ में प्रकाशित उनकी रिपोट भारत की कृषि-नीति का आधार बन गई। राजकीय कृषि अनुसन्धान सस्था, पूसा और अखिल भारतीय कृषि परिषद् (१९०५) की स्थापना कृषि अनुसन्धान के विकास की एक अन्य महत्त्व-पूर्ण बात थी। भारतीय कृषि अनुसन्धान समिति की स्थापना १९२९ मे राजकीय कृषि आयोग की सिफारिश पर हुई।

समिति की परामश परिषद् मे राज्यो, विश्वविद्यालयो तथा वनानिक सस्थाओं के विशेषज्ञ होते हैं। इसके शासी निकाय में राज्यो के कृषि मन्त्री तथा ससद् के प्रतिनिधि और व्यावसायिक हितों के प्रतिनिधि होते हैं। शासी निकाय को एक प्रसार परिषद् तथा अनुसन्धान-परिषद् से भी सहायता मिलती है।

समिति देश के विभिन्न केन्द्रो के अनुसन्धान-काय को समन्वित करती है, अनुसन्धान के कायक्रम प्रस्तावित करती है तथा स्वीकृत योजनाओं को आर्थिक सहायता देने के अलावा कुछ योजनाएँ स्वय अपने हाथ में लेती है।

१९५१ मे समिति का आमूल पुनसगठन हुआ ताकि वह अपना काम विशेषकर प्रसार के क्षेत्र म अच्छी प्रकार से कर सके। राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रसार-सेवा भी स्थापित करने का प्रयास किया गया, जिससे अनुसन्धान करने वालो और किसानो के बीच की खाई भरी जा सके। कपास, जूट, गन्ना, तिलहन, नारियल तम्बाकू और सुपारी आदि प्रमुख पदार्थों के लिए केन्द्रीय समितियाँ स्थापित कर दी गई हैं ताकि इनके उत्पादन और विक्रय में सुधार हो सके।

अनुसन्धान-कार्यों के निर्देशन एव सयोजन के अतिरिक्त कृषि एव खाद्य मन्त्रालय के अधीन अन्य अनुसन्धान सस्थाएँ हैं।

भारतीय कृषि अनुसन्धान सस्था, दिल्ली अखिल भारतीय महत्त्व की समस्याओं पर खोज करती है। उदाहरण के लिए यह सस्था भूमि की उवरा-शक्ति तथा सुधरी प्रकार की चीजों के सम्बन्ध मे खोज करती है जो सूखा तथा रोग-कीटाणुओं का प्रतिरोध कर सकें और अपने को परिवर्तित जलवायु और भूमि की दशा के अनुकूल

१ इण्डिया १९५५, पृ० १८१-८२।

बना सकें। कटक स्थित केन्द्रीय अनुसन्धान संस्था शस्य विद्या, कीट विज्ञान, वनस्पति शास्त्र और रसायन-शास्त्र की दृष्टि से चावल से सम्बन्धित अन्य बातों पर क्षेत्र प्रयोग कर रही है। इसके अन्य कार्यों में कुछ निम्न हैं—चावल की सुधरी जातियों की वृद्धि, हरी खाद सम्बन्धी प्रयोग तथा रोपण की नवीन पद्धतियों की खोज।

पूना स्थित आलू अनुसन्धान संस्था आलू की ऐसी नवीन जातियां को विकसित कर रही है जिससे उपज बढ़े। इससे अन्य कार्यों में विभिन्न जलवायु और भूमि में खेती और खाद देने के अनुकूलतम मानदण्डों का निर्धारण, प्रधान बीमारियों और कीटाणुओं का नियन्त्रण, संग्रहालयों में हानि से बचाव, बीमारी से मुक्त सुधरी और नवीन जाति के आलुओं के प्रचार को गिनाया जा सकता है।

कूलू के केन्द्रीय शाक उत्पादन स्टेशन में भारतीय दशाओं में यूरोपीय वनस्पतियों और तरकारियों के उत्पादन का कार्य किया जा रहा है।

कानपुर की भारतीय चीनी प्राविधिक संस्था की स्थापना १९३६ में हुई। अब यह केन्द्रीय भारत गन्ना समिति के अन्दर है। यहाँ पर चीनी प्रौद्योगिकी (टक्नॉलोजी) के विभिन्न अंगों पर अनुसन्धान होता है। यहाँ से कारखानों को प्राविधिक (टैक्नीकल) सहायता भी मिलती है और विद्यार्थी प्रशिक्षित भी होते हैं।

देहरादून की वन अनुसन्धान संस्था १९१४ में स्थापित हुई। इसमें वन-यन्त्रन वनस्पति-शास्त्र, कीटाणु शास्त्र, लकड़ी का प्रौद्योगिकी (टैक्नोलोजी) और रसायन-शास्त्र, कोशायु (सेल्यूलोज) और कागज की लुगदी के रसायन-शास्त्र तथा वनों की छोटी मोटी उत्पत्ति और सांख्यिकी के सम्बन्ध में अनुसन्धान-कार्य होता है। यहाँ पर वन अधिकारियों की प्रशिक्षा भी होती है।

भारतीय पशु अनुसन्धान संस्था इज्जतानगर में स्थापित की गई है। यह एक लघु कीटाणु प्रयोगशाला के रूप में प्रारम्भ हुई। यहाँ पर ६ प्रमुख अनुसन्धान विभाग तथा ४ सहायक विभाग हैं। अनुसन्धान के अलावा यहाँ पर रक्षक रक्ताणु रस (वैक्सीन) का निर्माण और विद्यार्थियों का प्रशिक्षण होता है। बंगलौर स्थित भारतीय गव्य अनुसन्धानशाला गव्य-व्यवसाय के लिए विद्यार्थियों को प्रशिक्षण देने के अलावा गव्य-व्यवसाय की समस्याओं पर अनुसन्धान करती है। दो पशुशालाएँ भी हैं—एक करनाल में और दूसरी कोयम्बटूर में, और आनन्द पर मलाई बनाने का कारखाना है। अन्य महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान स्टेशनों में राँची की भारतीय लाख अनुसन्धानशाला तथा बेरकपुर, मण्डापम और बम्बई में स्थित तीन मत्स्य-पालन सम्बन्धी अनुसन्धान संस्थाएँ हैं। कपास, तम्बाकू, तिलहन, गन्ना, नारियल, सुपारी इत्यादि की भारतीय केन्द्रीय समितियाँ अनुसन्धान के विभिन्न केन्द्रों और उप-केन्द्रों को अनुसन्धान योजनाओं को आर्थिक सहायता दे रही हैं।

§११६ अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन—१९४२ से पूर्व भारतीय कृषि के विकास के लिए राज्य द्वारा कोई सर्वतोमुखी प्रयत्न नहीं हुआ था। उदासीनता की नीति का परित्याग करके पहली बार अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन और अन्न वसूली का कार्य प्रारम्भ किया गया। इधर कुछ वर्षों से अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन के

ओर पकडने, सर्वोत्मुखी उत्पादन योजना के लागू होने और अनुसन्धान के प्रसार, भूमि-सुधार के प्रारम्भ तथा भू सेना के प्रस्तावित सगठन के साथ-साथ नीति व्यापक और क्रियाशील होती जा रही है।

अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन १९४३ मे प्रारम्भ हुआ। प्रथम चार वर्षों मे केन्द्र द्वारा राज्यो को अनुदान एव ऋण दिये गए ताकि वे उत्पादन मे वृद्धि कर सकें। अब केन्द्रीय सहायता विशिष्ट कार्यक्रमो के लिए ही दी जाती है। आन्दोलन में दो प्रकार की योजनाएँ हैं—(१) निर्माण योजना और (२) पूर्ति योजना। पहली में कुओ, तालाबो, छोटे-छोटे बाँधो, नालियो तथा नलकूपो के निर्माण तथा मरम्मत और पानी उठाने वाले साधनो की व्यवस्था सम्मिलित है। इसी मे समोच्च बाँधो का निर्माण और बजर भूमि का उद्धार भी शामिल है। पूर्ति योजनाओ में उर्वरक खादो, सुधरे बीजो तथा खादो का वितरण आदि भी शामिल है। १९५१ ५२ मे आन्दोलन को विस्तृत की अपेक्षा गहन बनाने का प्रयास किया गया। भविष्य मे प्रयत्नो को चुनी हुई जगहो पर केन्द्रीभूत किया जायगा, जहाँ पर जल-पूर्ति का निश्चय हो और जमीन अच्छे प्रकार की हो। इस प्रकार का सुझाव जाँच समिति (१९५२) ने रखा भी था।

§१७ *केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन*—इसकी नीव १९४७ में उन दो सौ ट्रैक्टरो से पडी जिन्हे सयुक्त राज्य अमरीका की सेना छोड गई थी। अपने प्रादुर्भाव-काल से ही इसने एशिया के कुछ बहुत बडे भूमि-उद्धार के काम किये हैं। काँस, जो एक गहरी जड वाली घास है, से आक्रान्त भूमि के उद्धार पर इसका काम प्रधानत केन्द्रीभूत किया गया है। इसके अलावा पेडो के गिराने और जगल साफ करने का भी काम यह सगठन करता है। १९५१ मे २४० नये ट्रैक्टर खरीदे गए। इसके लिए केन्द्रीय सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण लिया था। नीचे की तालिका से पुनरुद्धार की गई भूमि का अनुमान लग जायगा जो १९५१–५२ मे समाप्त होने वाले तीन वर्षों के बीच किया गया था—

वर्ष	पुनरुद्धार की गई भूमि (एकड मे)
१९४८–४९	७१ ४९७
१९४९–५०	७९ ३४६
१९५०–५१	२,८१,९९२
१९५१–५२	१,५५ ३६७

केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन के अतिरिक्त कितनी ही राज्य सरकारो ने भी ट्रैक्टरो के बेडे रखे हैं जिनसे वे भूमि का पुनरुद्धार तथा व्यक्तिगत दलो के लिए यान्त्रिक कृषि-कार्य कर रही हैं।

§१८ *सर्वोत्मुखी फसल उत्पादन*—खाद्य उत्पादन की वृद्धि की योजना को बिना प्रभावित किये हुए ही सर्वोत्मुखी फसल उत्पादन योजना १९५० ५१ में सचालित की गई। इसका उद्देश्य खाद्य, कपास जूट और चीनी में सापेक्षिक आत्म निर्भरता प्राप्त करने का था। अगले वर्ष में यह पचवर्षीय योजना का अग बन गई। अन्त में यह १० वर्षीय

भूमि रूपान्तर-योजना में मिल गई। इस योजना का उद्देश्य दीर्घकालीन आधार पर भूमि, पशु तथा जल का विवेकपूर्ण उपयोग है। योजना में पाँच प्रमुख बातें हैं— प्रथम प्राप्य धनराशि और प्राविधिक सुविधाओं को ४८० लाख एकड़ भूमि में केन्द्रित करना, जहाँ पानी सरलता से प्राप्त हो सके, द्वितीय, १०० लाख एकड़ बेकार और परती भूमि का उद्धार और जुताई, तृतीय, कम-से-कम १ लाख गाँवों में भूमि-सेना का संगठन और प्रसार सेवा का संगठन, चतुर्थ, प्रतिवर्ष ६०,००० साँड उत्पन्न करने के उद्देश्य से गो-संवर्द्धन आन्दोलन और देश से पशु महामारी (रिण्डरपेस्ट) का समूल नाश, और पंचम, वन महोत्सव का नियमित ढंग से मनाया जाना ताकि प्रतिवर्ष ३००० लाख पेड़ लगाये जा सकें।

अध्याय ८

भू-धृति और भू-राजस्व

§१ तीन प्रकार की भू धृति—भारत मे भू धृति के तीन प्रमुख प्रकार हैं—

(१) जमीदारी

(२) सयुक्तग्राम (महालवारी)

(३) रयतवारी

(१) जमीदारी के अन्तगत हम उस प्रकार की भूमिपति धृति का लेते हैं जिसमें एक व्यक्ति या थोडे से सयुक्त स्वामी कुल जमीदारी के लिए एक राशि मे भू राजस्व के लिए उत्तरदायी होत हैं।[१] बगाल की भमि-व्यवस्था को उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है।

(२) महालवारी व्यवस्था छोटी-छोटी भू-सम्पदाओ पर लागू होती है जो मूलत जमीदारी की ही तरह होती हैं, परन्तु इसमे कुछ विशेषताएँ होती हैं जो इसे जमीदारी से भिन्न करती हैं। भेद इतना है कि ये ग्राम-समुदाय के हाथ मे होती हैं, जिसके सदस्य सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से भू राजस्व के लिए उत्तरदायी होत हैं। यहाँ जमीदार की जगह एक सामूहिक जमीदार या 'आदश' जमीदार से लगान वसूल करना पडता है।

(३) रयतवारी प्रथा के अन्तर्गत छोटी छोटी भू सम्पत्ति के स्वतन्त्र मालिक होत हैं। हर व्यक्ति अपनी जमीन की मालगुजारी देने के लिए उत्तरदायी होता है। सरकार और भू-स्वामी के बीच कोई मध्यस्थ नही होता।

रयतवारी क्षेत्रो मे (उदाहरणाथ मद्रास बम्बई) कृषक जमींदार भी होता है।[१] जहाँ पर काश्तकारो को जमीन दी भी गई है वहाँ अनेक अधिकार ठेके द्वारा निर्धारित होते हैं। लेकिन जमीदारी और महालवारी प्रथा में व्यवस्था काफी जटिल है क्योकि यहाँ उप भूस्वामित्व और काश्तकारी अधिकारो का अनेक प्रकार की माध्यमिक श्रेणियाँ हैं। बेडन पावल द्वारा दी गई निम्न तालिका स सरकार और रयतवारी के बीच आने वाले मध्यस्थ हितों और अधिकारो का स्पष्टीकरण होता है—

---

१ देखिए, बेडेन पावेल 'लैंड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इंडिया' पृष्ठ १२९।

एक हित	दो हित	तीन हित	चार हित	
१ सरकार एक मात्र स्वामी है।	१ सरकार	१ सरकार	१ सरकार	१ सरकार
	२ रैयत, जिसके अधिकार परिभाषित हैं। (दखीलकार जैसे बम्बई, मद्रास और बरार में)	२ भूमिपति (जमींदार, तालुकदार, महाल या संयुक्तग्राम)	२ जमींदार	२ बड़ा जमींदार
		३ वास्तविक कृषक, महांशभागी व्यक्ति	३ उप भू-स्वामी	३ मध्यस्थिक भू-स्वामी (प्राय एक सामाजिक)
			४ वास्तविक कृषक	४ वास्तविक कृषक महांशभागी व्यक्ति इत्यादि

§२ **उप-स्वामित्व अधिकार**—उप-स्वामित्व अधिकार के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) बंगाल में विशेषाधिकृत अधिकार के कुछ ऐसे व्यक्ति जिन्हें भू धारी कहते हैं उन्हें एक निश्चित धन राशि देने पर स्थायी, मौरूसी तथा परिवर्तनीय काश्तकारी अधिकार प्राप्त हैं। इनकी दशा को परिभाषित करने की कठिनाई के कारण १८८५ के अधिनियम के अन्तर्गत यह नियम बनाया गया कि जमींदार के नीचे की श्रेणी के सभी व्यक्ति, जिनके पास १०० बीघा जमीन है, भू धारी कहलायेंगे।

(२) दूसरा उदाहरण पट्टीदार वर्ग का है जिन्हें जमींदारों से प्रबन्ध के लिए स्थायी पट्टे पर जमींदारी का कुछ भाग मिला हुआ था, क्योंकि जमींदारों को प्रबन्ध करने में कठिनाई थी और वे मालगुजारी का भार बाँटना चाहते थे। पट्टीदारों ने स्वयं उप-काश्तकार या फिर पट्टीदार बनाये, जिनको वैसे ही विशेषाधिकार और उत्तरदायित्व प्राप्त थे। १८१६ के बंगाल नियम ने ऐसे अधिकारों को मान्यता दी।

(३) उप भूस्वामियों का एक अन्य वर्ग वहाँ पाया जाता है जहाँ कि वर्तमान भूमिपति निकाय किसी पूर्व स्थित वर्ग से ऊपर हो गया हो और अब केवल सरकारी मालगुजारी देता हो तथा अपने ऊपर के जमींदार को कुछ न देता हो। मध्य प्रदेश में मालगुजारों का एक कृत्रिम वर्ग बन जाने से, जिसके अनुसार हर गाँव के लिए भू राजस्व (मालगुजारी) का उत्तरदायित्व एक जमींदार पर छोड़ दिया गया था, यह आवश्यकता हुई कि पहले वर्ग के उप भू-स्वामित्व अधिकारों को मान्यता दी जाय।

(४) अवध में कभी-कभी पूरा-का-पूरा गाँव ही अपने प्रबन्ध का अधिकार सुरक्षित रख सका था। शर्त यह थी कि वे ऊपर वाले जमींदार या तालुकेदार को एक निश्चित लगान दे दिया करेंगे। एक अलग बन्दोबस्त द्वारा उनके भू-स्वामित्व को मान्यता मिली, जिसके अनुसार उनके द्वारा तालुकेदार को मिलने वाला और दिया जाने वाला लगान निश्चित हो गया। प्रमुख बन्दोबस्त सरकार तथा तालुकेदार के बीच हुआ।

§३ काश्तकारी अधिकार—विभिन्न श्रेणियों के उप भू-स्वामित्व के समान ही काश्तकारी अधिकार भी विभिन्न श्रेणियों के थे। इसको ब्रिटिश शासन ने मान्यता दी थी और परिभाषित किया था। ऐसा करने में कठिनाइयाँ भी सामने आई थी। उदाहरण के लिए कभी कभी पूर्व स्थिति का प्रमाण मिलना कठिन होता था। दूसरे स्वामित्वाधिकार के अनुसार मान्यता प्राप्त होने वाले व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ विशेषाधिकृत काश्तकार भी थे, क्योंकि वे जमीदार के आमन्त्रण पर उस समय काश्तकार बने थे, जब काश्तकार मिलना कठिन हो रहा था। ऐसी दशा में स्वाभाविक तथा कृत्रिम काश्तकारों के बीच भेद करना आवश्यक था। स्वाभाविक काश्तकार वे थे जिनके पास काश्तकारी अधिकारों का निश्चित प्रमाण था, कृत्रिम वे थे जिनके पास अधिकार का कोई निश्चित प्रमाण न था। कृत्रिम काश्तकारों के लिए द्वादश वर्षीय नियम बंगाल, आगरा तथा कुछ हद तक मध्य प्रदेश में भी अपनाया गया। बंगाल और आगरा में १८५९ के भू धारण अधिनियम (टैनेन्सी एक्ट) के अनुसार उस किसान को दखीलकार या मौरूसी (आकूपेन्सी) अधिकार प्राप्त हो गया जिसने यही जमीन लगातार १२ वर्ष तक जोती हो। १८८५ में इस कानून के संशोधन द्वारा बंगाल में एक ही भूमि पर लगातार खेती करने के स्थान पर उसी गाँव की कुछ जमीन पर लगातार खेती करने पर भी दखीलकारी अधिकारों के लिए काफी माना गया। १९२८ के भू धारण अधिनियम के अनुसार हस्तांतरण फीस देकर ये जमीनें हस्तान्तरित भी की जा सकती हैं, परन्तु खरीदने का अधिकार सबसे पहले जमीदार को होगा।

इस प्रकार के वैधानिक प्रयास पुराने काश्तकारों के अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए भी किये गए जो जमीदार और महालवारी के भार के नीचे दब गए थे। इस विधान का उद्देश्य किसानों को उचित लगान, भू धारण की स्थिरता और हस्तान्तरण की स्वतन्त्रता देना था। दखीलकारी अधिकार प्राप्त हो जाने पर काश्तकारों की स्थिति उतनी ही दृढ़ हो गई जितनी रयतवारी में कृषक स्वामियों की थी।

१९३७ में जब आठ प्रान्तों में कांग्रेस दल ने शासन की बागडोर संभाली तो जमीदारी और रयतवारी क्षेत्रों में भू धारण सम्बन्धी सुधार को पुन नया जीवन मिला। बिहार भू धारण अधिनियम १९३८, यू० पी० भू धारण अधिनियम १९३९, बंगाल भू धारण अधिनियम १९३८, सी० पी० भू धारण अधिनियम १९३९ गैर रैयतवारी क्षेत्रों में पास हुए प्रमुख अधिनियम हैं। रयतवारी क्षेत्रों में भी गैर-काश्तकारों के हाथ में जमीन जाने काश्तकारों की संख्या में वृद्धि तथा काश्तकारों में भूमि की बढ़ती प्रतिस्पर्धा के कारण ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई जिन्हें बिना कानून पास किये सुलझाना कठिन हो गया। रयतवारी प्रान्तों में इस प्रकार का प्रमुख विधान १९३९ का बम्बई भू धारण अधिनियम है। इसमें अन्य धाराओं के अतिरिक्त काश्तकारों की बेदखली रोकने के लिए रक्षित काश्तकार नाम का एक नया वर्ग बनाया गया। इसमें वे काश्तकार आए जिनके पास १ जनवरी १९३८ से ६ वर्ष पूर्व तक लगातार जमीन थी और उस पर वे स्वयं खेती करते थे। इस अधिनियम से काश्तकारों को कुछ विशेष सुविधाएँ

मिली, जिससे जमींदार उनसे जबरदस्ती बेगार न लें और न उचित लगान के अतिरिक्त किसी रूप में नजराना ही प्राप्त कर सकें। जमींदारों के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि यदि सरकार उन्हें मालगुजारी में छूट या विलम्ब देती है तो जमींदार भी किसानों से लगान लेने में इस प्रकार की छूट या विलम्ब दें। १९४९ के पूर्व भू-विधानों का उद्देश्य जमींदारों के नीचे की श्रेणी के काश्तकारों की दशा को सुधारने का था। भूमि-व्यवस्था अछूती ही रही।

स्वतन्त्रता के बाद भूमि के सम्बन्ध में अधिक सर्वोन्मुखी सुधारों की चर्चा आगे की जायगी।

§४ राजस्व (मालगुजारी) बन्दोबस्त—(१) मालगुजारी बन्दोबस्त में निम्न बातें निर्धारित की जाती हैं—

(क) उत्पत्ति में राज्य का भाग अथवा लगान,

(ख) वे व्यक्ति या व्यक्ति समूह जो मालगुजारी देने के लिए उत्तरदायी हैं, और

(ग) भूमि-सम्बन्धी सभी व्यक्तिगत अधिकारों का अभिलेख।

अन्तिम बात जमींदारी क्षेत्रों में विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वहाँ भूमि-सम्बन्धी अधिकारों का क्रमिक श्रेणीकरण होता रहता है जिसे मान्यता देनी होती है। राज्य भाग का निश्चय राजस्व निर्धारण कहलाता है, जो औसत दशाओं और मौसम पर निर्भर होता है। अपवादस्वरूप आपत्तियों जैसे बाढ़ या फसलों के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर मालगुजारी (राजस्व) की वसूली स्थगित कर दी जाती है अथवा आंशिक या पूर्ण छूट दी जाती है। स्थगित राजस्व की वसूली या छूट अगली फसल की दशा पर निर्भर करती है। दो फसलों की लगातार असफलता पर आंशिक अथवा पूर्ण छूट दी जाती है।

§५ बन्दोबस्त का वर्गीकरण—(१) जहाँ राज्य का भाग सदा के लिए निर्धारित कर दिया गया है, जैसा बंगाल के अधिकांश भाग में है, इसे स्थायी बन्दोबस्त (इस्तमरारी बन्दोबस्त) कहते हैं।

(२) जहाँ भू राजस्व अस्थायी रूप से नियत अवधि के लिए निश्चित होता है उसे अस्थायी बन्दोबस्त कहते हैं। यह अवधि बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश में ३० वर्ष और मध्य प्रदेश में २० वर्ष तथा पंजाब में ४० वर्ष है।

भू-धृति के आधार पर भी बन्दोबस्तों का वर्गीकरण किया जा सकता है। तीन प्रमुख भू धृतियों के आधार पर बन्दोबस्तों के तीन प्रमुख प्रकार निम्न हैं—

(१) एक भूमिपति के अन्तर्गत एक जमींदारी का बन्दोबस्त। इसके भेद निम्न हैं—

(क) स्थायी बन्दोबस्त जैसा कि बंगाल, उत्तरी मद्रास और बनारस के जमींदारों के साथ है।

(ख) अस्थायी बन्दोबस्त जैसा बंगाल के कुछ जमींदारों के साथ है।

(ग) अस्थायी बन्दोबस्त, जैसा अवध के ताल्लुकेदारों के साथ है।

(२) आदि न्यायिक विरासत जैसे ग्रामीण समुदायों के साथ बन्दोबस्त। इसके

महालवारी बन्दोबस्त कहते है और ये अस्थायी हैं। इसके भेद निम्न हैं—

(क) आगरा और अवध का महालवारी बन्दोबस्त, जहाँ तालुकेदार नहीं हैं वरन् ग्रामीण समुदायो के साथ ही बन्दोबस्त है।

(ख) पजाब का महालवारी बन्दोबस्त।

(ग) मध्य प्रदेश का मालगुजारी बन्दोबस्त।

(३) वैयक्तिक जोतो के स्वामिया से बन्दोबस्त।

(क) बम्बई, मद्रास और बरार की रैयतवारी पद्धति।

(ख) आसाम और कुर्ग की विशिष्ट व्यवस्था, जो सिद्धान्त मे रयतवारी है, किन्तु इस नाम से पुकारी नहीं जाती। हर प्रकार की व्यवस्था उपयुक्त किसी-न किसी वर्ग में आती है। वह स्थायी भी हो सकती है और अस्थायी भी।

बगाल एव बिहार का अधिकाश क्षेत्र स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत है। उडीसा का ८४ प्रतिशत और मद्रास का ३२ प्रतिशत आसाम का ११ प्रतिशत और लगभग ११ प्रतिशत ही उत्तर प्रदेश का क्षेत्र भी स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत है। अन्य जमींदारी क्षेत्रो के, जिनमें मध्य प्रदेश भी शामिल है, बन्दोबस्त अस्थायी हैं।

§६ जमींदारी बन्दोबस्त—मुगल साम्राज्य के छिन्न भिन्न होने के कारण अकबर द्वारा विकसित राजस्व प्रशासन की पुरानी व्यवस्था शोचनीय हो गई तथा किसान जमींदारो के अत्याचारो और प्रान्तीय शासको द्वारा भूमि पर अतिरिक्त कर द्वारा सताए जाने लगे। १७६५ मे ईस्ट इण्डियन कम्पनी को बगाल की दीवानी मिलने पर यह गडबडी और भी बढ गई। कारण यह था कि अधिकृत देश की उचित शासन व्यवस्था के बजाय कम्पनी अपने हिस्सेदारो के लिए ऊचे लाभांश प्राप्त करने और तदनन्तर मालगुजारी वसूल करने और शान्ति स्थापित करने के लिए अधिक उत्सुक थी। साथ ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रशासकीय मामलो मे अनुभवहीन थी तथा उसके पास और भी बहुत काम थे। इन सब बातो को ठीक करने के लिए ही १७८६ में लार्ड कार्नवालिस को भारत भेजा गया। तीन वर्ष की जाँच के उपरान्त उसने जमींदारो के साथ ऐसी व्यवस्था की जिससे वे उस क्षेत्र के पूर्ण अधिकारी मान लिये गए, जिससे मालगुजारी वसूल करते थे। इससे सरकार के प्रति अपनी जिम्मेदारिया को अच्छी तरह निभाने के लिए उन्हें एक वध स्थिति प्राप्त हो गई। इस निर्धारण में रयतो से प्राप्त लगान का १०/११ सरकार लेती थी। १/११ भाग जमींदारो के पास मालगुजारी के वसूल करने के प्रतिफल के रूप में बच रहता था। राजस्व का यह निर्धारण बडे ही चलताऊ ढग से किया गया। न तो भूमिगत अधिकारो और हितो के अभिलेखो का सर्वेक्षण ही किया गया और न विभिन्न प्रकार की भूमि की उत्पादन-क्षमता का परीक्षण ही किया गया। जमींदार पहले मालगुजारी वसूल-कर्ता मात्र थे। उन्हें पूर्ण स्वामित्व का अधिकार देकर गाँवों की सम्पत्ति और काश्त-सम्बन्धी सभी अधिकारो की उपेक्षा कर दी गई जब कि कम्पनी का घोषित उद्देश्य प्राथमिक काश्तकारों के अधिकारो का स्थायी रूप से समाप्त करना नही था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रमुख उद्देश्य मालगुजारी की नियमित प्राप्ति थी। यद्यपि किसानो के

हितों की रक्षा आवश्यक समझी गई थी, परन्तु इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया। प्रारम्भ में किया गया निर्धारण बहुत ऊँचा था और इसे बड़ी सख्ती से वसूल किया जाता था। जमींदारों के लिए काश्तकारों का मिलना तथा उनसे लगान वसूल करना बहुत कठिन था। कितने ही जमींदार मालगुजारी जमा नहीं कर पाते थे। परिणामतः कितनी ही जमींदारियाँ नीलाम कर दी गई।[1] जैसे-जैसे समय बीतता गया और शान्ति-व्यवस्था स्थापित होती गई, वैसे ही भू-सम्पत्ति की कीमत भी बढ़ती गई और अनेक मध्यस्थों के बावजूद भी जमींदार धनी होने लगे। कारण यह था कि समय बीतने पर सदैव के लिए निश्चित निर्धारण किसानों से वसूले गए। लगान का न्यूनातिन्यून अनुपात होता गया।

जमींदारों के साथ इस स्थायी व्यवस्था से ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार को यह लाभ होता था कि वह विभिन्न प्रकार की जमीन की उत्पादन-शक्ति के व्यापक और गहन परीक्षण की परेशानी से बच गई। उसे विभिन्न स्वामित्व अधिकारों की भी जाँच नहीं करनी पड़ी। सरकार के पास ऐसे प्रारम्भिक परीक्षण के लिए प्रशिक्षित कर्मचारी भी नहीं थे और न कृषकों से सीधे-सीधे मालगुजारी वसूलने के लिए ही कर्मचारी थे। एक अन्य बड़ी बाधा उचित सड़कों और सचार साधनों का अभाव था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी अन्य आवश्यक कामों में इतनी व्यस्त थी कि कम-से-कम प्रशास कीय यन्त्र द्वारा लगान की एक निश्चित रकम की प्राप्ति को महत्त्व देना कुछ अंशों में ठीक भी था। यह भी सोचा गया था कि स्थायी बन्दोबस्त से कृषि का प्रसार और भूमि का सुधार सरलता से हो सकेगा और इस प्रकार भू-राजस्व भी बढ़ेगा। स्थायी व्यवस्था से इतने अधिक लाभ दिखाई पड़े कि जब कुछ अन्य प्रान्त कम्पनी के शासना न्तर्गत आये तो उनमें भी इसे लागू करने के प्रयत्न किये गए। बनारस, आसाम और मद्रास के कुछ भागों में इसका प्रसार किया गया। उत्तरी मद्रास तथा दक्षिणी मद्रास के कुछ भागों में व्यक्तिगत जमींदार थे, जो पहले के शासकों के काल के उनसे इस प्रकार का बन्दोबस्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। फिर भी दक्षिणी मद्रास में कुछ *ही जमींदारों को मान्यता मिली, शेष की सम्पत्ति छीन ली गई, क्योंकि उन्होंने ब्रिटिश* सत्ता का विरोध किया था। मद्रास के अधिकांश क्षेत्र में रैयतवारी गाँव थे जहाँ ऐसा कोई मध्यस्थ न था। वहाँ बंगाल के जमींदारी बन्दोबस्त के अव्यवहार्य होने के कारण अन्ततोगत्वा रयतवारी प्रथा अपनाई गई, लेकिन ऐसा होने के पूर्व १/५ से १/३ के बीच में स्थायी व्यवस्था हो चुकी थी। १८८३ के बाद सरकारी दृष्टिकोण निश्चित रूप से स्थायी बन्दोबस्त का विरोधी हो गया। परिणामतः स्थायी बन्दोबस्त का प्रश्न समाप्त हो गया।

६७ महालवारी बन्दोबस्त[2]—आगरा क्षेत्र में विभिन्न अस्थायी बन्दोबस्त का रूप

---

१ भूमि का अधिकता तथा काश्तकारों के मिलने की कठिनाई के कारण अधिक लगान से उनकी रक्षा करने की आवश्यकता उस समय नहीं समझी गई। बाद में भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ने पर कृषकों की स्थिति बहुत खराब हो गई।

२. चूँकि इस बन्दोबस्त में 'महाल' अर्थात् निश्चित क्षेत्र के गाँव या गाँवों के भाग पर मालगुजारी का

ही भूमिपति अधिकारो से युक्त सगठित ग्रामीण समुदायो के साथ अपनाया गया। अपवादस्वरूप कुछ तालुकेदारो को छोडकर आगरा मे अधिकाश दशाओ में सगठित ग्रामीण निकायो के ऊपर कोई व्यक्ति नही था। ग्रामीण निकायो से सामूहिक आधार पर सरकार से सीधे-सीधे बन्दोबस्त होता था, यद्यपि एक सम्मानित और अच्छी स्थिति का व्यक्ति सरकार को मालगुजारी देने के लिए चुन लिया जाता था। वह अन्य सहाश भागियो की ओर से बन्दोबस्त पर हस्ताक्षर करता था जो भू राजस्व के लिए सामूहिक एव व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी था।[1] यद्यपि बन्दोबस्त पूरे गाँव के साथ सामूहिक ढग से होता था फिर भी गाँव का कुछ भाग या एक सहाश-भागी अगर चाहे तो अपने भाग का पूर्ण विभाजन करा सकता था और इसके अनुसार उसकी भू-राजस्व-सम्बन्धी देयता निश्चित की जा सकती थी। शुरू शुरू मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्तर्गत इस प्रथा मे निर्धारित रकम की दर काफी ऊँची थी—वार्षिक सम्पत्ति के लगभग ८० प्रतिशत से अधिक। १८३३ मे इसे घटाकर ६६ प्रतिशत किया गया और १८५५ के तथाकथित सहारनपुर नियमों के अनुसार इसे और घटाकर ५० प्रतिशत किया गया। इस सम्पत्ति में प्रमुखतया (१) प्राप्त होने वाला कुल लगान अथवा (२) यदि भू-स्वामी जमीन अपने पास रखता था तो अनुमानित मालगुजारी का मूल्य और (३) कुछ फुटकर लाभ, उदाहरणत लाभदायक बेकार भूमि तथा चराई से होने वाले लाभ आदि, शामिल थे। आगरा अवध, पजाब और मध्यप्रान्त मे महालवारी बन्दोबस्तो में निर्धारण के यही प्रधान सिद्धान्त थे, यद्यपि एक स्थान से दूसरे स्थान पर इनमें सूक्ष्म अन्तर भी थे।

§८ **उत्तर प्रदेश का महालवारी बन्दोबस्त**—उत्तर प्रदेश में बन्दोबस्त का काम शुरू होने पर बन्दोबस्त अधिकारी विभिन्न गाँवो का निरीक्षण करके उन्हें निर्धारण-वृत्तो में विभाजित करता है, जो भूमि की एकरूपता के आधार पर बनाये जाते हैं। फिर हर प्रकार की भूमि के लिए निश्चित लगान मूल्य के आधार पर निर्धारित किया जाता है। जहाँ पर नकद लगान नही है वहाँ बन्दोबस्त अधिकारी गाँव में उसी प्रकार की भूमि के लिए दिये जाने वाले लगान अथवा अपने वृत्ति के दर को आधार मानकर निर्धारण करता है।

§९ **अवध का महालवारी बन्दोबस्त**—अवध का बन्दोबस्त व्यवहारत आगरा जैसा ही है। अन्तर इतना है कि यह बन्दोबस्त कभी-कभी ही ग्रामीण समुदाय के साथ किया जाता है। अधिकतर कुछ गाँवो की जमींदारी के लिए तालुकदार से एक निश्चित धनराशि के लिए बन्दोबस्त कर दिया जाता है। जहाँ ग्राम समुदाय अपने अधिकारों को सुरक्षित रख सके हैं वहाँ उसके साथ एक और बन्दोबस्त किया जाता है और तालुकेदार का भुगतान इस तरह निश्चित किया जाता है कि उसे कुछ लाभ कम से-कम भू राजस्व का १० प्रतिशत मिल सके।

§१० **पजाब का महालवारी बन्दोबस्त**—पजाब में वास्तविक या बड़ा समुदाय नहीं

निर्धारण होता है, अतएव इसे महालवारी प्रथा कहते हैं।

१ यह रैयतवारी प्रथा के विपरीत है जहाँ कोई सम्मिलित या सामूहिक उत्तरदायित्व नहीं होता। एक स-भागी दूसरे के दोष के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

कि कुछ जमीनों पर सरकार का अधिकार है जैसे खास महाल जमींदारियाँ। बंगाल-बिहार में ये जमींदारियाँ प्रत्यक्ष रूप से सरकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत हैं। विवाद रैयतवारी भूमि के सम्बन्ध में हो सकता है। ब्रिटिश सरकार राज्य-स्वामित्व पर अधिक बल देती थी, क्योंकि इसमें सरकार को भू राजस्व निर्धारण में विशेष सुविधा होती थी। इसके विपरीत जनता के नेताओं की नीति इसके विरुद्ध थी। वे व्यक्तिगत स्वामित्व पर जोर देते थे, क्योंकि उनका विचार था कि व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार होने पर निर्धारण की स्वच्छापूर्ण वृद्धि से रैयत की अधिक रक्षा हो सकेगी। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्ध किया जा सकता है कि सरकार ने कभी भूमि का निरपेक्ष अधिकार नहीं चाहा, न तो हिन्दू-काल में ही न मुस्लिम-काल में ही। यह ध्यान देने की बात है। इस प्रकार के विवाद में किसी भी पक्ष के तर्क विश्वसनीय प्रतीत नहीं होते। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि रैयतवारी क्षेत्रों में यदि रैयत निर्धारित भू राजस्व नहीं चुका पाती तो सरकार भूमि अपने अधिकार में ले सकती है। लेकिन यह तर्क ठीक इसलिए नहीं जान पड़ता, क्योंकि जहाँ पर व्यक्तिगत स्वामित्व असन्दिग्ध है सरकार वहाँ भी लगान न मिलने पर उस भूमि पर अधिकार कर सकती है। इसी प्रकार से राज्य स्वामित्व के पक्ष में दिये गए इस तर्क को भी मान्यता नहीं दी जा सकती कि जमींदारी भूमि से भिन्न रैयतवारी भूमि उसके स्वामी की इच्छा पर चलती हो सकती है।

इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि जब तक रैयत या दखीलकार सरकार को निर्धारित भू राजस्व देता रहेगा उसका स्वामित्व बना रहेगा। कुछ राज्यों में खेती की जमीन बिना सरकारी अनुमति के अन्य गैर कृषि सम्बन्धी उपयोगों में नहीं लाई जा सकती तथा ऐसे उपयोग की अनुमति मिलने पर भूस्वामी पर भू राजस्व बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार का प्रतिबन्ध अथवा वैयक्तिक सम्पत्ति में भी नगरपालिका या सरकार द्वारा लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ इमारती जमीन का उपयोग नगरपालिका के सामान्य नियमों से सीमित होती है। ऐसा कहा जाता है कि भू राजस्व कर से भिन्न और लगान के समान है क्योंकि बन्दोबस्त की समाप्ति से पूर्व इसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। भू राजस्व में प्रतिवर्ष संशोधन न करने का कारण यह नहीं है कि यह लगान के समान है वरन् यह है कि ऐसा करना न तो आवश्यक होता है और न आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद ही।

हम राज्यीय भू-स्वामित्व के पक्ष के तर्कों को बता चुके हैं। इसी प्रकार व्यक्तिगत स्वामित्व के पक्ष में कुछ तर्क भी इतने ही अविश्वसनीय हैं। १८८६ के आय-कर अधिनियम में कृषि आय-कर की मुक्ति की व्यवस्था थी। इससे कुछ लोगों ने यह अर्थ निकाला कि भूमि पर पहले से ही कर लगा हुआ था। यदि भू राजस्व सरकार को भूमिपति के रूप में मिलने वाला लगान होता तो उस पर और कर लगाना न्याय सम्मत होता। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि आय-कर से मुक्ति का अन्य ही कारण था। इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में कितने ही राज्यों में कृषि की आय पर भी आय-कर लगाने के प्रस्तावों पर विचार हो रहा है।

इस तक-जाल से कोई स्पष्ट निष्कर्ष नही निकलता। सब बातो को ध्यान में रखकर यह राय दी जा सकती है कि राजकीय स्वामित्व की अपेक्षा वयक्तिक स्वामित्व का पक्ष अधिक प्रबल है। आखिरकार रयत को व्यक्तिगत स्वामित्व से सम्बन्धित सभी मुख्य अधिकार प्राप्त हैं। वह भूमि को रेहन रख सकता है, बेच सकता है, पट्टे पर द सकता है, मौरूसी में प्राप्त कर सकता है और इस तरह उसका स्वामित्व अन्य प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति की भाँति ही सुरक्षित है। बडेन पावेल के मत मे यह विचार कि भू राजस्व कर है या लगान, अथवा यह विवाद कि भूमि राज्य का सम्पत्ति है या व्यक्ति की, केवल लाभहीन वाग्युद्ध है। यह लाभहीन इसलिए है कि कौन भूमि का स्वामी है इसका निर्णय करना कठिन है। दूसरे, इससे भू राजस्व नीति पर कोई प्रभाव नही पडता। उदाहरण के लिए एक महत्वपूर्ण प्रश्न भू राजस्व भार का निर्धारण है। यदि हम सरकार का भूमिपतित्व ही स्वीकार कर लें तो सरकार कर सम्बन्धी न्याय और समता के स्वीकृत सिद्धा तो का किनारे नही रख सकती। न तो सरकार की ही अधिक मालगुजारी बरदाश्त की जा सकेगी और न व्यक्तिगत जमीदार की ही।

§१६ **स्थायी व्यवस्था बनाम अस्थायी व्यवस्था**—लाड कानवालिस के प्रशासन-काल में बगाल में १७९३ में स्थायी बन्दोबस्त स्थापित किया गया। इसका उद्देश्य एक धनी और शक्तिशाली वग की सृष्टि करना था जो कि भविष्य म होने वाले विद्रोहो म अपनी स्वामि भक्ति और शक्ति से ब्रिटिश शासन की सहायता कर सके। वस्तुत स्थायी बन्दोवस्त से पहले भी देश भर के जमीदारो ने इस प्रकार की सहायता ब्रिटिश सरकार को दी थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी सुरक्षा के लिए जमीदारो को सुरक्षित और खुश रखना आवश्यक समझा। वतमान परिवर्तित परिस्थिति में सत्ता अपने हाथ में रखने के लिए सरकार जमीदारों की अपेक्षा किसानो को खुश रखना अधिक आवश्यक समझती है। अब विशेष छूट और लाभ दकर जमीदार वग को बनाये रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। अब जमीदारो के उन्मूलन और किसान को जमीन का मालिक बनाने की बात सोची जाती है।

स्थायी बन्दोबस्त में जब कि राज्य को प्राप्त होने वाला अश निश्चित रहा, जमीदारा का लाभ दिन-दूना और रात-चौगना बढ़ता गया। ऐसी आशा की जाती थी कि वे अपनी सम्पत्ति और शक्ति देश के लाभ के लिए लगायेंगे तथा सस्कृति के केन्द्र और ग्रामीण क्षेत्रा की प्रगति के अग्रदूत बनेंगे। लेकिन यह आशा निराशा में परिणत हो गई। बग भू राजस्व आयाग की रिपोट के अनुसार 'बगाल मे कितने ही योग्य और उदार जमींदार हैं (जसे भारत के अन्य भागा में भी हैं), किन्तु अन्यत्र-वासी भूमिपतित्व महानुभूतिहीन कारिन्दा द्वारा प्रबन्ध, जमींदार और काश्तकार के अमत्रीपूर्ण सम्बन्ध आदि दोष अन्य स्थानो की भाँति यहाँ भी प्रबल और वृद्धि पर हैं। स्थायी बन्दोबस्त में जमीदारा के लाभ बढ़ जाने से और मध्यस्था का भूमि उठा देने के कारण अनेक छोटे-छोटे भू धारी अथवा मध्यस्थ पैदा हो गए जिनकी सख्या पुराने जमीदारा से कहीं अधिक हो गई। इस प्रकार जमींदार और रयत का सीधा

सम्बन्ध समाप्त हो गया और लार्ड कार्नवालिस का भूमिपति और काश्तकार की अंग्रेजी पद्धति भारत में स्थापित करने का उद्देश्य सफल न हो सका। परिणामतः भूमि किसी की दखलकार की वस्तु न रही। कृषि कल्याण के लिए जमींदार और वास्तविक कृषक के बीच की किसी कड़ी को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। अधिक लगान और अन्य बलपूर्वक लिये जाने वाले करों की संख्या अन्यत्र की भाँति बंगाल में भी खूब प्रचलित थी।

१६वीं शती के अन्त में भारत में अनेक भयानक और विनाशकारी दुर्भिक्ष पड़े। रमेशचन्द्र दत्त का यह विचार गलत था कि बंगाल में दुर्भिक्ष की मुक्ति का कारण स्थायी बन्दोबस्त है। वस्तुतः बंगाल अन्य कई लाभप्रद परिस्थितियों में है जो देश के अन्य भागों में प्राप्त नहीं हैं, जैसे विश्वसनीय वृष्टि तथा संचार के उत्तम साधन। विभाजन के पूर्व जूट पर इसका एकाधिकार था, परिणामतः यह अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध था।

बंगाल पद्धति की जटिलताओं ने अत्यधिक मुकदमेबाजी को जन्म दिया। भूमि के अभिलेख गड़बड़ हैं और बड़ी उदासीनता से रखे जाते हैं। लगान वसूली की कोई अच्छी व्यवस्था नहीं है। सालों तक लगान बकाया पड़े रहते हैं।

स्थायी बन्दोबस्त के लाभों में से एक यह है कि इससे ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त नहीं होती और न निर्धारण के सामयिक संशोधन से किसान परेशान होता है। वर्तमान परिस्थिति में यह तर्क बहुत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। अब शासन का यन्त्र इतना परिपूर्ण हो गया है और इतना अनुभव हो चुका है कि संशोधन अब अधिक शीघ्रता और सरलता से हो सकता है। भूमि अभिलेखों की अच्छी व्यवस्था, सीमाओं की सुरक्षा तथा भूमि के स्थायी वर्गीकरण के कारण पुनः बन्दोबस्त करना बड़ा सरल हो गया है। इसके अतिरिक्त बन्दोबस्त प्रायः ३० या ४० वर्ष बाद होता है तथा इसमें सम्बन्धित जाँच-पड़ताल ऊँचे और उत्तरदायी अधिकारी करते हैं।

जनता द्वारा निर्वाचित सरकार से यह आशा की जा सकती है कि यह भू-राजस्व के निर्धारण में इस बात का ध्यान रखे कि निर्धारित राजस्व कृषकों की सामर्थ्य के अन्दर हो तथा भू-राजस्व का स्थगन और छूट आवश्यकता होने पर शीघ्र ही मिल जाय। इन परिस्थितियों में सरकार को अपनी अधिकारपूर्ण आय त्याग देने का कोई कारण नहीं है। जब कि जमींदारों की आय में काफी वृद्धि हुई और उन कारणों से हुई जिनमें उनका कोई हाथ न था, जैसे जनसंख्या की वृद्धि, संचार-साधनों में सुधार मूल्यों में वृद्धि आदि, तब सरकार इस समृद्धि में अपने भाग से स्वयं वंचित रही। ऐसा अनुमान किया गया है कि १७९३ में मिलने वाला राज्य का भाग ९० प्रतिशत था जो १९२७-१९२८ में घटकर १९ प्रतिशत हो गया और निश्चय ही आगे यह और घटा होगा।[1] इस बाधा ने बंगाल सरकार की शक्ति और राष्ट्र-निर्माण में व्यय की मात्रा काफी सीमित कर दी है।

§१७ बन्दोबस्त की अवधि—यद्यपि कार्नवालिस के अनुभव के बाद ब्रजगवीद मान

---

१ ए० डा० दास, प्रॉब्लम्स ऑफ इकॉनॉमिक्स एण्ड लैण्ड रेवेन्यू सिस्टम इन हिन्दुस्तान, पृ० ६१।

काफी सुधर चुका है, फिर भी यह न तो आवश्यक ही है और न वांछनीय ही कि बन्दोबस्ती में प्रतिवर्ष परिवर्तन किया जाय। जहाँ तक बन्दोबस्ती की उचित अवधि का प्रश्न है, लघु कालावधि के पक्ष में तर्क यह है कि इसमें सामान्य प्रगति के कारण भूमि का अनर्जित लाभ प्रजा और राज्य को सामान्य रूप से मिल जाता है। साथ ही अवनति-काल में भू राजस्व कम भी किया जा सकता है। इसके अलावा छोटी अवधि के बन्दोबस्त निर्धारण में क्रमिक वृद्धि लाने के कारण असन्तोष नहीं उत्पन्न करते। तद्विपरीत यदि कालावधि अपेक्षाकृत लम्बी हो तो कृषि में भी अव्यवस्था नहीं उत्पन्न होगी। बम्बई भू राजस्व निर्धारण समिति ने ३० वर्ष का समय उचित माना है क्योंकि कृषक के जीवन में ३० वर्ष एक पीढ़ी होता है। यदि वह इसके प्रारम्भ में यह जानता है कि सरकार द्वारा उसका लगान बढ़ाया जा सकता है तो उसे अपने व्यय को समायोजित करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो सकता है। यद्यपि यह तर्क न तो जँचता ही है और न विश्वसनीय ही प्रतीत होता है, फिर भी अधिक लोगों का मत है कि ३० वर्ष की अवधि ही उचित है।

§१८ **भू राजस्व निर्धारण के सिद्धान्त**—हम पहले देख चुके हैं कि भू राजस्व निर्धारण के मूलभूत सिद्धान्त विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न हैं और उनमें अनेक कारणों से परिवर्तन हो सकता है। साथ ही बन्दोबस्त अधिकारी को अपने विवेक के प्रयोग का काफी अवसर रहता है। फिर भी निर्धारण की सभी पद्धतियों में यह ध्यान में रखा गया है कि उत्पादन के व्यय के बाद जो लाभ या अतिरेक बचता है उसी का कुछ अनुपात भू राजस्व के रूप में लिया जाय। बम्बई में भाटिकी अर्हा (रेन्टल वेल्यू) को निर्धारण का आधार माना गया है। इस प्रथा की कठिनाई यह है कि वास्तविक भू राजस्व भाटिकी अर्हा से अधिक हो सकता है। इसका कारण किसानों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में वृद्धि या जमींदार की शक्ति हो सकती है जिससे वे किसान से ऊँची दर वसूल कर सकते हैं। लगान में कभी-कभी जमींदार द्वारा दिये गए ऋण का ब्याज भी शामिल रहता है। बारदोली समिति के अनुसार कच्चे माल के स्वेच्छाचारी स्वभाव के लिए काफी छूट (मार्जिन) देनी चाहिए और निर्धारण से पहले भाटिकी आँकड़ों की काफी छानबीन करनी चाहिए। इनकी परीक्षा संचार, बाजार-मूल्य, आर्थिक दशा और फसल प्रयोग के सम्बन्ध में भी करनी होगी।

भाटिकी को अनर्जित वृद्धि या आर्थिक लगान के समकक्ष मानने की कठिनाई की ओर रानाडे ने संकेत किया था। उसके शब्दों में अनर्जित वृद्धि सिद्धान्त वहीं लागू होता है जहाँ भू-सम्पत्ति एक ही वंश में कई पीढ़ी से रहती है। यदि जमीन एक से दूसरे के हाथ में चली जाती है तो क्रेता उसे बाजार-मूल्य पर खरीदता है और उसे कोई अनर्जित लाभ नहीं मिलता। तथाकथित लगान उसके विनियोग पर मिलने वाला उचित लाभ है। गत बीस वर्षों में पूँजीकरण विवरण से स्पष्ट है कि विक्रय मूल्य भू-सम्पत्ति के कुल मूल्य के बराबर होता है। एक पीढ़ी में सम्पत्ति एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास चली जाती है और नये क्रेताओं को कोई अनर्जित वृद्धि नहीं होती, क्योंकि उन्हें अच्छी समीपता और उत्पादकता का पूरा-पूरा मूल्य चुकाना पड़ता है।

कर जाँच समिति (१९२५) ने एक वार्षिक मूल्य को एकरूप आकार की तरह अपनाने की सिफारिश की। वार्षिक मूल्य से उनका तात्पर्य कुल उत्पत्ति और उत्पादन-व्यय के अन्तर से था। उत्पादन-व्यय में कृषक द्वारा सपरिवार किये गए परिश्रम और साहसिकता के लिए मिलने वाला लाभ भी सम्मिलित था। जहाँ पर लगान भू धारी नियमों तथा रीति रिवाजों से नियन्त्रित होता है या जहाँ लगान बन्दोबस्त अधिकारी द्वारा निर्धारित होता है, यह सिफारिश की गई कि इस लगान को वार्षिक मूल्य मान लिया जाय। कर जाँच समिति ने यह भी सिफारिश की कि निर्धारण-दर वार्षिक मूल्य के चतुर्थांश (२५ प्रतिशत) से अधिक न हो तथा साधारण स्थानीय कर का अधिकतम भी भू राजस्व के २५ प्रतिशत के आस-पास होना चाहिए।

§१६ दुर्भिक्ष और दुर्भिक्ष सहायता—भारत में दुर्भिक्ष प्रायः ही पड़ते रहे हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि हमारी कृषि मानसूनी वर्षा पर निर्भर करती है तथा मानसूनी वर्षा बिल्कुल ही अविश्वसनीय है। ब्रिटिश युग के प्रारम्भिक काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में सबसे प्रमुख दुर्भिक्ष १७७०, १७८४, १८०२, १८२४ और १८३७ में पड़े। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की कोई दुर्भिक्ष-सहायता नीति न थी। कभी-कभी इसने अव्यवस्थित और फुटकर प्रयास किए, जिनके अन्तर्गत सार्वजनिक निर्माण-कार्य किये गए और व्यापार तथा अन्न-मूल्यों को नियमित करने का प्रयास किया गया। १८५८ में जब राज्य कम्पनी से ब्रिटिश सम्राट् के हाथ में गया तो प्रयोगों द्वारा दुर्भिक्ष रोकने और सहायता देने की एक नीति निर्धारित की गई। १८६५ के उड़ीसा दुर्भिक्ष में १० लाख व्यक्ति मरे। इस हानि के फलस्वरूप सर जॉन कैम्पबेल के सभापतित्व में एक जाँच समिति बैठी और परिणामतः सरकार ने इस प्रकार की मृत्यु से लोगों को हर लागत पर बचाने की जिम्मेदारी स्वीकार की। १८७६-७८ में दक्षिण के महान् दुर्भिक्ष में ५२ लाख व्यक्ति मरे। इसके फलस्वरूप तीन दुर्भिक्ष आयोगों में से प्रथम आयोग की नियुक्ति हुई जिसके सभापति सर रिचार्ड स्ट्रैची थे। १८७८ में एक दुर्भिक्ष संरक्षण अनुदान प्रारम्भ की गई जिसके अनुसार भारत सरकार के वार्षिक आय-व्यय में डेढ़ करोड़ की धनराशि अलग कर दी गई। यह दुर्भिक्ष-काल में प्रत्यक्ष सहायता तथा साधारण वर्षों में सार्वजनिक निर्माण-कार्य में व्यय करने के लिए थी। यह भी निश्चय किया गया कि नवीन गारण्टी प्रथा के अन्तर्गत रेलों का विस्तार किया जाय। दुर्भिक्ष-सहायता के सिद्धान्तों को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिया गया। इनके अन्तर्गत स्वस्थ व्यक्तियों के जीवन निर्वाह के लिए काम और इतना पारिश्रमिक जिससे वे स्वस्थ रह सकें, अपाहिजों को मुफ्त सहायता या तो उनके गाँवों में या दरिद्र गृहों में, भूमि के स्वामी-वर्ग को तकावी के रूप में ऋण तथा लगान का स्थगन या छूट आते हैं। दुर्भिक्ष सिद्धान्तों की संहिता विभिन्न प्रान्तों के लिए बनी। इनमें काम के अनुभवों के अनुसार फिर परिवर्तन किए गए। १८९६-९७ के दुर्भिक्ष के उपरान्त सर जेम्स लायल की सभापतित्व में एक आयोग की नियुक्ति हुई। इसकी सिफारिशों में (१) कुछ विशेष जातियों या वर्गों के व्यक्तियों जैसे जुलाहों और पहाड़ी जातियों की सहायता के लिए व्यवस्था थी। (२) धर्मार्थ कार्यों के प्रबन्ध के लिए नियम प्रस्तावित

किये गए। (३) गाँवों में सहायता कार्य के लिए मुक्त हस्त से अनुदान देने की सिफ़ारिश तो की किन्तु विकेन्द्रित सहायता-कार्यों के विस्तार का समर्थन नही। १९०० में महाराजा जयपुर ने १६ लाख रुपये दान किये जो भारतीय जन दुर्भिक्ष ट्रस्ट का केन्द्र बन गया। तीसरा दुर्भिक्षायोग सर एन्टनी मेक्डानल के सभापतित्व मे नियुक्त हुआ (१९०१)। इसने नैतिक युद्ध-नीति अथवा जनता मे उत्साह भरने की आवश्यकता पर बल दिया, अर्थात् जैसे ही खतरे की गन्ध मिले वैसे ही ऋण तकावी, लगान की छूट आदि सहायता कार्य प्रारम्भ कर दिया जाय तथा सहायतार्थ नीति अपनाई जाय, जिसमे व्यापक एवं लचीली योजना अनवरत जागरूकता और अधिकारी-वर्ग की सहायता प्राप्त करने के प्रयत्न भी सम्मिलित हो। साथ ही चारे के दुर्भिक्ष तथा जानवरों को बचाने की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया। सहकारी ऋण समितियों की स्थापना और सिंचाई के रक्षित साधनों के विस्तार की भी सिफारिश की गई। इन सब विचारों को दुर्भिक्ष संहिताओं में समाहित कर दिया गया है और इन्होंने बाद के दुर्भिक्षों का काफी सफलतापूर्वक सामना किया है।

ऐसा देखा गया है कि भारतीय दुर्भिक्ष का इतिहास दुर्भिक्ष शब्द के अर्थों के क्रमिक परिवर्तन का इतिहास है। इस अर्थ-परिवर्तन के लिए दो कारण प्रधान रूप से उत्तरदायी हैं–(१) संचार और परिवहन के सुधरे साधन, जिससे एक प्रान्त की कमी को अन्य स्थानों की अधिकता से पूरा किया जा सकता है। (२) दुर्भिक्षों की सहायता के लिए प्रशासकीय यन्त्र अधिक दक्ष और परिपूर्ण हो गया है। प्राचीन काल के दुर्भिक्ष 'खाद्य-दुर्भिक्ष' थे। इनका कारण स्थान विशेष में फसलों की असफलता थी। इस कमी को अन्य स्थानों की सापेक्षिक बहुलता से दूर नहीं किया जा सकता था। इन परिस्थितियों मे कुछ करना असम्भव था और परिणामत: लोग भूखों मरते थे। संचार और परिवहन के साधनों के विकास के साथ दुर्भिक्ष-सहायता का स्वभाव भी परिवर्तित हो गया है। यदि देश के किसी भाग मे खाद्यान्नों का अभाव है तो इसे अन्य भागों से खाद्यान्न भेजकर पूरा किया जा सकता है और लोगों को भुखमरी से बचाया जा सकता है। यदि वर्षा न होने से लोगों को कृषि-कार्य न मिला तो सहायता कार्य का रूप बेकार श्रमिकों को वृत्ति और मजदूरी प्रदान करना हो गया। परिणामत आज का दुर्भिक्ष 'मुद्रा-दुर्भिक्ष' है। अब मानसून की असफलता का अर्थ रुपये कमाने की असमर्थता है जो अनावृष्टि के कारण खेतों पर काम न मिलने की वजह से है। इसका अर्थ खाद्यान्नों की अप्राप्यता नही है। सरकार परिस्थिति का सामना सहायतार्थ कार्यों को प्रारम्भ करके जनता को अन्यत्र से लाई खाद्य सामग्री के क्रय के लिए पर्याप्त पारिश्रमिक देकर कर सकती है। देश के विभाजन के अनन्तर भारत खाद्य की बाह्य पूर्ति पर अधिक निर्भर रहने लगा है। देश भर में खाद्यान्नों की कमी रहती है और इसका सामना करने के लिए सञ्चित रक्षित अन्न राशि रखनी पड़ती है। साधारणतया पर्याप्त सञ्चित राशि कायम रखने के लिए आन्तरिक पूर्ति को बाह्य आयात से पूरा करना पड़ेगा।

ऋतु विभाग देश के विभिन्न भागों में विद्यमान ऋतु दशाओं का लेखा रखकर

दुर्भिक्ष सहायता प्रशासन की मदद करता है। इन लेखा और वायु के ऊर्ध्व स्तर के अध्ययन से मानसून के बारे में विश्वसनीय भविष्यवाणी की जा सकती है। यदि मानसून की असफलता की सम्भावना हो तो बचने की उचित तयारी पहले से ही प्रारम्भ की जा सकती है। दुर्भिक्ष के अन्य कारण अति-वृष्टि और बाढ़ हैं। इनके लिए बाढ़ नियन्त्रण के उपाय अपनाना चाहिए। टिड्डी या अन्य अनेक प्रकार के कीटाणु भी फसलों की असफलता के लिए उत्तरदायी होते हैं। सरकारी कीट-तत्वानिय और अन्य विशेषज्ञ इन कारणों को दूर करने में प्रयत्नशील हैं।

§२० दुर्भिक्ष आगोप एवं सहायता-कोष—सरकार दुर्भिक्ष आगोप अनुदान से विभिन्न प्रान्तों को उनकी आवश्यकतानुसार धन वितरित करती थी। केन्द्रीय सरकार दुर्भिक्ष सहायता व्यय का ¾ व्यय वहन करती थी। लेकिन १६१६ के सुधार के फलस्वरूप हर प्रान्त को अपनी दुर्भिक्ष-सहायता की व्यवस्था करनी पड़ी। दुर्भिक्ष आगोप अनुदान का जो भाग बचता था वह केन्द्र के पास रहता था और केन्द्र उस पर ब्याज देता था। इस शेष राशि को (१) दुर्भिक्ष सहायतार्थ, (२) दुर्भिक्ष से रक्षा के लिए रक्षात्मक कार्य तथा (३) किसानों को ऋण देने के लिए खर्च किया जा सकता था। हर प्रान्तीय सरकार को उसकी दुर्भिक्ष दशा के अनुपात में प्रतिवर्ष एक निश्चित धन-राशि आगोप कोष में देनी पड़ती थी। १६२८-२६ के आर्थिक वर्ष में दुर्भिक्ष आगोप कोष के विधान में बड़ा परिवर्तन कर दिया गया। तत्पश्चात् इसका नाम दुर्भिक्ष सहायता कोष हो गया और मुख्यतया दुर्भिक्ष-सहायता पर इस कोष से लोगों किसान को ऋण नहीं दिया जाता था, यद्यपि न्यूनतम राशि से अधिक होने पर इस कोष से प्रान्तीय ऋण-खाते में धन लिया जा सकता था। पुराने दुर्भिक्ष आगोप कोष की सारी शेष धनराशि इस नये सहायता-कोष को दे दी गई। नकद आगम में यह धन राशि प्रान्त के सामान्य आगम को स्थानान्तरित कर दी गई। १ अप्रैल, १६३७ में प्रान्तीय स्वायत्त शासन के प्रारम्भ से अवशिष्ट धनराशि प्रान्तीय सरकारों को दी गई जो अपनी आवश्यकतानुसार उसे व्यय करने लगीं। एक भारत दुर्भिक्ष ट्रस्ट की भी स्थापना की गई, जो उन वर्ग के उन गरीबों की सहायता करेगा जो सरकार से साधारण तौर पर ऋण लेना स्वीकार नहीं करते।

अखिल भारतीय ग्राम साख सर्वेक्षण ने (१) राज्य दुर्भिक्ष कोष में वृद्धि (२) उन प्रान्तों में कोष की स्थापना जहाँ अब तक कोष स्थापित नहीं है तथा (३) घोर दुर्भिक्ष या अनाज की दशा या बाढ़ जैसी आपत्तियों में लगे हुए राज्यों की सहायता के लिए पर्याप्त केन्द्रीय दुर्भिक्ष कोष की स्थापना की सिफारिश की है।

§२१ सहायता-उपायों का विवरण—नीचे संक्षिप्त रूप में दुर्भिक्ष सहायता के उपायों का विवरण दिया जा रहा है—

(१) बड़े पैमाने पर स्थायी तैयारियाँ की जाती हैं। जलवायु की दशा, फसल और मूल्य, जन्म और मरण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ एकत्र की जाती हैं। उचित कामों के कार्यक्रम हर समय प्रस्तुत और आधुनिकतम स्थिति में रखे जाते हैं। देश का सहायता-क्षेत्रों में मानचित्र तैयार कर दिया जाता है।

(२) अनावृष्टि के समय खतरे के सकेत चिह्नो पर सतक दृष्टि रखी जाती है, जसे कीमतो में वृद्धि जनता में असन्तोष, निरुद्देश्य भ्रमण, वैयक्तिक उदारता में सकोच और अपराधो, विशेषकर छोटी छोटी चोरियो, की वृद्धि।

(३) उस समय सरकार प्रारम्भिक काय ही शुरू करती है और कठिनाई का नतिक ढग से सामना करने की सामान्य नीति घोषित करती है। सभाएँ बुलाकर जनता के समक्ष सरकारी नीति स्पष्ट की जाती है, गर सरकारी व्यक्तियो से सहायता ली जाती है, कृषि-सुधार के लिए ऋण लिया जाता तथा भू राजस्व का स्थगन भी घोषित किया जाता है। गाँवो का निरीक्षण करके असहाय व्यक्तियो की प्रारम्भिक सूची तयार की जाती है।

(४) परीक्षण-कार्य खोले जाते हैं और यदि पर्याप्त श्रमिक उनकी ओर आकृष्ट होते हैं तो उन कार्यो को नियमित सहायता कार्यों मे परिणत कर दिया जाता है।

(५) दिसम्बर तक केन्द्रीय सहायता शिविर सगठित किये जाते हैं और गाँव मे अपाहिजो को मुफ्त वस्तुएँ बाँटी जाती हैं। कस्बो म दरिद्र शालाएँ खोली जाती हैं और गाँवो में बच्चो के लाभ के लिए ग्राम भोजनालय चलाये जाते हैं।

(६) जून में वृष्टि क आरम्भ होने पर वृहत् सहायता-काय बन्द कर दिए जाते हैं और जनता छोटी टुकडियो में अपने गाँव के समीप छोटे सहायता-कार्यों की ओर भेज दी जाती है ताकि महामारी का प्रकोप न हो और सामान्य कृषि स्थिति पुन स्थापित हो सके। स्थानीय मुफ्त सहायता दी जाती है तथा कृषका को पशु हल और बीज के क्रय के लिए उदारतापूवक अग्रिम रुपये दिए जाते हैं। जब प्रमुख शरद् फसल पककर तैयार हो जाती है तो शेष काय भी बन्द कर दिये जाते हैं और मुफ्त सहायता बन्द कर दी जाती है। अक्तूबर के मध्य तक प्राय दुर्भिक्ष समाप्त हो जाता है। इस पूरे समय तक स्वास्थ्य विभाग के कमचारी सदव तयार रहते हैं ताकि वर्षा होने पर उत्पन्न होन वाली महामारियो, जैसे हैज़ा और मलेरिया, का सामना किया जा सके।[1]

§२२ स्थगन और छूट[2]—निम्न सिद्धान्तो के आधार पर प्राय सभी राज्यो[3] में भू राजस्व के स्थगन या छूट के रूप मे रियायतें दी जाती हैं—(१) साधारणतया सहायता भू राजस्व में स्थगन के रूप में दी जानी चाहिए और यह तभी दी जानी चाहिए जबकि फसल की उत्पत्ति आधे से कम और एक चौथाई से अधिक हो। (२) जब यह मालूम हो जाय कि लगान वसूल करना असम्भव है तो बिलकुल छूट दे देनी चाहिए। यदि मालगुज़ारी तीन साल तक स्थगित रहे तो यह मान लेना चाहिए कि वसूली व्यवहाय नही है। (३) यदि फ़सल सामान्य उत्पादन के एक चौथाई स कम हो तो बिलकुल छूट दे देनी चाहिए। (४) सरकारी स्थगन या छूट के साथ ही-साथ जमीदारो द्वारा किसानो को भी वसी ही सुविधाएँ मिलनी चाहिए।

१ देखिए, इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, खण्ड ३, पृष्ठ ४४७ से ८१।

२ कर जाँच आयोग रिपोर्ट, खण्ड ३, पृष्ठ १८८।

३ इधर हाल में मद्रास की सरकार ने ऐसे कानून पास किये हैं जिनसे सहायता केवल गरीब रैयत को ही मिल सकती है।

हद तक सावजनिक कार्यो मे पूंजी के रूप में लगाया जाय। एक सुझाव है कि जमीदारो को मिलने वाले बचपत्र कुछ निश्चित समय तक अविनिमयसाध्य (नॉन निगोशिएबल) रह। फिर केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार द्वारा सचालित योजनाओ के हिस्सो में परिवर्तन कर दिया जाय। भू राजस्व प्रशासन का एक ढाँचा अस्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रो में बहुत समय से है। आशा की जाती है कि जमीदारी-उन्मूलन के पश्चात् पडने वाली जिम्मेदारियो को वह सँभालेगा। अधिकाश स्थायी बन्दोबस्त वाले तथा जमीदारी क्षेत्रों में कोई भू राजस्व प्रशासन नही है जो भूमि सुधार योजनाओ को प्रभावपूर्ण ढग से कार्यान्वित करे। सम्बद्ध राज्यो को चाहिए कि वे इस आवश्यकता की पूर्ति का भरसक प्रयत्न करें।

(ख) अपर्याप्त भू-सम्पत्ति के स्वामी—रिपोट मे इस बात पर जोर दिया गया है कि भूमि के सम्बन्ध में (जैसा कि अर्थ-व्यवस्था के अन्य क्षेत्रो के सम्बन्ध में भी है) एक निश्चित सीमा से अधिक वयक्तिक सम्पत्ति केवल जन हित मे ही न्यायसगत है। एव ऊर्ध्व सीमा निश्चित करने का विचार व्यवहार रूप मे परिणत किया जा रहा है और (१) भविष्य म भूमि प्राप्ति तथा (२) वयक्तिक खेती के पुनरारम्भ की सीमाएँ निश्चित करके इसे लागू भी किया गया है।

पर्याप्त भू-सम्पत्ति के स्वामियो की समस्या दो भागो में विभाजित है—(१) इच्छाधीन कृषको के अन्तगत भूमि की समस्या और (२) भू-स्वामियो द्वारा प्रबन्धित भूमि की समस्या।

रिपोट में यह विचार प्रकट किया गया है कि वयक्तिक खेती के पुनरारम्भ की सीमा से अधिक भूमि के लिए सामान्य नीति यह होनी चाहिए कि काश्तकार को उसका स्वामी मान लिया जाय। इस लक्ष्य की ओर बढ़ने का पहला कदम यह होगा कि काश्तकारों को दखीलकारी अधिकार देकर उनके स्वामित्व की सुरक्षा की जाय। दूसरे, काश्तकार द्वारा दिया जाने वाला मूल्य भाटिकी अर्हा का कुछ गुना होना चाहिए, जिसको वह निश्चित समय के अन्दर कुछ किश्तों म दे दे। जहाँ तक उस भूमि का सम्बन्ध है जिसका प्रबन्ध उसके मालिक स्वय करते हैं, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अधिकृत भूमि की सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए। दूसरे, कृषि और प्रबन्धत्व की कुशलता, कानून द्वारा निर्धारित मानदण्ड के समकक्ष होनी चाहिए। इस धारा को पहले उन सम्पत्तियों पर लागू करना चाहिए जो कि निर्धारित सीमा से अधिक हं। यह सीमा विभिन्न राज्यो की दशाओ के अनुसार निश्चित होनी चाहिए।

व्यक्तिगत बडी जोतो की समस्या की ओर व्यावहारिक दृष्टिकोण यह होगा कि स्वामियो द्वारा प्रबन्धित बडे फार्मों को दो भागो में विभाजित कर दिया जाय—

(१) ऐसे फार्म जिनका प्रबन्ध कुशलतापूर्वक हो रहा है और जिनके विभाजन से उत्पादन में ह्रास होगा।

(२) वे जो इस कसौटी पर खरे नही उतरते।

द्वितीय वर्ग के लिए विधान द्वारा उचित अधिकारी को पूरे फार्म पर या उस भाग पर जो व्यक्तिगत खेती की निर्धारित सीमा से अधिक हो, कब्जा करने और

खेती कराने का अधिकार मिलना चाहिए। ऐसी भूमि की खेती में सहकारी समूहों को और भू-प्रबन्ध अधिकारियों के हाथ में जाने वाली भूमि पर बसने वाले श्रमिकों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

(ग) **छोटे और मध्यवर्गीय भू-स्वामी**—ऐसी भूमि के स्वामी, जिनकी भूमि पारिवारिक जोत की सीमा से अधिक नहीं है या जिनकी भूमि पारिवारिक जोत की सीमा से अधिक होने पर भी वैयक्तिक कृषि की निर्धारित सीमा से अधिक नहीं है, उन्हें मध्यम प्रकार का स्वामी कहा जा सकता है। ऐसी भूमि को भी दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) स्वामी कृषकों की खेती की भूमि।

(२) इच्छाधीन किसानों द्वारा जोती जाने वाली भूमि।

पहले वर्ग की समस्या बिना प्राविधिक सहायता एवं संगठन तथा सरकारी सहयोग की समस्या है। छोटे और मध्यम प्रकार के स्वामियों के काश्तकारों की रक्षा के उपायों के लिए सरलता परमावश्यक है। यह ध्यान रखना चाहिए कि इनसे जो समस्याएँ उठें वे ग्रामीण स्तर पर ही सुलझाई जा सकें। दूसरी बात यह भी ध्यान में रखनी होगी कि छोटे एवं मध्यम प्रकार के स्वामियों के हितों की रक्षा के लिए अपनाये गए उपायों में कोई दोहरी या ग्रामीण पंचायतों में ग्रामीणों की गतिशीलता अवरुद्ध न हो जाय। छोटे एवं मध्यम प्रकार के भू-स्वामियों द्वारा भूमि को पट्टे पर देने की क्रिया को बड़े भू-स्वामियों के स्तर की अनुपस्थिति (एबसेन्टिज्म) मानकर इसे सुलझाने की चेष्टा न करनी चाहिए।[1]

(घ) **इच्छाधीन कृषक**—इन किसानों के अधिकारों को परिभाषित करना होगा जो लघु एवं मध्यम प्रकार के मालिकों की जमीन के काश्तकार हैं। यह काश्तकारी अधिकार पाँच या दस वर्ष का तथा नवीकरणीय होना चाहिए। काश्तकार से भूमि उसी दशा में ली जानी चाहिए जब भू-स्वामी स्वयं उसे जोतने की इच्छा प्रकट कर रहा हो। अधिकतम लगान उत्पादन का $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{5}$ होना चाहिए। अधिकांश राज्यों ने इन सिफारिशों को कार्यान्वित कर लिया है। काश्तकारों द्वारा लिये जाने वाले लगान की अधिकतम सीमा एवं पट्टे की न्यूनतम अवधि भी निर्धारित की गई है।

(ङ) **भूमिहीन कृषक**—योजना आयोग ने इस सम्बन्ध में कोई रचनात्मक सुझाव नहीं रखा है। उनके मत में इस समस्या को संस्थात्मक परिवर्तनों की दृष्टि से लाना चाहिए जिससे सब वर्गों में समता की दशा उत्पन्न हो जायगी। इन परिवर्तनों का सार यह है कि एक सहकारी प्रबन्ध की व्यवस्था का इस प्रकार विकास किया जाय ताकि उत्पादन में वृद्धि हो जिसमें उन सबको वृत्ति प्राप्त हो सके जो काम करने की इच्छा और क्षमता रखते हों। इस प्रकार के दीर्घकालिक और महत्त्वपूर्ण सुधार रखने के अतिरिक्त आयोग ने यह भी लिख दिया है कि 'भूदान आन्दोलन' इस दिशा में काफी महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा। इससे भूमिहीन कृषकों को एक अवसर प्राप्त हो सकेगा

[1] छोटे एवं मध्यम प्रकार के भू-स्वामियों के हित में इस [illegible] के लिए [illegible] लागू नहीं हो सका है। [illegible] के अनुसार [illegible]

जो अन्यथा सम्भव नही है। योजना आयोग के नीति सम्बन्धी सुझाव स्पष्ट नही हैं और न उनमे तारतम्यता, गहनता और स्पष्टता ही है। वे केवल देश के वतमान भूमि कानूनो की प्रमुख दिशाएँ भर स्पष्ट करते हैं।

§२ भूदान आन्दोलन—आचार्य विनोबा द्वारा १९५१ में प्रारम्भ किये गए भूदान-आन्दोलन का प्रारम्भिक उद्देश्य हर एक भारतीय परिवार के लिए कम-से कम थोडी सी भूमि की व्यवस्था करना है। इसका अन्तिम लक्ष्य एक नैतिक परिवर्तन लाना और ऐसा वातावरण उत्पन्न करना है जिससे सामाजिक अन्याय और असमता के निवारण में सहायता मिले। अकिंचन् से लेकर सभी व्यक्ति, जिनके पास भूमि है, उसके कुछ भाग का दान करने के लिए आमन्त्रित हैं। यह दान नही वरन् एक स्पष्ट नैतिक कतव्य है।[1] यद्यपि बडे स्वामियो से एक निश्चित अनुपात से कम भूमि स्वीकार नही की जाती, परन्तु छोटे स्वामियो से थोडी भूमि भी स्वीकार कर ली जाती है। दान प्राप्त भूमि के वितरण में विनोबा का ध्यान सबसे पहले भूमिहीन कृषको और निम्न दस्तकारो की ओर है, जिनकी दशा छोटे-से छोटे किसान से बुरी और शोचनीय है। भूदान आन्दोलन की मान्यता और निहित विचारो का आधार ठोस है। उदाहरणत ग्रामीण साख सर्वेक्षण के अनुसार साख की अधिकाश आवश्यकता—विशेषकर छोटे किसानो के सम्बन्ध में—और भूमि खरीदने के लिए होती है। भूमिहीन श्रमिको तथा ग्रामीण दस्तकारो की स्थिति इतनी अस्थिर है कि एक छोटे से जमीन के टुकडे की जुताई से भी उनकी आर्थिक स्थिति मे काफी परिवतन हो सकता है। इससे उसका दृष्टिकोण भी आशापूर्ण होगा और उसका शोषण भी कम हो जायगा क्योकि उसे सौदा करने की थोडी शक्ति प्राप्त हो जायगी। दूसरी मान्यता यह है कि यद्यपि भूमि इससे अधिक व्यक्तियो में बँट जायगी, लेकिन इससे वतमान कृषि-उत्पादन मे अवश्य ही ह्रास होगा, ऐसा नही कहा जा सकता। जब तक उत्पादन-पद्धति में कोई परिवतन नही होता तब तक उत्पादन के पैमाने से कोई विशेष लाभ-हानि होन की सम्भावना नही है।[2] यह भी तक दिया जा सकता है कि यदि अधिक व्यक्ति भूमि में वयक्तिक रूप से रुचि लेने लगेंगे तो उत्पादन मे वृद्धि भी हो सकती है।

ऐसा देखा गया है कि अधिकांश फसलो के लिए वतमान कृषि-पद्धति के अनुसार छोटे और बडे फार्मों के प्रति एकड उत्पादन म कोई अन्तर नही पडता। यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि भूदान आन्दोलन से भूमिहीन श्रमिको और दस्तकारो की दशा में बहुत अधिक सुधार हो जायगा परन्तु जब तक अन्य कोई योजना नहीं है तब तक भूदान से ही यत्किंचित् सुधार सम्भव है। उसे घृणा की

१ विनोबा का आग्रह है कि प्रयुक्त शब्द 'दान' का अर्थ 'संविभाग' से है—सामाजिक कर्तव्य को ध्यान में रखकर स्वेच्छा से सम्पत्ति का विभाजन।

२ यदि बहुत छोटे भू-स्वामी भी अपनी कुछ भूमि देने पर राजी हो जाते हैं तो इसका अर्थ है कि उनकी प्रति एकड उपज घटी नहीं। यह भूमि के विभाजन का एक आर्थिक समर्थन है। इसके विरुद्ध में कि भूदान से भूमि खण्डों में बँटेगी विनोबाजी का कहना है कि दिल के टूक टूक होने से भूमि का खण्ड-खण्ड होना अच्छा है। यह अपनी सम्पूर्ण सरलता और विश्वास के साथ यह कहते हैं, फिर भी इसे तर्क के रूप में नहीं माना जा सकता।

दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। यही बात भूदान आन्दोलन के दूसरे पहलू पर भी लागू होती है कि यह भूमि पर स्वामी ओर से और अधिक जनसंख्या का भार लाद देगा, जबकि इस कृषि के अलावा अन्य धन्धों में लगाना अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ भी जब तक कोई प्रभावपूर्ण सुझाव सामने नहीं हो तब तक भूदान कम-से-कम ग्रामीण समाज के अत्यन्त शोचनीय वर्ग की आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न करेगा।[1]

§३ भूदान का आलोचनात्मक मूल्यांकन—प्रो० डी० आर० गाडगिल ने एक विद्वत्तापूर्ण अध्यक्षीय भाषण में, जो उन्होंने भारतीय कृषि अर्थशास्त्र समिति के समक्ष दिया था, भूदान की दो आलोचनाओं पर विचार किया है। एक आलोचना यह है कि इस आर्थिक विकास में नवीन उत्पादन-पद्धतियाँ को अपनाया जायगा, जिसमें बृहत्तर पैमाने का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा। दूसरे, भूदान आन्दोलन में समस्त भूतल के विचारशील अभिन्यास और उपयोग की एक सर्वांगीण योजना विकसित करने का प्रयास नहीं है। इसके अतिरिक्त यह ऐसी विकास की योजनाओं के पथ में बाधा उपस्थित करता है। फिर भी प्रो० गाडगिल स्वयं कहते हैं, "भूदान के समर्थक इसके उत्तर में यह कहेंगे कि जब उपर्युक्त प्रकार के आधारभूत सुधार किए जायेंगे तो भूदान भी अपनी दिशा और कार्यक्रम बदल देगा और मार्ग में रोड़ा अटकाने के स्थान पर सहयोग देगा।"

प्रो० गाडगिल के मत के विरुद्ध एक गम्भीर आलोचना यह है कि अनेक भूमिहीन व्यक्तियों के छोटे-छोटे स्वामी बन जाने पर भूमि के स्वामित्व की भावना और अधिक बलवती हो जायगी। जिन लोगों ने भूमिदान में भूमि दी है वे अपने को बड़ा पवित्र समझने लगे हैं और अपने त्याग के बल पर भविष्य में स्वामित्व पर आने वाली सुधार की योजना की गति अवरुद्ध करेंगे। इसमें सन्देह किया जा सकता है कि क्या इतनी बात से ही कि किसी व्यक्ति ने थोड़ी-सी भूमि दान में दी है वह भूमि के व्यापक सुधारों का विरोध करने लगेगा? चाहे जो कुछ भी हो वह हर परिस्थिति में अपने अधिकारों की रक्षा अवश्य करेगा। फिर भी यह ध्यान में रखना होगा कि महान् संख्या में लघु स्वामित्व वाले इन व्यक्तियों (पुनर्वासित भूमिहीन श्रमिक) को भूमि के सामाजीकरण की किसी भी बृहत्तर एवं सामूहीकरण की योजना में बुलाया नहीं जा सकता।[2] पर प्रायः सभी राज्य-सरकारें 'जमीन जोतने वाले की है' नामक कानून बनाते समय इसी प्रकार की कठिनाई और भी बृहत् रूप में उपस्थित कर रही हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भूदान के विपक्ष में तर्क बहुत बढ़ाकर दिये जाते हैं। मई १९५५ तक दान प्राप्त भूमि ३७५८,६९७ एकड़ थी, जिसके अनुसार विनोबा सरकार के सबसे अधिक धनी भूमिपति हो जाते हैं। यद्यपि उनके पाँच करोड़ एकड़ भूमि के लक्ष्य से यह कहीं कम है फिर भी एक दुर्धर व्यक्ति का अकेला प्रयास

१ भूदान की उपर्युक्त विवेचना प्रो० गाडगिल के १५वें सम्मेलन (भारतीय कृषि अर्थशास्त्र समिति) पर दिए गए भाषण का संक्षिप्त मात्र है।

२ इस दृष्टि से, जो दूर जाने के लिए (क) [illegible] का पूरा [illegible] राज्य का [illegible] मात्र [illegible] या (ख) स्वामित्व को इस शर्त पर दिया जाय कि सरकार द्वारा संचालित किसी भी [illegible] योजना में इसे देना होगा तथा (ग) [illegible] किसी प्रकार की [illegible] कार्यवाई न की जाय।

से दिये दान तथा इसके लिए प्रयुक्त ढगो की मौलिकता और नयेपन को देखते हुए यह प्राप्ति भी बडी आश्चयजनक है। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि हर भूमिहीन व्यक्ति को भूमि प्रदान करने वाला लक्ष्य अभी काफी दूर है। आन्दोलन के प्रवतका के पास भूमि के पुनगठन तथा ग्रामीण समृद्धि की कोई योजना नही है, उल्टे विनोबा का गाँवों को आत्मनिभर बनाने का विचार प्रतिगामी है।

इसके नेताओ का कहना है कि मनुष्य की श्रेष्ठ वृत्तियो को जागृत करके और इस बात का आग्रह करके कि सभी सुविधाएँ एव अधिकार व्यक्ति के न होकर समुदाय के हैं, अतएव उनका समुदाय की सेवा म ही उपयोग होना चाहिए आन्दोलन एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करने मे सफल हुआ, जिससे जनता किसी भी क्रातिकारी सुधार का स्वागत करेगी। इस नैतिक प्रवृत्ति का सम्पूण राष्ट्र पर गम्भीर एव शुद्धिकर प्रभाव पडेगा। इन सब सूक्ष्म और अगोचर परिणामो पर सबकी भिन्न राय हो सकती है किन्तु प्रस्तावित भूमि-सुधारा को ध्यान मे रखकर कहा जा सकता है कि उनमे भूदान से न तो विशेष बाधा पहुँचेगी और न विशेष सुविधाएँ ही मिलेंगी।

§४ भू विधान तथा उच्चतर उत्पादकता—विभिन्न राज्यो का हाल का भूमि-सुधार विधान सिद्धान्त मे तो एक सा है परन्तु विस्तार में अतर है। स्पष्टत अनेक प्रकार की भूमि-व्यवस्थाओ को एक व्यवस्था के अन्तगत लाना सम्भव नही है। हर व्यवस्था अपनी ऐतिहासिक परम्पराओ व आर्थिक एव सामाजिक आवश्यकताओ के साथ विकसित हुई है। प्रत्येक राज्य में सुधार की गति तथा रूपरेखा उपलब्ध साधनो तथा सुधार लागू करने के यन्त्र पर निभर करेगी। फिर भी सुधारा में निहित कुछ सामान्य सिद्धात बताए जा सकते हैं। एक तो है प्रबन्ध और कृषि काय का स्वामित्व से अभिज्ञान, और दूसरा है राज्य एव कृषक को छोडकर शेष भूमिगत हितो का विलयन। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निम्न उपाय काम में लाए जा रहे हैं—

(१) भविष्य मे भूमि को कुछ हाथा में केन्द्रित होने स बचाने के लिए भूमि-प्राप्ति की सीमाएँ निर्धारित की जा रही हैं।

(२) किसानों के कुछ विशेष वर्गों को ऐसे अधिकार दिने जा रह हैं जिससे वे भूमि के पूण या अद्ध-स्वामी हो जायेंगे।

(३) भूमि को दूसरो को लगान पर देने पर प्रतिबन्ध लगाए जा रहे हैं (प्रथम और तृतीय के सम्मिलित प्रभाव से कालान्तर मे क्रमश भूमि के स्वय उपयोग करने वाला या वग बन जायगा और काश्तकार नहीं होंगे)।

(४) उचित लगान निर्धारण बेदखली बन्द करना, शोषण बन्द करने के लिए सम्पत्ति और काश्तकार का हस्तान्तरण बन्द करना। (५) एक खास हद से परे अपखण्डन का निषध।[१]

इन उपायो से दशा और खराब होने न पाएगी। इनसे कृषि-उत्पादन मे कोई वृद्धि न होगी। इसके लिए कृषि को इकाई के अनुकूलतम आकार का बनाना होगा और प्रगतिशील पद्धतियों को लागू करना होगा। अब तक वास्तविक प्रगति प्राय

१ देखिए, कृषि विधान, खण्ड ४, भूमिका।

नगण्य है।[1]

§५ *ग्राम-पंचायतों का पुनर्संगठन*—भूमि प्रबन्ध और सुधार के सम्बन्ध में ग्राम-पंचायतों का विशेष स्थान है। जुलाई १९५४ में एक सम्मिलित समिति बनाई गई जिसमें प्रत्येक राज्य के स्थानीय शासन के मन्त्री थे। इसने ग्राम-पंचायतों के पुनर्संगठन पर इस दृष्टि से रिपोर्ट प्रस्तुत की ताकि वे सामान्यतः नियोजन-यन्त्र तथा विशेषकर पुनर्निर्माण की एजन्सी के रूप में काम कर सकें। इसके कुछ सुझाव निम्नांकित हैं—

(१) पंचायत को *भू-राजस्व वसूल करने की एजेंसी होना चाहिए*। भू-राजस्व का कुछ प्रतिशत पंचायत को मिलेगा जिससे उसकी आय बढ़ेगी। इसकी परीक्षा कुछ चुनी पंचायतों में की जाय।

(२) पंचायत को भूमिहीन अभिलेख रखने का काम दिया जाय। पटवारी को चाहिए कि वह सम्बन्धित दलों के अतिरिक्त पंचायतों को स्वामित्व-परिवर्तन की सूचना दे।

(३) सरकारी भूमियाँ, बंजर, चरागाह, मछलीगाह, आबादी वाले क्षेत्र और वनों का प्रबन्ध पंचायतों को सौंपा जाय जो कि उनके विकास के लिए उत्तरदायी समझे जायँ। वे उन्हें कृषि या अन्य काम के लिए पट्टे पर भी दे सकती हैं।

(४) खेती के लिए भूमि के उठान का काम पंचायतों द्वारा होना चाहिए।[2]

(५) पंचायतों को बहूद्देशीय सहकारी समितियों का विकास भी सौंपा जाय। उनको कुछ अन्य काम भी सौंपे जा सकते हैं जैसे सुधरे बीजों का विक्रय आदि। उनको गाँवों तक सरकारी सहायता पहुँचाने का माध्यम बनाना चाहिए।

(६) समिति २५ काम गिनाती है जो पंचायतों को कल्याण एवं नगरपालिका के काय-रूप में सौंपे जा सकते हैं। इनमें जन्म, मरण व विवाह का पंजीकरण, औषधि सहायता, समस्त क्षेत्र की सामान्य स्वच्छता पानी पीने के कुओं का निर्माण और मरम्मत आदि हैं। कृषि एवं सहकारी समितियों के विकास, सामूहिक अन्न भण्डारों की स्थापना तथा कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन देने का काम भी उन्हें सौंपा जा सकता है।

(७) समिति इस बात पर जोर देती है कि ग्रामीण क्षेत्रों में सुरक्षित जल-पूर्ति की अत्यन्त आवश्यकता है और केन्द्रीय सरकार को इस विषय में राज्य सरकारों के द्वारा पंचायतों की आर्थिक सहायता करनी चाहिए।

(८) समिति ने निम्नलिखित कर या कर-भाग आय का पंचायतों को देने का सुझाव रखा है—लगान एवं भू-राजस्व पर श्रेणी कर (ग्रेड टैक्स ऑन सब्ट रेवेन्यू एण्ड

---

१ सन् १९५९ में भूमि सुधार पर एक केन्द्रीय समिति नियुक्त की गई। इसमें योजना-आयोग के सभापति एवं सदस्य तथा खाद्य एवं गृह मन्त्री थे। इसका उद्देश्य योजना-आयोग के भूमि-सुधार कार्य का प्रांतीय सरकारों के भूमि-सुधार प्रस्तावों की परीक्षा में सहायता देनी है।

२ योजना-आयोग की सिफारिश है कि लघु एवं मध्यम प्रकार के भूमिपतियों को भूमि का उठाने का काम पंचायतों द्वारा हो। इस प्रकार के वैधिक [illegible] को [illegible] के निर्धारण में सहायक होगी (विशेषकर भूमिहीन किसानों के लिए)। इससे भूमि का [illegible] गाँवों में [illegible]। इससे गाँवों में गैर-कृषि उद्योगों का भी विकास होगा।

रेंट), पेशा और व्यापार पर कर, सम्पत्ति कर, मलवहन कर, मेलो और बाजारो में सामान के विक्रय का अनुज्ञप्ति शुल्क, किराये पर चलाई जाने वाली गाडियो एव जानवरो पर अनुज्ञप्ति शुल्क, पूरी फसल बेचने एव तालाबो म मछली मारने पर शुल्क, सावजनिक मेलो के प्रबध से हाने वाली आय, भू राजस्व वसूलने पर कमीशन, अदालती पचायतो द्वारा किये गए जुर्माने और शुल्क से आय, जनहित के लिए की गई अनिवाय सेवाओ स प्राप्त धन, भूमि-दान, सम्पत्ति-दान एव श्रम-दान, जिनसे सामाजिक उपयोगिता के काय हो।

अपने अधिकारो के चिरकालीन अनुपयोग के परिणामस्वरूप पचायतो की जन-सेवा की पुरानी परम्परा नष्टप्राय हो गई है। यह १९वी सदी के आर्थिक सक्रमण का परिणाम है। उनको इस प्रकार के बडे-बडे अधिकार दे देने का परिणाम भयकर होगा। उनका पुनर्स्थापन का काय सतकतापूवक धीरे धीरे चलना चाहिए। कुछ उन्नतिशील पचायतो के साथ प्रयत्न करना अच्छा होगा। इन पचायता के परिणामो एव अनुभवो के आधार पर इस प्रयोग का प्रचार अन्य पचायता मे करना उचित होगा।

§६ हाल की प्रगति[1]—विभिन्न राज्यो द्वारा भूमि-सुधार के लिए उठाये गए कदमो के अतिरिक्त, जाकि योजना आयोग की सिफारिशो के आधार हैं, स्वतत्रता प्राप्ति के उपरान्त कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण विकास हुए ह जिन्हान भू राजस्व समस्या को प्रभावित किया है। इनम से एक देशी राजाओ की रियासतो का भारत सघ में एकीकरण है। उनकी भू राजस्व-व्यवस्था में बडी विविधता थी। बहुतो मे तो प्रचलित रीति रिवाजो के आधार पर भू राजस्व निर्धारित होता था। नियमित सर्वेक्षण एवं वन्दोवस्त सम्बधी काय प्रशासकीय अधिकारियो के विवेकानुसार ही किये जाते थे। साथ ही निर्धारण की दर और मानदण्ड म भी बडी विषमता थी। विशाल क्षेत्र तो बिना सर्वेक्षण के ही पडे थे। काश्तकार अधिकाशत अरक्षित थे। यह तो सम्भव नहीं था कि इन देशी रियासतों की भू राजस्व-व्यवस्था तुरन्त प्रान्तो के स्तर पर पहुँचा दी जाती, जो दीघकाल के क्रमिक विकास का परिणाम थी, फिर भी एक प्रकार की एकरूपता लाने और निर्धारण के व्यवस्थित नियमन के लिए कुछ प्रयत्न करना ही था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कितने ही अन्तर्कालीन उपाय अपनाये गए जा परिस्थितिया के अनुसार भिन्न-भिन्न थे। स्थायी वन्दोवस्त के क्षेत्रा को छोडकर नियतकालिक वन्दोवस्त सवत्र किये जाते रहे हैं। कितनी दशाओ मे परिस्थितियो की असाधारणता के कारण ७० वष के बाद भी पुन वन्दोवस्त नही किया जा सका है। १९३०-४० के मदी काल में मूल्या में भारी कमी हुई। इसके अनन्तर युद्ध एव युद्धोत्तर-काल में मूल्या म भयकर वृद्धि हुई। साथ ही प्रशासकीय कार्यो म बडी वृद्धि हुई और वन्दोवस्त के लिए पूर्ण प्रशिक्षित अधिकारी प्राप्त न हो सके। अतएव विभिन्न सरकारो ने निर्धारण में सशोधन करने के लिए विभिन्न प्रकार की अन्तर्कालीन व्यवस्थाएँ की। उदाहरण के लिए अविभाजित पजाब म विसृप अनुमाप व्यवस्था (स्लाइडिंग स्केल

1 कर जाच आयोग रिपोर्ट, खण्ड ३, पृष्ठ १-६ २३६।

सिस्टम) लागू किया। कुछ राज्यों में भू राजस्व पर अधिभार लागू किये गए। ये उपाय निश्चय ही अस्थायी थे और कालान्तर में परिस्थितियों के स्थिर हो जाने पर उपयुक्त परिवर्तनों के साथ बन्दोबस्त की कार्यवाही करना आवश्यक था। बन्दोबस्त के ढंगों में परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होने का कारण यह है कि उसकी कुछ वर्तमान मान्यताएँ वर्तमान परिस्थितियों में सही नहीं हैं। ये मान्यताएँ निम्न हैं—

(१) विभिन्न क्षेत्रों का बन्दोबस्त विभिन्न समय में करने से कोई व्यतिक्रम नहीं होगा।

(२) स्थानीय मूल्यों का स्तर और परिवर्तन बाहर के मूल्यों से प्रभावित नहीं होते, अतः उनको पूरी तरह से ध्यान में रखा जाय।

(३) ३० वर्ष के दीर्घकालीन बन्दोबस्त में मूल्य-स्तर में कोई अधिक घटती-बढ़ती न होगी।

किन्तु वस्तुतः कृषि के क्रमिक मुद्रीकरण (मोनेटीजेशन) एवं वाणिज्यीकरण से स्थानीय मूल्य अखिल भारतीय एवं विश्व मूल्यों से सम्बन्धित हो गए हैं जिनमें प्रथम विश्व-युद्ध के बाद में अत्यधिक घटती-बढ़ती होती रही है (केवल १९३०-७ को छोड़कर जब मूल्य घट रहे थे)। ये मूल्य परिवर्तन इस बात को गलत सिद्ध करते हैं कि विभिन्न समय पर बन्दोबस्त करने में कोई विशेष व्यतिक्रम न होगा। प्राय निर्धारण का वास्तविक भार एक-सी भूमि के लिए केवल इसलिए भिन्न हो सकता है क्योंकि निर्धारण भिन्न समय में हुआ है। अतः न्याय और समता की दृष्टि से कुछ समायोजन तुरन्त ही आवश्यक हैं। अब मूल्य सम्बन्धी आँकड़ों की प्राप्ति हेतु छोटी-छोटी भौगोलिक इकाइयों तक पहुँचना आवश्यक नहीं, मूल्यों की सामान्य गतिविधि को ध्यान में रखना पर्याप्त होगा।

अध्याय १०

ग्रामीण ऋणिता

§१ ऋण का विस्तार—समय-समय पर भारतीय ऋण के सम्बन्ध में किये गए अनुमानित आँकडो की सूची निम्न हैं[1]—

वर्ष	ऋण (करोड रुपयों में)	लेखक
१९११	३००	सर एडवर्ड मैक्लागन
१९२४	६००	सर माल्कम डार्लिंग
१९३०	९००	जे० सा० वा० इ० समिति
१९३५	१,२००	डॉ० राधाकमल मुकर्जी
१९३८	१,८००[2]	इ० वी० एम० मैनियम

इस प्रश्न का कि विगत वर्षो में मूल्यो की वृद्धि के कारण ग्रामीण ऋण का भार कम हो गया है, कई प्रकार से उत्तर दिया गया है।[3] एक दृष्टिकोण यह है कि उच्च मूल्यों से होने वाला लाभ प्राय बडे जमीदारो के हाथ गया जिनके पास बेचने के लिए पर्याप्त अतिरेक था। भूमि के छोटे-छोटे स्वामियो के पास बेचने के लिए बचता ही बहुत कम था। इससे उन्हें होने वाला लाभ भी नगण्य रहा। फिर भी यह बात माननी ही पडेगी कि कीमतो के स्तर के उतार से यदि किसान को हानि होती है तो उस तर्क से यह भी मानना पडेगा कि कीमतो मे वृद्धि होने से उसे लाभ होगा। रिजर्व बैंक द्वारा (१९३९-४६ में) सहकारी आन्दोलन की प्रगति के सर्वेक्षण मे यह कहा गया है कि ऋणी कृषक कीमतो के बढ जाने से सहकारी समितियो का ऋण चुकता करने मे सफल हुए। कुछ प्रान्तो मे तो नियत समय से पहले ही ऋण चुकता कर दिया गया। जहाँ किसान अपना खेत जोतने के साथ-साथ मजदूरी भी करता है, वहाँ

१ नानावती और अञ्जारिया, 'दि इण्डियन रूरल प्रॉब्लेम', चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ५३।

२ यदि हम १,८०० करोड रुपयों की सर्वोच्च संख्या को कुल ग्रामीण जनसंख्या से विभाजित करें (२५ करोड) तो प्रति व्यक्ति ७२ रुपया या पाँच व्यक्तियों के परिवार के लिए ३६० रुपया होगा। ऊपर से देखने पर यह कोई डरावनी संख्या नहीं प्रतीत होती। लेकिन भारतीय कृषक की अल्प आय को ध्यान में रखने पर इसकी भयंकरता स्पष्ट हो जाती है। यह बात भी ध्यान में रखना होगी कि इस ऋण का अधिकांश अनुत्पादक कार्यों में लगा है, जो हमें सतर्क करने के लिए काफी है। अन्त में हमें याद रखना होगा कि वास्तविक ऋण, जो कि रैयत की साख को स्पष्ट करता है बहुत कम ही रहा है। वह जितना ले सकता है उतना ऋण लेता है न कि जितना वह चाहता है।

३ टॉमस और सिंह, 'इण्डियन इकनामिक्स' पृष्ठ १५५।

मजदूरी की वृद्धि से उसे अवश्य लाभ हुआ है। चूँकि मजदूरी मूल्यों से पिछड़ी रहती है इसलिए यह सन्दिग्ध है कि नकद मजदूरी की वृद्धि से वास्तविक मजदूरी में भी वृद्धि हुई है।

§२ साख और कृषि उद्योग—कृषि में नियोजित उत्पादन के सम्बन्ध में निम्न कठिनाइयाँ हैं—

(१) ग्रामीण क्षेत्रों में कोई संगठित वित्त-व्यवस्था (फाइनेंस सिस्टम) नहीं है। कृषि ऋण सामान्यतः सस्थागत नहीं है बल्कि बड़ा ही असंगठित है। निम्नत दोष-पूर्ण वित्त-व्यवस्था का सदैव से शिकार रहा है और यह कृषि विकास में गम्भीर कठिनाई उपस्थित करती है।

(२) कृषि में उद्योगों के समान पूँजी का कुशल उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य संचालन की इकाइयाँ छोटी होती हैं और मौसम अनिश्चित होता है।

(३) अधिकतर कृषि की उपज शीघ्र नष्ट होने वाली होती है, इसलिए मूल्यों के चढ़ने तक प्रतीक्षा नहीं की जा सकती।

(४) किसान को अपने श्रम का फल पाने के लिए काफी प्रतीक्षा करना पड़ती है।

(५) उसे यदि यह ज्ञात हो भी जाय कि उसने जो फसल बोई है उसकी कीमत बहुत घट गई है तो भी वह उसे छोड़कर अन्य फसल तुरन्त नहीं बो सकता।

(६) अन्त में अपनी उत्पत्ति के बाजार-मूल्य के लिए वह बाहरी शक्तियों पर निर्भर रहता है, जिन्हें वह समझ भी नहीं सकता, उन पर नियन्त्रण पाना तो दूर की बात है।[1]

§३ ऋणिता के कारण—जो ऋण इसलिए लिया जाता है क्योंकि ऋण कृषि के लिए आवश्यक है वह ऋण शोचनीय नहीं है। परन्तु जो ऋण किसान के दुर्भाग्य या अदूरदर्शिता के कारण उत्पन्न होते हैं वे अवश्य दोषपूर्ण हैं, क्योंकि इनसे उसकी उत्पादकता बढ़ने के बजाय घटती है। भारतीय कृषि ऋणिता की खराब बात यह है कि यह विशेषकर दूसरे प्रकार की अर्थात् अनुत्पादक है।

ऋणिता का वास्तविक कारण भारतीय किसान की दरिद्रता है जिसके पास इतना भी रक्षित कोष नहीं रहता जिससे वह अपने ऊपर आ पड़ने वाली छोटी छोटी या अदृष्ट आवश्यकताओं का सामना ऋण लिये बिना कर सके। उसकी इस प्रकार की दयनीय आर्थिक दशा के कारण निम्न हैं—

(१) भूमि पर जनसंख्या का बढ़ता भार।

(२) भूमि का अत्यविभाजन और अपखण्डन।

(३) सहायक धन्धों का अभाव जिससे मौसमी बेकारी या शक्तिहीनता की दशा उपस्थित रहती है।

(४) कृषि का मानसून जैसी अविश्वसनीय वस्तु पर निर्भर होना जिससे कारण यह व्यापार न होकर जुआ हो जाती है।

[1] [illegible], पृष्ठ १४७।

(५) मनुष्यो एव पशुओ की बीमारी का भय, जिनके कारण कृषि-आय मे बाधा पड सकती है। परिणामत किसान को विनाशकारी व्याज दर पर ऋण लेना पडता है।

अब हम पतृक ऋण, अदूरदर्शी व्यय साहूकार और सूदखोरी जैसे दीपकान्तगत प्रमुख आसन्न कारणो पर विचार करें।

§४ पतृक ऋण—किसान के ऋण का अधिकाश उसे वसीयत में मिलता है। वह मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारी के रूप मे, उत्तराधिकार मे प्राप्त सम्पत्ति के मूल्य तक उसका ऋण चुकाने के लिए कानूनन उत्तरदायी है। अशत तो उपयुक्त स्थिति के अज्ञान और अशत इस विचारधारा के कारण कि पतृक ऋण इज्जत का ऋण है, किसान ऋण भार को स्वीकार कर लेता है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए प्रयास करना आवश्यक है और रयत के मन मे यह बात बिठानी चाहिए कि कर्तव्य और मर्यादा के भार को इस मूर्खता की सीमा तक न ढोये कि उसे आत्महत्या करनी पडे। इस सम्बन्ध में ग्रामीण जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक दिवालियापन कानून बनाना चाहिए। वास्तव मे कोई भी नही चाहता कि हर ग्रामीण ऋणी को दिवालिया घोषित कर दिया जाय। पर साथ ही यह भी कोई नही चाहेगा कि एक ऐसी प्रथा जारी रहे जिसमे अधिकाश व्यक्ति ऋण में ही पदा हो, जीवित रह और ऋण में ही मरकर उसे पीछे आने वालो पर छोडते जायें।[1]

§५ अदूरदर्शी व्यय—यद्यपि साधारणतया भारतीय किसान सीधा सादा और मितव्ययी जीवन बिताता है, फिर भी शादी, मृत्यु-कर्म आदि विशेष अवसरो पर वह अपने साधनो से अधिक खर्च करता है। १८७५ के दक्षिणी उपद्रव आयोग (डक्कन रायट कमीशन) ने इस प्रकार के व्यय को ऋण का प्रमुख कारण नही माना है। उन्होंने यह मानते हुए भी कि उपयुक्त व्यय किसान के साधनो की तुलना में कही अधिक और अपव्ययी होते हैं, यह कहा कि ऐसे अवसर इतने कम होते हैं कि इस प्रकार के व्यय को हम किसान की ऋणिता का केन्द्र बिन्दु नही मान सकते। उन्होंने खाद्य तथा अन्य आवश्यकताओ, जसे बीज और बैल तथा सरकारी मालगुजारी अदा करने के लिए बार-बार ऋण लेने के लिए बाध्य करने वाले छोटे-छोटे मदो को कही अधिक महत्त्व दिया है। लेकिन इस मत से अधिक लोग सहमत नहीं हैं।[2] यह सभी लोग जानते हैं कि इन विशेष अवसरो पर बडी मात्रा म ऋण लिया जाता है जिससे मुक्ति पाना ऋणी के लिए प्राय असम्भव हो जाता है। यही कारण है कि सहकारी समितियाँ तथा अन्य समाज कल्याण की सस्थाएँ इस प्रकार के व्यय के विरुद्ध प्रचार करना आवश्यक समझती हैं।

---

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३६७। कृषि ऋण अधिनियम १९३५ (बंगाल) में दिवालियापन के लिए व्यवस्था है।

२ पारिवारिक कार्यों के हेतु लिये गए दीर्घकालीन ऋणों के अतिरिक्त विवाह आदि जैसे अवसर सभी क्षेत्रों में प्रमुख हैं, जिन पर केवल रूढि परपरा के पालन के लिए प्राय उचित अनुपात से कहीं अधिक व्यय किया जाता है। 'आल इंडिया रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट', पृष्ठ १८६।

§६ साहूकार और सूदखोरी—भारतीय गाँवों की एक विशेषता साहूकारी का काम भी रहा है। प्राचीन काल में, जब कि ग्रामीण समुदाय एक घनिष्ठ इकाई था, ग्रामीण साहूकार की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसे भी अपने समूहगत कार्यों और उत्तरदायित्वों का पूर्ण परिज्ञान था। उसे अपना कार्य सहायता करना न कि शोषण करना प्रतीत होता था। पंचायतें गाँवों का प्रबन्ध करते समय इस बात पर भी ध्यान रखती थीं कि ऋण इस तरह तय हो कि वह ऋणदाता और ऋणी दोनों के लिए ही उचित हो, लेकिन अब साहूकार किसान के अज्ञान एवं आवश्यकता से अधिकाधिक लाभ उठाना चाहता है। उसकी परिस्थिति अधिक सुदृढ़ इसलिए है कि अनेक दुर्गुणों के बावजूद उसकी ऋण देने की पद्धति बड़ी ही लचीली है। उसे ऋणी के चाल-चलन, स्वभाव और आर्थिक स्थिति का भी पूर्ण परिज्ञान होता है। इस कारण वह सरकारी विभागों और सहकारी समितियों से कहीं अधिक कुशलतापूर्वक और बिना कठिनाई के ऋणी की साख निर्धारित कर लेता है। साथ ही उसकी अधिकांश पेशगी बिना किसी जमानत की होती है। वह अपना ऋण बिना कचहरी और कानून का सहारा लिए ही ऋणी पर सामाजिक और आर्थिक दबाव डालकर तथा समुदाय में अपनी स्थिति और प्रभाव के बल पर वसूल कर लेता है। अन्त में, वह तुरन्त ही तथा हर काम के लिए किसी प्रकार की औपचारिक कानूनी कार्यवाही के बिना ही रुपया देता है।

साधारण भारतीय कृषक का जीवन-यापन येनकेनप्रकारेण होता है। अतः ऋण देने के जोखिम को पूरा करने के लिए ग्रामीण साहूकार अपेक्षाकृत अधिक ऊँची दर पर ऋण देता है तो उसका यह काम निस्सन्देह औचित्यपूर्ण है परन्तु उसकी ब्याज-दर जोखिम पूरा करने से कहीं अधिक ऊँची होती है। वह बहुधा किसानों की निरक्षरता, अज्ञान और आवश्यकताओं से अनुचित लाभ उठाता है और अनेक बुरी प्रथाओं का भी उपयोग करता है जिनका विवरण केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने इस प्रकार दिया है—

(१) अग्रिम ब्याज की माँग।

(२) ऋण देते समय गिरह खुलाई माँगना।

(३) कोरे कागज पर ऋण लेने वाले के अँगूठे का निशान लेना और यदि ऋणी ब्याज समय पर न चुकाए तो मनमाना रुपया लिखकर ऋणी को तंग करना।

(४) ऋणी के अहित में हिसाब लिखना।

(५) वास्तविक ऋण दी गई धनराशि में कुछ बढ़ाकर उसे बयान करना।

(६) ऋणी से दखोखनामा आदि लिखाकर अपने ऋण को सुरक्षित रखना।[1]

§७ भू-राजस्व नीति एवं ऋणिता—इस पर भी विवाद हुआ करता था कि क्या सरकार की भू-राजस्व की नीति ग्रामीण ऋणिता के लिए उत्तरदायी ठहराई जा सकती है? इस सम्बन्ध में १८८० में दुर्भिक्ष आयोग का मत था कि अनेक जमींदार

१ देखने इस बात में चरितार्थ होते हैं कि विक्रेता यदि अपना ऋण समझौते की शर्तों के अनुसार चुका दे तो उसकी सम्पत्ति उसे वापस कर दी जाती है। देखिए, '[illegible]', पृष्ठ १७४–७६।

जिन्हें नाम मात्र की मालगुजारी देनी पड़ती थी, वे भी परेशान दीख पड़ते थे। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि भू राजस्व ऋणिता का प्रमुख कारण नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अपनी सब आय खर्च कर देता है और कर तथा भू राजस्व देने के लिए रुपये उधार लेता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी ऋणिता करों या भू राजस्व के कारण है,[1] जब कि ये कर उसकी आय का नगण्य भाग होते हैं जैसा कि भू-राजस्व भूमि की कुल उत्पत्ति का नगण्य भाग होता है। दुर्भिक्षायोग का यह कथन कि भू राजस्व भूमिगत आय का अल्पांश है उस समय स्वीकार नहीं किया गया, परन्तु अब यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय भू राजस्व अत्यन्त अधिक है। दुर्भिक्षायोग का यह तर्क ठीक था कि रयत द्वारा भू राजस्व चुकाने के लिए कभी-कभी ऋण लेने मात्र से ही हम इसे भारतीय ऋणिता का कारण नहीं मान सकते। यह सोचना निरर्थक है कि हर बात, जिसके लिए ऋण लिया जाता है, भारतीय कृषक की ऋणिता का कारण है। यह सर्वस्वीकृत है कि वर्तमान परिस्थितियों में न तो भू-राजस्व का उन्मूलन सम्भव है और न उसमें पर्याप्त कमी ही की जा सकती है। कर सिद्धान्तों की दृष्टि से वर्तमान भू राजस्व-व्यवस्था में दोष दिखाए जा सकते हैं, जैसे अनार्थिक जोतों पर भी भू राजस्व लिया जाना। इसके लिए सुझाव यह है कि भू राजस्व को भी आय-कर में सम्मिलित कर लिया जाय[2] और अनार्थिक जोतों को समाप्त कर दिया जाय। पर भू राजस्व को ऋणिता का प्रधान कारण मानना न तो विश्लेषणात्मक दृष्टि से ही उचित है और न व्यवहारतः लाभदायक ही है।

§८ दूर करने के उपाय—कृषि-कर के मार्ग में आने वाली उन कठिनाइयों का हम विस्तृत विवेचन तथा उनके हल की ओर संकेत कर चुके हैं जो उसके दुःख का कारण हैं, परन्तु समस्याओं के ये हल यद्यपि उसकी जड़ तक पहुँचते हैं, फिर भी दीर्घ कालीन हैं। ग्रामीण ऋणिता की समस्या का तुरन्त हल होना आवश्यक है। अतएव उसके लिए कुछ तात्कालिक उपचार करना होगा। भारतीय कृषि ऋणिता पर अपने नोट में सर एडवर्ड मक्लागन ने सरकार द्वारा किये जाने वाले उपायों का विभाजन निम्न प्रकार से किया है—

(१) अनावश्यक ऋण लेने से बचाने के उपाय;

(२) कृषि ऋण के सम्बन्ध में दीवानी कानूनों में संशोधन तथा ऋण देने का नियमन,

(३) भूमि के हस्तान्तरण को रोकने के उपाय, और

(४) ऋण देने या बनाए रखने या ऋणिता घटाने के उपाय।

इनमें से प्रथम में विवाह मृत्यु-कर्म आदि के सम्बन्ध में लिये गए भारी ऋण आते हैं जिनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। अतएव शेष तीन पर हमें विचार करना है।

---

१ फेमाइन कमीशन रिपोर्ट (१८८०), पृष्ठ १३२।

२ अन्तिम लक्ष्य यह होना चाहिए कि कृषि और अकृषि सब आय को एक में मिलाकर उन पर आयकर लगाया जाय और होने वाली आय को केन्द्र और राज्य सरकारों में दोनों प्रकार की आयों के अनुपात में विभाजित कर दिया जाय। (टैक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, खंड ३, पृष्ठ २२१)

§६ दीवानी कानून में सुधार—१८७९ के दक्षिण कृषक सहायता अधिनियम के अनुसार ऋण चुकाना न करने के अपराध में कारावास दण्ड का समाप्त कर दिया गया। न्यायालयों को यह अधिकार मिला कि वे समझौते की शर्तों को कृषक के पक्ष में परिवर्तित कर सकते हैं। इसमें ब्याज दर को कम करने, भूमि विक्रय को रोकने, अनाम होने के बावजूद भी कृषक की सम्पत्ति को वापस कराने आदि का अधिकार न्यायालयों को मिला। साहूकारों से बहीखाता और अनुमान रसीदें माँगी जाने लगीं। समय की अवधि बढ़ाकर ३ वर्ष से ६ वर्ष और यदि मुकदमा रजिस्टी किये हुए दस्तावेज पर हो तो १२ साल कर दी गई। यह अनुभव किया गया कि अधिनियम से जिन परिणामों की आशा की गई थी, वे पूरे नहीं हुए। कुछ दशाओं में तो हानि भी होने लगी। इससे मुकदमेबाजी बढ़ी। साहूकार किसानों के साथ अपने व्यवहार में बहुत ही सावधान हो गए और किसानों को ऋण मिलना कठिन होने लगा। किसान शब्द की परिभाषा इतनी व्यापक हो गई कि बेईमान व्यक्ति इस अधिनियम की आड़ में छूट का फायदा उठाने लगे और ऋण चुकाने से बचने लगे। १९४१ के बम्बई ऋणी सहायता अधिनियम (संशोधन) ने एक ऋण समायोजन परिषद् की स्थापना कर १८७९ का दक्षिण कृषक सहायता अधिनियम[1] रद्द कर दिया। बम्बई में १९४७ के ऋण सहायता अधिनियम के अनुसार उन किसानों को न्यायालयों द्वारा दिवालिया घोषित किया जा सकता है, यदि उनकी सम्पत्ति १२ किश्तों में ऋण चुकाने के लिए कम पड़ती हो।

१८९९ में पास किये गए एक कानून के अनुसार संविदा अधिनियम में कुछ परिवर्तन किये गए जिसके अनुसार साहूकार के ऊपर यह साबित करने की जिम्मेदारी डाली गई कि वह अनुचित प्रभाव नहीं पड़ने देता।

१९१८ के सूदखोर ऋण अधिनियम (जोकि कृषक और गैर-कृषक सब पर लागू था) से न्यायालयों को यह अधिकार मिला कि वे ब्याज दर कम कर दें और अधिकतम ब्याज दर निर्धारित कर दें। प्राचीन मामलों की ब्याज की औचित्यता की परीक्षा करने के लिए वे उसे फिर से देख सकते थे। १९२६ में अधिनियम में एक संशोधन किया गया, जिसके अनुसार बन्धक के दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष यदि मुक्ति चाहे तो उनके मामले इसके अन्तर्गत आ सकते हैं। ऋण जहाँ अर्जित हो, ऋणी उसे पुनर्नवीन करने से इन्कार कर सकता है, ऋण देने वाले को न्यायालय का शरण लेने पर बाध्य कर सकता है और इस प्रकार यह अधिनियम के क्षेत्र के अन्तर्गत आ सकता है। यह अधिनियम भी असफल सिद्ध हुआ क्योंकि साहूकार से सम्बद्ध हुए मुन्सिफ इसे उपयोग में लाने के लिए बाध्य नहीं थे, निश्चित ब्याज-दर का अभाव था तथा ऋणी कानून के सम्बन्ध में अज्ञानी थे। यद्यपि अभिप्राय अनुचित था। फिर भी उसकी पवित्रता में अधिक विश्वास के कारण भी इसमें सफलता न मिल सकी।[2]

१९३३-३६ के बीच कितने ही प्रान्तों ने सूदखोर ऋण अधिनियम में संशोधन किये और न्यायालयों को बाध्य कर दिया कि वे ब्याज-दर कम करें तथा

---

१ [illegible]
२ [illegible] (१९१८), पृ० १०।

हिसाव फिर से खोलें। अधिकाश प्रान्तो ने दद्दुपट के नियम को अपना लिया है, जिसके अनुसार ऋणी द्वारा चुकाई जाने वाली कुल राशि मूलधन के दूने से अधिक नहीं हो सकती।

§१० साहूकार को प्रभावित करने वाले प्रतिबन्ध—जसा हम देख चुके हैं, ब्रिटिश शासन की स्थापना के उपरान्त ग्रामीण समुदाय का जो विघटन प्रारम्भ हुआ उसमें ऋणदाता और ऋणी के सम्बन्धो में परिवर्तन का होना भी एक है। प्राचीन काल मे ऋणदाता अपने को ग्राम समुदाय का एक अग समझता था और उचित नियमो का पालन करता था। फलस्वरूप वह ग्रामीणो की असहाय अवस्था से अनुचित लाभ नहीं उठा पाता था। परन्तु कालान्तर म वह उन पुराने प्रबन्धो से मुक्त हो गया जिनके कारण वह ईमानदारी और न्याय की सीमा के अन्दर ही काय करता था। प्राचीन काल मे दोनो पक्षो मे होने वाले झगडा का फैसला पचायतो द्वारा होता था जिन्हे लेन-देन की पूर्ण जानकारी होती थी। परिणामत वे दोनो पक्षो के साथ पूर्ण न्याय कर पाती थी। लेकिन जटिल पद्धति से पूर्ण दीवानी कचहरियो की स्थापना के उपरान्त ऋणदाता अपने उच्चतर ज्ञान और साधनो की सहायता से सरलतापूर्वक दरिद्र और भूखे किसान को अपनी चालाकी से हरा सकता है। नवीन दीवानी कचहरियो के शहरी न्यायाधीशो को ग्रामीण रीति रिवाजो और रूढ़ियो का न तो पूरा ज्ञान ही होता था और न वधक-पत्र का वास्तविक अर्थ समझने का अवकाश ही। फलत साधारणतया वे लिखित इकरारनामा की शाब्दिक व्यवस्था करते थ जो कि बहुधा ऋण की दृष्टि से अत्यधिक अनुचित होते थे। परिणाम यह हुआ कि जमीन शीघ्रतापूर्वक ऋणी किसानो के हाथ से ऋणदाता और गर किसानो के हाथ मे जाने लगी। तब सरकार को ऋणदाताओ की इस क्रिया को रोकने के लिए विधान का आश्रय लेने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

१९३० और ३९ के बीच अनेक राज्यो ने कानून पास किये, जिनका उद्देश्य ऋण दन की क्रिया का नियमन था। इसके अनुसार ऋणदाताओ को रजिस्ट्री कराना और लाइसेंस लेना पडता था। इस कानून की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) रजिस्ट्री और लाइसेंस—ऋणदाताओं के रजिस्ट्रेशन और लाइसेंस कराने के पीछे उनका स्थान निर्धारित करने का विचार था जिसम वे ऋणो की रक्षा के लिए बनाये कानून की आँखो स बच न सकें। सामान्यतया स्वीकृत परिभाषा के अनुसार साहूकार वह व्यक्ति है जो नियमित व्यापार-क्रम म ऋण देता हो।

(२) लेखा का नियमन—१९३४ से प्राय सभी राज्यों में यह कानून जारी किया गया कि सभी ऋणदाता उचित लेखा रखें, जिसमें हर लेन-देन को दर्ज करें और समय-समय पर या मांगने पर ऋणी को मूल और ब्याज का लेखा दें तथा जो कुछ उन्हे ऋणी स मिले उसकी रसीद दें। लेकिन इसका परिणाम आशाजनक नहीं हुआ। उदाहरण के लिए मध्य प्रदेश म यह देखा गया कि ऋणी न्यायालय के सामने शायद ही कभी यह कहता है कि उसे रसीद या लेखा नहीं दिया गया। पजाब की रिपोर्टो स यह साबित होता है कि ऋणदाता अपना झगडा कचहरी के बाहर ही तय कर लेता है

क्योंकि वह जानता है कि कचहरी उसे लेखा न रखने के अपराध में न तो ब्याज ही दिलायेगी और न खर्च ही। कभी-कभी ऋणी इतना मूर्ख होता है कि वह दावे को सिद्ध करना नहीं चाहता चाहे वह कितना ही स्पष्ट क्यों न हो। प्रायः हमेशा यह देखा जाता है कि ऋणी और ऋणदाता दोनों मिल जाते हैं। ऋणी की आवश्यकता और महाजन का लालच दोनों मिलकर कानून के उद्देश्य को नष्ट कर देते हैं।

(३) ब्याज-दर का नियमन—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने सूदखोर ऋण अधिनियम को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए कुछ सुझाव रखे हैं। अनेक राज्यों में इन सुझावों के अनुसार उपर्युक्त अधिनियम या अन्य अधिनियमों में परिवर्तन भी किये गए हैं। अधिकांश राज्यों में अधिकतम ब्याज-दर निर्धारित कर दी गई है। अरक्षित ऋण पर रक्षित ऋण से अधिक ब्याज-दर देनी होती है।[1] मुद्रा-बाजार की स्थिति के अनुसार ब्याज-दर भिन्न भिन्न राज्यों में परिवर्तित होती रहती है। इन ब्याज-दरों को लागू करना बड़ा कठिन है। निश्चित दण्डों से भयभीत हुए बिना ऋणदाता बंधक-पत्र पर अधिक रकम लिख देता है और ऋणी अपनी आवश्यकता के कारण इस जाल में स्वेच्छा से फँस जाता है।

(४) अन्य—अन्य प्रकार से भी विभिन्न राज्यों में ऋणी की रक्षा करने का प्रयास किया गया है—उदाहरण के लिए ऋणी को धमकाने या मारने पर ऋणदाताओं को दण्ड की व्यवस्था, डिग्री करते समय ऋणी की भूमि के कुछ भाग के नीलाम और विक्रय से मुक्ति, किसान के घर औजार, पशु इत्यादि के नीलाम और विक्रय के सम्बन्ध में भी ऐसी ही मुक्ति की व्यवस्था, ऋणी का किस्तों में ऋण चुकाना और बंधक रखी गई वस्तु को समुचित समय तक ही ऋणदाता के पास रहने देना।

§११ भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध—किसान से ऋणदाता के हाथों में भूमि जाने की ओर संकेत किया जा चुका है। यह काम ब्रिटिश राज्य-काल में बड़ी द्रुत-गति से हुआ। भूमि के मूल्य में तेजी से वृद्धि हुई। इस वृद्धि के कारण निम्न थे—

(१) राजनीतिक सुरक्षा की स्थापना।

(२) संचार-साधनों की वृद्धि के फलस्वरूप ग्रामीण बाजारों का प्रसार।

(३) मूल्यों में वृद्धि।

कृषक पहले की अपेक्षा अधिक ऋण लेने में समर्थ हो सका और साधारणतया वह अपनी सम्पत्ति को बंधक रखकर ऋण लेता था। साहूकार स्वेच्छा से ऋण को ब्याजसहित एकत्र होने देता था और इस एकत्र ऋण को चुकाने की असमर्थता के कारण बंधक भूमि ऋणदाता के अधिकार में आ जाती थी। इसे रोकने के लिए उठाए गए प्रारम्भिक कदमों में सर्वप्रमुख पंजाब का भूमि (स्वामित्व) हस्तांतरण अधिनियम (१९०१) था। इसमें गैर-कृषक वर्ग के लिए कृषक-वर्ग से भूमि-क्रय वर्जित कर दिया गया और न कृषक-वर्ग से २० वर्ष से अधिक के लिए भूमि बंधक में ली ही जा सकती थी। पंजाब में इस दिशा में उठाये गए कदमों में १९१३ का भू-बंधक कृषि अधि

[1] विभिन्न राज्यों में निर्धारित ब्याज की दरें [illegible] बढ़ गई है और उनमें [illegible] संशोधन अपेक्षित है।

नियम तथा १९३८ का भू-बंधक पुन स्थापन अधिनियम थे ।

बुन्देलखण्ड हस्तातरण अधिनियम (१९०३), उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त भूमि हस्तातरण अधिनियम (१९०४), और मध्यप्रात भूमि हस्तातरण अधिनियम (१९१६) आदि भी इसी तरह के अधिनियम थे। भूमि के हस्तांतरण को रोकने मे ये अधिनियम कुछ अश तक सफल हुए, अतएव रायल कमीशन ऑफ एग्रीकल्चर का यह सुझाव कि हर प्रात इस प्रकार के कानून पास करे, बहुत अशो तक तक सगत था। इन अधिनियमो को लागू करने मे कुछ कठिनाइयों का सामना करना पडा। ऋणदाता कभी-कभी 'बेनामी' लेन देन द्वारा (जिसमें कोई कृषक एजेंट ऋणदाता की ओर से जमीन पर अधिकार कर लेता था) कानूनी पजे से बच जाते थे। एक अन्य दुर्भाग्यजनक परिणाम यह हुआ कि गैर-कृषक ऋणदाता का स्थान कृषक ऋणदाता ने ले लिया जो अपने व्यवहार में वैसा ही कठोर था। इस प्रकार यदि किसान रुपये देने का काम करता है तो वह भूमि को खुद जोतने के बजाय अन्यत्रवासी भूमिपति बन जाता है, इस कारण भूमि हस्तातरण अधिनियम अपने उद्देश्य पूरे नही कर सकेंगे।[१] इन अधिनियमो की इस आलोचना पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए कि इनके कारण शहर के धनवान व्यक्ति भूमि मे अपनी पूंजी लगाने से वंचित रहे, क्योकि भूमि मे उनके विनियोग करने का यह अर्थ नही कि इसके प्रति उनकी सक्रिय व सतत रुचि रहेगी। प्राय वह भूमि को पटटे पर उठा देता है और तत्पश्चात् उसका उद्देश्य अधिक-से अधिक लगान पाने का होता है।

§१२ ऋण देने से सम्बन्धित विधान की कार्यवाही—ऋण देने से सम्बन्धित विधान, जिसका साराश ऊपर दिया जा चुका है, बहुत प्रभावोत्पादक नही रहा है। बडे पमाने पर उससे लोग बचते रहे हैं और प्राय इसमें ऋणी का भी हाथ और सहमति रही है। कानूनी पजे से बचने के कुछ ढग नीचे दिये जाते हैं—

(१) वास्तविक ऋण से अधिक का प्रोनोट (वचनपत्र) बनवा लेना,[२]

(२) अधिक ब्याज लेने के लिए किसी नौकर या रिश्तेदार के नाम दूसरा प्रोनोट बनवा लेना,

(३) निश्चित ब्याज दर से अधिक दर से जोडकर ब्याज को पहले ही मूलधन में से काट लेना

(४) ऋणी के उत्पादन को पहले ही (प्राय कम कीमत पर) खरीद लेना;

(५) दस्तावेजों पर पहले की तारीख डलवाना,

(६) शर्ती विक्रय (कन्डीशनल सेल),

(७) अनुचित शर्तों पर ऋणी की भूमि और दुधारू पशुओं को फलोपयोगी बंधक के रूप में रखना,

---

१ हाल के भूमि सुधार सम्बन्धी विधानों का उद्देश्य अन्यत्रवासी भूमिपतियों को बिल्कुल हटा देना है जिससे पहले के भूमि हस्तांतरण अधिनियम बेकार हो रहे हैं।

२ इस बुरी प्रथा की ओर केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने सकेत किया है।

सुझाव यह है कि सहकारी भू बन्धक बंक ऋणदाता को पूरी धनराशि दे दे और ऋणी से धीरे धीरे उचित किश्तों में वसूल किया करे। बंक इस दशा में ऋणी की स्थिति का स्वयं निर्णय करे।

§१४ **अनिवार्य रूप से ऋण को कम करना**—हम पहले ही देख चुके हैं कि ऐच्छिक ऋण समझौतों में समय अधिक लगता है और इसके लाभ भी सीमित हैं। शीघ्र परिणाम अभीष्ट हो तो अनिवार्यता से काम लेना पडेगा। अनेक राज्य विधानों में इस प्रकार की अनिवार्यता की धाराएँ हैं। इनमें सबसे पहला और सबसे अधिक कठोर १९३८ का मद्रास कृषक सहायता अधिनियम है जिसके अनुसार १ अक्तूबर १९३२ के पहले लिये गए हुए ऋण का ब्याज, जो १ अक्तूबर १९३७ तक न चुकाये गए हों, उन्हें समाप्त माना जायगा। ऋणदाता केवल मूलधन पाने का ही अधिकारी होगा। सितम्बर १९३२ से बाद में लिये गए ऋण पर अक्तूबर १९३७ के अंत तक ५ प्रतिशत से अधिक ब्याज न मिलेगा। इसमें दमदुपट सिद्धान्त लागू किया जायगा। इस प्रकार कम किये ऋणों तथा अधिनियम के लागू होने के बाद के ऋणों पर ब्याज दर सवा छ प्रतिशत निश्चित की गई।

मध्यप्रांत और बरार ऋणिता सहायता अधिनियम १९३९ द्वारा ऋण समझौता परिषदों का स्थान ऋण सहायता न्यायालयों ने ले लिया। इन्होंने भूमि के अनुमानित मूल्य ह्रास के अनुसार किसानों को क्रमिक सहायता दी। १९३९ के बम्बई कृषक ऋणी सहायता कानून के अनुसार पहले प्रयोग के तौर पर कुछ ताल्लुकों में ही ऋण का अनिवार्य अवश्रेणीयन (कम करना) लागू किया गया। यह अधिनियम १५,००० रुपयों तक के ऋण के लिए था। विशेष रूप से निर्मित ऋण समायोजन परिषद् द्वारा इस काय को करने की व्यवस्था थी और समायोजित धनराशि उचित किश्तों में देने की भी व्यवस्था थी। उत्तर प्रदेश में कृषक ऋण निष्क्रमण अधिनियम १९३९ द्वारा न्यायालयों को यह अधिकार मिला कि वे वास्तविक ऋण के दूने तक (अधिक नहीं) मामले को तय करें। इस दुगनी राशि में ऋणी द्वारा ऋणदाता को पहले किया हुआ भुगतान भी सम्मिलित माना जायगा।

§१५ **शोध विलम्ब काल**—१९२९ की विश्व मंदी में ऋणी किसानों की कठिनाइयाँ और बढ गई। अत प्रांतीय सरकारों को किसानों को तात्कालिक सहायता देने के उपाय करने पड़े, ताकि उन्हें डिग्री और मुकदमेबाजी से बचाया जा सके। इस सहायता ने किसानों को शोध विलम्ब-काल देने का रूप धारण किया। १९३२ ३३ में संयुक्त प्रांत की सरकार ने घोषणा की कि उन सब डिग्रियों का कार्यान्वयन, जिनमें दीवानी न्यायालयों ने भूमि के विक्रय की आज्ञा दी है जिलाधीश को हस्तांतरित किया जाय। जिलाधीश को यह अधिकार था कि जहाँ भूमि की मिलने वाली कीमतें कम थीं वहाँ उनका विक्रय स्थगित कर दे। एक अन्य अधिसूचना द्वारा उचित मूल्य निर्धारण की शर्तें रखी गईं। इनके परिणामस्वरूप ८८,००० डिग्रियाँ स्थगित हो गई। ऐसे ही कानून मद्रास, मध्यप्रांत और बम्बई में लागू किये गए और ऋण सहायता अधिनियम (डेट रिलीफ एक्ट) के पास होने तक सब विक्रय, डिग्रियाँ और मुकदमों को स्थगित कर दिया गया।

सरकार अपने कृषि विभाग से काम लेती है। यहाँ भी ये कर्मचारी तकावी वितरण के लिए अपर्याप्त ही नहीं वरन् अनुपयुक्त भी होते हैं।

(७) भूमि सुधार ऋण अधिनियम में पुराने ऋणों के निपटारे और चुकाने की कोई व्यवस्था नहीं है (केवल यू० पी० कृषि ऋण अधिनियम को छोड़कर, जिसमें संशोधन के उपरान्त तकावी ऋण से वर्तमान ऋणों को चुकाने और कृषि भूमि के क्रय की व्यवस्था की गई)।

(८) साधनों के सीमित होने के कारण सरकार के लिए कृषक की हर आवश्यकता के लिए ऋण देना असम्भव है। जो ऋण दिया जाता है वह उसकी आवश्यकताओं की अपेक्षा बहुत कम होता है।

(९) मध्यम और छोटे किसानों की अपेक्षा, जिन्हें ऋण की सबसे अधिक आवश्यकता होती है, बड़े किसान ऋण से अधिक लाभ उठाते हैं। कारण यह है कि बड़े किसानों का प्रभाव अधिक रहता है। साथ ही जिन कामों के लिए सरकारी ऋण मिलता है—उदाहरण के लिए कूप निर्माण, इंजिनों का क्रय इत्यादि—वे छोटे और मध्यम श्रेणी के किसानों की सामर्थ्य के बाहर होते हैं। तकावी के वस्तुगत वितरण में बहुधा स्थानीय समितियों का उपयोग किया जाता है जिनका प्रबन्ध गाँव के बड़े किसानों के प्रतिनिधि ही करते हैं। ऋण अचल सम्पत्ति की प्रतिभूति पर ही दिया जाता है परिणामतः छोटे किसान उसका उपयोग नहीं कर पाते।

(१०) ऋण देने वाले विभिन्न विभागों, जैसे राजस्व, कृषि और सहकारी विभाग तथा विस्थापित व्यक्तियों के विभाग में संयोजन का अभाव है। परिणामतः प्रयासों में दोहरापन आ जाता है और व्यय बढ़ जाता है।

ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण की रिपोर्ट में किसी राज्य के उप वित्तमन्त्री को यह कहते हुए उद्धृत किया गया है कि 'सरकार द्वारा दी जाने वाली तकावी वित्त-व्यवस्था न होकर वास्तविक अग्रिम के समान है।'[1] ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण के शब्दों में 'तकावी अनुपयुक्त एजेंसी द्वारा अपर्याप्त धन के अनुचित वितरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह कहना सत्य से अधिक दूर न होगा कि तकावी का अभिप्राय अपर्याप्तता का अभिप्राय है (१) धनराशि की अपर्याप्तता, वितरण की असमानता और प्रतिभूति के आधार का अनौचित्य, (२) वितरण समय की असुविधा एवं प्रकार से देर, ऋणी पर अनेक भार का डालना और (३) निरीक्षण की अपर्याप्तता और संयोजन की असमानता।'[2]

§१८ कृषि साख की आवश्यकताएँ और संस्थाएँ[3]—ग्रामीण साख सर्वेक्षण रिपोर्ट में एक मार्मिक कहावत उद्धृत की गई है कि 'ऋण किसान की उसी प्रकार सहायता करता है जैसे फाँसी पर लटके व्यक्ति की रस्सी सहायता करती है।' ऋण आवश्यक और अनिवार्य है किन्तु जब तक इसका भली प्रकार से संगठन एवं प्रशासन नहीं होता

१ 'आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट', पृ० २०१।

२ वही पृ० १११।

३ प्रथम पंचवर्षीय योजना पृ० १६।

तब तक निष्क्रयण की अपेक्षा यह नाश का कारण अधिक बनेगा।[1]

कृषि के लिए आवश्यक साख तीन भागों मे विभाजित की जा सकती है—

(१) अल्पकालीन (१५ माह तक के लिए) चालू उत्पादन के लिए।

(२) मध्यमकालीन (१५ माह से ५ वर्ष के लिए)।

(३) दीर्घकालीन (५ वर्ष से ऊपर के लिए)।

अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता बीज, खाद और उवरक तथा पारिश्रमिक व्यय आदि के लिए होती है। ऐसी आशा की जाती है कि ये फसल कटने पर चुका दिये जायेंगे। मध्यकालीन ऋण कुआँ बनवाने बल खरीदने पम्प की मशीनें लगाने आदि कार्यों के लिए दिये जाते हैं। दीर्घकालीन ऋण पुराने ऋण को चुकाने, भारी मशीनों का क्रय करने, भूमि मे स्थायी सुधार करने तथा अधिक भूमि खरीदने के लिए दिये जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न पारिवारिक आवश्यकताओं के हेतु लिये गए ऋण का भी वर्गीकरण कर सकते हैं।

अभी हाल तक गाँव के ऋण के एकमात्र साधन साहूकार थे। उनके काम म ऋण सहायता कानूनों, अनुज्ञा प्रथा, भूमि हस्तातरण आदि पर प्रतिबन्ध लगाने से कमी हुई है। फिर भी प्रभावपूर्ण वैकल्पिक साधनों के अभाव मे वे अब भी ग्रामीण ऋण के प्रधान साधन हैं। विशेषाधिकृत भूधारण के विनाश तथा जमींदारी और रयतवारी क्षेत्रों मे होने वाले सुधारो के कारण बडे किसानो और जमींदारो द्वारा पूँजी का विनियोग कम होता जा रहा है। वयक्तिक स्रोतो मे ऋण की अप्राप्ति के कारण पिछले कुछ वर्षों में तकावी ऋण का पर्याप्त प्रसार करना पडा। हम पहले ही देख चुके ह कि किस प्रकार तकावी प्रथा किसानो की कठिनाइयो को दूर करने में असफल रही है। वतमान कठोर कसौटी के अनुसार प्राय सभी भारतीय किसान अनार्थिक कृषक ह, परन्तु उनकी उपेक्षा करने का अर्थ कृषि ऋण की समस्या से जी चुराना है।

ग्रामीण सहकारी संस्थाओं को स्थानीय स्रोतो को प्राप्त करना होगा और ग्रामीण जन-समाज म बचत की आदत डालनी होगी। चूँकि स्थानीय बचत धीरे धीरे होगी और जो कुछ होगी भी वह सब आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त न होगी, इसलिए वाह्य साधनो म धन का प्राप्त होना आवश्यक है। हाल में रिजर्व बैंक ने इस दिशा म कदम उठाए ह जिनका विवरण अध्याय ११ (§१६) मे किया गया है।

[1] ऑल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट, पृ० १५१।

अध्याय ११

सहकारिता

§१ सहकारिता का अर्थ—मैक्लागन समिति के अनुसार सहकारिता का सिद्धान्त यह है कि 'कोई एकाकी और शक्तिहीन व्यक्ति दूसरों के योग एवं नैतिक विकास तथा पारस्परिक सहयोग से अपनी सामर्थ्य के अनुसार ऐसे भौतिक लाभ अथवा सुख प्राप्त कर सके जो धनाढ्यों तथा सशक्तों को उपलब्ध हैं और इस प्रकार अपने सहज गुणों का पूर्ण रूप से विस्तार कर सके।'[1]

सहकारिता सामूहिक हितों की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों के ऐच्छिक सहयोग पर जोर देती है। इसका सिद्धान्त 'सब एक के लिए और एक सब के लिए' है। ज्ञान, बुद्धि, ईमानदारी, विश्वास, भक्ति तथा सक्रिय आत्मनिर्देशन और आत्मनिर्भरता आदि गुण सफल सहकारिता में निहित हैं।

सहकारिता द्वारा भारतीय ग्रामीण ऋणग्रस्तता का सामना करने और ग्रामीण ऋण की पूर्ति करने का विचार सर्वप्रथम फ्रेडरिक निकलसन की रिपोर्ट (१८९५-९७) में प्रतिपादित किया गया। लेकिन इस रिपोर्ट को कार्यान्वित नहीं किया गया। लगभग इसी समय संयुक्त प्रान्त में मि० डुपरनेक्स तथा पंजाब में सर एडवर्ड मैक्लागन द्वारा ग्रामीण समितियों के संगठन की ओर कुछ व्यक्तिगत प्रयास किये गए। १९०१ के दुर्भिक्ष आयोग ने भी भारत में सहकारी समितियों की स्थापना पर जोर दिया।

§२ १९०४ का सहकारी साख समिति अधिनियम—भारत में सहकारिता आन्दोलन का सच्चा प्रारम्भ १९०४ के इस कानून से मानना चाहिए।[2] अधिनियम की प्रमुख धाराएँ निम्न थीं—

(१) दस वयस्क व्यक्तियों की कोई संस्था रजिस्ट्री के लिए आवेदन-पत्र भेज सकती थी और सहकारी समिति बना सकती थी।

(२) ऋण समितियों को ग्रामीण या नागरिक इस आधार पर माना जाता था कि उनके ४/५ से अधिक सदस्य कृषक हैं या नहीं।

(३) ग्रामीण समितियों के सम्बन्ध में असीमित दायित्व का नियम तथा नागरिक समितियों में यह विषय समितियों की इच्छा पर छोड़ दिया गया। सरकार की

१ मैक्लागन कमेटी रिपो० ८, पैरा २।
२ भारत में सहकारिता आन्दोलन सरकारी प्रेरणा से शुरू हुआ और विभिन्न चरणों में सरकारी नियन्त्रण और निर्देशन के अनुसार चलता आ रहा है।

कुछ शक्तियो को अपने हाथ मे रखा, जसे (क) अनिवाय निरीक्षण और लेखे की जाच, (ख) रजिस्ट्रार द्वारा, यदि वह आवश्यक समझे तो, समिति का विघटन। ऐसा करने के पूव उसे प्रा तीय सरकार से अपील करनी होगी, और (ग) व्यापक नियम बनाने की शक्ति।

भारत की कृषि सहकारी साख समितियाँ तथाकथित रेफीसेन नमने पर आधारित हैं, जिनकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

(१) सीमित क्षेत्र,
(२) हिस्सा का न होना या बहुत छोटा होना,
(३) असीमित दायित्व,
(४) केवल उत्पादक कार्यों के लिए ऋण देना,
(५) किश्तो में चुकाने की व्यवस्था के साथ दीघकालीन ऋण,
(६) एक स्थायी अहस्तातरणशील सञ्चित निधि (रिजव फड),
(७) लाभ कमाने की प्रवत्ति को यथासाध्य दूर रखने का प्रयास, लाभ अगर हो तो उसे सचित निधि में डाल दिया जाना,
(८) वेतनरहित सेवा, प्रजाता त्रिक प्रब ध, और
(९) नतिक एव भौतिक विकास।

शुल्ज डिलिश पद्धति मे निम्न विशेषताएँ हैं—

(१) बृहत् क्षेत्र,
(२) हिस्से की पूँजी के लिए अधिक स्थान,
(३) सीमित दायित्व,
(४) अल्पकालीन ऋण,
(५) सचित निधि निर्माण पर कम ध्यान,
(६) लाभाश के लिए मुनाफे की स्वीकृति,
(७) सवेतन सेवाएँ, और
(८) नतिक पक्ष की अपेक्षा व्यापारिक पक्ष पर अधिक बल।

रफेसिन प्रकार की समितियाँ कृषि-कार्यों के लिए तथा शुल्ज डिलिश प्रकार की समितियाँ गैर-कृषि-कार्यों के लिए उपयोगी हैं। ये दोनो नाम जमन कायकर्ताओ के हैं, जिन्होंने यहाँ सहकारिता का काम प्रारम्भ किया था।

§३ १९१२ का सहकारी समिति अधिनियम—१९०४ के अधिनियम में ३ त्रुटियाँ थीं—

(१) इसम केवल ऋण-समितिया को मान्यता प्राप्त थी।

(२) इसमें प्रारम्भिक समितिया के सुधर हुए निरीक्षण और पूँजी की पूर्ति के लिए के द्रीय समितियो की व्यवस्था न थी।

(३) ग्रामीण एव नागरिक समितियो का यह वर्गीकरण अवैज्ञानिक तथा असुविधाजनक था।

१९१२ के सहकारी समिति अधिनियम का उद्द श्य इन दोषा को दूर करना था। इसमें गर ऋण-समितियो को भी मान्यता मिली जो विक्रय, क्रय, बीमा उत्पादन

तथा आवास से सम्बद्ध थीं। इसमें तीन प्रकार की केन्द्रीय समितियों को भी मान्यता मिली, जो प्राथमिक समितियों से भिन्न थीं।

(१) सहकारी संघ, जो प्रारम्भिक समितियों की सदस्यता से बनते थे और उनका काम सदस्य-समितियों का नियन्त्रण और लेखा परीक्षण करना था।

(२) केन्द्रीय बैंक, जिनके सदस्य प्रायः तो समितियाँ और अंशतः व्यक्ति होते थे।

(३) प्रान्तीय (राज्य) बैंक।[1] इनके अतिरिक्त इस अधिनियम में यह व्यवस्था थी कि उस समिति का दायित्व सीमित होगा जिसके सदस्य रजिस्टर्ड समितियाँ हैं। इसके विपरीत उन समितियों का दायित्व असीमित होगा जिनका उद्देश्य अपने सदस्यों को ऋण देना है और जिनके अधिकांश सदस्य कृषक हैं। शेष सभी दशाओं में दायित्व ऐच्छिक होगा।

§४ समितियों का वर्गीकरण—निम्न विभाजनों[2] में वे विभिन्न शीर्ष दिए जाते हैं जिनके अन्तर्गत सहकारी समितियाँ आती हैं—
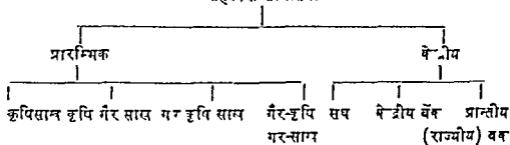
अब हम प्रारम्भिक एवं केन्द्रीय समितियों के प्रत्येक प्रकार का विस्तृत वर्णन करेंगे।

§५ प्रारम्भिक कृषि साख समितियाँ—इनकी प्रमुखताएँ निम्न हैं—

(१) आकार—कोई भी दस व्यक्ति रजिस्ट्री के लिए आवेदन-पत्र दे सकते हैं। इनकी अधिकतम संख्या सामान्यतया १०० से अधिक न होना चाहिए।

(२) कार्यक्षेत्र—साधारण नियम यह है कि हर गाँव के लिए एक समिति हो जिससे सदस्यों का पारस्परिक ज्ञान और नियन्त्रण सम्भव हो सके। बम्बई में ग्राम समूहों के लिए बहुद्देश्यीय समितियों का संगठन हो रहा है।[3]

(३) दायित्व—साधारण नियम असीमित दायित्व का है, जिसका अर्थ है कि

---

१ प्रान्तीय बैंक, जिनका नाम अब राज्य बैंक है कभी कभी शीर्ष बैंक (एपेक्स बैंक) भी कहे जाते हैं।

२ सहकारी समितियों का सरकारी वर्गीकरण, जिसे प्रान्तों ने रोम की अन्तर्राष्ट्रीय कृषि संस्था की सिफारिशों पर अपनाया, यों है—(१) साख (२) क्रय या क्रय विक्रय, (३) उत्पादन, (४) उत्पादन और विक्रय (५) बीमा और (६) अन्य।

३ सहकारी समितियों के रजिस्ट्रारों के १५वें सम्मेलन (१९४७) में यह सिफारिश की गई कि (क) प्रारम्भिक बहुद्देश्यीय समिति का कार्यक्षेत्र सामान्यतः एक गाँव हो। (ख) जो गाँव बहुत छोटे-छोटे हों वहाँ कुछ गाँवों के समूह के लिए एक समिति बनाई जाय। (ग) मण्डी व्यापार समिति का कार्यक्षेत्र उन सब भागों तक फैला होना चाहिए जहाँ का उत्पादन मण्डी में आता है।

देनदारी के मामले मे यदि समिति अपने ऋणदाताओं को चुकाने मे असमर्थ होगी तो सदस्यों से उनकी पूरी सम्पत्ति के मूल्य तक कई बार प्रति व्यक्ति पर आरोपित करके वसूल किया जायगा। हर एक सदस्य के विरुद्ध सीधी कार्यवाही वर्जित है।[1] असीमित दायित्व का निम्न आधारों पर समर्थन किया जाता है—

(क) इसमें ऋण उन्ही व्यक्तियों को मिलेगा जो ईमानदार और ऋण वापस करने में सक्षम ना हं लेकिन उनके पास कोई ठोस प्रतिभूति की वस्तु नहीं है।

(ख) इससे सदस्यों पर शैक्षिक प्रभाव भी पडता है। उनके बीच पारस्परिक नियन्त्रण और निरीक्षण की इच्छा बढती है। समितियों का प्रबन्ध अधिक व्यापारिक ढंग और सतर्कता से होता है।

(ग) यह सहकारिता का अनिवार्य सिद्धान्त है।

(घ) यह उन समितियों के लिए विशेषकर लाभदायक है जहाँ समितियाँ एक गाँव की होती हैं और जो एक से अधिक काम नहीं करतीं। इसके विपरीत यह कहा जाता है कि व्यवहार में इनसे लाभ बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं। मद्रास की सहकारिता समिति (१९३९ ४०) का मत था कि असीमित उत्तरदायित्व की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। कभी-कभी इससे उन सदस्यों को काफी हानि पहुँची है जो न ऋण लेने वाले ही थे और न दोषी ही। इस प्रकार इससे सहकारी आन्दोलन की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचा है। इस दायित्व के कारण कितने ही धनी किसान सहकारिता से दूर ही रहते हैं। सहकारी बीमा और अन्य पद्धतियों के विकास के कारण अब असीमित दायित्व की भी आवश्यकता नहीं रही है, अतः प्रवृत्ति अब सीमित दायित्व की ओर हो चली है। १९४७ के सहकारी समितियों के रजिस्ट्रारों के सम्मेलन में इस बात की ओर सकेत किया गया था। इस सम्मेलन ने सरकारी आयोजन समिति (१९४६) के निम्न सुझावों की पुष्टि की—

(क) जहाँ असीमित दायित्व सफल है वहाँ किसी भी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।

(ख) अन्य दशाओं में इसे या तो हिस्सों के मूल्य तक या उसी के कुछ गुने तक सीमित कर देना चाहिए, बशर्ते कि हिस्से की पूँजी से पर्याप्त सम्पत्ति प्राप्त हो सके।

(ग) साधारणतः हर मामले का निर्णय उसके महत्त्व और गुण पर होना चाहिए और ऐसा करते समय स्थानीय मत और परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए।

(घ) जहाँ सीमित दायित्व अपनाया जाता है वहाँ इस पर ध्यान रखना चाहिए कि गरीब सदस्यों की आवश्यकताओं की उपेक्षा न हो।

(४) प्रबन्ध—दो निकायों के हाथ में है—(क) साधारण समिति, जिसमें सब सदस्य होते हैं और (ख) प्रबन्धक समिति, जिसके सदस्य साधारण समिति की वार्षिक बैठक में चुने जाते हैं। एक वैतनिक सचिव होता है जो समिति का सदस्य

1 मैक्लागन कमेटी रिपोर्ट, पारा ४७।

म काफ़ी लागत के सुधार के लिए आवश्यक धनराशि) पूरी नहीं हो सकतीं, क्योंकि इनमें से किसी के पास दीर्घ काल के लिए अपनी धनराशि फँसा देने की क्षमता नहीं है। इसके अतिरिक्त दीर्घ काल के लिए ऋण देना एक विशिष्ट प्रकार का व्यापार है जो भू-सम्पत्ति का मूल्यांकन करने वाले विशेषज्ञों की सेवाओं की अपेक्षा करता है (क्योंकि किसान प्रायः भूमि को ही बन्धक के रूप मे देते हैं)। भू-बन्धक बैंक विशेष रूप से किसानो को दीर्घकालीन ऋण देने के लिए ही संगठित और सुसज्जित किये जाते हैं। भारतवर्ष मे वे प्रायः अर्द्ध सहकारी रूप में हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इनकी सदस्यता व्यक्तियों और सहकारी समितियों दोनों ही के लिए खुली है। सरकार ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि भारतवर्ष में भू-बन्धक बैंकों की समृद्धि के लिए सरकारी सहायता अनिवार्य है। सरकारी सहायता ब्याज और मूलधन चुकता करने की गारण्टी, ऋण वसूल करने के लिए विशेष अधिकारों की स्वीकृति या अन्य रिआयतें निर्माण परिव्यय (वर्किंग-कॉस्ट) मे आर्थिक सहायता, ऋण-पत्रों के पर्याप्त भाग का क्रय तथा भूमि के मूल्यांकन के लिए भू बन्धक बैंकों को प्रशिक्षित अधिकारियों की सेवाएँ सौंपने का रूप ले सकती है।

केन्द्रीय भू-बन्धक बैंकों का काम बम्बई, मद्रास, मसूर, उड़ीसा, केरल, सौराष्ट्र और आन्ध्र में जारी है। उड़ीसा, केरल और सौराष्ट्र में प्रारम्भिक भू-बन्धक बैंक अभी तक नहीं हैं। केवल केन्द्रीय भू-बन्धक बैंक ही हैं, अतएव कर्जदारों के साथ इनका सम्बन्ध सीधा होता है। निम्न तालिका से केन्द्रीय तथा भू-बन्धक बैंकों की १९५१–५२ की स्थिति स्पष्ट है—

	केन्द्रीय भू-बन्धक बैंक	प्रारम्भिक भू-बन्धक बैंक
संख्या	९	२८८
सदस्यता (क) व्यक्ति	३४,१७५	२१३,८१४
(ख) बैंक	४०४	
	(करोड़ रुपयों में)	(करोड़ रु० में)
ऋण पत्र	७.८३	०.०६
चालू पूँजी (वर्ष भर में)	१०.१७	७.५६
वर्ष में दिये गए ऋण	९.५१	१.३०
वर्ष के अन्त में अप्राप्य ऋण	८.०१	६.१६

दीर्घकालीन कृषि वित्त-व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए भारतवर्ष में भू-बन्धक बैंकों का विकास बहुत कम हुआ है। इस सम्बन्ध में मद्रास राज्य में ही विशेष प्रगति हुई है जहाँ १२० प्रारम्भिक भू-बन्धक बैंक हैं जब कि पूरे देश के लिए इनका योग २८८ है। भू-बन्धक बैंकों के सम्बन्ध में कुछ निम्नलिखित असंतोषजनक बातें हैं—

(१) प्रायः ऋण बहुधा प्राचीन ऋणों और बन्धकों के परिशोधन में ही प्रयुक्त होते हैं। उत्पादक-कार्यों के लिए उनका उपयोग बहुत कम होता है।

(२) भू-बन्धक बैंकों के पास प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव होने के कारण न तो ऋण प्रस्तावों की ही जाँच हो पाती है और न दिये गए ऋणों का निरीक्षण

ही। राज्य सरकारो के पास इस प्रकार का शासन-यन्त्र अवश्य है परन्तु उसके समुचित उपभोग का बन्दोबस्त नहीं है।

(३) भू-बन्धक बको से प्राप्त ऋण को १५ से २० वर्ष तक बराबर किस्तो मे चुकाना पडता है। यह कालावधि ऋण के प्रकार के साथ परिवर्तित नही होती, जैसा कि इसे होना चाहिए।

(४) ऋण पत्रो के लिए राज्य की ओर से गारण्टी होने पर भी बैंको को पर्याप्त धनराशि मिलना कठिन हो जाता है।

(५) केन्द्रीय भू-बन्धक बक और राज्यीय सहकारी बको के कार्यों के समन्वय का कोई प्रयत्न नही किया जाता।

(६) भू-बन्धक बक प्राय धनी किसानो की ही आवश्यकताओ की अधिक पूर्ति करते हैं और मुख्य खेतिहर जनता की उपेक्षा करते हैं।

भारत की भू-बन्धक व्यवस्था अपनी सर्वोत्तम दशा मे भी पर्याप्त धन एकत्र नहीं कर पाती और न सग्रहीत धन माँग से समायोजित ही होता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उत्पादन की अपेक्षा पुराने ऋण उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। साथ ही ऋण बडे किसानो को मिलता है और वह भी देर में।''[१]

§७ प्रारम्भिक समितियो के दोष—प्रारम्भिक समितियाँ ही अन्त में किसानो के लाभ के लिए ऋण का वितरण करती हैं। दुर्भाग्यवश उनके इस कार्य का लेखा बहुत ही निराशाजनक है। उनकी कार्य प्रणाली के प्रमुख दोष निम्न हैं—

(१) ऋण का असमान प्रादेशिक वितरण (बम्बई और मद्रास में देश की कुल समितियो द्वारा वितरित ऋण का ६० प्रतिशत वितरित होता है)।

(२) प्रति समिति सदस्यता का औसत अत्यन्त अल्प है। परिणामत व्यापारिक इकाई के रूप मे ये अनार्थिक सिद्ध होती हैं।

(३) निक्षेपो और चालू पूँजी के निम्न स्तर और अप्रबन्धन के लिए बाह्य स्रोतो पर अत्यधिक आर्थिक निर्भरता।

(४) मध्यमकालीन वित्त के लिए किसी विशिष्ट व्यवस्था का अभाव।

(५) ऋण उत्पादक कार्यों से प्राय असम्बद्ध होते हैं तथा आर्थिक दृष्टि से खोखले या अयोग्य व्यक्तियो को दिये जाते हैं।

(६) सफल उत्पादन या बचत के बजाय पुन ऋण लेकर पहले ऋण को अदा करना।

(७) भौतिक प्रतिभूति का आग्रह।

(८) कालातीत ऋणो का एकत्रित होना और फलत निम्नलिखित कारणो से कोष मे कमी होना—

(क) पुनर्प्राप्ति में अनुचित ढिलाई।

(ख) ऋण चुकाने का वक्त आने पर उसका नवीकरण कर लेने की प्रवृत्ति तथा बदला या लोक निन्दा के डर से बाकीदारो के विरुद्ध कार्यवाही करने में पदाधिकारियो

१ ऑल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट, पृ० २२८।

अभिजनन समितियाँ, चारे की समितियाँ आदि भारत में कम ही सफल हुई हैं। बाड़ लगाने की समितियाँ, फसल सुरक्षा समितियाँ, भूमि-सुधार समितियाँ तथा सहकारी सिंचाई समितियों में भी कुछ थोड़ी ही ऐसी हैं जिन्हें सफलता मिली है। चकबन्दी और सहकारी कृषि समितियों की चर्चा इससे पूर्व के अध्याय में हो चुकी है।

उपभोक्ता सहकारी समितियों का भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत कम विकास हुआ है, क्योंकि भारतीय कृषक की घरेलू आवश्यकताएँ कम हैं और वे स्थानीय उत्पत्ति या गाँवों के बाजार से पूरी हो जाती हैं। समृद्ध सहकारी साख समितियाँ सम्भवतः उपभोक्ता भण्डार का काम हाथ में ले सकती हैं। इस सम्बन्ध में उपभोक्ता भण्डार विभाग को अलग ही रखना होगा। पशुओं के क्रय के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंक द्वारा धनराशि दी जा सकती है।[1]

कृषि तथा अन्य सरकारी विभागों के प्रचार-कार्य में भी समितियों का काफी महत्त्व हो सकता है। विशेषज्ञों की शिक्षा को ग्रामीणों में सरकारी विभागों की अपेक्षा इनके तथा पंचायतों के माध्यम से सरलता से फैलाया जा सकता है। पंजाब और मद्रास में श्रेष्ठतर कृषि समितियाँ (बेटर फार्मिंग सोसाइटीज) अच्छा काम कर रही हैं। उत्तम जीवन-यापन समितियाँ (बेटर लिविंग सोसाइटीज) भी हैं। इनकी शुरूआत सर्वप्रथम पंजाब में की गई, जहाँ इनका उद्देश्य विवाह तथा अन्य उत्सवों पर किये जाने वाले अपव्यय को रोकना था। इनके द्वारा सफलतापूर्वक किये गए अन्य काम निम्न हैं—सड़क-सुधार, सार्वजनिक कुओं का निर्माण, तालाबों की मरम्मत, औषधालयों और पाठशालाओं की स्थापना, ग्रामीण स्वास्थ्य एवं स्वच्छता का सुधार, अच्छे बीजों का वितरण, पशुओं की नसल और कृषि-पद्धति में अच्छे सुधार।

बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन में भी इन समितियों ने उपयोगी काम किया है। बम्बई सरकार के आदेश पर अनेक सहकारी कृषि समितियाँ चालू की गई। इन्हें प्रशिक्षित कृषि-सहायकों की निःशुल्क सेवाएँ, पहले वर्ष भू राजस्व में छूट तथा बीज, खाद, औजार आदि के क्रय में सरकार से सहायता दी। १९४९-५० में ऐसी ७९ समितियाँ थीं, जिनकी सदस्यता २,७०० और क्षेत्रफल १०,००० एकड़ था।

१९४९ में सरकार ने उद्वहन भूसिंचाई (लिफ्ट इरिगेशन) समितियों के लिए उदार आर्थिक सहायता की योजना मंजूर की। यहाँ भी सरकारी सहायता का रूप, ऋण और आर्थिक सहायता का रहा। १९५० में इस प्रकार की ११४ सिंचाई समितियाँ थीं।

§१० गैर-कृषि साख समितियाँ—अब हम साख के अलावा अन्य क्षेत्रों में कुछ गैर-कृषि साख समितियों को देखेंगे—

(१) कारीगरों की क्रय विक्रय समितियाँ—कारीगरों को ऋण देने के अतिरिक्त सहकारिता उनकी सहायता अन्य प्रकार से भी करती है। कुटीर कर्घा उद्योग में कच्चे माल के क्रय, करघा का सुधार तथा कपड़े के विक्रय आदि में सहकारी

[1] सरैया समिति रिपोर्ट, पृष्ठ १०५।

विक्रय के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। इस उद्योग से सम्बन्धित समितियाँ अनेक राज्यो में काय कर रही ह। अन्य कारीगरो, जैसे मोचियो, सुनारा, लुहारों और लकडी का सामान बेचने वाला, के लाभाथ समितियो मे भी कुछ प्रगति हुई है।

(२) अकुशल श्रमिक समितियाँ—मिट्टी के काम, सडको की मरम्मत इत्यादि करने वाले श्रमिका को भी सहकारी आधार पर सगठित किया गया है—विशेषतया मद्रास में। प्रबन्ध की शिथिलता तथा दोषपूणता और ठेकेदारो का विरोध हाने पर भी ये सगठन उपयोगी काय कर रहे हैं।

(३) शहरी क्षेत्रो मे उपभोक्ता समितियाँ—नियन्त्रित खाद्यान्न के वितरण के लिए सरकार ने सहकारी समितियो का काफ़ी उपयोग किया और जब तक सरकारी नियन्त्रण रहा, सहकारी समितियाँ नागरिक क्षेत्रो में इस काय को अपना प्रधान लक्ष्य बनाये रही और ऐसा करने से उनकी आर्थिक स्थिति मे काफी सुधार हो गया। अब नियन्त्रण के हट जाने के बाद भी वे जीवित रह सकेंगी, इसमें सन्देह है। अतएव इन्हें जीवित रखने के लिए विशेष उपाय करने हागे। सहकारी समितियो की असफलता के साधारण कारणा में व्यापारिक शिक्षा और अनुभव का अभाव, उपभोक्ता की आवश्यकताओं के उचित अध्ययन का अभाव, सदस्यों की अपर्याप्त रुचि और भक्ति, उधार व्यापार के कारण ऋण का होना, दोषपूण लेखा और स्कन्ध पालन, भारी लागत, अवैतनिक सेवाओ पर निभरता, जिससे प्रबन्ध अकुशल हो जाता है, आदि लिये जा सकते हैं। जहाँ तक सहकारी उपभोक्ता समितिया की सफलता का प्रश्न है, भारत में वह केवल शहरी क्षेत्रों में ही हुई है। गावों म उनकी सापेक्षिक असफलता के कारणों पर पहले विचार हो चुका है।

(४) आवास समितियाँ—भारत में सहकारी आवास समितियाँ युद्धोत्तरकालीन घटना हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त अनेक राज्यो मे सहकारी आवास समितियाँ शीघ्रता से प्रगति करने लगी, किन्तु रजिस्ट्रीशुदा आवास समितियो की वास्तविक प्रगति अच्छी नही रही है। इसका कारण निर्माण-सामग्री का अभाव तथा उचित दर पर भूमि एव पूँजी की अप्राप्यता रही है। सरकार ने सहकारी आवास समितियो को सहायता देने का प्रयास किया है। उन्हें भूमि और निर्माण-सामग्री देने में प्राथमिकता दी है और सस्ती दर पर अथ प्रबन्धन की व्यवस्था की गई है। यदि आवास समितियों को अपने परो पर खडे होने योग्य बनाना है तो इस प्रकार की सहायता को काफी समय तक जारी रखना होगा।

(५) सहकारी दुग्ध पूर्ति—विगत कुछ वर्षों मे बम्बई, मद्रास, पश्चिमी बगाल एव उत्तर प्रदेश में सहकारी दुग्ध-पूर्ति में कुछ प्रगति हुई है। इस प्रकार की योजनाओ में सबसे महत्त्वपूण, सबसाधनसम्पूण और सबसे अधिक महत्त्वाकाक्षी योजना आरे म है, जो बम्बई-सरकार द्वारा बम्बई नगर की दुग्ध-पूर्ति के लिए स्थापित की गई है। यह उपनगर बम्बई से कुछ मील दूर पर है। इसको दूध (१) अपने किराये पर दिये हुए गोष्ठा से, (२) बम्बई क्षेत्र की १६ सहकारी दुग्धशालाओं मे और (३) आनन्द के दुग्धशाला क्षेत्र से प्राप्त होना है। इस तरह नगर की प्राय दुग्ध की आधी पूर्ति

१९५१-५२ में बहुद्देश्यीय समितियों की कुल संख्या ३९,९३० थी, जिनमें २४,३०२ उत्तर प्रदेश में थी। मोटे तौर पर बहुद्देश्यीय शब्द द्वारा निर्देशित बहु विधि काम केवल दो एक अन्य कामों तक ही सीमित रहते हैं। युद्ध काल में अनेक समितियों के काम में वृद्धि हो गई। उन्हें नियन्त्रित वस्तुओं का वितरण करना पड़ा (जैसे कपड़ा, अन्न)। उन्हें इन कार्यों के लिए सरकारी एजेंसी के रूप में उपयोग करना अधिक सुविधाजनक मालूम हुआ।

§१२ केन्द्रीय समितियाँ—अब तक हमने प्रारम्भिक समितियों पर विचार किया है। अब हम सहकारी संगठन के उच्चतर स्तर, जिसमे विभिन्न प्रकार की केन्द्रीय समितियाँ आती हैं, पर विचार करेंगे। भारत के सभी राज्यों में केन्द्रीय समितियाँ हैं, जिनका रूप या तो (१) गारंटी संघों का है या (२) पर्यवेक्षक संघों का या (३) बैंकिंग संघों का। संघ समितियों का संघान होता है जो एक निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत काम करता है। यह क्षेत्र प्रायः राजस्व जिले से काफी छोटा होता है। प्रबन्ध संघ-समिति द्वारा होता है, जिसमे सदस्य समितियों के प्रतिनिधि होते हैं। संघ-समिति एक वैतनिक सचिव और सदस्य समितियों के निरीक्षणार्थ एक उप-समिति नियुक्त करती है। जब संघ एक गारंटी संघ भी होता है तो वह समिति सदस्य-समितियों के लिए कुल बाह्य ऋण निर्धारित करती है। इसके लिए वह केन्द्रीय बैंक से सिफारिश करती है और उन बैंकों को सदस्य-समितियों द्वारा लिये गए ऋण के लिए गारण्टी देती है। इस प्रकार का प्रयोग पहले बम्बई में किया गया, लेकिन सफलता न मिलने के कारण इसे त्यागकर पर्यवेक्षक संघों की स्थापना की गई। वस्तुतः पर्यवेक्षण का कार्य विभिन्न राज्यों में विभिन्न संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है। कभी-कभी सहकारी विभाग इस काम को करता है। कभी-कभी विशेष पर्यवेक्षक संस्थाएँ, जैसे उपर्युक्त संघ, जिला पर्यवेक्षक परिषद् प्रान्तीय सहकारी संस्थान या केन्द्रीय बैंक, या इन संस्थाओं का कोई मिश्रित रूप, भी इस काम को करती हैं। यह आम शिकायत है कि पर्यवेक्षण का काम अच्छी प्रकार से नहीं होता और यदि होता भी है तो बिलकुल दिखावटी।

§१३ केन्द्रीय सहकारी बैंक—ग्रामीण समितियों के लिए पर्याप्त धनराशि—प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय संस्थाओं की आवश्यकता प्रतीत होती है। ये नगर के बड़े मुद्रा-बाजार और गाँवों के बीच का काम करते हैं। इनका महत्वपूर्ण कार्य अपने अधीन प्रारम्भिक समितियों की चालू पूँजी के आधिक्य और कमी को सन्तुलित करना है। केन्द्रीय बैंक प्रारम्भिक समितियों को अतिरिक्त पूँजी मुद्रा-बाजार के सामने अपनी साख पर देते हैं। कभी-कभी केन्द्रीय बैंक समितियों के संगठन एवं पर्यवेक्षण का काम भी हाथ में ले लेते हैं जो साधारणतः उनकी हिस्सेदार (शेयर-होल्डर) भी होती हैं। इनका सबसे महत्वपूर्ण काम धन प्रबन्ध है। कितने ही केन्द्रीय बैंक साधारण बैंकिंग का भी काम करते हैं। उनके कार्य क्षेत्र में काफी विभिन्नता होती है। उदाहरणार्थ बंगाल, बिहार, उड़ीसा और पंजाब में यह एक ताल्लुका या तहसील होता है जबकि बम्बई, मध्य प्रदेश और मद्रास में इनका कार्य क्षेत्र एक जिला या कई ताल्लुका तक फैला होता है।

केन्द्रीय बैंक दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध एवं मिश्रित। मिश्रित केन्द्रीय बैंकों

के सदस्य अंशत समितियाँ और अंशतः व्यक्ति होते हैं। शुद्ध केन्द्रीय बैंको के सदस्य केवल समितियाँ हो सकती हैं। मिश्रित बैंको के पक्ष में यह कहा जाता है कि इनको धनी मानी विशेषज्ञ व्यापारियो की सहायता प्राप्त हो जाती है मध्य वग के लोग भी आ जाते हैं और इस प्रकार पर्याप्त वित्तीय साधन मिल जाते हैं। यह प्रवृत्ति भी है कि समिति सदस्यो की वृद्धि की जाय और व्यक्ति सदस्यो को कम किया जाय, क्योंकि सहकारी आदश बक शुद्ध प्रकार का ही माना जाता है। केन्द्रीय बको की उधार निधि को ६० प्रतिशत प्राय ऋण के रूप में दिया जाता है। अत केन्द्रीय बक तरल साधनो (फ्लड रिसोर्सिज) के निम्नतर स्तर पर काम कर रहे हैं। कालातीत ऋण उनके द्वारा दिये गए ऋणो का काफ़ी बडा अनुपात होते हैं और कभी-कभी अप्राप्य ऋण उनकी निजी निधि से भी अधिक हो जाते हैं। बम्बई, मद्रास और पजाब म केन्द्रीय बैंको की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी है। लेकिन कुछ अन्य राज्यो, जैसे बगाल, बिहार उडीसा, मध्य प्रदेश आदि, में उनकी दशा इतनी सन्तोषजनक नही है। कुछ केन्द्रीय बक कृषि-उत्पादन की धरोहर पर व्यक्तियो को ऋण देते हैं। इसके विषय में यह कहा जाता है कि इस प्रकार वे उन्ही मध्यजनो की आर्थिक सहायता करते हैं जिनका उन्मूलन सहकारिता का उद्देश्य है। यह भी कहा जाता है कि इससे सहकारी विक्रय मे बाधा पहुँचती है। कुछ केन्द्रीय बंको के विषय में यह भी सत्य है कि उनके द्वारा अधिकाश ऋण प्रारम्भिक समितियो के बजाय व्यक्तियो को मिलता है। इसका प्रधान कारण सचालक मण्डल मे शहरी तत्वो की प्रधानता तथा समितियो को ऋण देने मे अधिक परेशानी और जोखिम का होना है।

केन्द्रीय बको को रिज़व बक या सम्मिलित पूँजी वाले बको से सीधे-सीधे व्यवहार करने की आज्ञा नहीं है। कुछ राज्यो में इन्होने कितने ही गैर ऋण सम्बन्धी कामों को हाथ मे ले लिया है। उनकी ऋण सम्बन्धी कायवाहियाँ भी बढ गई हैं। अतएव उन्हे अपनी चालू पूँजी की वृद्धि करना आवश्यक हो गया है।

'दि रिव्यू ऑफ कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया' (१९४८ ५०) में केन्द्रीय बकों की काय प्रणाली से सम्बन्धित निम्न प्रमुख बातो की ओर सकेत मिलता है—

(१) चालू पूँजी (वकिंग कपिटल) की अपेक्षा हिस्सा पूँजी (शेयर कपिटल) की सरचना कमजोर है। हिस्सा पूँजी का काफी होना बको के स्थायित्व का द्योतक है, जिससे एक ओर तो बाहरी ऋणदाता प्रभावित होते हैं दूसरे बक के प्रति सदस्य समितियो की निष्ठा भी प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त इससे बक के उचित नीति से काय करने के लिए आवश्यक पूँजी की सीमा निर्धारण में भी सहायता मिलेगी। अत केन्द्रीय बकों को चाहिए कि वे सहकारिता के सिद्धान्तो के अनुसार अपनी हिस्सा पूँजी बढाने की सम्भावनाओ की छान-बीन करें।

(२) बकों को अपनी परिनियत सचित निधि (स्टेचूटरी रिज़व फण्ड) तथा अन्य निधियों को बढ़ाने का प्रयास भी करना चाहिए।

(३) उन्हे ग्रामीण निक्षेपो को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। (इस समय बाह्य साधनो की तुलना म ग्रामीण समितियों के निक्षेपो का अनुपात नगण्य है।)

(४) व्यावसायिक बैंकिंग को घटाने का प्रयत्न होना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से अनेक राज्यों में बैंकों को काफी हानि हुई है।

(५) अन्त में बैंक की ऋणदान क्रियाओं की सुरक्षा के लिए अप्राप्य और असंदिग्ध ऋणों का उचित निर्धारण करना होगा और उसी अनुपात में संचित निधि का भी निर्माण करना होगा। (इस समय अप्राप्य ऋणों से सम्बन्धित संचित निधि काफी अपर्याप्त है)।[1] अनेक राज्यों में केन्द्रीय बैंकों और बैंक-संघों की संख्या अत्यधिक हो जाने के कारण यथोचित व्यापार की दृष्टि से प्रत्येक बैंक से सम्बन्धित समितियों की संख्या में अत्यन्त कमी हो गई है। दोषपूर्ण प्रशिक्षित तथा अपर्याप्त कर्मचारी एक अन्य बाधा हैं।

§१४ प्रान्तीय (राज्यीय) सहकारी बैंक—राज्यीय सहकारी बैंक केन्द्रीय बैंकों के काम को नियन्त्रित एवं समन्वित करते हैं और उनके लिए समाशोधन-गृह का काम भी करते हैं। इस प्रकार उनकी चालू पूँजी के भाव और अतिरेक का सन्तुलित करते हैं। अन्त में वे सम्पूर्ण राज्य की सहकारी समितियों के लिए वित्तीय केन्द्र हैं। राज्यीय बैंक एक ओर तो सामान्य मुद्रा-बाजार और शहरों के मिश्रित पूँजी वाले बैंकों व दूसरी ओर सामान्य मुद्रा-बाजार व प्रारम्भिक ग्रामीण समितियों के बीच की कड़ी हैं। कुछ राज्यों में राज्यीय बैंकों का सहकारी समितियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। लेकिन वहाँ केन्द्रीय बैंक नहीं हैं। वहाँ प्रारम्भिक समितियों को उन्हें स्वयं धन देना पड़ता है। पूर्वोल्लिखित कारणों से साधारणतया व सामान्य नियमानुसार राज्यीय बैंकों के सदस्य व्यक्ति और समितियाँ, दोनों ही होते हैं। वर्तमान परिस्थिति में व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि वांछनीय व्यापारिक ज्ञान प्राप्त हो और साथ ही धन भी मिले। सभी राज्यीय बैंकों में बम्बई का बैंक सर्वाधिक कुशल माना जाता है। बम्बई राज्य भर में वित्त प्रबन्धन पर्यवेक्षण, प्रचार एवं सामान्य सहकारी विकास में यह विविध प्रकार के कार्य करता है।

साधारणतया राज्यीय सहकारी बैंक (दो-तीन अपवादों को छोड़कर) सहकारी साख की समन्वित संरचना की प्रभावपूर्ण इकाई की तरह काम नहीं कर रहे हैं। इनके ऋण देने की प्रणाली में निम्नलिखित दोष हैं—

(क) ये सहकारी समितियों की अपेक्षा व्यापारियों, सौदागरों और अन्य व्यक्तियों को ऋण देते हैं। निम्न मजदूरों के प्रति उनका रुख प्रायः सहानुभूतिपूर्ण नहीं होता।

(ख) इनमें से कुछ अल्पकालीन कोष का उपयोग दीर्घकालीन ऋण के लिए करते हैं।

(ग) बिहार का राज्यीय सहकारी बैंक सहकारी साख के गतिरोध के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुआ है, इसका कारण बैंक द्वारा व्यवसाय और वाणिज्य के वित्तपोषण का प्रयास करना था।

(घ) कितनी ही दशाओं में दिये गए ऋण और कालातीत ऋणों का अनुपात

[1] रिव्यू ऑफ दि कोऑपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया, १९४८-५०, पृ० २५।

अवाच्छनीय रूप मे वढ गया है ।

§१५ सहकारी सेविन्वग—सहकारी साख-सगठन की एक वडी त्रुटि व्यावसायिक वैको के सिद्धान्त एव व्यावहारिक ज्ञानपूर्ण सेविन्वग का अभाव है । इस सम्बन्ध मे यह सुझाव रखा जाता है कि—

(१) नियन्त्रण करने वालो के बीच बैंकिग सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान रखने वालों की सख्या और भी अधिक होनी चाहिए ।

(२) व्यावसायिक बैंकिग तथा सहकारी आन्दोलन के बीच का सम्बन्ध और भी घनिष्ठ होना चाहिए ।

(३) व्यापार और बैंकिग मे प्राप्त स्थानीय प्रतिभावान व्यक्तियो का उपयोग करना चाहिए ।

(४) कर्मचारियो को बैंकिग मे प्रशिक्षण के लिए हर सम्भव तरीके से प्रोत्साहन देना चाहिए ।[1]

§१६ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया और सहकारी आन्दोलन—रिजर्व बैंक ने अपना कृषि साख विभाग अप्रैल १९३५ म स्थापित किया । इसकी व्यवस्था रिजर्व बैंक अधिनियम में थी । अधिनियम के अनुसार इस विभाग ने कृषि साख के सम्बन्ध मे अपनी रिपोर्ट दिसम्बर १९३७ मे भारत सरकार के समक्ष रखी और तभी से यह समय-समय पर सहकारी साख आन्दोलन की प्रगति और प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए बुलेटिन एव रिपोर्ट प्रकाशित करता रहा है । रिजर्व बैंक के पास कृषि-साख के समस्त प्रश्नो के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ रहते हैं । केन्द्र तथा राज्य सरकारें, राज्यीय बैंक तथा सहकारी समितियाँ इस विशेषज्ञ राय का लाभ उठा सकती हैं ।

§१७ रिजर्व बैंक और सहकारी अर्थ प्रबन्धन—रिजर्व बैंक को कुछ परिनियत अधिकार प्राप्त हैं जिनके अनुसार वह सहकारी बैंको को वित्तीय सहायता दे सकता है—

(१) १९५१ के पूर्व (क) रिजर्व बैंक की धारा १७(२)(ब) और (४)(स) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को राज्यीय सहकारी बैंको तथा अनुसूचित बैंको को अग्रिम देने का अधिकार मिला । कुछ अग्रिम विक्रय अथवा मौसमी कृषि-कार्य के लिए किये गए विनिमय-पत्र, जिनकी अवधि ९ महीना है, के बल पर दिये जाते हैं ।

(ख) धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक सरकारी या ट्रस्टी प्रतिभूतियो के आधार पर सहकारी बैंकों या अनुसूचित बैंकों को अल्पकालीन अग्रिम दे सकता है ।

(ग) धारा १७ (४) (ग) के अन्तर्गत बैंक राज्यीय सहकारी बैंको तथा अनुसूचित बैंको के उन प्रामिसरी नोटो के आधार पर अल्पकालीन अग्रिम दे सकता था, जिनके पीछे वस्तुओ का अधिकार प्रदर्शित करने वाले दस्तावेज हों तथा य इन बैंको की नकद साख की प्रतिभूति के रूप में दिये गए हों, जो व्यावसायिक अथवा अन्य व्यापारिक कार्यों, कृषि के मौसमी कार्यों अथवा फसलों के विक्रय के लिए दी गई हों ।

(२) १९५१ और १९५३ म हुए वृद्धि व परिवर्तन—१९५१ में पास किये गए

---

१ दरिद्र ६१८ ।

दो संशोधनों का सम्बन्ध रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा १७ (२) (अ) से था। इस संशोधन में वास्तविक व्यापारिक या व्यावसायिक कार्यों के लिए बनाये गए प्रामिसरी नोट या विनिमय पत्र के क्रय विक्रय तथा पुनः पूर्व प्रापण (रि डिस्काउण्ट) के सम्बन्ध में राज्यीय बैंकों को उसी स्तर पर रख दिया जिस पर अनुसूचित बैंक थे। दूसरे सुधार का सम्बन्ध अधिनियम की धारा १७(२) (ब) से था। इसमें कृषि के मौसमी कार्य एवं विक्रय की अवधि ६ माह से बढ़ाकर १५ माह कर दी गई। (क) १९५३ में रिजर्व बैंक अधिनियम धारा १७ (२) (ब) में संशोधन किया गया। इसके अनुसार कृषि-कार्य, फसल, फसलों का विक्रय आदि की ऐसी व्यापक व्यवस्था की गई जिससे इनके अन्तर्गत मिश्रित कृषि की क्रियाएँ आदि आ गई (अर्थात् कृषि के साथ की जाने वाली क्रियाएँ, जैसे पशु अभिजनन, विक्रय के पूर्व उत्पादकों या उनके किसी संगठन द्वारा फसलों का विधायन)। (ख) एक नई धारा १७ (२) (ब ब) जोड़ दी गई, जिससे बैंक राज्यीय वित्तीय निगम (स्टेट फाइनेन्शल कारपोरेशन) और राज्यीय सहकारी बैंकों के विनिमय-पत्र और प्रामिसरी नोट का पुनः पूर्व प्रापण कर सकता है। ये विनिमय पत्र या प्रामिसरी नोट बैंक द्वारा स्वीकृत कुटीर या अनुमाप उद्योगों के उत्पादन अथवा विक्रय क्रियाओं के लिए तथा १२ महीने में परिपक्व होने वाले हों, साथ ही इनके मूल्य और ब्याज की गारण्टी राज्य-सरकार ने दी हो। (ग) एक नई धारा १७ (४ अ) के आधार पर बैंक राज्यीय सहकारी बैंकों (स्टेट को आपरेटिव बैंक्स) को १५ माह से अधिक किन्तु ५ साल से कम समय के लिए कृषि-कार्यों के लिए मध्यमकालीन ऋण दे सकता है। ऐसे ऋणों की गारण्टी राज्य सरकार द्वारा होनी चाहिए तथा बैंकों की निजी निधि से अधिक नहीं और किसी भी हालत में ५ करोड़ रुपयों से अधिक नहीं होनी चाहिए।[1]

समय-समय पर रिजर्व बैंक सहकारी बैंकों को निर्देश दिया करता और सही बैंकिंग का मानदण्ड निश्चित करता है। अपने कृषि-साख विभाग द्वारा यह सहकारी समितियों का उनके स्थान पर जाकर निरीक्षण भी करता है। इसने पुनर्संगठन का एक कार्यक्रम भी बनाया है जिसमें कमजोर और आर्थिक दृष्टि से खोखले अलाभकारी सहकारी बैंकों के अवसायन की सिफारिश की है। छोटे-छोटे बैंकों को एक में मिलाने का भी सुझाव रखा है ताकि वे (१) वृहत्तर क्षेत्र में काम करें और ऊपरी व्यय (ओवरहेड कास्ट) में कमी हो, (२) सम्बद्ध समितियों को सस्ते दर पर ब्याज और कम खर्च पर सेवाएँ दे सकें, (३) साख-नीति पर उचित नियन्त्रण रख सकें और (४) योग्य तथा भली प्रकार प्रशिक्षित कर्मचारियों का प्रबन्ध कर सकें। योजना में और भी अधिक राज्यीय सहकारी बैंकों की स्थापना की सिफारिश है।[2]

रिजर्व बैंक ने स्वेच्छिक रूप से सहकारी बैंकों के निरीक्षण का काम भी प्रारम्भ किया है। इस प्रकार निरीक्षण का उद्देश्य यह पता लगाना है कि सहकारी केन्द्रीय बैंक सहकारी आन्दोलन के अर्थ-प्रबन्धन की केन्द्रीय एजेन्सी का किस प्रकार काम कर

[1] ऑल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट पृष्ठ २८८।
[2] ३० अप्रैल, १९५५ तक इनकी संख्या २१ थी।

रहे हैं तथा उनकी उपयोगिता कैसे बढ़ाई जा सकती है।[1] इधर हाल का विकास है कि सन् १९५१ में कृषि-साख की एक स्थायी परामशदात्री समिति का निर्माण किया गया। यह एक परामश विशेषज्ञ और नीति निर्धारक निकाय है और इसका काम रिज़व बक को कृषि साख विभाग तथा अन्य सम्बन्धित विषयो पर सलाह देना है। समिति तीन विशेष प्रकार के प्रश्नो से सम्बद्ध है:—

(क) इसका पहला काम कृषि-साख की व्यवस्था मे दीघकालीन नीति निर्धारित करना—विशेषकर इस दिशा मे रिज़व बक के भाग का निर्धारण।

(ख) कृषि-साख की वत्तमान व्यवस्था का युक्तीकरण और सुधार।

(ग) सरचनात्मक विकास तथा सुधार की समस्याएँ—विशेषकर उन राज्यो मे जो सहकारिता की दृष्टि से पिछड़े हैं। अपने जन्म के साथ ही इस स्थायी समिति ने तरल साधनो तथा पयवेक्षक अधिकारियो द्वारा निरीक्षण और लेखा परीक्षण तथा रिजव बक द्वारा साख-सीमा के निर्धारण के सम्बन्ध मे आदश मानदण्ड स्थापित करने का प्रयत्न किया है। समिति ने सहकारी बको को अल्पकालीन ऋण देने के सम्बन्ध में अनावश्यक कार्यवाही के निवारण के प्रश्न पर भी विचार किया है। कुछ राज्यो (विशेषकर वग 'बी' और 'सी') के पास सुसगठित कृषि-साख सस्थाएँ नही हैं। इससे रिज़व बक उन्हें ऋण नही दे सकता। अतएव परामर्श समिति ने यह सुझाव दिया है कि या तो नये शीष बको की स्थापना की जाय या वतमान शीष बको के सहकारी केन्द्रीय बको व बकिंग सघा के ढाँचे मे सुधार किया जाय। इससे ठोस परिणाम प्राप्त हुए हैं और जिन राज्यो मे शीष बक नही थे वहाँ उनकी स्थापना प्रारम्भ हो गई है।

§१८ रिजव बक और सहकारी प्रशिक्षण—रिज़व बक की स्थायी परामश समिति के प्रयासो के फलस्वरूप भारतीय बकर इस्टीटयूट के असोसियेट एग्ज़ामिनेशन में सहकारिता एक अनिवाय विषय हो गया। समिति ने सहकारी सेवि-वर्ग के विधिवत् प्रशिक्षण के लिए कदम उठाए हैं। बम्बई राज्यीय सहकारी सस्था के सहयोग से रिज़व बैंक ने पूना में एक अखिल भारतीय प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित किया है। यहाँ पर दो पाठयक्रम होते हैं। एक ६ महीने का अल्पकालीन पाठयक्रम, जिसम सहकारी विभाग के उच्च अधिकारियो तथा राज्यीय बको के कायपालकों का प्रशिक्षण होता है। दूसरा पाठयक्रम एक वष का है जिसमें मध्यम प्रकार के कर्मचारियो का प्रशिक्षण होता है। १९५३ म भारत सरकार और रिज़व बैंक ने मिलकर सहकारी प्रशिक्षण के लिए एक केन्द्रीय समिति की स्थापना की। इस समिति ने देश-व्यापी प्रशिक्षण का कायक्रम बनाया, जिसमें उच्च सेवि-वग के लिए पूना के अखिल भारतीय पाठ्यक्रम का विस्तार, मध्यम सेवि-वग के लिए ५ प्रादेशिक प्रशिक्षण-केन्द्रो की स्थापना (जिसमें पूना म विद्यमान केन्द्र सम्मिलित है) तथा देश के सहकारी विभागो और सस्थाओ के अधीन सेवि-वग के प्रशिक्षण-स्तर का सुधार सम्मिलित है। उच्च और

[1] इन निरीक्षण का उद्देश्य न तो विभागीय लेखा परीक्षण में दोहरापन लाना है और न किन्हीं बकों की साख सामथ्य का हो, और न इन कोषों से सम्बन्धित इनका न्याय प्रयासो का हो।

जायगी।'

ग्रामीण ऋण-सर्वेक्षण ने यह स्वीकार किया है कि 'सहकारिता असफल रही है किन्तु उसका यह दृढ़ मत है कि इसे अवश्य सफल होना है।'[१] चूँकि सफलता और असफलता की कोई अन्तिमता नहीं है अतः दोनों मतों का अर्थ एक ही है। दोनों ही सहकारिता की शक्तियों और सम्भावनाओं में दृढ़ आस्था रखते हैं व इसे ग्रामीण भारत की आर्थिक मुक्ति का सबसे प्रभावपूर्ण साधन मानते हैं।

२२ सहकारी आन्दोलन की असफलता के कारण—इस सम्बन्ध में ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण का मत है कि सहकारिता का उद्देश्य उत्तमतर कृषि, व्यापार और जीवन है। उसके मत में इस समय सहकारी संस्थाओं द्वारा जीवन के इन परस्पर सम्बन्धित क्षेत्रों में किया जाने वाला काम नगण्य है। उत्तमतर कृषि में सम्पूर्ण कृषि-सुधार और पुनर्गठन आते हैं। इसमें भू-धृति और भू धारण व लगान, आर्थिक जोत, सिंचाई, अच्छी खाद, सुधरे बीज और औजार, सहायक पेशे तथा किसान द्वारा अपने खेत के अच्छे उपयोग के साथ साथ सहायक पेशों द्वारा समय का अच्छा उपयोग भी सम्मिलित हैं। इनमें से अनेक कामों में नियोजित प्रारम्भ और राज्य की आर्थिक सहायता की आवश्यकता होती है। इनमें से जहाँ तक उत्तम व्यापार का सम्बन्ध है, कृषक व्यापार के दोनों पहलू साख और आर्थिक क्रिया से सम्बद्ध हैं। इन दोनों पहलुओं का काम उत्पत्ति, विधायन, संग्रह व विक्रय के बाद आता है तथा अभी ये सहकारिता के क्षेत्र से बाहर हैं और इनका नियन्त्रण साहूकार, व्यापारी आदि व्यक्तिगत एजेंसियों के हाथ में है। ग्रामीण सहकारी संस्थाओं को इन शक्तिशाली व्यक्तिगत संस्थाओं के विरोध और उनकी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। व्यक्तिगत एजेंसियों के गाँव, कस्बा, शहर आदि सब जगहों में फैले रहने तथा शक्तिशाली शहरी तत्त्वों से सम्बन्धित होने से उनकी आर्थिक स्थिति के अच्छी हो जाने के कारण सहकारी संस्थाएँ कार्य में कठिनाई में पड़ जाती हैं। साथ ही प्रारम्भिक समितियों को केन्द्रीय बैंकों से कम आर्थिक सहायता का मिलना भी असफलता का एक कारण है। कारण यह है कि केन्द्रीय बैंक प्रारम्भिक समितियों की तरह स्वयं ही वित्तीय दृष्टि से शक्तिहीन हैं। यह कमी राज्यीय सहकारी बैंकों में भी है। वर्तमान समय में रिजर्व बैंक से धन सहकारी संस्थाओं की ओर प्रवाहित न होकर व्यापारिक मार्गों की ओर ही अधिक प्रवाहित होता है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त स्वयं सहकारी समितियों के अन्दर ही कम जोरियाँ हैं। सहकारी समितियाँ ऋणी की चारित्रिक दृढ़ता तथा चुकाने की क्षमता पर विश्वास न कर उनसे जोखिम रोक प्रतिभूति का अपेक्षा करती हैं। चरित्र और चुकाने की क्षमता की तुलना में ग्रामीण समितियों तथा केन्द्रीय और भौम बैंकों का भूमिगत निश्चय अधिकार जैसे स्वामित्व अथवा भूमि की आर्थिक उत्पत्ति के मूल्य को आँकना अधिक सरल प्रतीत होता है। यह सबसे कम परेशान करने वाली प्रवृत्ति है

१ दूसरे शब्दों में 'सहकारिता मर गई। सहकारिता [illegible] [illegible] [illegible] ... [illegible]

तया इसमे विशेष पयवेक्षण तथा सगठन की आवश्यकता नही होती। भूमिहीन कृषक एक रक्षित काश्तकार भले ही हो किन्तु इस अधिकार को उससे अलग नहीं किया जा सकता। चाहे वह अरक्षित हो या रक्षित वह केवल अपनी भूमि के उत्पादन की ही प्रतिभूति दे सकता है, जिसका विक्रय फसल कटने के काफी पहले व्यापारी या साहूकार के हाथ हो जाता है। सहकारी सस्थाएँ कृषक की आधारभूत आवश्यकताओं—साख और विक्रय—की बहुत कम पूर्ति कर पाती हैं। यदि उनके साधन अधिक होते और वे थोड़ा और अधिक कष्ट उठाने को तैयार होतीं तो वे निश्चय ही फसल ऋण के रूप में किसानो को और अधिक ऋण दे सकती थी। लेकिन सबसे आधारभूत परिवर्तन तो सहकारी विक्रय के क्षेत्र मे करना है ताकि सभी सदस्यो के उत्पादन का विक्रय केवल समितियो के माध्यम से हो, और इसके लिए समितिया को आर्थिक और प्राविधिक साधनो की इतनी अपेक्षा है जो वतमान विक्रय समितियो के पास नही हैं।

साराश रूप मे सहकारी ऋण की असफलता के कारणो को तीन प्रधान वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) ऋण (साख), विक्रय और विधायन के आपसी सम्बध का मूल्याकन करने म असफल रहना।

(२) इन सब क्षेत्रो में व्यक्तिगत एजेंसिया द्वारा शक्तिपूर्ण प्रतिस्पर्धा।

(३) ग्रामीण सहकारी साख की दुबल सरचना।

§२२ **ग्रामीण उत्पादन का गर कृषीय पक्ष**—उत्तम व्यापार के सम्बध में न केवल हम साख विक्रय एव कृषि विधायन को ही लेन हैं वरन् ऐसी क्रियाओ को भी ध्यान में रखते हैं जो कृषि-उत्पादन-काय में सहायक हो अथवा बृहद् ग्रामीण उत्पत्ति का किसी और रूप मे एक अग हों। इनमें हम मिश्रित कृषि के पहलुओं के रूप में व्यवसाय, पशु अभिजनन तथा ग्रामीण क्षेत्रो के कुटीर-उद्योगों को भी सम्मिलित करना होगा। यहाँ भी सहकारी आदोलन व्यक्तिगत व्यापारियो और अय प्रबधको से पीछे रहता है। इसके अतिरिक्त कुटीर-उद्योगो को बड़े पमाने पर सगठित उद्योगो की घोर प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है।

§२३ **मनोवज्ञानिक एव सामाजिक कारण**—सहकारी एव अय क्षेत्रो की बकिंग और बीमा आदि सस्थाओ में, जिनसे सहकारी वक सहायता की आशा कर सकते हैं, कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्होंने सहकारी साख और प्रगति को बाधित किया है। सहकारी क्षेत्र के अतगत प्रारम्भिक समितियो के प्रबधक सदस्यो की प्रवृत्ति यह रहती है कि व अपना पक्ष लेते ह। दूसरी प्रवृत्ति समिति का समाज का एक वग विशेष, जस भूस्वामी वग या कोई जाति विशेष की परिरक्षित वस्तु समझने की है। दूसरा कारण सहकारी सस्थाओं में बाहरी तत्त्वो का प्रवेश और उनका ग्रामीण सस्थाओ तथा समस्याओ के प्रति उदासीन दृष्टिकोण का होना है। शीष सस्थाओ (जसे राज्य सहकारी वक और केन्द्रीय भू-बधक बक) में भी शक्तिशाली व्यक्तियों को देखा जा सकता है जो स्पष्ट रूप से ग्रामीणो की अपेक्षा नागरिक हितो तथा छोटे किसानो की अपेक्षा बड़े भूपतियो में अधिक रुचि लेते हैं। सहकारी वक भौतिक प्रतिभूतियों के प्रति अभि

कृषि विधान के अलावा सहकारी समितियों की अपेक्षा व्यक्तिगत व्यापार को बहुधा ऋण देते हैं। भू-बन्धक बैंकों से भूमि-सुधार और उत्पादन की वृद्धि की अपेक्षा पुराने ऋणों से मुक्ति पाने के लिए अधिक ऋण मिलता है, क्योंकि उत्पादक ऋण के प्रस्तावों के उचित परीक्षण में अधिक व्यय और परेशानी होती है।

§२४ सहकारी समितियाँ और उत्तम जीवन—सहकारिता का तीसरा उद्देश्य उत्तम जीवन है। इधर समितियों ने पहले दोनों पक्षों की अपेक्षा इस पर अधिक जोर देना प्रारम्भ किया है। अखिल भारतीय ग्रामीण साख-सर्वेक्षण के अनुसार यह एक पलायनवादी दृष्टिकोण है। सहकारी विचारों ने यह कहकर अपना दोष छुड़ाने की कोशिश की है कि आन्दोलन की अब तक की असफलता का कारण यह है कि इसने कृषि और व्यापार के अलावा जीवन के सब पहलुओं को दृष्टि में नहीं रखा। सच तो यह है कि उत्तम व्यापार और उत्तम कृषि के परिणामस्वरूप ही जीवन उत्तम हो सकता है।

§२५ असफलता के आधारभूत कारण—अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण रिपोर्ट के लेखकों के मत में भारत में सहकारी आन्दोलन की असफलता का आधारभूत कारण भारत की पहले की कमजोर स्थिति, जो जाति प्रथा या अन्य कारणों से थी, पर वाणिज्यिक उपनिवेशवाद, शहरीकरण तथा औद्योगीकरण के संयुक्त प्रभाव का पड़ना है। इसके अन्य कारण छोटी छोटी इकाइयों की बिखरी कृषि-व्यवस्था और नियामक संरचनात्मक एवं प्रशासकीय कठिनाइयाँ, उपयुक्त सचिव-वर्ग का अभाव, प्रशिक्षण का अभाव, निरक्षरता की पृष्ठभूमि, सड़कों, संग्रह तथा अन्य आवश्यकताओं की कमी आदि हैं। इस प्रकार के औद्योगीकरण एवं शहरीकरण के परिणामस्वरूप देश भर में लगभग १०० वर्ष तक एक अत्यंत ही द्राव्यिक (मोनटाइज्ड) और नागरिक अर्थ-व्यवस्था इस ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था पर लाद दी गई जो आत्म निर्भर और सामाजिक दृष्टि से जाति प्रथा पर आधारित थी। द्राव्यिक अर्थ-व्यवस्था का सूत्रपात के साथ ही उसका सम्बन्ध औपनिवेशिक वाणिज्य के साथ रहा है। औपनिवेशिक वाणिज्य का पोषण औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा हुआ। वाणिज्य और प्रशासन से बड़े-बड़े वित्तीय संस्थान, बड़े व्यापार-गृह आदि सम्बन्धित थे। इन सबसे, विशेषकर वित्तीय संस्थानों से, द्राव्यिक अर्थ-व्यवस्था को शक्ति मिली। औपनिवेशिक राज्य में परिवर्तन हुए। यह क्रमशः उदार और प्रजातान्त्रिक होने लगी और अब पूर्ण प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता में परिणत हो गई है। किन्तु इसके सहायक रूप में विकसित होने वाले वित्त, व्यापार और उद्योग के संस्थान मुख्यतः अब भी अपरिवर्तित हैं।

अध्याय १२

अखिल भारतीय ग्रामीण साख (ऋण) सर्वेक्षण

§१ अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण—श्री बी० रामा राव, गवर्नर रिजर्व बैंक, द्वारा आयोजित सहकारिया, अर्थशास्त्रज्ञा एवं प्रकाशकों में एक अनौपचारिक सम्मेलन के सुझाव पर रिजर्व बैंक ने अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण का काम हाथ में लिया। यह काम एक छोटी सी सचालन समिति को सौंपा गया। सर्वेक्षण की आधार-सामग्री ६०० चुने गाँव थे और यह सामग्री १२७,३४३ परिवारों से सकलित की गई। ये गाँव देश के ७५ जिलो से चुने गए थे। इस सर्वेक्षण के परिणाम तीन भागों में सकलित किये गए हैं—

(क) सर्वेक्षण की रिपोट।

(ख) सामान्य रिपोट।

(ग) प्राविधिक (टैकनीकल) रिपोट।

यहाँ हम सामान्य रिपोट का साराश दे रहे हैं।

§२ उद्देश्य और आवश्यकताएँ—साधारणतया किसान एक फसल कटने से दूसरी फसल तक फसल सम्बन्धी आवश्यकताओं और परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं बचा पाता। अत उसकी सामान्य वार्षिक साख आवश्यकताओं में उपभोग एवं उत्पादन-तत्त्वों को सम्मिलित करना होगा। वह शादी, मृतकर्म इत्यादि अवसरो पर आवश्यकता से अधिक ऋण लेता एवं व्यय करता है। कृषक को सहायक एवं पूरक पेशों की अत्यंत आवश्यकता है। कृषक के आर्थिक जीवन में कुटीर-उद्योगों के गैर कृषि-उत्पादन का महत्त्व असदिग्ध है। ग्रामीण साख की कोई भी योजना सन्तोषजनक तभी हो सकती है जब वह इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति करे। इसके अतिरिक्त सस्थान साख को निम्न आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए—

(क) इसका सम्बन्ध राज्य की नीति से होना चाहिए—विशेषत उनसे जिनका लक्ष्य ग्राम्य उत्पादन की वृद्धि करना है।

(ख) इसे व्यक्तिगत ऋणदाता सस्थाओं का प्रभावपूर्ण विकल्प होना चाहिए।

(ग) इसके पास आवश्यक धन और पर्याप्त प्रशिक्षित कर्मचारी होने चाहिए।

(घ) इसे अपना काम न केवल (१) अल्पकालीन, मध्यकालीन और दीर्घकालीन क्षेत्रों में आन्तरिक रूप से समन्वित करना चाहिए वरन् (२) कृषक को विक्रय, विधायन और अन्य आर्थिक क्रियाओं तथा (३) उसकी कृषि-पद्धति को सुधारने, आय

३ प्रतिशत है। लेकिन तकावी का इतिहास अपर्याप्तता का इतिहास है।[1] इसके अतिरिक्त सरकार से भी ऋण सहकारी ऋणो की भांति छोटे और मध्यम किसानो की अपेक्षा बडे किसानों को ही अधिक मिलते हैं। न तो सहकारी समितियों और न सरकार के पास ही पर्याप्त पर्यवेक्षक कर्मचारी हैं जो यह देख सकें कि ऋण उत्पादक कार्यों मे लगाया जा रहा है।

कृषकों को व्यावसायिक बकों से प्राय नहीं के बराबर ऋण मिलता है। इनसे उन्हें लगभग १ प्रतिशत ऋण प्राप्त होता है। ये बक, जिनमें इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया भी है देश के मुद्रीकृत (मोनटाइज्ड) और व्यावसायिक केन्द्रों में स्थित हैं। कम विकसित क्षेत्र प्राय उपेक्षित ही हैं, यहाँ तक कि सहकारी बक तथा सहकारी सस्थाएँ भी इन क्षेत्रो में कम ही विकसित हैं।

व्यापारी और साहूकार मिलकर कृषक के ऋण के ७० प्रतिशत से अधिक की पूर्ति करते हैं। साहूकार ऋण के उद्देश्य का कोई ध्यान नही रखता और अधिकतम ब्याज दर लेने का प्रयास करता है। व्यापारी अगली फसल के आधार पर पेशगी के रूप में ऋण देता है और फसल की यथासम्भव कम कीमत लगाता है। निम्न अर्थ-व्यवस्था वाले क्षेत्रो अथवा निर्वाह क्षेत्रो, अर्थात् वे क्षेत्र जो स्थानीय खाद्य आवश्यकताओं के अतिरिक्त और कुछ पैदा नही करते, पर साहूकार का एकाधिकार है। व्यापारी विशेषकर नकद फसलों या व्यवसायपूर्ण क्षेत्रो में दिखाई पडता है, किन्तु यहाँ भी साहूकार उनसे प्रबल होता है।

§४ भावी नीति का आधार—गाँवो मे सहकारी समिति को छोड़कर अन्य किसी प्रकार की साख-व्यवस्था उपयुक्त सिद्ध नही होगी। वैयक्तिक ऋण वैसे भी अनुपयुक्त हैं और नियोजित उत्पादन के प्रसग मे तो वे सर्वथा अनुपयुक्त हैं। सस्थात्मक साख तब तक बडे-बडे भूस्वामियो तक ही सीमित रहेगी जब तक इसे ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी सस्थाओं द्वारा लघु एव मध्यम प्रकार के किसानो को प्राप्य नही किया जाता। 'सहकारिता असफल हो चुकी है लेकिन इसे सफल होना है।' इसकी असफलताओं के कारणो का विश्लेषण इसलिए करना आवश्यक है कि भविष्य में इसकी सफलता के लिए अच्छी दशाएँ उत्पन्न की जा सकें।[2]

§५ राज्य भागिता—ऐसी आवश्यक (मात्रा और प्रकार मे) सहायता, जिससे सहकारी समितियाँ अपने प्रतिद्वन्द्वियों का सामना करते हुए किसानों की सेवा कर सकें राज्य ही कर सकता है। सहकारी साख विधायन और विभाग में राज्यीय पथ प्रदर्शन और सहायता के साथ ही राज्य भागिता भी अनिवार्य है।

§६ ग्रामीण साख की सर्वोन्मुखी योजना—निम्न तीन आधारभूत सिद्धान्तों पर ग्रामीण साख ऋण के पुनर्गठन का प्रस्ताव रखा गया है—

(क) विभिन्न स्तरों पर राज्य भागिता।

(ख) साख एव अन्य आर्थिक क्रियाओं में पूर्ण समन्वय।

---

१ देखिए अध्याय १०, §१७।

२ इस विश्लेषण के लिए देखिए, अध्याय ११, §२१ ८।

(४) राष्ट्रीय कृषि-साख (स्थायीकृत) कोष का उपभाग राज्य सहकारी बैंकों इत्यादि को मध्यकालीन ऋण देने के लिए किया जाना चाहिए। ऐसा करने के लिए रिजर्व बैंक को यह देख लेना चाहिए कि यदि अल्पकालीन ऋण का चुकता किसी कारणवश (जैसे अकाल, सूखा आदि) न हुआ हो तथा उसके चुकता न होने से राज्य सहकारी साख-संरचना को कोई हानि पहुँचने की सम्भावना न हो तो उसको भुगतान स्थगित कर दी जाय। ऐसी दशा में रिजर्व बैंक के बैंकिंग विभाग एवं स्थायीकृत कोष (स्टेबिलाइजेशन फण्ड) में किताबी कार्यवाही कर ली जायगी। प्राविधिक दृष्टि से अल्पकालीन ऋण चुकता मान लिया जायगा, किन्तु वस्तुतः उसका परिवर्तन मध्यकालीन ऋण में हो जायगा। रिजर्व बैंक यह शर्त भी लगा सकता है कि वह यह सुविधा तभी देगा जब राज्यीय सहकारी बैंक के पास भी वैसा ही स्थायीकृत कोष हो। यही बात केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा जहाँ सम्भव हो वहाँ प्रारम्भिक समितियों के सम्बन्ध में भी लागू की जा सकती है। रिजर्व बैंक इस बात का भी आग्रह कर सकता है कि कालातीत देयता सहकारी साख-संस्था के अन्तर्गत स्थित स्थायीकृत कोषों से ही चुकाई जाय।

(५) इन कोषों की व्यवस्था तथा उन कार्यक्रमों और नीतियों का निर्धारण, जिनके लिए ये कोष प्रयुक्त होते हैं, रिजर्व बैंक द्वारा होनी चाहिए। रिजर्व बैंक के कृषि-साख विभाग का पुनर्गठन होना चाहिए ताकि वह इन अतिरिक्त जिम्मेदारियों को भली प्रकार निभा सके। रिजर्व बैंक की स्थायी परामर्श-समिति को एक लघु विशेषज्ञ निकाय के रूप में बने रहने देना चाहिए। साथ ही राष्ट्रीय आधार पर विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली एक स्थायी परामर्श-समिति होनी चाहिए, जिसका काम रिजर्व बैंक, राष्ट्रीय सहकारी विकास एवं भाण्डागार परिषद् तथा खाद्य और कृषि मन्त्रालय को राय देना होना चाहिए।

९८ केन्द्रीय सरकार का कार्य—कृषि एवं खाद्य मन्त्रालय का राष्ट्रीय कृषि साख (सहायता एवं गारण्टी) कोष का उपयोग राज्यों द्वारा सहकारी संस्थाओं में अनुदान देने में करना चाहिए। यह ऋण ऐसी अप्राप्य देय राशि चुकता करने के लिए देना चाहिए जहाँ वे इतने अधिक हो चुके हों कि सहकारी संस्थाओं के विघटित हो जाने का भय उपस्थित हो। ऋण देने से पूर्व मन्त्रालय को यह निश्चय कर लेना चाहिए कि यह देय राशि सहकारी संस्थाओं के नियन्त्रण से बाहर के कारणों, जैसे व्यापक दुर्भिक्षादि, के फलस्वरूप है। इस कोष से मिलने वाली सहायता को राज्य सरकारों के अनुदान पर आधारित करना चाहिए, जो वे अपने कृषि-साख (सहायता एवं गारण्टी) कोष से दें। इस कोष से सहायता इस शर्त पर दी जाय कि राज्य सरकारें उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के ही लिए अपने कृषि-साख (सहायता और गारण्टी) कोष में एक निश्चित रकम दें।

९९ राज्य सरकारों का कार्य—(१) राज्य सरकारें उस साख के विकास के लिए जिस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी होंगी जो रिजर्व बैंक के परामर्श से बनाई जायगी।

(२) तकावी एव अन्य इसी प्रकार के राज्यीय कृषि ऋण तथा केन्द्रीय कोष से मिलने वाले ऋण को अकाल और अभाव जसी सम्भाव्यताओं के अथ प्रबन्धन के लिए 'आपदा वित्त' तक सीमित रखना चाहिए। इनके अपवादो में निम्न हैं—(क) जहाँ सहकारी सस्थाएँ अभी अविकसित हैं वहा सक्रमणकालीन व्यवस्था म उत्पादक कार्यों के लिए भी तकावी ऋण दिया जा सकता है, लेकिन इन सब दशाओं में सहकारी सस्थाएँ यथाशीघ्र स्थापित की जानी चाहिए। (ख) कुछ विशिष्ट क्षेत्रो एव वर्गों के लिए विशेष साख की व्यवस्था की जा सकती है, जैसे लगातार दुर्भिक्ष से पीडित क्षेत्र या पिछडी जातियो या वर्गों से वसे हुए क्षेत्र।

§१० सहकारी आन्दोलन का काय—(१) सरचना और सेवि वग—(क) रिजव वक के परामश स राज्य-सरकारो को हर स्तर पर सहकारी साख सस्थाओ के पुनर्संगठन के लिए प्रावस्थाभाजित (फेज्ड) कार्यक्रम बनाना चाहिए।

(ख) यह पुनर्संगठन बृहत् राज्य भागिता के आधार पर होना चाहिए। ऐसी बृहत् राज्य भागिता जिला और शीप स्तर पर अनिश्चित काल तक चलनी चाहिए, परतु प्रारम्भिक स्तर पर निश्चित समय के लिए होनी चाहिए। राज्य भागिता शीप स्तर पर प्रत्यक्ष होगी और जिले स नीचे और प्रारम्भिक स्तर पर अप्रत्यक्ष होगी, अर्थात् राज्यीय सहकारी बको द्वारा केन्द्रीय वैको और इन दोना द्वारा बडी आकार की प्रारम्भिक समितिया तक राज्य भागिता का विस्तार होगा।

(ग) जहाँ सम्भव हो उच्च स्तर की सहकारी सस्थाओ में महत्त्वपूर्ण पदो तथा जहाँ व्यवहाय हो वहाँ वडे आकार की प्रारम्भिक समितियो के लिए प्रशिक्षित सेवि-वग, राज्यीय सहकारी वैंक अथवा राज्य सरकार द्वारा सस्थापित सवर्गों (कैडर) से प्रतिनियुक्त किये जायें। (साख स भिन्न विक्रय आदि के लिए प्राविधिक सेवि-वग प्रस्तुत करने का भार राज्यीय सहकारी वैंका पर न होकर राज्य-सरकारा पर होगा)। राज्य सरकार की सहकारी सेवा का दो अगो मे सगठन किया जा सकता है—(१) प्रशासकीय (२) प्राविधिक। इस प्रकार एक राज्यीय सहकारी प्रशासकीय सेवा होगी (श्रेणी १ तथा श्रेणी २) तथा एक अधीनस्थ सहकारी सेवा (प्रशासकीय) होगी। इसी प्रकार एक राज्यीय सहकारी प्राविधिक सवा (श्रेणी १ व २) और दूसरी अधीनस्थ सहकारी सेवा (प्राविधिक) होगी।

(घ) साख-सरचना के अल्पकालीन एव दीघकालीन अगों में अधिकतम समन्वय होना चाहिए। वध तथा वित्तीय दृष्टि से एक दूसरे स अलग रहते हुए भी राज्यीय सहकारी वक और केन्द्रीय भू-बधक बको का प्रशासकीय कमचारी वग एक ही होना चाहिए और यदि सम्भव हो सक तो उनका सचालक-मण्डल (बोर्ड आफ डाइरेक्टस) भी एक ही होना चाहिए। यदि सम्भव न हो तो कम-स कम कुछ सचालक उभयनिष्ठ होने चाहिए।

(च) प्रारम्भिक साख-व्यवस्था के भावी विकास की दिशा सीमित दायित्व की बृहत्तर समितिया की स्थापना की ओर होनी चाहिए।

(छ) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकृत) कोष के पूरक के रूप में राज्य एव केन्द्रीय बको मे भी कृषि साख (स्थायीकृत) कोषों की स्थापना होनी चाहिए। जहाँ सम्भव हो वहाँ

लिए ऋण तथा आर्थिक सहायता देकर उनका नियोजन तथा अथ प्रबन्धन करना चाहिए। इसके लिए वह राष्ट्रीय भाण्डागार विकास-कोष से धन ले सकता है। इस कोष का दूसरा उपयोग अखिल भारतीय भाण्डागार निगम की हिस्सा-पूंजी में योग देना और राज्य सरकारों तथा उपयुक्त नियम को इस योग्य बना देना है कि वे राज्य भाण्डागार कम्पनियों की हिस्सा-पूंजी में अशदान द सकें। अन्त में राज्य भाण्डागार कम्पनियाँ स्वय उन सरकारी विक्रय समितियों के हिस्से खरीद सकती हैं जिनका सग्रह अथवा भाण्डागार एक प्राथमिक काय हो। (२) अखिल भारतीय महत्त्व के केन्द्रो पर सग्रह एव भाण्डागार का विकास काय अखिल भारतीय भाण्डागार निगम के हाथ म जाना चाहिए। (३) राज्य भाण्डागार कम्पनिया को जिनका निर्माण उनकी हिस्सा-पूंजी मे अखिल भारतीय भाण्डागार निगम तथा राज्य-सरकारा के सहयोग से हो, राज्य और जिले के स्तर पर महत्वपूर्ण केन्द्रा में सग्रह और भाण्डागार का विकास-काय अपने हाथ म लेना चाहिए। (४) जहा विनियमित बाजार हो और भाण्डागार निगम अथवा राजकीय कम्पनियो के काय फल चुके हो वहाँ इन बाजारा का प्रबन्ध इन सस्थाओं के हाथ में होना चाहिए। सस्था के अफसरो की सहायता के लिए एक स्थायी परामश समिति की स्थापना हो सकती है। (५) सहकारी सगठन सग्रह एव भाण्डागार का काम जिले के आन्तरिक भागो में करेगा। जब हर बड़े गाँव मे सग्रहालय अथवा भाण्डागार बन जायेंगे तो यह काम पूरा हो जायगा। (६) हर स्तर पर गोदामों एव भाण्डागारों का उपयोग खाद आदि उवरक तथा चीनी, मिट्टी का तेल, दियासलाई आदि आधारभूत आवश्यकता की वस्तुओं के वितरण के लिए किया जा सकता है। वितरण-सम्बन्धी येह काय एजेंसी के रूप में किया जाना चाहिए ताकि निगम, कम्पनी या समिति को व्यावसायिक जोखिम न उठानी पड़े। (७) साधारणतया इन गोदामों एव भाण्डागारो को अधिग्रहण करके अखिल भारतीय भाण्डागार निगम राज्यीय भाण्डागार कम्पनी अथवा सहकारी समिति को न सौंपा जायगा। लेकिन यदि गोदाम या भाण्डागार विनियमित बाजार अथवा इस प्रसग म अधिसूचित क्षेत्र में स्थित हैं तो उन्हे क्षति-पूर्ति देकर अनिवायत अधिग्रहण किया जा सकता है।

§१३ ग्रामीण एव सहकारी बैंकिंग सुविधाओं का विकास—प्रधानतया ये सुविधाएँ स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्राप्त होंगी। स्टेट बक ऑफ़ इण्डिया का निर्माण इम्पीरियल बक ऑफ इण्डिया तथा देशी राज्या से सम्बन्धित बैंका, जसे स्टेट बक ऑफ़ सौराष्ट्र बक ऑफ पटियाला, बक ऑफ़ बीकानेर, बक ऑफ जयपुर बक ऑफ़ राजस्थान, बक ऑफ इन्दौर, बक ऑफ़ बड़ौदा बक आफ मसूर, हैदराबाद स्टेट बक और ट्रावनकोर बक (इसके अलावा कुछ छोटे छोटे और बैंक), का सविधिक एकीकरण करके किया जाना चाहिए। इस नवीन सस्था का निर्माण इस प्रकार हो कि हिस्सा-पूंजी व मताधिकार में भारत सरकार और रिजर्व बक का सम्मिलित भाग और ५२ प्रतिशत हो।

§१४ सेवि वग की प्रशिक्षण सुविधाओं का विकास—(१) सहकारी प्रशिक्षण की

केन्द्रीय समिति को भारत सरकार और रिज़र्व बैंक द्वारा अधिक धन राशि मिलनी चाहिए, जिससे वह प्रशिक्षण-सुविधाओं का विकास और प्रसार कर सके। (२) प्रत्येक स्तर पर वैयक्तिक या संस्थात्मक सेवि वर्ग को प्रशिक्षण की पूरी-पूरी सुविधा मिलनी चाहिए। बैंकिंग, विक्रय और औद्योगिक सहकारी समितियों एवं प्रशासन, पर्यवेक्षण एवं लेखा परीक्षण के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। (३) इस प्रशिक्षण का समन्वय राष्ट्रीय प्रसार सेवा तथा सामुदायिक विकास योजना के सेवि-वर्ग की आवश्यकताओं के साथ करना चाहिए। (४) प्रशिक्षण को संगठित करते समय केन्द्रीय समिति को इस बात का पूरा ध्यान रखना होगा कि उन्ह एक ऐसे नये प्रकार के अधिकारियों को तैयार करना है जिनके पास प्रशिक्षण की आवश्यक पृष्ठभूमि है तथा भविष्य में उन्ह ग्रामीण आवश्यकताओं को समझना और सुलझाना होगा।

§१५ निजी एजेंसियों का कार्य—योजना का पूरा उद्देश्य राज्य भागिता वाली सहकारी बैंकिंग संरचना का विकास करना है ताकि साहूकारों की वैकल्पिक तथा प्रतिद्वन्द्वी संस्था पैदा हो जाय, जिससे साहूकारों की शक्ति तथा साधन किसानों की दृष्टि से अधिक लाभपूर्ण क्रियाओं की ओर मुड़ जायें। इसीलिए ही इस योजना में साहूकारों को कोई स्थान नहीं दिया गया है। फिर भी आशा की जाती है कि व्यक्तिगत ऋण-दाता व्यापारी, साहूकार और व्यापारिक बैंक निजी रूप से ग्रामीण साख की योजना में पूरक सिद्ध होंगे, यद्यपि योजना में उन्हें कोई विशिष्ट स्थान नहीं दिया गया है। देश में गोदामों एवं भाण्डागारों का विस्तृत जाल फैल जाने से व्यापारिक बैंकों को भी महानुपात पर ऋण देने में सुविधा होगी।

§१६ ग्रामीण बचत—ग्रामीण बचत को सम्भव बनाना उसकी उपलब्धि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि ग्रामीण बचत होगी तो वह अवश्य ही पहले ग्रामीण उपयोगों में लगाई जायगी। लेकिन उनकी मात्रा ग्रामीण आवश्यकताओं की तुलना में इतनी कम है कि उन्हें नागरिक क्षेत्रों की ओर प्रवाहित करने के बजाय उसकी पूर्ति नागरिक क्षेत्रों से करनी पड़ेगी। सरकारी ऋणों का उद्देश्य ग्रामीण ऋणों की अपेक्षा नागरिक तथा अर्ध-नागरिक क्षेत्रों से बचत प्राप्त करने का होना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों की बचत भू-बन्धक बैंकों एवं सहकारी समितियों के लिए छोड़ देनी चाहिए। प्रमुखतया चार तरीकों से प्रारम्भिक ऋण समितियाँ केन्द्रीय बैंक केन्द्रीय भू-बन्धक बैंक और विक्रय, विधायन एवं अन्य समितियाँ ग्रामीण बचत को वर्तमान की अपेक्षा कहीं बड़े पैमाने पर प्राप्त कर सकती हैं—(१) चिट निधि को प्रोत्साहन, (२) सहकारी बैंकों में सहकारी पूँजी की नियुक्ति (३) सहकारी विक्रय, विधायन एवं अन्य आर्थिक क्रियाओं का विकास तथा (४) भू-बन्धक बैंकों के सहकारी ऋण-पत्रों को जारी करना। भू-बन्धक बैंकों द्वारा जारी किये गए ऋण-पत्र यथासम्भव ऐसे विकास-कार्यों के लिए होने चाहिएँ जिनमें ग्रामीणों की अभिरुचि हो तथा इन्हें फसल के कटने और विपणन के समय जारी करना चाहिए। जहाँ तक इन ऋण पत्रों के पुन चुकाने का प्रश्न है इन्ह ग्रामीण विनियोजन की आवश्यकताओं के अनुसार बनाना चाहिए।

गतिशील बैंकों से सम्बन्धित प्रयोग को उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रखा जाना

उनमें आत्म-सहायता, मितव्ययिता सह प्रयास की आदतें ही डाली जा सकती हैं और न सम्पूर्ण ग्रामीण साधनों का उपयोग ही किया जा सकता है।[1] रिपोर्ट में मांग की गई है कि उनके द्वारा प्रस्तावित योजना को तुरन्त कार्यान्वित किया जाय क्योंकि अब लगभग एक दशक के पश्चात् जिसमें अच्छे मूल्यों के कारण ग्रामीणों ने अपने पुराने ऋणों को पर्याप्त मात्रा में चुका दिया है, ऋणिता की ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। ऐसी आशा है कि सरकार इन सुझावों पर शीघ्र ही अमल करेगी।

यह सब बड़ा अच्छा है, लेकिन यहाँ पर थोड़ी सी चेतावनी देनी होगी कि कहीं उत्साह में सहकारिता के मूलभूत सिद्धान्तों को न भुला दिया जाय। पिछले वर्षों में सरकार की नीति प्रशासन अधिक करने की, पर वित्तीय सहायता कम ही देने की रही है। अब भय यह है कि प्रशासन और अधिक न बढ़ और आवश्यकता से अधिक धन सरलता से प्रस्तुत न करा दिया जाय। अब सरकारी प्रशासन की कठोरता का उतना भय नहीं है जितना ब्रिटिश युग में था, क्योंकि उस समय सहकारी आन्दोलन में नौकरशाही का प्रभुत्व था जो एक विदेशी और निरंकुश सरकार की आज्ञाओं के अधीन कार्य कर रही थी। अब अपनी सरकार और लोकप्रिय निर्वाचित मन्त्रियों के होने के कारण अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप का निवारण कठिन न होगा, विशेषत यदि गैर सरकारी व्यक्ति काफी सतर्क रहें। परन्तु राज्य तथा अन्य एजेंसियों द्वारा अत्यधिक धन देने का भय कुछ सच्चा-सा लगता है। बैंक-संगठन का एक महत्वपूर्ण अंग अब देने की कृषि-सेवा में लगाया जा रहा है और बड़ी ही सावधानी के साथ ऋण देने की पुरानी नीति का स्थान बड़ी सरलता से धन देने की नीति ले रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रामीण साहूकार के प्रभावपूर्ण विकल्प के रूप में सहकारी साख-समितियों को अधिक धन देकर संगठित करना आवश्यक है। परन्तु यह कार्य इस प्रकार न होना चाहिए कि समितियों की आत्म निर्भरता तथा अपने आन्तरिक साधनों को विकसित करने की प्रवृत्ति दुर्बल हो जाय। समितियों के लेन-देन की कड़ी जाँच करनी होगी ताकि उनके ऋण सुरक्षा को ध्यान में रखकर दिये जायें। ग्रामीण साख-सर्वेक्षण ने साख-क्षमता की लचीली व्याख्या करने की आवश्यकता पर बल दिया है, ताकि उन व्यक्तियों को भी ऋण प्राप्त हो सकें जो बंधक के रूप में भूमि नहीं दे सकते, लेकिन अन्यथा उनकी ऋण चुकता करने की क्षमता सन्तोषजनक हो। चूँकि भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की देय-क्षमता का निर्धारण अधिक कष्टप्रद है अतः सम्भव है कि प्रबन्धक लोग इस परेशानी से बचने की कोशिश करें जिसके फलस्वरूप अप्राप्य ऋण एकत्र हो जाय और भारी हानि हो। इसके प्रति अवश्य सावधानी बरतनी चाहिए।

---

१ देखिए डा० एल० मेहता का लेख, 'आर्गनाइजेशन ऑफ रूरल क्रेडिट' (टाइम्स ऑफ इण्डिया, २५ जनवरी १९५५)।

अध्याय १३

छोटे पैमाने के उद्योग

§१ पुराने उद्योगों के पतन के कारण—उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्राचीन भारतीय हस्तशिल्प (हैण्डीक्राफ्टस) के पतन के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इसके कारण निम्न थे—

(१) देशी राज्यों का विनाश—देशी रियासतों और कुलीन वर्ग के विनाश के कारण बंगाल के सूती और रेशमी वस्त्रों जैसी उच्चकोटि की हस्तशिल्प-उत्पत्ति की माँग प्रायः समाप्त हो गई। शान्ति-स्थापना तथा जनता के निःशस्त्रीकरण का प्रतिकूल प्रभाव शस्त्रास्त्र-उद्योगों पर भी पड़ा।

(२) विदेशी दुष्प्रभाव—ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ-ही-साथ लोगों की रुचि में भी परिवर्तन होने लगा, इससे भी भारतीय हस्तशिल्प-उत्पादनों पर बुरा प्रभाव पड़ा। शिक्षित और अपेक्षाकृत धनी भारतीय यूरोपीय रीति रिवाज व रुचियों का अनुकरण करने लगे। फलतः देशी वस्तुओं की अपेक्षा वे आयात की हुई विदेशी वस्तुओं को अधिक पसन्द करने लगे। आश्चर्य तो इस बात का है कि यूरोपीय अधिकारियों और भ्रमणार्थियों ने भारतीय हस्तशिल्प निर्मित वस्तुओं की माँग कुछ सीमा तक कायम रखी। परन्तु यूरोपीय रुचि अपनाने के साथ ही भारतीय मानदण्ड स्खलित होने लगे और परिवर्तित परिस्थितियों में श्रेष्ठ प्रकार की भारतीय वस्तुओं का प्राचीन आदर्श रह भी नहीं सकता था।

(३) ब्रिटिश संसद् (पार्लियामेंट) तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति—पहले तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने की थी क्योंकि उसका निर्यात-व्यापार देशी वस्तुओं पर आधारित था, लेकिन इस नीति का इगलैण्ड के निहित स्वार्थों ने तगड़ा विरोध किया और वे इतने शक्तिशाली भी थे कि उन्होंने कम्पनी को बाध्य कर दिया कि वह इगलैण्ड में निर्मित होने वाली वस्तुओं के लिए आवश्यक कच्चे माल का निर्यात भारत से करे। इगलैण्ड में इस नीति के विरोध का एक उद्देश्य इगलैण्ड से भारत की ओर स्वर्ण का प्रवाह रोकना भी था। १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इगलैण्ड की सरकार ने भारतीय वस्तुओं पर प्रशुल्क लगा दिया। इसका उद्देश्य ऊनी और रेशमी वस्त्रों के निर्माण की रक्षा और महाद्वीप पर होने वाले युद्धों के लिए धन प्राप्त करना था। १७०० से १८२४ तक इगलैण्ड में रंगीन भारतीय कालिको (एक प्रकार का कपड़ा) का आयात बिलकुल निषिद्ध था। इस

(३) बडे पमाने के उद्योगो पर उप-कर लगाना,
(४) कच्चे माल की पूर्ति का प्रबन्ध, तथा
(५) अनुसन्धान और परीक्षण आदि का समन्वय।

कुछ हद तक ये सिद्धान्त कार्यान्वित किये जा रहे हैं। उदाहरण के लिए कपडा उद्योग मे बडे पैमाने पर बुनने वाले मिलों तथा हाथ से बुनने वाले जुलाहों के उत्पादन क्षेत्र को आरक्षित किया गया है। खादी और हाथ से बुने कपडे के विकास के लिए धन प्राप्ति के हेतु मिल के कपड़ों पर इधर हाल में उपकर लगा दिया गया है। अनेक उद्योगो में छोटे पमाने के उत्पादकों के लिए नियन्त्रित कच्चे माल की पूर्ति की व्यवस्था की गई है। खाद्यान्न का विधायन करने वाले क्षेत्र में योजना आयोग के मतानुसार कुछ अपवादो, जैसे सहकारी सगठन या सरकार, द्वारा एक बडी उत्पादन इकाई की स्थापना के अतिरिक्त बडे पैमाने के उद्योगो को और विस्तृत करने की आज्ञा न देनी चाहिए। इस क्षेत्र म वैयक्तिक स्वामित्व द्वारा स्थापित इकाइयो की वृद्धि के कारण ग्रामीण रोजी पर बुरा प्रभाव पडा है।

प्रथम पचवर्षीय योजना में कुटीर एव छोटे पैमाने के उद्योगो के लिए केन्द्र के बजट मे २५ करोड रुपये और राज्यो के बजट में १२ करोड रुपये की व्यवस्था की गई। राज्यो में औद्योगिक सहकारी समितियों की स्थापना पर अधिक जोर दिया जाना है ताकि गाँव के कारीगर पर्याप्त सहायता प्राप्त कर सकें।

योजना में दस ग्रामीण उद्योगों का कार्यक्रम सम्मिलित है, जिनमें तेल, साबुन (नीम के तेल का), धान की कुटाई, खजूर का गुड, गुड और खाण्डसारी, ऊनी कम्बल बनाना, हाथ के कागज का निर्माण, मधु मक्खियो का पालन तथा दियासलाई के कुटीर-उद्योग आते हैं।

इन्हें कार्यान्वित करने की दृष्टि से इनकी विस्तृत योजना अखिल भारतीय खादी एव ग्रामोद्योग परिषद् द्वारा प्रस्तुत की जायगी, जिसे अभी हाल मे केन्द्रीय सरकार ने स्थापित किया है।

§५ **अखिल भारतीय खादी एव ग्रामोद्योग परिषद**—इसकी स्थापना १९५३ मे एक परामर्श-समिति के रूप में की गई। यह व्यवस्था भी थी कि इसके परामर्श को सामान्यत स्वीकार किया जायगा। वित्त, वाणिज्य एव उद्योग तथा पुनर्वास मन्त्रालयो और योजना आयोग के प्रतिनिधि इसकी बठकों में उपस्थित रहेंगे और सरकार की ओर से इसके विचार विमर्श में भाग लेंगे। परिषद् उत्पादन के कार्यक्रमों को सगठित और कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी है। यह प्रशिक्षण यन्त्रों के उत्पादन एव वितरण, कच्चे माल की पूर्ति आदि का प्रबन्ध करेगी, तथा विभिन्न ग्रामीण उद्योगो की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन विक्रय और अनुसन्धान भी करेगी। इन उद्योगो म सम्बन्धित सूचना एव अनुभव के विकास-गृह का काम भी यह परिषद् करती है।

इस परिषद् द्वारा किये गए कामों मे सर्वप्रथम देश को सात प्रदेशों में विभाजित करना है। हर एक प्रदेश का एक सचालक है। उसका काम अपने प्रदेश में उद्योगो के विकास में सलग्न व्यक्तिगत सगठन की क्रियाओं का राज्य की क्रियाओं से

समन्वय करना है। दूसरे शब्दों में उसे अपने प्रदेश में राज्य-सरकारों तथा उनके उत्पादन केन्द्रों के बीच सम्पर्काधिकारी का काम करना होगा। राज्य परिषदों में वह अखिल भारतीय परिषद् का प्रतिनिधित्व करेगा और इस प्रकार यह परिषद् राज्य-सरकारों के बीच एक कड़ी बन जायगी।

दूसरा कदम विभिन्न उद्योगों के लिए संगठनकर्ताओं के रूप में अनुभवी कार्यकर्ताओं की नियुक्ति थी। इनका काम अपने उद्योगों की छानबीन पुनर्संगठन एवं विकास की सम्भावनाओं का अध्ययन तथा उचित कार्यक्रम बनाने के लिए परिषदों के पास रिपोर्ट भेजना है। बम्बई मध्य भारत, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश, आसाम, मद्रास राजस्थान, हैदराबाद, सौराष्ट्र उड़ीसा, अजमेर दिल्ली और त्रिपुरा ने अपनी अपनी राज्य परिषद् स्थापित कर ली है। सौराष्ट्र की राज्य परिषद् एक वैधानिक निकाय है। हाल के विधान द्वारा बम्बई की ग्रामीण उद्योग-समितियों को भी वैधानिक अधिकार दे दिये हैं। बम्बई और सौराष्ट्र के अतिरिक्त शेष राज्यों की परिषदें केवल परामर्शदात्री हैं।

अखिल भारतीय परिषद् को खादी एवं ग्रामोद्योग के विभिन्न पहलुओं पर परामर्श देने के लिए अनेक उप-समितियाँ हैं। इनमें से अब तक स्थापित कुछ प्रमुख समितियाँ निम्न हैं—(१) स्थायी प्रशिक्षण समिति, जिसने विभिन्न राज्यों में वर्तमान प्रशिक्षण-सुविधाओं का सर्वेक्षण किया है और सुधार के लिए सुझाव रखे हैं। केवल ग्रामीण उद्योगों से सम्बन्धित एक प्राविधिक अनुसंधान-संस्था की स्थापना की योजना भी परिषद् ने बनाई है और नासिक में एक केन्द्रीय प्रशिक्षण-संस्थान की स्थापना का भी प्रस्ताव है। (२) आय-व्ययक समिति (बजट-कमेटी), जो परिषद् का आय-व्ययक बनाती है। ऐसा करने में वह विभिन्न विकास-कार्यक्रमों को ध्यान में रखती है। (३) आर्थिक अनुसंधान समिति जो ग्रामीण उद्योगों की समस्याओं का अध्ययन और सुझाव प्रस्तुत करती है। (४) अनुसंधान समिति कुटीर उद्योगों की उत्पादकता तथा विभिन्न प्राविधिक समस्याओं पर अनुसंधान करने के लिए एक केन्द्रीय अनुसंधान संस्था संगठित करने का कार्यक्रम प्रस्तुत करेगी। १९५४ ५५ के लिए भारत सरकार ने परिषद् को १७ ६००,००० रुपये का अनुदान एवं २०,३००,००० रुपये ऋण देने की व्यवस्था की थी।

अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग परिषद् के अतिरिक्त निम्न संस्थाएँ भी ग्रामीण एवं लघु अनुमाप उद्योगों से सम्बन्धित हैं—

(१) अखिल भारतीय हस्तचालित करघा परिषद् (२) अखिल भारतीय हस्त शिल्प परिषद् (दोनों सन् १९५२ में स्थापित), जिनका काम भारत सरकार को हस्तचालित करघे एवं हस्तशिल्प उद्योगों के प्रसार एवं विकास पर सलाह देना है। (३) १९५४ में लघु अनुमापोद्योग परिषद् की स्थापना हुई, जिसका काम प्रान्तीय संस्थाओं, लघु अनुमापोद्योग निगम के कार्यों का समन्वय करना एवं लघु अनुमापोद्योगों के विकास एवं प्रसार के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करना है। (४) केन्द्रीय रेशम परिषद्, जिसकी स्थापना १९४९ में की गई और जिसका १९५२ में पुनर्गठन हुआ।

(५) नारिकेल जटा (कोइर) परिषद्—१९५४ मे इसकी स्थापना नारिकेल-जटा एवं रेशम उद्योग के विकास के लिए की गई। इन ५ परिषदों के अन्तर्गत ग्रामीण एव लघु अनुमापोद्योग सम्पूर्ण रूप से आ जाते हैं।[1]

अब हम ग्रामीण उद्योगों का, विशेषकर उनका जिन्हें अखिल भारतीय खादी एव ग्रामोद्योग परिषद् ने अपनी देख रेख में लिया है, विवरण देंगे।[2]

§६ खादी खद्दर का अर्थशास्त्र—गांधीजी ने संक्षेप में चरखा से होने वाले लाभों का विवरण निम्न प्रकार से दिया था—

(१) हाथ की कताई तुरन्त व्यवहार मे लाई जा सकती है, क्योंकि (क) इसके लिए किसी पूंजी अथवा मंहगे औजारों की आवश्यकता नही होती, इसके लिए आवश्यक कच्चा माल और औजार दोनो ही सस्ते और हर स्थान पर प्राप्त हो सकते हैं। (ख) इसमें बहुत विकसित कुशलता एव बुद्धि की भी अपेक्षा नहीं है। जितनी बुद्धि एव कुशलता अज्ञान और दरिद्र भारतीय जनता के पास है, उतनी से ही काम चल सकता है। (ग) इसमें शारीरिक श्रम भी अधिक नही होता परिणामत बालक और वृद्ध भी इस काम में अपनी शक्ति भर योग दे सकते हैं। इसके लिए बहुत तयारी की भी आवश्यकता नही है क्योंकि कताई की परम्परा अभी तक प्रचलित है।

(२) यह शाश्वत एव सार्वभौम है, क्योंकि खादी के बाद कातने वाले के द्वार पर सूत की मांग ही लगातार और असीमित हो सकती है। इस प्रकार कृषक के लिए आय का एक स्थायी और नियमित साधन भी प्राप्त हो जायगा।

(३) इस पर मानसून की दशाओं का प्रभाव नही पड़ता, अत दुर्भिक्ष काल में भी यह काय अनवरत रूप से जारी रह सकता है।

(४) यह सामाजिक और धार्मिक भावनाओं का विरोध नहीं करता।

(५) दुर्भिक्ष का सामना करने का यह सबसे पूर्ण और सहज तरीका है।

(६) इससे हर किसान की झोपड़ी तक काम पहुँच जायगा और वे बेकार न रहेंगे। परिणामत पारिवारिक संस्था का विघटन न होगा।

(७) इसी से भारत के नष्टप्राय ग्रामीण समुदाय के कुछ हितों को पुनर्जीवित किया जा सकता है।

(८) यह भारतीय बुनकर और कृषक दोनों का मेरुदण्ड है, क्योंकि हस्तचालित करघा उद्योग का एक स्थायी और सुदृढ़ आधार बन सकता है, जिससे लाखों व्यक्तियों की रोजी चल सकती है।

(९) इसके पुनर्जीवन से गाँवों को और अनेक सहायक पेशे प्राप्त होंगे और इस प्रकार गाँव का विघटन एवं विनाश रुकेगा।

(१०) केवल इसमें ही भारत के करोड़ों व्यक्तियों में बीच न्यायपूर्ण श्रम

१ रिपो ऑफ दि विलेज एण्ड स्माल स्केल इण्डस्ट्रीज (सेकेण्ड फाइव-ईयर प्लान) कमेटी, अध्याय ३, पृष्ठ ६।

२ यह विवरण मुख्यतया प्लानिंग फॉर फुल एम्प्लायमेंट (अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड, १९५४) पर आधारित है।

वितरण हो सकता है।

(११) केवल इससे ही प्रभावपूर्ण ढंग से बेकारी की समस्या हल हो सकती है। न केवल कृषक की आंशिक बेकारी ही वरन् शिक्षा प्राप्त नवयुवकों की बेकारी का समाधान भी हो सकता है।

१९५४ ५५ के बजट मे परिषद् (बोर्ड) ने ५ करोड रुपये की व्यवस्था इस अनुमान पर की कि खद्दर का उत्पादन लगभग ४४०,००० रुपये के मूल्य तक बढ़ जायगा।

§७ सूती हस्त करघा उद्योग—हस्त-करघा उद्योग को यद्यपि मिलो के बने सामान की प्रतिस्पर्धा स काफी क्षति हुई है तथापि यह एक महत्त्वपूर्ण कुटीर-उद्योग है। वस्तुत यदि इसके द्वारा प्राप्त रोजी वाले व्यक्तियों की सख्या को ध्यान में रखा जाय तो इसका स्थान कृषि के बाद ही है। उनके अलावा, जिनका पूरा पेशा ही बुनाई है, ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिनका यह सहायक पेशा है। १९४१ मे भारत सरकार ने एक तथ्य-समिति (हस्त करघा तथा मिल के सम्बन्ध मे) की स्थापना की थी, जिसका काम हस्त-करघा उद्योग के बारे मे तथ्यात्मक आंकडे एकत्र करने का था। समिति की रिपोट से यह पता चला कि बुनकर की आय उसके उत्पादन-व्यय की अपेक्षा काफी कम है। इसका कारण मध्यस्था (दलालो) द्वारा लाभ का काफी भाग हडप लेना है। विगत महायुद्ध में वस्त्र-सम्बन्धी मांग की शीघ्रता से वृद्धि होने के कारण (जिसे मिलें पूरा नही कर सकी) हाथ से बुनाई करने वालो ने सापेक्षित समृद्धि का अनुभव किया। किन्तु यह दशा अस्थायी थी और युद्धोत्तर-काल में फिर इस उद्योग को मन्दी ने ग्रस लिया। इस काल मे मिलों ने भी कठिनाई का अनुभव किया। मिलो के लाभ के लिए सूत पर रक्षण शुल्क लगाये गए। इसमें हस्त-करघा उद्योग को और भी कठिनाइ हुई। उनकी समाध्य के उपयुक्त मूल्य पर सूत का मिलना कठिन हो गया। मिल के बने कपडो की प्रतिस्पर्धा, मोटे और बारीक कपडा के क्षेत्र में न होकर मध्य प्रकार के कपडो से अधिक है। महात्मा गाधी ने जब से अपना आन्दोलन प्रारम्भ किया, तभी से हस्त करघा उद्योग पर जनता और सरकार द्वारा विशेष ध्यान दिया जा रहा है। अखिल भारतीय कतक-परिषद् ने, जो गांधीजी की ही प्रेरणा पर प्रारम्भ हुई, हस्त-करघा उद्योग के विकास के लिए काफी कार्य किया है। इधर हाल म स्थापित अखिल भारतीय हस्त-करघा-परिषद् ने यह सिफारिश की है कि युद्धोत्तरकालीन विकास योजना मे पहले पाँच वर्षों मे स्थापित तकुओं में से आधे का उत्पादन हाथ के करघा के लिए सुरक्षित रखकर उन्हें सूत की कमी के भय से मुक्त किया जाय। सरकार ने इस सुझाव को मान लिया। उद्योग को ठोस आधार पर रखने और इस हेतु उसकी उत्पत्ति का निश्चित मानदण्डो के अनुरूप बनाने तथा उसके विक्रय के कार्य को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है।

भारत के हर राज्य म हाथ की बुनाई एक प्रमुख कुटीर-उद्योग है। इसमे प्राय १०० लाख व्यक्तियो की परवरिश अजन-कर्ता अथवा उनके आश्रित के रूप में होती है। इनमें से ३० लाख तो पूर्ण काल श्रमिक और ३० लाख अर्द्ध-काल श्रमिक

हैं। शेष ४० लाख पूर्णत या अशत इन्ही पर आश्रित हैं। १९५१ मे हाथ के करघा की कुल सख्या ३० लाख थी। इसमें ८ ४ लाख मद्रास में, ४ ८ लाख आसाम में, ३ ५ लाख उत्तर प्रदेश में, २ लाख बिहार में, १ ६ लाख बम्बई म, १ ७ लाख मनीपुर मे, १ ३ लाख उडीसा म १ लाख मध्य प्रदेश में और १ लाख से कुछ ही कम पश्चिमी बगाल मे थे। इसके अतिरिक्त लगभग २३,००० शक्ति चालित करघे भी काम कर रहे हैं, जिनमें से १५ ००० बम्बई मे और शेष मुख्यत मध्य प्रदेश, मैसूर पश्चिमी बगाल एव मद्रास मे हैं। इन हस्त एव शक्ति चालित करघों का १९५० ५१ म कुल उत्पादन अनुमानत ८,१०० लाख गज म अधिक ही है।[1]

§८ ऊन की हाथ से बुनाई—ऊन की हाथ से बुनाई कुछ क्षेत्रो में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उदाहरणत राजस्थान में, जो कि देश का सबसे अधिक ऊन उत्पादन करने वाला क्षेत्र है, ऊन की हाथ से कताई और बुनाई विशिष्ट आर्थिक महत्व रखती है। रायलसीमा जसे कुछ क्षेत्रो में जहाँ आर्थिक साधन अपेक्षाकृत कम समृद्ध हैं ऊन का उत्पादन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि ऊन निम्न प्रकार का होन से उसस मोट खुरदरे प्रकार के ही कम्बल और कालीन बन पाते हैं। देश में निर्मित कम्बलो और कालीनो का वार्षिक उत्पादन अनुमानत १० लाख रुपया है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश में मिजापुर और भदोही तथा आध्र म इलुरु और मछलीपटटम म ऊनी कालीन बडे पमाने पर बनते हैं। १९५१ ५२ में इनका निर्यात-मूल्य अनुमानत ५ करोड रुपया था।[2]

§९ चावल की हाथ से कुटाई—अन्य कुटीर-उद्योगा के विपरीत चावल की हाथ से कुटाई यन्त्रीकरण के धक्के को सँभालकर जीवित रह सकी है। अभी हाल तक कुल धान के ७५ प्रतिशत का विधायन कुटीर उद्योगा में ही होता था। यद्यपि नियन्त्रण तथा धान के सरकारी एकत्रीकरण के काल मे इस उद्योग का कुछ ह्रास हुआ, तथापि यह पूर्ण रूप मे विलीन नहीं हुआ है। इसकी जीवन शक्ति के निम्न कारण बताये जाते हैं—

(१) इससे गाँव की औरतो को अल्पकालीन वृत्ति प्राप्त हो जाती है। परिणामत विधायन की लागत कम ही पडती है।

(२) वतमान मिलें अधिकतर अपतुषक (हलर) प्रकार की है और चावल की प्राप्ति की दृष्टि से वे हाथ की कुटाई स कम कुशल हैं।

(३) उपभोक्ता हाथ के कुटे हुए चावल के अच्छे स्वाद और पोषण तत्त्व की सराहना करने लगे हैं। साधारणतया कुटीर उद्योग के उत्पादन मशीनों से उत्पादित वस्तुओं से निम्नकोटि के होते हैं, किन्तु चावल के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। यहाँ कुटीर-उद्योग का उत्पादन ही उत्तम प्रकार का होता है। जहाँ तक कुटाई की सापेक्षित लागत का प्रश्न है यदि हाथ स कुटे चावल की पुनर्प्राप्ति को ध्यान में रखा जाय, उपभोक्ता के लिए हाथ से कुटे चावल का मूल्य मशीन द्वारा कुटे चावल की अपेक्षा अधिक नही होता। हाथ की कुटाई का एक दोष यह है कि इसमें भी अधिकांशत

---

१ ऑल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट, पृष्ठ ११६।

२ वही।

कुटाई अपतुपक विधि से ही की जाती है।

हाथ की कुटाई के उद्योग के विकास के लिए योजना आयोग ने सिफारिश की है कि (१) इस क्षेत्र में महानुमापोद्योग का प्रसार रोक दिया जाय और (२) उत्तम पोषक तत्त्वो एव रोजगार का दृष्टि से रखकर अपतुपक प्रकार की मिला का उन्मूलन कर दिया जाय। २६ जनवरी १९५५ से लागू होने वाले आवश्यक-पूर्ति (अस्थायी अधिकार) अधिनियम के अनुसार सरकारों को यह परामर्श दिया गया है कि वे चावल की मिला की स्थापना कर नियन्त्रण रखें। हाथ की कुटाई के विकास के सम्बन्ध में खादी और ग्रामोद्योग-परिषद् न सिफारिश की है कि आवश्यक विधान द्वारा सरकार निम्न प्रस्तावो का अविलम्ब कार्यान्वित करने की शक्ति प्राप्त करे—

(१) अपतुपक (हुलर) प्रकार की चावल की मिलो को बन्द करना।

(२) चावल की नवीन मिलो की स्थापना या स्थापित मिला की शक्ति-वृद्धि को रोकना।

(३) राज्य-सरकारो स प्रार्थना करनी चाहिए कि वे हाथ से कुटाई करने वालो की सहकारी समितियाँ बनाएँ जो ग्रामोद्योग-परिषद् के अन्तर्गत प्राप्त सहायताओं का लाभ उठा सकें। इस उद्योग के विकास के लिए परिषद् की १९५४ ५५ की योजना में निम्न बातें सम्मिलित थी—

(क) सहकारी समितियो और मान्यता प्राप्त सस्थाओं द्वारा उपयुक्त प्रकार के चावल की पूर्ति की जाय;

(ख) विधायन और आवश्यक यन्त्रो के उत्तमतर विकास के अनुसन्धान की सहायता की व्यवस्था, और

(ग) साहित्य, फिल्मो और प्रदर्शनियां द्वारा कम पॉलिश किये गए चावल के पोषक तत्त्वो के सम्बन्ध में प्रचार किया जाय। चावल पकाने की उत्तम विधियों का भी प्रचार किया जाय।

§१० मधुमक्खी पालन—वैज्ञानिक मधुमक्खी-पालन एक अमरीकी मिशनरी डॉ० न्यूटन ने १९३४ में भारत में प्रचलित किया। उन्होंने पहले-पहल मधुमक्खियों का पालन एव अपने अनुगामियो को तत्सम्बन्धी शिक्षा दक्षिण भारत के सेम्बागनूर मे प्रारम्भ की। उद्योग ने ट्रावनकोर-कोचीन में बडी प्रगति की। इसका अनुगमन शीघ्र ही कुर्ग, मसूर एव मद्रास के राज्यो न किया। बम्बई राज्य मे यह काम अपेक्षाकृत हाल म ही प्रारम्भ हुआ किन्तु ग्रामोद्योग-समिति के सगठित प्रयास स इसमें काफी सफलता प्राप्त हो सकी है। बम्बई राज्य मे दो जिलो, अर्थात् महाराष्ट्र के उत्तरी सतारा (महाबलेश्वर) और कर्नाटक के कनारा म इस काय की अधिक प्रगति हुई है। इनसे सम्बन्धित अधिकांश काय की देख रेख ग्रामोद्योग-समिति करती है। किन्तु कर्नाटक मे यन्त्र वितरण मधु-सचय उसका विधायन एव विक्रय मधुमक्खी पालकों की भाति सहकारी समितियो पर छोड दिया गया है। राज्य म एकत्रित सभी मधु विशुद्धता की गारण्टी के साथ ग्रामीण उद्योग समिति द्वारा बचा जाता है। यही इसका मूल्य निर्धारण भी करती है। खादी एव ग्रामोद्योग परिषद् न इस सम्बन्ध म

जो कार्यक्रम बनाया है उसमें बड़ी संख्या में मधुमक्खी-पालन केन्द्रों की स्थापना, प्रारम्भिक पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में मधुमक्खी-पालन की शिक्षा, विक्रय की व्यवस्था, उच्च प्रकार के औजारों का वितरण एवं पूर्ति (कम दाम पर) आदि हैं।

§११ **ग्रामीण तेल उद्योग**—देश में सर्वत्र घानी पद्धति से तेल निकाला जाता रहा है। देश की कुल घानियों की संख्या अनुमानतः लगभग ४ लाख है जिनकी पेरने की शक्ति लगभग २० लाख टन (तिलहन) प्रतिवर्ष है। मद्रास में घानियों की संख्या सबसे अधिक (२३१,४३०) है। उत्तर प्रदेश का स्थान दूसरा है (१३३ ७७४)।

घानियाँ यान्त्रिक रूप से उतनी कुशल नहीं हैं जितनी वर्तमान शक्ति-चालित मशीनें। लेकिन ऐसा कहा जाता है कि सुधार के साथ दोनों के बीच का अन्तर काफ़ी कम हो जायगा। इस सम्बन्ध में घानी के पक्षपातियों का कहना है कि मिलों तक तिलहनों के ले जाने में काफ़ी क्षति होती है और यान्त्रिक उत्पादन पद्धति में तिलहन अधिक समय तक संग्रहीत रखने पड़ते हैं, इससे तिलहनों की तेल शक्ति का क्षय अनिवार्य रूप से होता है। अन्त में यह भी कहा जाता है कि घानी की खली पशुओं के लिए अधिक लाभदायक खाद्य-पदार्थ का काम देती है, हालाँकि इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है।

§१२ **खजूर का गुड़ उद्योग**—ऐसा कहा जाता है कि इस उद्योग में उत्पादन एवं रोज़ी की विशाल क्षमताएँ निहित हैं। आवश्यक कच्चा माल प्रचुर मात्रा में प्राप्य है। अपेक्षाकृत थोड़ी पूँजी और कम प्रशिक्षा से ही इससे देश की प्राकृतिक समृद्धि में वृद्धि होगी और ईख की ओर अधिक खेती के लिए भू-भार कम होगा। देश के खजूर के पेड़ों की संख्या अनुमानतः ५ करोड़ है। प्रायः सभी राज्यों में खजूर के गुड़ के विकास की योजनाएँ जारी हैं और खादी एवं ग्रामोद्योग परिषद् विभिन्न प्रकार की सहायता दिया करती है—उदाहरणतः परिषद् सहकारी समितियों को प्राविधिक निर्देश, प्रदर्शन एवं आर्थिक सहायता के रूप में। १९५४ ५५ के कार्यक्रम में १० लाख रुपया व्यय करने की व्यवस्था थी, जिसमें से अधिकांश राज्यों एवं संस्थाओं के लिए था। यह भी प्रस्तावित था कि केन्द्रीय खजूर-गुड़ प्रशिक्षण-संस्था को शक्तिशाली किया जाय और महत्त्वपूर्ण विधायन के प्रदर्शन-हेतु अग्रगामी प्रदर्शन का संगठन किया जाय। विभिन्न राज्यों में नशाबन्दी के फलस्वरूप ताड़ी निकालने वालों के लिए पुनर्वासन की जो समस्या उत्पन्न हो गई थी, उसके समाधान-हेतु इस उद्योग का विकास और भी आवश्यक है।

§१३ **गुड़ और खाँडसारी**—उत्तर प्रदेश के गुड़ उद्योग से देश के कुल उत्पादन का लगभग ८० प्रतिशत से अधिक ही उत्पन्न होता है। बम्बई पंजाब हैदराबाद और मद्रास अन्य महत्त्वपूर्ण गुड़-उत्पादक राज्य हैं। अधिकांश उत्पादित गुड़ का उपभोग उसी रूप में होता है, केवल ५ प्रतिशत का औद्योगिक कामों में उपयोग होता है। इस उद्योग में अनुमानतः ५ लाख लोगों को रोज़ी मिलती है। इसके विकास की सबसे बड़ी बाधा बाजार की दशाओं की अनिश्चितता है, जिसका सामना इधर हाल में करना पड़ा है। इसके स्वस्थ विकास के लिए गन्ना, गुड़ एवं चीनी की कीमतों का

स्थिर करन की आवश्यकता है, क्योंकि सब परस्पर सम्बद्ध हैं। उत्पत्ति सुधारने के लिए सुधरे औजार और विधायन की भी आवश्यकता है।

खाण्डसारी का निर्माण भारत का एक पुराना उद्योग है। यह उद्योग चीनी उद्योग के साथ-ही-साथ कुछ खास कारणों से जीवित रह सका है। इसके लिए न कीमती यन्त्र और न बहुत अधिक कुशलता ही अपेक्षित है। उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल गाँवों में तयार होता है। परिणामत वे परिवहन के व्यय से बच जात हैं। इसकी माँग भी हलवाइयों द्वारा मिठाई बनाने के लिए निश्चित रूप म रहती है।

§१४ हाथ से बना कागज—हाथ से बने कागज के कुछ विशिष्ट गुणों के कारण अत्यन्त औद्योगीकृत दशा म भी इसका उद्योग जारी है। उदाहरणार्थ अनेक देशो मे करेन्सी नोट अब भी हाथ से बने कागज पर ही छपते हैं। मशीन निर्मित कागज की अपेक्षा इसम कुछ कलात्मक धरातल के प्रभाव भी रहत हैं। परिषद् ने इस उद्योग के विकास के लिए ऋण-सहायता, अनुदान, कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण, यान्त्रिक सहायता आदि देकर काफी काम किया है। १९५४ ५५ के कार्यक्रम मे १५ नवीन केन्द्रों की स्थापना की व्यवस्था है, जिससे हाथ से बनाने वाले कागज उद्योग-केन्द्रों की सख्या ४५ हो जायगी। यह भी प्रस्ताव रखा गया है कि उच्चकोटि के कागज-उत्पादन के लिए प्रशिक्षा दी जाय तथा एक केन्द्रीय विक्रय सगठन का आयोजन किया जाय। पूना हैदराबाद और कलकत्ता में हाथ से बने कागज से सम्बन्धित अनुसन्धान-केन्द्र हैं। इन केन्द्रों के कार्यों को समन्वित करने की आवश्यकता है। अनेक चुने हुए स्कूलों मे हस्त निर्मित कागज को हस्त शिल्प के रूप में प्रचलित किया जा रहा है। साथ ही सरकारी सरक्षण और सहायता का भी प्रसार हो रहा है।

§१५ ग्रामीण चर्म उद्योग—यद्यपि भारत म इधर हाल म अनेक बडे पैमाने के कारखाने खुल गए हैं फिर भी चमडे की वस्तुओं का अधिकांश सिझाव एव उत्पादन पुरानी प्रथा पर ग्रामोद्योग के रूप में चमार-वर्ग द्वारा ही होता है। ग्रामों मे क्रोम सिझाव प्राय अज्ञात है केवल वानस्पतिक सिझाव ही प्रचलित है। सिझाव का तरीका पुराना है और इसमें सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है। यह सुझाव दिया जाता है कि चमारों को सहकारी सस्थाओं में सगठित किया जाय, उन्हें खाल निकालन के अच्छे तरीके बताये जायें और खालों के विक्रय का उचित प्रबन्ध किया जाय। चरबी और हड्डियों जसे उपोत्पाद (बाई प्रोडक्ट) प्राप्त करके मृत पशुओं का प्रभावपूर्ण उपयोग करना चाहिए। शहर में कच्चे माल की सुविधा और बाजार के कारण अनेक सिझानेवाले शहरों को चले गए हैं। इस उद्योग की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सभी खालें एजेन्टों द्वारा नगरों के सौदागरों के पास पहुँच जाती हैं। परिणामत ग्रामोद्योग के लिए थोड़ी ही बच रहती हैं। इसके लिए एकमात्र उपाय यह है कि ग्रामीण चमकारों की सहकारी समितियाँ बनाई जायें। परिषद् के १९५४-५५ के कार्यक्रम में मृत पशुओं से वैज्ञानिक रीति से खाल, चमडा और हड्डियों के निकालने प्रदर्शन द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों म सिझाव और चर्म शिल्प तथा सरकारी सहायता से चमारो के सहकारी सगठन एव प्रशिक्षा आदि को स्थान दिया गया है।

गाँवो मे केवल चमडा निष्कालन के काम म लगे १०० केन्द्र स्थापित करने का प्रस्ताव है। गाँवों मे सिझाने के गड्ढा के निर्माण और मरम्मत के लिए अनुदान की व्यवस्था भी विचारणीय है।

§१६ कुटीर दियासलाई उद्योग—कुटीर दियासलाई उद्योग की प्रमुख समस्याएँ (१) वित्तीय अभाव, (२) महानुमापोद्योग की प्रतिस्पर्धा, (३) समुचित विक्रय सुविधाओं का अभाव तथा (४) कच्चे माल की कमी से सम्बन्धित हैं। जहाँ तक पहली समस्या का सम्बन्ध है यह सुझाव रखा गया है कि उत्पादन कर जो चालू पूँजी का ५० प्रतिशत है, हटा दिया जाय। जहाँ तक दूसरी समस्या का प्रश्न है कठिनाई इसलिए उत्पन्न हो गई है कि स्वीडन के संयोजन ने अपने उत्पादन को देश की माँग के ५० प्रतिशत तक सीमित रखने की शर्त को पूरा नही किया। तीसरी समस्या—विक्रय प्रबन्ध—का सुलझाना अधिक कठिन नही है। कच्चे माल की कमी का कारण नरम लकडी का शीघ्रतापूर्वक समाप्त होना और मूल्यों का ग्रामोद्योग की पहुँच के बाहर हो जाना है। योजना आयोग ने कुटीर दियासलाई-उद्योग के विकास के लिए एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है और यह सुझाव रखा है कि अब महानुमापोद्योग का प्रसार रोक दिया जाय। ग्रामोद्योग-परिषद् निम्न बातो मे कुटीर-उद्योग की सहायता पर विचार कर रही है—(१) विक्रय प्रबन्ध (२) दियासलाइयों के प्रकार के सुधार के लिए प्रयोगशालाओं की व्यवस्था, (३) प्रदर्शन कारखानों की स्थापना और (४) सहायता अनुदान, विशिष्टानुदान एवं ऋण दान की व्यवस्था। यह प्रस्ताव रखा गया है कि वस्तुओं के संग्रह के लिए नगरो मे डिपो खोले जायें और उन्हें सरकारी इम्पोरियमो, खादी और सहकारी भण्डारो को वितरित किया जाय। यह भी प्रस्ताव है कि प्रदर्शन-कारखाने खोले जायें जो कि प्रारम्भ मे छोटे आकार के हों और उन्हें (हरेक को) ७,००० रुपये का अनुदान दिया जाय।

§१७ अखाद्य तेलों से साबुन बनाना—देश के विभिन्न भागो मे अनेक प्रकार के अखाद्य तेल उपलब्ध हैं जिनका अब तक कोई उपयोग नही होता। इनके बीजो के संचय और उपयोग से देश के तेल-साधनों में पर्याप्त वृद्धि हो जायगी। साथ ही इससे एक नवीन प्रकार का कुटीर-उद्योग भी स्थापित हो जायगा जिससे अनेक लोग रोजी प्राप्त करेंगे। जिस अंश तक औद्योगिक प्रयोगों मे खाद्य तेलो के स्थान पर अखाद्य तेलों का उपयोग होगा उस अंश तक खाद्य-कार्य के लिए तेल की पूर्ति बढ़ेगी। इन अखाद्य तेलों में खराबी यह होती है कि इनका रंग गहरा होता है और कभी-कभी इनकी गन्ध भी बुरी होती है। अतएव इनको परिशोधित यानी दुर्गन्ध रंग-विहीन बनाना होगा। अतः यह प्रस्ताव रखा गया था कि कम-से-कम एक उद्जनित इकाई (हाइड्रोजन-यूनिट) की स्थापना हर राज्य में हो जिससे अखाद्य तेल शुद्ध किये जायें। १९५४-५५ मे यह प्रस्ताव रखा गया था कि अखाद्य तेलों से साबुन बनाने के दो आदर्श केन्द्र खोले जायें और ये केन्द्र सीधे ग्रामोद्योग-परिषद् के अन्तर्गत हों।

§१८ कोशकृमि-पालन (सेरीकल्चर)—मैसूर, बंगाल, मध्यप्रदेश, मद्रास एवं बिहार में यह एक महत्त्वपूर्ण उद्योग है। मैसूर में कोशकृमि-पालन में एक सहायक उद्योग के

रूप मे लगभग ८१,००० कृषक परिवार लगे हुए हैं। पश्चिमी बगाल में १,८३,००० व्यक्ति पूर्ण रूप स और १ ७३,००० अशत इसी पर आश्रित हैं। कच्चे रेशम का वार्षिक उत्पादन अनुमानत मसूर में १५ लाख पौण्ड, पश्चिमी बगाल म ४ लाख पौण्ड, मध्य प्रदेश में ३ १ लाख पौण्ड, मद्रास मे ३ लाख पौण्ड और विहार में १ लाख पौण्ड है। कच्चे रेशम और कलात्मक रेशम-वस्त्र निमाण में १३०,००० करघे लगे हुए हैं। अनक राज्यो म शक्ति चालित करघे भी चालू हैं।[1]

§१६ लघु उद्योग की परिभाषा का प्रश्न[2]—जिन उद्योगा की फक्टरी एक्ट के अन्तगत रजिस्ट्री नही करानी पड़ती उन्ह कुटीर या लघु अनुमापोद्योग कहने की प्रथा सी हो गई है। कुटीर उद्योग एव लघु अनुमापोद्याग के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नही है और विभिन्न परिभाषाएँ दृष्टिगत विषय के आधार पर अपनाई जाती हैं। जो विभाजन शक्ति के उपयोग अथवा अनुपयोग के आधार पर किया जाता है, विद्युत्-शक्ति का व्यवहार अधिक सामान्य हो जान पर विशेष काम का न रह जायगा। किसी भी उत्पादन केन्द्र म काम करने वाले व्यक्तिया की सख्या भी ऐसा पुष्ट मानदण्ड न होगी जिससे हम लघु एव महानुमापोद्योग के बीच विभाजक रेखा खीच सकें। कुछ लोगा के अनुसार विभाजन का एक आधार उत्पादन इकाई का स्वामित्व भी हो सकता है अर्थात् उस पर श्रमिक का स्वामित्व ह या सहकारी समूह का। लघु अनुमापोद्याग के लिए सहायता की आवश्यकता निर्धारित करने के लिए इस बात पर आग्रह करना कि लघु अनुमापोद्योग की सद्धान्तिक परिभाषा क्या है, व्यर्थ होगा। एक व्यवहारवादी दृष्टिकोण अपनाना ही उचित होगा और हर उद्योग की परिस्थितिया के साथ ही उसके आकार के निर्धारण का मानदण्ड स्थिर करना लाभदायक होगा।

---

१ आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे रिपोर्ट, पृष्ठ ११६।

२ पंचवर्षीय योजना, अध्याय २५।

१९४९-५० के उद्योग रक्षा आयोग की रिपोर्ट में लघु अनुमाप एवं कुटीर-उद्योगों का बड़ा ही सुव्यवस्थित एवं शिक्षाप्रद विवरण है, जो नीचे दिया गया है—
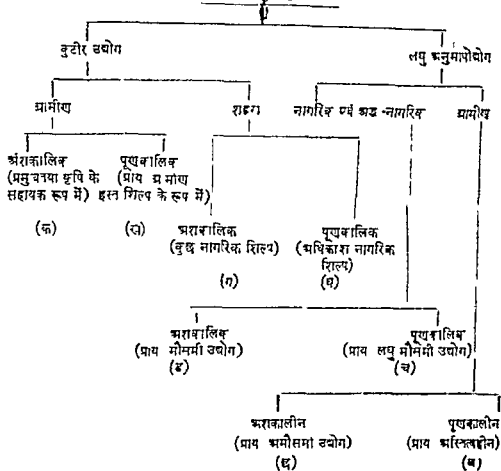
'क' वर्ग के अन्तर्गत वे सभी उद्योग आ जाते हैं जो कृषक के पूरक धंधे हैं, उदाहरण के लिए हाथ से करघे की बुनाई, कोषकृमि पालन, डलिया बनाना आटे की पिसाई, बीड़ी बनाना आदि। वर्ग 'ख' में प्राय ग्रामीण शिल्प आते हैं, जैसे मिट्टी के बर्तन बनाना, लुहार का काम, बढ़ईगीरी, तेली का काम, हाथ की बुनाई, पेशेवर जुलाहे, चमड़ा सिझाना गाड़ी बनाना नाव निर्माण इत्यादि। ये भारतीय ग्रामों की अर्थ-व्यवस्था के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। वर्ग 'ग' और 'घ' नागरिक दोनों के कुटीर-उद्योगों से श्रमिकों को प्राय पूर्णकालिक जीविका मिलती है, उदाहरण के लिए सोने और चाँदी के तार खींचना, बढ़ईगीरी, हाथीदाँत का काम, पीतल का काम खिलौने बनाना रेशमी वस्त्र रंगाई और छपाई इत्यादि। वर्ग 'ङ' में प्राय मौसमी उद्योग आते हैं जो अंशकालिक श्रम का उपयोग करते हैं जैसे ईंटें बनाना, बर्तन बनाना आदि। वर्ग 'च' में सदैव चलने वाली छोटी फैक्ट्रियाँ हैं जो नागरिक क्षेत्रों में चलती हैं। इनमें पादावि (हौजरी) के कारखाने, अभियान्त्रिकी अटेरन बनाना, फीता बनाना इत्यादि आते हैं। वर्ग 'छ' में वे सब ग्रामीण मौसमी कारखाने

आ जाते हैं जो कृषि उत्पादन के विधायन का काम करते हैं, जैसे चावल, खाण्डसारी और गुड़ बनाने के उद्योग। वर्ग 'ज' में वे लघु अनुमापोद्योग हैं जो ग्रामीणों को वर्ष भर काम दें। ये प्राय: नगण्य हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ विकास का क्षेत्र सबसे अधिक है।

लघु अनुमाप के उद्योगों व शिल्पों के संगठन के सम्बन्ध में अनेक कोटियों पर विचार करना होगा। एक तो ऐसे शिल्पी हैं जो कच्चे माल और यन्त्रों के स्वयं स्वामी हैं और वे प्राय: अपने परिवार की सहायता से काम करते हैं। उनका यह पूर्णकालीन पेशा है। दूसरे ऐसे भी शिल्पी हैं जो बाह्य साहसिक के लिए दिया हुआ कार्य (पीस वर्क) करते हैं। अन्त में वे शिल्प हैं जिन्हें छोटा कारखाना तो नहीं कहा जा सकता फिर भी उनमें लघु अनुमापोद्योग की अनेक विशेषताएँ हैं। समुचित परिभाषा एवं वर्गीकरण के अभाव में हमारा दृष्टिकोण और विवेचन प्राय: दोषपूर्ण ही होगा। मोटे तौर पर यों भेद कर सकते हैं—वे उद्योग जो केवल ग्रामीण आवश्यकताओं की ही पूर्ति करते हैं और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के अभिन्न अंग हैं, वे उद्योग जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध ग्रामीण अर्थ व्यवस्था से नहीं है और उनका विक्रय-क्षेत्र व्यापक है। अब तक हमने प्रथम प्रकार के उद्योगों का विवेचन किया है अब हम द्वितीय प्रकार के उद्योगों का विवरण देंगे।[1]

§२० लघु अनुमापोद्योगों को सहायता देने की कुछ विधियाँ—युद्ध-काल में अनेक लघु-अनुमापोद्योग विकसित हुए और विलीन भी हो गए या उन्हें पर्याप्त हानि उठानी पड़ी। इसका कारण अनेक दशाओं में कच्चे माल की पूर्ति का अभाव और माँग की अपेक्षा उत्पादन-शक्ति का आधिक्य था। कुछ में कारण यह था कि उत्पादन इकाई अनार्थिक थी, और आवश्यक प्रकार और मात्रा की वस्तुएँ प्रस्तुत नहीं की जा सकती थीं। अधिकांश लघु अनुमापोद्योग सरकारी निर्देश एवं सहायता के अभाव में विकसित हुए हैं। अब तक इस सम्बन्ध में नीति निर्धारण का काम भी प्राय: नगण्य हुआ है। सरकारी कार्य प्राय: शक्ति एवं नियन्त्रित कच्चे माल या यन्त्रों के वितरण तक ही सीमित रहा है। उद्योग का नियोजित विकास एक बड़ा ही महान् कार्य है। इसका उतना ही महत्त्व है जितना कृषि और परिवहन या उद्योग का है। अब सरकार ने इस काम को अपने हाथ में ले लिया है।

हस्तशिल्प का व्यापार प्राय: दलालों के हाथ में है। ये छोटे पमाने पर और मांग के मुताबिक काम करते हैं। उद्योग के वर्तमान संगठन में कुशलता लाना कठिन है। इससे न तो निर्मित वस्तुओं के गुण में सुधार किया जा सकता है और न मात्रा में ही वृद्धि सम्भव है। परिणामत: उद्योग अपने दृष्टिकोण एवं गति में प्राय: स्थिर है। हस्तशिल्प के विकास में निर्यात-माँग अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। विदेशों में इस माँग की वृद्धि करने के लिए आवश्यक है कि विलास की वस्तुएँ जिन्हें बहुत ही धनी

[1] अब तक विवेचित उद्योगों को ग्रामीण इसलिए नहीं कहा गया है कि वे प्रधानतया ग्रामीण क्षेत्रों में सीमित हैं वरन् इसलिए कि उनका ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के लिए महत्त्व है। कुटीर उद्योगों के सम्बन्ध में प्राप्य आँकड़ों में ग्रामीण एवं नागरिक उद्योगों में भेद नहीं किया गया है।

व्यक्ति खरीद सकते हैं, के अतिरिक्त उपयोग की भी वस्तुएँ बनाई जायें। साथ ही उनका निर्माण विदेशी रुचि के अनुसार होना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि वस्तुएँ उसी कोटि की हों जिस कोटि के नमूने विदेशियों को दिखाये जाते हैं, ताकि बृहत् विक्रय-स्थलों, संयुक्त राज्य अमरीका जैसे बड़े बाजार में उनकी पूर्ति बड़े पैमाने पर की जा सके। केन्द्रीय एवं राज्य-सरकारों को भारतीय उत्पादकों तथा बाह्य महानुमापक्रेताओं से सम्बन्ध स्थापित रखना चाहिए।

हस्तशिल्प के सम्बन्ध में उत्पादन एवं वितरण-सुधार के लिए किये जाने वाले उपायों तथा मांग को बढ़ाने के प्रश्नों में गहरा सम्बन्ध है। जनता की निम्न क्रय शक्ति के कारण आन्तरिक माँग सीमित है। यदि हस्तशिल्पों द्वारा निर्मित पदार्थ के प्रकार में सुधार किया जाय और कीमतें घटाई जायें तो इसमें विकास सम्भव है। यदि इम्पोरियमों और प्रदर्शनियों का आयोजन किया जाय तो लाभप्रद परिणाम होने की आशा है। यदि ये केवल कुटीर-उद्योग की वस्तुओं का विक्रय ही न करें, वरन् हस्तशिल्पियों को माँग के प्रकार और नये नमूनों के बारे में भी सूचित करें तो इससे एक स्थायी आन्तरिक माँग के विकास में काफी सहायता मिलेगी। यदि उपभोक्ता एवं सहकारी समितियों को उत्पादक सहकारी समितियों से सम्बद्ध कर दिया जाय तो आन्तरिक मांग में स्थायी वृद्धि होगी।

यदि शिल्पी को दलालों पर निर्भरता से बचाना है और प्राविधिक ज्ञान का उस तक प्रसार करना है तो दो मार्गों से आगे बढ़ना होगा—एक तो सहकारी समितियों का निर्माण और दूसरे प्रत्येक स्थापित केन्द्र में वैयक्तिक शिल्पी एवं सहकारी समितियों की सदस्यता से संघों की स्थापना करना। राज्यों के उद्योग विभाग को इस प्रकार की सहकारी समितियों एवं संगठनों का निर्माण करना होगा। इन विभागों को आवश्यकीय ज्ञान अर्जित करना होगा तथा व्यापारियों एवं शिल्पियों की समस्याओं के सतत् सम्पर्क में रहना होगा। विशेषतया उन्हें (१) मानदण्डों को लागू करने, (२) नमूनों के अध्ययन तथा (३) प्राविधिक और अन्य विषयों का अध्ययन करना होगा जो शिल्पी के काम को बाधित करते हैं।

नये और पुराने के भेद के अतिरिक्त लघु उद्योग को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(१) स्वतन्त्र अस्तित्व वाले उद्योग[1] या (२) महानुमापोद्योग से संलग्न उद्योग[2] अथवा (३) बड़े पैमाने के प्रतिद्वन्द्वी उद्योग (जैसे हस्त-करघा उद्योग)। प्रथम वर्ग में उन्हें सहकारी आधार पर संगठित करने की आवश्यकता है ताकि उन्हें आर्थिक एवं विक्रय सम्बन्धी सहायता मिले। द्वितीय वर्ग में बृहत् उत्पादन के विभिन्न चरणों का बहुत-सा काम छोटे उद्योगों को दिया जा सकता है। एक केन्द्रीय योजना द्वारा उत्पादन-क्षेत्रों का आरक्षण सम्पूर्ण उद्योग के लिए आवश्यक है। साथ ही पर्याप्त संरक्षण और प्रशिक्षण-सम्बन्धी तथा आर्थिक सहायता भी मिलनी चाहिए।

१ उदाहरणार्थ, ताले (पैडलॉक), मोमबत्ती, चप्पल, बटन आदि का निर्माण।

२ उदाहरण के लिए साइकिल के भागों का निर्माण, बिजली का सामान, पम्प, छुरी, कांटा, कृषि-यन्त्र आदि।

जहाँ तक तृतीय श्रेणी का सम्बन्ध है इस अध्याय के §४ में निर्देशित आधार पर सुधार करना चाहिए।

उद्योग के विकास एवं प्रसार के लिए सरकारी क्रय के महत्त्व की ओर भी धीरे धीरे सरकार सजग हो रही है। सरकारी नीति के अनुसरण से काफ़ी प्रोत्साहन मिलेगा तथा प्राविधिक कुशलता में वृद्धि एव सगठन म सुधार होगा।

नवीन उत्पादन केन्द्रो की स्थापना मे लघु अनुमाप निर्माण के विकास के नवीन माग खुल जायेंगे। नये कस्बो की स्थापना, विद्यमान कस्बा का प्रसार जिनमे शक्ति, सेवाएँ तथा उपयुक्त स्थिति की सुविधाएँ रहगी, केन्द्रीय सरकार की योजना का एक महत्त्वपूण अग है।

पचवर्षीय योजना में प्रशिक्षण, अथ एव अनुसन्धान की समस्याओ की ओर सकेत है। प्रशिक्षण के सम्बन्ध मे यह सुझाव रखा गया है कि इसे अन्य व्यापारो की दिशा म प्रेरित करना अच्छा होगा जहाँ स्थायी रोजगारी की सम्भावना स्पष्ट हो तथा वर्तमान लघु उद्योगों में लगे शिल्पिया को प्रशिक्षित किया जाय। लघु-अनुमापोद्योगों के लिए विशेष अनुसन्धान-केन्द्रो की स्थापना का भी प्रस्ताव रखा गया है। वित्त के सम्बन्ध म यह कहा जाता है कि चू कि कुछ राज्य आर्थिक आकार के औद्योगिक वित्त निगम खोलने में असमथ होंगे, अतएव सुझाव यह है कि कुछ राज्यों के समूहा के लिए औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना कर प्रादेशिक आधार पर वित्त की व्यवस्था की जाय।

§२१ अन्तर्राष्टीय आयोजन मण्डल की लघु अनुमापोद्योगों के सम्बन्ध में रिपोट—भारत सरकार के सहयोग से फोड फाउण्डेशन' द्वारा लघु अनुमापोद्योग औद्योगिक उत्पादन की समस्याओ तथा उनकी रोजगारी प्रदान करने की सामथ्य के अध्ययन के लिए नियुक्त अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन मण्डल (इण्टर्नेशनल प्लानिंग टीम) की रिपोट (जून १६५४ में प्रकाशित) में निष्कष रूप मे यह कहा गया है कि लघु अनुमापोद्योग की त्रुटिया के मुख्य कारण त्रुटिपूण उत्पादन और प्रबन्ध हैं। उसकी सिफारिश है कि विकासात्मक वृद्धि के औद्योगिक कायक्रम के रूप म युक्तीकरण की चुनौती को स्वीकार करना होगा। युक्तीकरण के अभाव में भारतीय श्रमिको और कारीगरा की स्वाभाविक प्रतिभा आधुनिक प्रौद्योगिकी से निरथक होड़ करने में नष्ट हो रही है।

रिपोट में यह सुझाव रखा गया है कि अनेक सगठन स्थापित किये जायें, जिनमें निम्न भी सम्मिलित हैं—(१) चार प्रदेशा में से प्रत्येक में बहूद्देश्यीय प्रौद्योगिकीय सस्थान (मल्टी-परपज इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलोजी) की स्थापना (२) नमूना सम्बन्धी एक राष्ट्रीय पाठशाला, (३) ग्राहक निगम, (४) निर्यात विकास-कार्यालय—उत्तरी अमरीका और यूरोप में, (५) लघु उद्योग निगम, (६) उत्पादन और प्रशिक्षण के लिए एक कारखाना और प्रदशन के लिए लघु यन्त्रों की व्यवस्था, और (७) स्वायत्त विक्रय सेवा निगम।

दुनिया के विशालतम सामर्थ्ययुक्त राष्ट्रों में भारत की गणना है। यदि गाँवा और नगरों में इसका पूण विकास किया जाय तो यह सबसे महान् औद्योगिक

क्रान्ति को प्रेरणा दे सकता है और भारत विश्व के महानतम उत्पादक एवं उपभोक्ता क्षेत्रों में एक हो सकता है। रिपोर्ट के अनुसार विकास की शिथिल गति का कारण वैयक्तिक क्षेत्र में प्रेरणा (कार्यारम्भ शक्ति) का अभाव है। साथ ही सरकारी सहायता पर अत्यधिक निर्भरता, अप्रचलन (आउट डेटेड) उत्पादन एवं विक्रय विधियाँ, साख सुविधाओं का अभाव, व्यवस्थित सुधार का अभाव आदि भी इसके लिए उत्तरदायी हैं। अन्तर्राष्ट्रीय दल को सबसे अधिक प्रभावित करने वाली बात उत्पादन और प्रबन्ध के सम्बन्ध में उचित विधियों का अभाव तथा युक्तीकरण के फलस्वरूप सुधरे हुए ढंगों का न अपनाना है। युक्तीकरण को रोकना और अभिनवीकरण की क्रिया को बन्द करना न केवल तर्कहीन ही है वरन् इससे भारतीय लघु-उद्योगों में गतिहीनता, सड़न और प्रतिगामिता को प्रश्रय मिलेगा। सुधार का अर्थ सस्ते दामों पर उत्तम प्रकार की वस्तुओं की उपलब्धि है, जिसके फलस्वरूप बाजारों का प्रसार और रोजी की वृद्धि होगी। इस विचारधारा को समझने की असमर्थता या अनिच्छा ही विकास के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। अभिनवीकरण के अभाव में पुरानी पद्धतियों से चिपके हुए भारतीय उद्योग पीछे पड़ जायेंगे और अन्त में विनष्ट हो जायेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय दल के मत में स्थायी औद्योगिक विकास के लिए वैयक्तिक प्रेरणा (कार्यारम्भ शक्ति) एवं पूँजी को अत्यधिक प्रोत्साहित करना होगा। यह मान्यता तो अधिकतर ठीक है कि प्रबन्ध का भार सरकार पर छोड़ा जाय परन्तु ठोस और तर्कसंगत उद्योगीकरण के प्रतिकूल है। यद्यपि प्रारम्भ में सरकारी नियन्त्रण, कार्यारम्भ एवं निर्देश अपेक्षित होगा, तथापि सरकार को यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि वह प्रबन्ध से यथाशीघ्र हाथ खींच लेगी।

अब तक लघु उद्योगों की सहायता के प्रयत्न विशृङ्खल ही रहे हैं और समस्या के छोर को ही स्पर्श कर सके हैं। सुव्यवस्थित दृष्टिकोण के अभाव में इनका औद्योगिक विकास में कोई दर्शनीय प्रगति नहीं हो सकी है। अतएव दल का सुझाव है कि इस समस्या को पूर्ण रूप से सुलझाया जाय। कच्चे माल की पूर्ति, उत्पत्ति का नमूना, प्रविधि एवं यान्त्रिक साधन से लेकर व्यापार, शिक्षा साख, वित्त, विक्रय और वितरण आदि को दृष्टि में रखना होगा। इसका सुझाव है कि अग्रगामी कारखानों (पाइलट प्लाण्ट्स) की स्थापना की जाय जिनसे उत्पादन की उन्नत विधियों का प्रदर्शन पारिश्रमिक मे बचत एवं उन्नत प्रकार की वस्तुओं के कम दाम पर उत्पादन का प्रदर्शन किया जा सके। अनुसन्धान कार्य और सहायता एवं प्रशिक्षण के लिए चार केन्द्रों की स्थापना की सिफारिश की गई थी।[१] इनका काम सेवा करने वाली एजेंसियों का होना चाहिए ताकि उद्योगियों को विज्ञान और प्रौद्योगिकी व्यापारिक प्रबन्ध, अर्थ प्रबन्धन और विक्रय के सम्बन्ध में हुए आधुनिक विकास तुरन्त ही पता चल सकें। चारों प्रादेशिक संस्थाओं को वर्तमान पद्धतियों के सम्बन्ध में सर्वेक्षण और गवेषणा का कार्य करना होगा। साथ ही इनको सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक नियमों में भी अनुसन्धान एवं प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार के प्राप्त परिणामों से उन्हें उद्योग-

१ यह सुझाव सरकार ने स्वीकार कर लिया है।

पतियो, उनके सहायको और कुशल कारीगरो को अवगत कराना चाहिए।

राष्ट्रीय डिज़ायन पाठशाला (नेशनल स्कूल ऑफ डिजाइन) को नमूने और फ़ैशन के सृजनात्मक अध्ययन-केन्द्र का काम करना चाहिए। इसका प्रधान काम व्यवसाय के लिए उपयोगी नये नमूना का विकास एव उन्हें प्रारम्भ करना होगा। इसे नमूना बनाने वालों की प्रशिक्षा, गवेषणा, प्रदर्शनी, सगठन और सूचना प्रसार का भी काय करना होगा। ग्राहक-सेवा निगम से आशा की जाती है कि यह भारतीय एव विदेशी क्रेताओं के लिए विश्वसनीय सेवाएँ प्रस्तुत करेगा। नियात विकास कार्यालय—एक उत्तरी अमरीका और दूसरा यूरोप मे—खुलने चाहिए, ताकि विदेशी क्रेताओं की भारतीय हस्तशिल्प वस्तुओं की माँग में वृद्धि हो तथा विदेशी ग्राहको से सम्पक स्थापित हो।

इस समय वास्तविक वित्त का अभाव-सा है। साथ ही साख एव पूँजी की कमी भी सवत्र दिखाई पडती है। इस कमी को दूर करन के लिए बडे सबल प्रयास की आवश्यकता है। साख एव ऋण उन उद्देश्यो के लिए दिया जाना चाहिए जिनसे वतमान वैज्ञानिक पद्धतियो को लाभ प्राप्त हो सके, अर्थात् नवीन यन्त्रों का क्रय हो और मानवी शक्ति का अधिक लाभप्रद उपयोग हो सके। दल' का सुझाव है कि व्यावसायिक बक अपनी शाखाओं को अधिक अधिकार दें ताकि वे छोटे उद्योग वालो को अधिक ऋण द सकें तथा अपने ऋण के कारबार के विकेन्द्रीकरण की ओर झुकें। उन्हें सचालको की स्थानीय परिषद् या स्थानीय परामश परिषद् बनानी चाहिए। सरकारी बको को औद्योगिक क्षेत्र मे भी बढ़ना होगा। वास्तविक सम्पत्ति व धन्धे आधार पर ऋण देने की व्यवस्था होनी चाहिए। लघु अनुमापोद्योग के विकास-हेतु ऋण देने के लिए पर्याप्त सरकारी धन मिलना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय दल के अनुसार सभी वतमान स्थानीय राज्य एव राष्ट्रीय व्यापारिक सघो को सबल एव विकसित करना होगा। केन्द्रीय एव राज्य सरकारो को प्रविधि-सम्बन्धी तथा अन्य समस्याओं पर विचार विमर्श करने के लिए इन सघो की बठकें करनी चाहिए। सहकारी समितियो के प्रश्न पर दल' का मत है कि (१) सरकार को क्रमश प्रत्यक्ष सगठन मे हाथ खीच लेना चाहिए और अपने प्रयास को सहकारी प्रशिक्षा की ओर केन्द्रित करना चाहिए, जिससे अन्त में व्यक्तियो में स्वय सहकारी समितियो के सगठन की रुचि जाग सके। (२) गोष्ठियाँ और अल्पकालीन पाठशालाएँ भी प्रत्येक राज्य द्वारा सगठित होनी चाहिए, जिनमें सहकारियो को प्रशिक्षा मिल सके।

अन्तर्राष्ट्रीय दल के मत में केन्द्रीय सरकार द्वारा लघु-उद्योग निगम की स्थापना होनी चाहिए, जिसकी प्रादेशिक एव राज्य शाखाएँ हों तथा जिनका काम सरकारी क्रय के सम्बन्ध म सेवा करना हो।

सहकारिता का प्रारम्भिक लक्ष्य लघु-उद्योगो का प्रविधि एव उत्पादन-सुधार के सम्बन्ध में प्रेरणा और प्रारम्भिक सहायता देना तथा इनकी उत्पत्ति की प्रक्रिया व प्रबन्ध को सुधारना होना चाहिए। यह काय सुनिश्चित माँग के अनुसार काम

करने पर ही सम्भव है। इन लोगों को इस स्थिति में भी लाना होगा कि व सामान्य बाजार के समकक्ष मूल्य पर अपना उत्पादन बेच सकें। दल का यह भी सुझाव है कि प्रशिक्षण एवं उत्पादन के लिए एक अग्रगामी कारखाना खोला जाय। इससे बड़े पैमाने की उत्पादन विधियों में श्रमिकों को प्रशिक्षित करने की समस्या हल होगी और आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति भी होगी।[1]

---

१ ग्रामीण एवं लघु-उद्योग-समिति की रिपोर्ट (द्वितीय पंचवर्षीय योजना) का विवरण २२वें अध्याय में दिया गया है।

अध्याय १४

महानुमापोद्योग और उद्योग-रक्षा-नीति

§१ लोहा और इस्पात उद्योग—१८७३ मे बिहार में झरिया कोयले की खान के समीप बारकार के लोहे के कारखाने के खुलने के साथ, भारत के लोहा और इस्पात उद्योग का जन्म माना जाता है। १८८९ में इन्हें बगाल स्टील एण्ड आइरन कम्पनी ने ले लिया। १८९९ के बाद ही कारखाने से लाभ होना प्रारम्भ हुआ लेकिन जब कम्पनी ने इस्पात निर्माण का कार्यारम्भ किया तो बडा घाटा हुआ। १९१० में सिंहभूम और मानभूम जिले में कच्चे लोहे के नये स्रोत का पता चलने पर कम्पनी तथा इस उद्योग का भविष्य उज्ज्वल हो उठा। वर्तमान जमशेदपुर (सक्ची) मे टाटा कम्पनी की स्थापना के साथ इस उद्योग में नवयुग का प्रारम्भ हुआ। १९१३ में कम्पनी सफलतापूर्वक इस्पात पैदा करने लगी।

प्रथम विश्वयुद्ध ने इस उद्योग को बडी ही प्रेरणा दी और सही आधार पर इसकी स्थापना मे मदद दी। १९१७ में टाटा कम्पनी ने विकास की एक विशाल योजना हाथ में ले ली जो १९२४ मे पूरी हुई। इसकी सफलता से अन्य साहसिको को प्रोत्साहन मिला। इण्डियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी की स्थापना सन् १९१८ मे सर्वश्री बर्न एण्ड क० (कलकत्ता) ने आसनसोल के समीप हीरापुर मे की। इस कम्पनी का एक अन्य कारखाना कुल्टी मे है जिसकी लोह-सधानी (आइरन फौण्ड्री) पूर्व में अपने ढग की सबसे बडी है। १९३६ में सर्वश्री बर्न एण्ड कम्पनी ने बग-इस्पात निगम की स्थापना की। १९५२ मे दोनो कम्पनियों का एकीकरण हो गया। इसी प्रकार का एक अन्य उद्यम मैसूर स्टेट आइरन वर्क्स था, जिसकी स्थापना १९२३[1] में भद्रावती में हुई। विभेदात्मक नीति (१९२४) के अन्तर्गत सर्वप्रथम लोहे और इस्पात के उद्योग को सरक्षण प्राप्त हुआ। सरक्षण के प्रोत्साहन से इसका प्रसार शीघ्रता से होने लगा और अशुद्ध लोहे (पिग आइरन) का उत्पादन प्रारम्भ में ३५,००० टन से बढ़कर १९३८ ९ मे १ ५७६ ००० टन हो गया जिसका लगभग ⅓ बाहर भेजा जाता था। भारतीय अशुद्ध लोहे का प्रधान ग्राहक जापान था, साथ ही सयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन भी काफी मात्रा मे खरीदते थे। भारतीय लोहा किसी भी प्रकार से अन्यत्र के लोहे से हीन कोटि का नहीं है। अब कहीं से भी लोहे का आयात नहीं किया जाता।

१९१९ के बाद इस्पात का उत्पादन भी द्रुत गति से बढ़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध-

---

१ भद्रावती आइरन वर्क्स की स्थापना १९१८ में मिली और कार्यारम्भ १९२३ में हुआ।

काल इस उद्योग के लिए समृद्धि का काल रहा। इसका कारण सरकार और रेलवे से अत्यधिक आर्डर का मिलना तथा आयात का प्राय बन्द हो जाना था। वस्तुत माँग इतनी अधिक थी कि सरकार को विवश होकर नियन्त्रण लगाना पड़ा ताकि इस्पात का वितरण यौद्धिक तथा गृह-उपयोगों के लिए उचित प्रकार से हो सके। न केवल उत्पादन के आकार में वृद्धि हुई, बल्कि उद्योग की अनेक शाखाएँ भी नवीन दिशाओं मे पल्लवित हुईं। भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण कारखाना टाटा का है। इससे भारत की गृह आवश्यकता का ७५ प्रतिशत उत्पन्न होता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में वर्तमान कारखानों का विकास करने तथा नवीन कारखाने खोलकर लोहे और इस्पात के उत्पादन मे १०० प्रतिशत वृद्धि करने का लक्ष्य था। १९५३ में सरकार ने एक जर्मन ग्रुप (कम्बाइन) क्रप्स और डेमाग से एक समझौता किया, जिसके अनुसार १९५८ तक एक नवीन कारखाना तैयार करने की व्यवस्था है। मध्य प्रदेश और बंगाल में दो बृहत् इस्पात के कारखाने खोलने का विचार है। सरकार ने यह भी मान लिया है कि वैयक्तिक क्षेत्र मे भी इस्पात के वर्तमान कारखानों का प्रसार हो। लोहे के उपयोग (प्रति व्यक्ति) को देश की आर्थिक प्रगति का निर्देशक माना जा सकता है। इसमें प्रगति का काफी क्षेत्र है। यह हमारे इस्पात के उपभोग से विदित है जो १२ पौण्ड प्रति व्यक्ति के लगभग है, जबकि इंगलिस्तान में यह प्रति व्यक्ति ६३० पौण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका में १,३०० पौण्ड प्रति व्यक्ति है।

§२ सूती मिल-उद्योग—भारत का सबसे बड़ा बृहत् अनुमापोद्योग सूती मिलें हैं। इसमे कुल लगी पूँजी १०४ करोड़ रुपया है और श्रमिकों की सख्या ७४३,३०० है। देश में कुल लगभग ४५३ मिलें हैं, जिनमें २०४,००० करघे हैं। लगभग २०० मिलें बम्बई राज्य में हैं, जिनमें से बम्बई नगर में ६५ और अहमदाबाद में ७१ हैं। मद्रास राज्य में ९० मिले हैं।

१८५४ में बम्बई में मिल की स्थापना से वर्तमान सूती उद्योग का प्रारम्भ होता है। बम्बई को इसलिए चुना गया क्योंकि यहाँ पूँजी सरलता से मिल सकती थी, साथ ही परिवहन के द्रुतगामी साधन और नम जलवायु भी सुलभ थी। इसकी स्थिति भी ऐसी थी कि चीन से सूत का व्यापार सरलता से हो सकता था। कलकत्ता में इसका प्रारम्भ १९०५ में हुआ। देर से यहाँ खुलने का कारण यह था कि कलकत्ता में जूट का उद्योग केन्द्रित था और वहाँ देशी उद्यम का अभाव था। १८७७ से ही देश के ऊपरी भागों में उद्योग का विकास प्रारम्भ हुआ। इनमें नागपुर शोलापुर और अहमदाबाद प्रमुख हैं। उपर्युक्त स्थानों पर पुरानी औद्योगिक एवं वित्तीय परम्पराएँ थीं। दक्षिण भारत में बकिंघम एण्ड कर्नाटिक मिल्स अकेले ही उद्योग का प्रतिनिधित्व करती रही। अब मदुरा और कोयम्बटूर में भी मिलें हैं। कोयम्बटूर को पिकारा से विद्युत्-शक्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार मण्डी में विद्युत् शक्ति के विकास तक अमृतसर को भी प्रतीक्षा करनी पड़ी। देश के ऊपरी भाग में स्थित मिलों को यह लाभ था कि वे कच्चे माल के समीप थीं, उन्हें श्रमिक सस्ते मिलते थे और विस्तृत आन्तरिक बाजार के भी वे समीप थीं। रेलवे के विकास से इन केन्द्रों को और भी लाभ हुआ। वर्तमान

शताब्दी के प्रारम्भ में चीन में भारतीय सूत की माग घटने लगी, जिससे बम्बई की उन्नत स्थिति को धक्का पहुँचा। इस ह्रास के कई कारण थे—(१) भारतीय टकसालों का चाँदी के सिक्कों का टकण बन्द करना और तज्जनित विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ, (२) चीन में स्वय कताइ उद्योग का विकास (३) प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर जापान का प्रबल प्रतिस्पर्धी के रूप में प्रकट होना, और (४) भारतीय उत्पादकों द्वारा विदेशी बाजारों की उपेक्षा। वतमान समय में भारत का सूत सम्बन्धी निर्यात व्यापार प्राय नगण्य है। प्राय सभी उत्पादन देश मे ही बुनाई उद्योग द्वारा प्रयुक्त होता है। इसका कारण वतमान शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में स्वदेशी उद्योग द्वारा प्रोत्साहित बुनाई उद्योग का विकास भी है।

१६१७ २३ के बीच के ६ वर्षों मे कपास के उद्योग ने समृद्धि का अनुभव किया। इसके बाद मन्दी का काल आया। इसके अनेक कारण थे, जसे कृषक वग की ह्रासमान क्रय शक्ति कपास तथा विनिमय मूल्यो म अत्यधिक चढाव-उतार। कपास-उद्योग की वतमान कठिनाइयाँ निम्न कारणों से हैं—(१) कच्चे माल की, विशेषकर विभाजन के अनन्तर, होने वाली कमी, (२) १८० अनार्थिक इकाइयो का अस्तित्व, (३) श्रम-सम्बन्धी कठिनाइयाँ और बढती मजदूरी, (४) विदेशी प्रतिस्पर्धा का पुनर्जागरण, (५) बृहत् अनुमापोद्योग के विरुद्ध हस्तचालित करघा-उद्योग को प्रश्रय देने वाली सरकारी नीति, और (६) पुरानी और घिसी मशीनें। इस उद्योग का बम्बई म अत्यधिक केन्द्रित हो जाना भी एक है।

१६३६-४० में प्रति व्यक्ति वार्षिक सूती कपडे की खपत प्राय १६ २३ गज थी। नियन्त्रण प्रथा के अन्तगत १६५० मे प्रति व्यक्ति १२ गज कपडा दिया जाता था। प्रथम पचवर्षीय योजना का लक्ष्य प्रति व्यक्ति १५ गज कपडा देने का था। १६५४ में भारत सयुक्त राज्य अमरीका और रूस के पश्चात् कपडे का तीसरा सबसे बडा उत्पादक था। भारत का कुल उत्पादन ५०,२५० लाख गज था। कपडे के निर्यात (८,३४० लाख गज) मे (जापान के बाद) भारत का दूसरा स्थान था।

§३ जूट उद्योग—बगाल में सिरामपुर के पास रिसरा में १८५५ में पहली जूट-कताई मिल की स्थापना हुई। प्रथम ३०वर्षों में प्रगति शिथिल थी। इस बीच केवल १८६८-७३ मे काफी समृद्धि हुई। इस अल्पकालीन दशा के फलस्वरूप अनेक मिलें स्थापित हुइ। परिणामत उत्पादन म अधिकता और तज्जनित लाभ में कमी हुई तथा कितनी ही नई मिलें बन्द हो गइ। लेकिन उद्योग १८८१ में पुन समुत्थान की दशा में आ गया। इस समय बगाल में ५ ००० शक्ति-चालित करघे थे। दो विश्व-युद्धों से उद्योग को काफी प्रेरणा मिली। १६२६ की महान् मन्दी मे जूट-उद्योग अन्य अनेक उद्योगों की भाँति कठिनाइयो में फँस गया। लेकिन अन्य उद्योगों की अपेक्षा जूट-उद्योग उनका अधिक सफलता से सामना कर सका। लगातार १० वर्ष से १६३६ तक उत्पादन नियन्त्रण की नीति लागू रही। १६३७ ३८ सकट का समय था। यहाँ तक कि बगाल सरकार को उद्योग का नियन्त्रण करना पडा और काम के घण्टों को ४५ घण्टे प्रति सप्ताह तक सीमित कर दिया। द्वितीय विश्व-युद्ध छिडने पर जब हर

प्रकार की जूट निर्मित वस्तुओं की समुद्र-पार की माँग बढ़ी तो फिर उद्योग पर से सब प्रतिबन्ध हटा दिये गए और पूरी सामर्थ्य भर काम प्रारम्भ हुआ।

विभाजन के परिणामस्वरूप देश के जूट उत्पादन क्षेत्र का ३/४ पाकिस्तान में चला गया। कच्चे जूट का सबसे बड़ा उपभोक्ता तो भारत है, परन्तु सबसे बड़ा उत्पादक पाकिस्तान है। दोनों देशों में परस्पर विद्वेष के कारण जूट प्राप्त करने में कठिनाई होती है। भारत द्वारा रुपये के *अवमूल्यन* तथा *पाकिस्तान के अवमूल्यन* न करने से कठिनाई और भी बढ़ गई।[1] भारत अधिक जूट उत्पन्न करने का प्रयास कर रहा है परन्तु इस मार्ग में कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि अधिक जूट-उत्पादन का अर्थ है कम खाद्यान्नोत्पादन और दूसरा, पूर्वी भारत का जूट पूर्वी पाकिस्तान जैसा नहीं होता। अतः यह निश्चित प्रतीत होता है कि भारत अपनी दो तिहाई आवश्यकता के लिए काफी समय तक पाकिस्तान पर अवलम्बित रहेगा। इसके साथ ही पाकिस्तान की जूट मिलों से प्रतियोगिता की सम्भावना भी है। पाकिस्तान जब तक अपने वित्त एवं शक्ति-साधनों के अभाव को दूर नहीं करता, उसकी मिलों और जूट-उद्योग का विकास अनिश्चित और शिथिल रहेगा।

यह कहा जाता था कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सूती उद्योग की तुलना में जूट की स्थिति अधिक दृढ़ है। अब यह सत्य नहीं है क्योंकि जूट पर भारत का एकाधिकार नहीं रहा। सी० एन० वकील के शब्दों में वर्तमान स्थिति भारत और पाकिस्तान के बीच द्विपक्षी एकाधिकार की है जिसमें पाकिस्तान प्रमुख उत्पादक और भारत प्रमुख क्रेता है।[2]

जूट-उद्योग और कपास उद्योग की एक विपरीतता यह है कि कपास-उद्योग प्रारम्भ से ही भारतीय हाथ में रहा है और इसमें देशी पूँजी लगी है, जबकि जूट में उद्यम और पूँजी दोनों ही यूरोपीय हैं, यद्यपि अब अधिकाधिक भारतीय हिस्सा-पूँजी खरीदकर अधिकार प्राप्त करते जा रहे हैं। एक भेद यह भी है कि सूती उद्योग काफी विकेन्द्रित है, जबकि जूट कलकत्ता के आसपास अत्यन्त ही केन्द्रित है। यही कारण है कि *जूट-उद्योग सूती उद्योग की अपेक्षा अधिक संगठित है।*

जूट उद्योग विनिमय प्राप्त करने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। १९५४-५५ में ८८२,३०० टन जूट वस्तुओं का निर्यात हुआ। इसका मूल्य १२४ करोड़ रुपये आँका गया था, जो कि *उस वर्ष के कुल निर्यात मूल्य का २१ प्रतिशत था।*[3] १९४७ में ११३ जूट मिलें थीं, जिनमें ६८,४४७ करघे थे और ३,००,००० श्रमिकों को रोजी मिलती थी। इसकी मुख्य वर्तमान कठिनाइयाँ ये हैं—(१) कच्चे माल की कमी, (२) अभिनवीकरण के लिए पर्याप्त धन का अभाव, और (३) प्रतिस्थापन का

---

१ पाकिस्तान ने काफी बाद में, १९५५ में, अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया।

२ सी० एन० वकील के 'इण्डिया और पाकिस्तान—ए जनरल एण्ड रीजनल प्रोफाइल' १९५४, पृ० २८३ में सी० ओ० एच० के० स्पेट द्वारा उद्धृत।

३ एम० पी० बिड़ला, इण्डियन जूट मिल इण्डस्ट्री, जर्नल ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री (सप्लीमेण्ट), नवम्बर १९५५।

चलता हुआ उपयोग ।

§४ ऊन उद्योग—भारत में निर्मित ऊनी वस्तुएँ प्रमुखतया तीन श्रेणियो में विभाजित की जा सकती हैं—कालीन, शाल और कम्बल । मुगल साम्राज्य के विनाश के अनन्तर कालीन बुनने के उद्योग के दुर्दिन आए यद्यपि प्राचीन शाही दरबारी तथा सामन्तवग की माँग का स्थान कुछ अशो तक विदेशी माँग ने ले लिया । विदेशी माँग की पूर्ति के लिए सस्ती और निम्न कोटि की वस्तुएँ अपेक्षित थीं । विनीली रञ्जक (एनीलीन डाइज) के कारण भी ह्रास की प्रक्रिया तीव्र होती गई । विदेशी बाजारो के उन्मुक्त होने पर मध्यस्थो की सख्या काफी बढ गई और लाभ का काफी अश इनके हाथो में जाने लगा । इस समय उत्पादन का ६० प्रतिशत विदेशी बाजारो के लिए होता है ।

इस उद्योग मे १६ कताई के कारखाने, ७० शक्ति-चलित करघे के कारखाने और २४ सयुक्त कारखाने हैं । ऊनी और वसटेड कपडो का औसत वार्षिक उत्पादन १६० लाख गज है ।

§५ शीशा निर्माण—१८६२ और १६०८ के बीच आधुनिक ढग के शीशे के अनेक कारखाने भारत में खुले । इनके खोलने वाले भारतीय और यूरोपियन दोनो थे, किन्तु वे प्रयत्न सफल न हो सके । स्वदेशी आन्दोलन (१६०६ १३) काल में इस उद्योग मे काफ़ी हलचल रही । उस समय स्थापित कारखानों मे कुछ को ही लाभ हो सका । यह देखा गया है कि भारतीय शीशे के उद्योग के प्रति विशेष रूप से आकर्षित हैं । इसीलिए अनेक असफलताओं के बावजूद भी शीशे के कारखाने खोलने के प्रयास जारी रहे । इस समय लगभग १०६ कारखाना मे १ २६ ००० श्रमिक काम करते हैं और इनमे ६ करोड की पूँजी लगी है । १६४५ म सरकार ने एक मण्डल (पनल) की नियुक्ति की, जिसका काम इस उद्योग के सुव्यवस्थित विकास के लिए सुझाव रखना था । मण्डल ने यह मत प्रकट किया—चूँकि शीशा भारतीय औद्योगिक विकास का प्रमुख पदाथ है अत यह अनिवाय है कि इसे ठोस आधार पर स्थापित किया जाय । उद्योग के सामने निम्न कठिनाइयाँ हैं—(१) अनुभवहीन प्रबन्ध, (२) प्रशिक्षित श्रम का अभाव, (३) सोडा की राख और इधन जसी आवश्यक वस्तुओ की अप्राप्यता या कम मात्रा मे प्राप्ति, तथा (४) अपर्याप्त धन । इसका भारत के नियात-व्यापार मे महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है । १६४५ ५५ की निर्यात-सख्या (२० ४८ लाख रुपये) की जब तीन वप की सख्याओ से तुलना करते हैं तो स्पष्ट ही ह्रास की गति का पता लगता है । ये सख्याएँ इस प्रकार थीं—१६५१-५२ में २१ ४२ लाख रुपये, १६५२ ५३ में २४ २४ लाख रुपये और १६५३ ५४ में २१ ४० लाख रुपये । फिर भी यदि यह उद्योग उत्पादित वस्तुओ के गुण और परिक्षेत्र में सुधार कर तो भविष्य निराशामय नही है।

§६ सीमेण्ट-उद्योग—सीमेण्ट के अनेक उपयोग हैं । १६१८ स ही भारत म सीमण्ट की माँग बढ़ती जा रहा है । लोह-सघा (प्रबल कक्रीट) का उपयोग पुलों तथा भारी सरचनात्मक कामो म किया जाता है और इसीलिए कुछ लोग कहते हैं कि इस्पात-युग का स्थान अब सीमेण्ट और लोह-सघा युग ने ले लिया है । पाटलण्ड सीमेण्ट क

गया कि उत्पादन २५०,००० टन[1] होगा।

§१० सिझाव और चर्म-उद्योग—भारत में चमड़े और खालों का बड़ी अधिक मात्रा में प्राप्ति है और परिणामतः चमड़े और चमड़े की वस्तुओं में भारत आत्म निर्भर है। अनुमानतः हर साल १६२ लाख गायों का ५५ लाख भैंसों का, २३२ लाख बकरियों का तथा १५१ लाख भेड़ों का चमड़ा प्राप्त होता है। चर्म उपकर जाँच समिति रिपोर्ट १९३० ने भारत के इस उद्योग में मूल्य का अनुमान ४० से ५० करोड़ रुपये के बीच लगाया था। इससे अनेक व्यक्तियों को रोजी मिलती है तथा भारत की दलित जातियों की रोजी का एक बहुत बड़ा सहारा है।[2] इस उद्योग के संगठित भाग में लगभग २००,००० श्रमिक हैं। भारत में सिझाव की आधुनिक पद्धतियों का प्रचलन सैनिक अधिकारियों द्वारा प्रारम्भ किया गया क्योंकि उन्हें उत्तम प्रकार के चमड़े की वस्तुओं, विशेषकर घोड़े के जीन, की आवश्यकता थी। १८६० में गवर्नमेंट हार्नेस एण्ड सैडलरी फैक्ट्री कानपुर में खोली गई जो आज भी भारत में आधुनिक सिझावशाला का प्रमुख केन्द्र है। भारतवर्ष में जूते बनाने की सबसे बड़ी निजी फैक्ट्री कानपुर में स्थित है। अदमजी पीरभाई द्वारा बम्बई में पश्चिम भारतीय सैन्य-सामग्री कारखाना (दि वेस्टर्न इण्डिया आर्मी एण्ड इक्यूपमेंट फैक्ट्री) खोला गया। बम्बई, मद्रास और कानपुर के सिझाव-केन्द्रों को छोड़कर अन्यत्र यन्त्रों का उपयोग प्राय नहीं के बराबर होता है। १९१४ के पूर्व सिझाये गए चमड़े का निर्यात-व्यापार केवल दक्षिण में केन्द्रित था, क्योंकि वहाँ पर कनिया अरिक्युलाटा (जिसे मद्रास में अवरम और बम्बई में तारवार कहते हैं) विशेष रूप से पाया जाता है। इससे मद्रास में सबसे अधिक सिझावशालाएँ हैं। सबसे प्रभावशाली सिझाव की सामग्री एक प्रकार की वाटल छाल है, जिसका आयात दक्षिणी अफ्रीका से किया जाता है। ऐसा सुझाव रखा गया है कि इसे नील गिरि में उगाया जाय। मद्रास की केन्द्रीय चर्म अनुसन्धान-संस्था ने एक प्रकार की छाल के लिए एक प्रतिस्थापन जिसका नाम कारड़ा छाल है ढूँढ निकाला है। लगभग कुल पूर्ति का ४० प्रतिशत किप्स के काम में लाई जाती है जिनका निर्यात प्राय ब्रिटेन को किया जाता है। लगभग १५ प्रतिशत खालें सुसंगठित उद्योग द्वारा काम में लाई जाती हैं। सिझाव की क्रोम पद्धति का भारत में बहुत धीरे धीरे विकास हो रहा है। भारत में उत्पादित क्रोम का अधिकांश लघु सिझावशालाओं में प्रस्तुत किया जाता है। ये सिझाव के कारखाने कलकत्ता के पास हैं और अधिकतर चीनी हस्तशिल्पी उनमें काम करते हैं। क्रोम पद्धति की शिथिल गति से विकास का एक कारण पद्धति में अत्यधिक विकसित प्राविधिक कुशलता और बहुमूल्य यन्त्रों का उपयोग होना है। किन्तु विशेष प्रयत्न एवं सहायता से इसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है, क्योंकि देश में पर्याप्त मात्रा में गो-चर्म और भैंस का चमड़ा प्राप्य है।

§११ जलयान-उद्योग—भारत सरकार द्वारा प्रकाशित एक विज्ञप्ति में (१९५४) यह स्वीकार किया गया कि भारत जैसी विशाल-तटीय रेखा और यौद्धिक महत्त्व तथा

१ दि मनपति मैनुफैक्चर्स एसोसिएशन ऑफ इंडियाज मेमोरेन्डम रिपोर्ट, १९५४।

२ रिपोर्ट ऑफ दि टारिफ बोर्ड इन्क्वायरी कमेटी (१९३०), पृष्ठ १३८।

विश्व के महत्त्वपूर्ण समुद्री पथ पर पड़ने वाले देश मे गहरे समुद्र में चलने वाले जहाजा की सख्या बहुत ही कम है। द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने पर भारत में जलयानो की सख्या केवल ५३ थी, जिनका टनेज भार १५० ००० टन था। भारत सरकार ने पुनर्निमाण नीति उपसमिति की नियुक्ति १९४५ में की, जिसकी स्थापना जलयान-सम्बन्धी नीति समिति के विधान के अन्तगत ही हुई।

पुनर्निमाण समिति की रिपोट को नीति-समिति की स्वीकृति प्राप्त हुई। इनमें १०० लाख टन भार वहन करने की शक्ति वाले और ३० लाख यात्रियो को ले जाने वाले २० लाख टन भार के जलपोत निर्माण का सुझाव था। दूसरी सिफारिश यह थी कि ५ से ७ वप के भीतर भारत का शत प्रतिशत तटीय व्यापार सीलोन, बर्मा तथा भौगोलिक दृष्टि से समीपस्थ देशों के व्यापार का ७५ प्रतिशत, दूरस्थ देशो के साथ के व्यापार का ५० प्रतिशत और पूव काल मे धुरी राष्ट्र के जलयानो द्वारा होनेवाले व्यापार का ३० प्रतिशत भारतीय जलयानो के लिए रक्षित रहना चाहिए। आगे के विकास निम्न प्रकार थे—(१) १० करोड रुपये की अधिकृत पूँजी वाले तीन निगम स्थापित किये जाने की योजना की घोषणा नवम्बर १९४७ में की गई। इनमें से प्रथम निगम 'ईस्टन शिपिंग कारपोरेशन' की रजिस्ट्री १९५० में हुई। (२) भारतीय सामुद्रिक कम्पनियो ने सवप्रथम १९४८ मे समुद्र पार के व्यापार में भाग लिया। इनमें से दो भारत इगलिस्तान महाद्वीप-सम्मेलन लाइस (इण्डियन यू०के० कान्टीनेन्ट कान्फ्रेंस लाइ स) के सदस्य हैं। इनमें से प्रत्येक १२ जलयान चलाने का अधिकारी है। (३) १९५० स देश का तटीय व्यापार मूलत भारतीय जलयानों के लिए रक्षित कर दिया गया है। लेकिन भारत के जलयान-स्वामी जलयाना की खरीद या निर्माण कराने की अपेक्षा अधिकृत जलयाना का प्रयोग करते रहे। इस प्रकार आरक्षण का प्रमुख उद्देश्य विनष्ट हो गया, अर्थात् विदेशी विनिमय की बचत तथा जहाजरानी और प्रबन्ध सम्बन्धी प्रशिक्षण न हो सका। १ जनवरी १९५१ से एक नये भारतीय तटीय सम्मेलन—विशेषतया भारतीय सामुद्रिक कम्पनियो का—ने कार्यारम्भ किया। दो ब्रिटिश कम्पनियाँ इस कान्फ्रेंस की सम्बद्ध सदस्य हो गई।

प्रथम जलयान-निर्माणशाला की स्थापना विशाखापटनम् म १९४१ मे सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी लि० द्वारा जोकि वालचन्द हीराचन्द की प्रेरणा मे काम कर रही थी हुई। इस कम्पनी द्वारा निर्मित प्रथम जलयान का नाम एस० एस० जल उषा है, जिसे जनवरी १९४८ में समुद्र में उतारा गया। ५ वष के अन्दर कम्पनी ने पांच और आठ हजार टन के जहाज समुद्र म उतारे। जनवरी १९५२ में हिन्दुस्तान पोतांगण (हिन्दुस्तान शिपयार्ड) की रजिस्ट्री सिंधिया कम्पनी से पोतांगण लेने के लिए हुई। इस नवीन उद्याग में दो-तिहाई हिस्सा सरकार का है और एक तिहाई हिस्सा सिंधिया कम्पनी का है।

सरकार ने जलयान-स्वामियों की एक परामर्श-समिति स्थापित की है जो सामान्य नीति पर सलाह देने का काम करती। इस समिति ने सरकार स यह आश्वासन प्राप्त किया है कि तल की परिशोधनशालाओं की परिशोधित उत्पत्ति तल की

की तीनो शाखाओं अर्थात् सपीडन सचकन (कम्प्रेशन मोल्डिंग), अन्त क्षेप्य सचकन (इजेक्शन मोल्डिंग) और उत्तोदन सविरचना (फब्रीकेशन थाई एक्सट्रूयन) का विकास हो चुका है। यह उद्योग साधारण प्रकार की उपभोज्य वस्तुओं के अतिरिक्त कितनी ही नवीन वस्तुओं का निर्माण करने की क्षमता रखता है जैसे, चश्मे के फ्रेम, पोलीथनीन फिल्म्स, अनाश्रित चद्दरें (अनसपोर्टेड शीटस) आदि। अरब सागर तथा हिन्द महासागर के तटीय देशो में इसके निर्यात व्यापार का अच्छा विकास हो रहा है। १९५४-५५ में १८४१ लाख रु० के मूल्य की वस्तुएँ विदेश भेजी गई जबकि १९५१-२ में ६ ८५ लाख रुपया की ही भेजी गई थी।[1] यह उद्योग अभी अपने शैशव काल में है और इसके विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। अन्य देशो मे प्रति व्यक्ति प्लास्टिक उपभोग की सख्याओं से प्रगति के क्षेत्र का अनुमान लग सकता है—सयुक्त राज्य अमेरिका १७ पौण्ड, जर्मनी १४ ५ पौण्ड इङ्गलिस्तान ८ पौण्ड, भारत ० ०३ पौण्ड।[2]

§१६ अल्मूनियम उद्योग—अल्मूनियम ही एक ऐसी अलौह धातु है जिसका भारत में बडी मात्रा में उत्पादन होता है। अल्मूनियम पिण्डक का उत्पादन सर्वप्रथम आज से १२ वर्ष पूर्व हुआ। अल्मूनियम उद्योग बाक्साइट उत्खनन, कच्ची धातु का परिशोधन तथा अनेक प्रकार की सविरचित वस्तुओं के विधायन की सभी क्रियाएँ स्वय करता है। १९३७ ८ में अल्मूनियम कारपोरेशन आफ इण्डिया लि० और अल्मूनियम प्रोडक्शन कम्पनी आफ इण्डिया लि० (जिसे अब इण्डियन अल्मूनियम क० लि० कहते हैं) ने कलकत्ता के पास बेल्लन (रोलिंग) मिलें खोलीं। आल्वेयी के पास स्थापित प्रद्रावणी में सबसे पहले १९४३ में उत्पादन किया गया। दोनो बृहत्तर कारखानों की सयुक्त उत्पादन शक्ति ७,२००—७,५०० टन अल्मूनियम-पिण्डक प्रतिवर्ष है। इस उद्योग में प्लेट चादरें पत्तियाँ, छडें तथा ठोस खोखली वस्तुएँ इत्यादि बनायी जाती हैं। अल्मूनियम पर्ण (फायल) भी बडी मात्रा में उत्पन्न किया जा रहा है।

§१७ कृत्रिम रेशम उद्योग—कृत्रिम रेशम-उद्योग भारत के युद्धोत्तर-कालीन उद्योगों म से एक है। १९५० म भारत में पहली बार ७५ पौण्ड आलग अशु तन्तु (विस्कोज फीलामेंट यान) का उत्पादन किया गया। इस समय देश मे चार कारखाने हैं। इनमें से सब आलग अशु तन्तु का उत्पादन करते हैं। विस्कोज पद्धति से एक कारखाने में अंश रेशो उत्पन्न किए जाते हैं। एक म शुक्तीय (एसीटेट) रेशम उत्पन्न किया जाता है। इनमें स सिरसिल्क नामक कारखाने की स्थापना म सरकार का हाथ है। एक अन्य आसग तन्तु के कारखाने की स्थापना १९५६ म हुई है। इस समय देश म कुल ३५ ००० शक्तिचालित करघे हैं और ७५,००० हाथ के करघे है जो अशु कृत्रिम रेशम के तन्तु या बुने हुए कृत्रिम रेशम के तन्तु या दोनों के समन्वय से काम कर रहे हैं।

८०० लाख पौंड प्रतिवर्ष अशु तन्तु (फिलामेण्ट यान) की आवश्यकता है। ऐसी

---

[1] भारत व्यापार पत्रिका (इण्डियन ट्रेड एण्ड इण्डस्ट्री पेपर सप्लीमेण्ट), २१ जनवरी, १९५५।

[2] द हिन्दू सर्वे (इण्डियन इण्डस्ट्रीज पेपर) १६ जनवरी, १९५५ म आर०-सी० शाह लिखित 'प्लास्टिक मेकस प्रोग्रेस' से उद्धृत।

आशा है कि १९६१ तक यह माग बढकर १४०० लाख पौण्ड हो जायगी। वतमान उत्पादन २४० लाख पौण्ड शुक्तीय कृत्रिम रेशम का है और १२० लाख पौण्ड बड़े रेशे का है। ऐसी आशा की जाती है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना में उद्योग सभी आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेगा। इस समय उद्योग में लगी पूँजी १३ करोड रुपये से कुछ अधिक है। इसमें २ लाख व्यक्तियों को रोजी मिलती है।

§१८ यन्त्र और उपकरण उद्योग—१९३९ के पूव भारत में यन्त्र और उपकरण का कोई उद्योग न था। अब भी देश की आवश्यकताओं का केवल १८ प्रतिशत ही भारत मे उत्पन्न होता है। १९४१ मे भारत सरकार ने यन्त्र उपकरण नियन्त्रण आदेश पास किया और यन्त्र उपकरण नियन्त्रक की नियुक्ति की जिसका काम यन्त्रो और उपकरणो के सुधार तथा उत्पादन एव आयात की देख रेख करना था। निर्माताओं को अनुज्ञा (लाइसेंस) दने की भी व्यवस्था हुई। यही से भारतीय यन्त्र और उपकरण उद्योग का श्रीगणेश मानना चाहिए। १९४३ में जापान के युद्धक्षेत्र में उतर आने तथा भूमध्य सागर के माग के अवरुद्ध होने से उद्योग म सकट-काल आ गया। १९४९ में उद्योग की स्थिति पुन सकटापन्न हो गई। इसका कारण विक्रय मे ह्रास और तज्जनित उत्पादन की कमी थी। इसका आशिक कारण देशी निर्माताओं के प्रति पक्षपात और स्वतन्त्रतापूवक विदेशी सामग्री का आयात था। लेकिन १९५१ २ में उद्योग ने पूव स्थिति प्राप्त कर ली। इसका कारण कोरिया का युद्ध था। इधर हाल में सरकार ने बगलौर में एक हिन्दुस्तान मशीन टूल फैक्ट्री खोली है। ऐसी योजना है कि ६ वष मे—तीन चरणो मे—लगभग १,६०० मशीनें प्रतिवष उत्पन्न की जायेंगी।

§१९ वायुयान निर्माण—वायुयान बनाने का सबसे पहला प्रयास करने वाली हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी लि० है, जिसने बगलौर में सवश्री वालचन्द-हीराचन्द तथा मसूर सरकार के तत्वावधान में एक कारखाना खोला। इस कारखाने मे सवप्रथम वायुयान १९४१ म बनाया गया। १९४२ में सरकार ने कम-से-कम युद्धकाल के लिए कारखाने का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। इसके अनुसार वालचन्द-हीराचन्द का हिस्सा खरीद लिया गया, तथा मसूर सरकार ने भी अल्पकाल के लिए प्रबन्ध म अपना अधिकार स्थगित मान लिया, परन्तु आर्थिक हित बनाये रखा। १९४६ म भारत सरकार ने राष्ट्रीय वायुयान-उद्योग स्थापित करने का निश्चय किया और २० वर्षों में भारतीय वायुसेना और नागरिक उड्डयन की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने का लक्ष्य निर्धारित किया। सहारनपुर में एक प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना भी की गई है।

§२० प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली—भारत में सगठित वाणिज्य और उद्योग की एक विशिष्टता प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली है। प्रबन्ध कर्ता की परिभाषा इस प्रकार है—प्रबन्धकर्ता वह व्यक्ति, फम या कम्पनी है जो किसी कम्पनी का पूणत या प्राय पूणत प्रबन्ध करती हो परन्तु उसे अधिकार किसी स्मृति-पत्र (ममोरण्डम) या मत नियमों (आर्टिकिल्स ऑफ एसोसिएशन) से प्राप्त हो-जिसमें इस प्रकार समझौता की शर्तें भी हो। प्रबन्धक के विपरीत—जो प्रशासकीय दृष्टि से सचालक के नियन्त्रण एवं

पर्यवेक्षण के अधीन होते हैं—प्रबन्धकर्ता पर संचालकों का नियन्त्रण केवल समझौते की शर्तों के अनुसार ही होता है।[1] इस व्यवस्था का सार यह है कि प्रबन्धकर्ता का व्यवहारतः कम्पनी पर पूरा नियन्त्रण होता है। उसके काम में संचालक-परिषद् के हिस्सेदारों का हस्तक्षेप प्रायः नहीं के बराबर होता है। उसका सेवा-काल प्रायः स्थायी होता है। उसे निकालना भी प्रायः कठिन ही है। कभी-कभी उसका पद परम्परागत भी होता है।

इस प्रथा की उत्पत्ति अंग्रेजों की देन है, इसे बाद में भारतीय व्यापारियों ने अपना लिया। भारत में आधुनिक बृहद् अनुमाप औद्योगिक विकास के क्षेत्र में अंग्रेजी साहस का स्थान प्रथम था। चाय के बगीचों, जूट की खेती, कोयले की खानों को प्रारम्भ करने वाली कम्पनियों की रजिस्ट्री इंग्लैण्ड में हुई थी। उनके संचालकगण भी विलायत में थे। कम्पनियों के लिए भारत में दैनिक प्रबन्ध के लिए संचालकों की परिषद् स्थापित करना सम्भव न था। इसके अतिरिक्त भारत में यूरोपियन व्यापारियों की संख्या कम थी और चूंकि वे प्रवासी प्रकार के थे, अतएव यहाँ उनके लिए संचालक रखना आसान न था। अतः यहाँ का प्रबन्ध-कार्य प्रबन्धकारिणी एजेंसी को सौंपना पड़ता था।

पश्चिमी भारत में यद्यपि सूती मिलों के स्वामी भारतीय थे और चतुर व्यापारियों की कमी न थी, फिर भी प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली बंगाल की यूरोपियन प्रथा के अंधानुकरण में यहाँ भी अपना ली गई। इसके कारणों में यह भी कहा जाता है कि नवीन प्रकार के कार्यों के लिए अर्थ प्राप्ति सम्बन्धी कठिनाइयाँ थीं। उद्योगों को धन देने के हेतु भारत में कोई सुसंगठित व्यवस्था न थी। यहाँ निगम बैंक या विनियोग ट्रस्ट भी नहीं थे। इंगलैण्ड में ये संस्थाएँ थीं। पुराने ढंग के साहूकार और बैंक (बैंकिंग हाउसेज) नवीन संयुक्त कम्पनियों को ऋण देने के लिए तैयार न थे, क्योंकि इसका उन्हें ज्ञान ही न था। प्रारम्भिक प्रबन्धकर्ता सुयोग्य और प्रतिभा-सम्पन्न थे। वे साहसिक भी थे और उनके पास पर्याप्त निजी धन भी थी। जिन कम्पनियों के लिए वे उत्तरदायी होते थे, उनकी अचल और चालू पूंजी के अधिकांश हिस्सों की व्यवस्था वे स्वयं करते थे और निजी गारण्टी के बल पर बैंकों से उनके लिए अतिरिक्त धन भी प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार उद्योग में अपना सब कुछ लगाकर और उसे आगे बढ़ाने में सक्रिय भाग लेकर यह आशा की जा सकती थी कि वह प्रधानतः उसे अपने ही हाथों में रखें। 'उस समय देश में जब कि कोई सुसंगठित पूंजी-बाजार न था, प्रबन्ध एवं प्राविधिक कुशलताओं का अत्यन्त अभाव था। इन प्रबन्धकर्ताओं ने पूंजी की व्यवस्था की और भारतीय उद्योगों के विकास के लिए अपेक्षित अर्थ, अनुभव और संचालन प्रस्तुत किया।' इस प्रथा ने देश के औद्योगिक विकास को पर्याप्त लाभ पहुँचाया है और यह भी सच है कि इसके बिना देश के बहुत ही कम उद्योग सफल हो सके हैं। फिर भी इस प्रथा में अनेक दोष हैं और इधर हाल में निम्न लिखित आधारों पर इसकी कटु आलोचना हुई है।

---

[1] देखिये इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट, १९१३ का धारा २ (१९३६ के २२वें एक्ट द्वारा संशोधित)।

(१) पश्चिमी भारत मे एजेंसी का अधिकार प्राय पतृक हो गया है। परिणाम यह हुआ कि सुयोग्य पिता के अयोग्य पुत्रो ने कम्पनियों को प्राय नष्ट कर दिया।

(२) प्रबन्धकर्ताओ का वेतन प्राय वास्तविक लाभ पर आधारित न होकर उत्पादन और विक्रय पर होता है। परिणामत वे कभी-कभी अत्यधिक उत्पादन और अलाभपूर्ण विक्रय पर जोर देते हैं। इससे हिस्सेदारो के हितो की हानि होती है। उन पर दुराचार का भी दोषारोपण है। जैसे कभी क्रय विक्रय की व्यवस्था करते समय वे चुपके से कमीशन भी स्वीकार कर लेते हैं। हिस्सेदारो की अनुमति के बिना ही प्रबन्धकारिणी एजेंसी के अधिकारो का हस्तातरण भी होता रहा है (क्योकि ऐसी अनुमति आवश्यक न थी) परिणामत बेईमान व्यक्तियों को कम्पनी पर नियन्त्रण प्राप्त होने लगा।

(३) जब तक प्रबन्धकर्ताओ का कम्पनी में काफ़ी हिस्सा था, तब तक उनका हित इसमें था कि वे इसकी समृद्धि पर ध्यान दें। लेकिन ज्यो-ज्यो समय बीतने पर हिस्सा कम होता गया, वे अपने हितो पर अधिक ध्यान देने लगे और हिस्सेदारो की उपेक्षा करने लगे। अन्य दोष निम्न हैं—

(४) कम्पनियो के जो हिस्से प्रबन्धाभिकर्ताओ के नियन्त्रण में थे उन्हींसे वे सट्टेबाज़ी करने लगे।

(५) कम्पनी के धन को बिना उचित सुरक्षा के और उन कामो के लिए ऋण के रूप में दूसरो को देने लगे अथवा खुद ही ऋण लेने लगे—जिनका कम्पनी से कोई सीधा सम्बन्ध न था।

(६) अपनी कमज़ोर फर्मों को मज़बूत करने के लिए आर्थिक दृष्टि से दृढ़ कम्पनियो के धन से उनकी सहायता करने लगे।

(७) कभी कभी एक प्रबन्धकर्ता के अन्तर्गत कम्पनियो की सख्या और विविधता इतनी अधिक थी कि उनका प्रबन्ध करना असम्भव-सा हो जाता था।

(८) ऐसा कहा जाता है कि अनेक कम्पनियो का प्रबन्ध एक हाथ में होने से अनेक लाभ होते हैं और कुशलता में वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए कार्यालय, प्रशासकीय कर्मचारी, खजाचियो, परिवहन, जहाजरानी और बीमा, बाजारों की खोज, यन्त्रो और भण्डारो की अधिक मात्रा में खरीद, अनुसन्धान तथा अत्यन्त कुशल प्राविधिक कर्मचारियों की नियुक्ति आदि सुविधाएँ कम खर्च पर प्राप्त की जा सकती हैं। वैयक्तिक कम्पनियों के लिए यह प्राय असम्भव ही है। इस प्रकार से यह कहा जाता है कि प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली में एक स्वामित्व अथवा साझेदारी के गुण अर्थात् प्रबन्ध की एकता का समन्वय मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियो के गुण अर्थात् साधन सम्पन्नता से होता है। फिर भी इगलैंड मे उपयुक्त लाभ प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली के बिना ही प्राप्त हो सके हैं।

(९) कभी-कभी कम्पनियों के कठिन परिस्थितियो में पड़ने पर प्रबन्धकर्ता ने कुछ समय तक अपने वेतन को छोड़कर उनकी सेवा की है। परन्तु यह उतना स्वार्थ-

हीन नहीं है जितना कि ऊपर से दिखाई पड़ता है, क्योंकि आय के इस स्रोत म साधन को छोड़ने के अतिरिक्त वे कमीशन तथा क्रय विक्रय से होने वाले लाभों को हाथ से नहीं जाने देते थे। फिर भी सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी को किसी न किसी तरह जिन्दा रखने में लाभ ही तो है।

(१०) इस प्रणाली से कितनी ही कम्पनियों के संचालक क्रियाहीन हो जाते हैं और चूँकि इनमें से बहुतों को संचालक का पद प्रबन्धकर्ताओं की कृपा से ही मिलता है अत वे बिलकुल ही उनके अधीन हो जाते हैं। चूँकि भागीदारों को कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता अत वे कम्पनी की ओर से उदासीन हो जाते हैं और अधिक पूँजी लगाने की अपील उन पर कोई असर नहीं डालती।

(११) इसी प्रणाली के कारण भारत में औद्योगिक एवं व्यावसायिक साहस थोड़े-से व्यक्तियों के प्रभुत्व में आ गया है जो प्रबन्धकर्ता के रूप में भारत की अनेक महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक कम्पनियों एवं औद्योगिक कम्पनियों का नियन्त्रण करते हैं।

इस प्रथा के कुछ दोषों के निवारण के लिए १६३६ के भारतीय कम्पनी अधिनियम संशोधन में निम्न धाराएँ हैं—(१) प्रबन्धाभिकर्ता की कार्यावधि २० वर्ष तक सीमित कर दी गई। इस बीच उसे पदच्युत भी किया जा सकता था।[1]

(२) यदि प्रबन्धकर्ता कम्पनी के कामों के सम्बन्ध में दिवालिया घोषित हो जाय या किसी जमानती अपराध में उसे सजा हो जाय तो पदच्युत किया जा सकता था।

(३) हिस्सेदारों की अनुमति के बिना वह अपना अधिकार बेच नहीं सकता था।

(४) उसके वेतन की एक न्यूनतम सीमा होगी और वह वास्तविक लाभ पर निर्भर होगा।

(५) एक तिहाई से अधिक संचालक प्रबन्धक एजेण्ट के द्वारा मनोनीत न होंगे।

(६) एक ही प्रबन्धकर्ता के अन्तर्गत होने वाली दो कम्पनियों का आपस में ऋण लेने की मनाही थी।

(७) प्रबन्धकर्ता को हिस्सेदारों को कम्पनी से प्राप्त अपनी कुल आय का सूचना देते रहना होगा। उसे कम्पनी की ओर से किये गए सौदों के बारे में भी और अपने व्यक्तिगत हित के सम्बन्ध में सूचित करना होगा।

(८) कम्पनी के हिस्सों के सम्बन्ध में प्रबन्धकर्ता की ओर से सट्टेबाजी न की जा सकेगी।

§२१ १६५६ का भारतीय कम्पनी अधिनियम—१६५२ में भारत सरकार ने कम्पनी कानून समिति (कम्पनी लॉ कमेटी) की नियुक्ति की, जिसका काम भारतीय कम्पनी अधिनियम के सम्भावित सुधारों पर रिपोर्ट प्रस्तुत करना था। संसद् की दोनों सभाओं की संयुक्त समिति एवं उपर्युक्त समिति की सिफारिशों पर १६५५ में भारतीय कम्पनी विधेयक पास किया गया, जिसने पहली अप्रैल १६५६ को कानून का रूप धारण कर लिया। इस विधान में निम्न प्रमुख व्यवस्थाएँ इस उद्देश्य से रखी गई कि वर्तमान

[1] प्रबन्धाभिकर्ता (मैनेजिंग एजेण्ट) से वही अर्थ समझा जाय जो कि इस खण्ड के प्रारम्भ में निर्दिष्ट किया गया है।

प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली पर अधिक नियन्त्रण प्राप्त हो सके

(१) जिस कम्पनी के पास विधान के लागू होने की तिथि पर प्रबन्धाभिकर्ता नहीं था वह अब उसकी नियुक्ति नहीं कर सकती।

(२) सभी वर्तमान प्रबन्धकारिणी एजेंसियाँ तीन वर्ष के भीतर या १५ अगस्त १९६० तक समाप्त हो जायेंगी, इनमें से चाहे जो भी तिथि पहले आ जाय।

(३) बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के कोई भी प्रबन्धाभिकर्ता नियुक्त नहीं किया जा सकता और केन्द्रीय सरकार जनहित पर विचार करने के पश्चात् अनुमति प्रदान करेगी।

(४) नये प्रबन्धाभिकर्ताओं की नियुक्ति अधिक-से अधिक १५ वर्ष के लिए होगी। पुनर्नियुक्ति १० वर्ष के लिए (इससे अधिक नहीं) होगी और उन स्थानों पर पुनर्नियुक्ति न होगी जहाँ नियुक्ति की शेष अवधि दो वर्ष या इससे अधिक है।

(५) भविष्य में प्रबन्धकारिणी एजेंसी पैतृक अधिकार से प्राप्त न हो सकेगी।

(६) प्रबन्धकारिणी एजेंसी कार्यालय के स्थानान्तरण एवं विधान के परिवर्तन के लिए सरकार की स्वीकृति आवश्यक होगी।

(७) प्रबन्धाभिकर्ता का वेतन वास्तविक लाभ के १० प्रतिशत से अधिक न होगा, उसे कार्यालय का कोई भी भत्ता न मिलेगा। केवल कम्पनी के व्यापार के सम्बन्ध में किये गए आवश्यक व्यय दिये जायेंगे।

(८) प्रबन्धाभिकर्ता को कम्पनी की ओर से क्रय विक्रय पर कमीशन तभी लेने दिया जायगा जबकि उसे अन्य प्रकार का कोई प्रतिफल न मिल रहा हो। सभी वर्तमान समझौते जिनके अन्तर्गत कमीशन इत्यादि प्राप्त होता था, १९५७ की १ मार्च को समाप्त हो जायेंगे।

(९) प्रबन्धाभिकर्ता कोई भी ऐसा व्यापार नहीं प्रारम्भ कर सकेंगे जो कम्पनी के हितों से प्रतिस्पर्धा करता हो।

(१०) यदि कुल संचालकों की संख्या ५ हो तो प्रबन्धाभिकर्ता केवल दो संचालकों की और यदि ५ से कम हो तो वे केवल १ संचालक की नियुक्ति कर सकते हैं।

(११) किसी भी प्रबन्धाभिकर्ता के पास दस से अधिक कम्पनियाँ न होंगी।

इस विधान का कथित उद्देश्य यह है कि कुछ लोगों के हाथों में धन का केन्द्रीकरण रोका जाय तथा कम्पनी के विकास और प्रबन्ध में सद्व्यवहार का एक निम्नतम आदर्श स्थापित किया जाय।

§२२ **उद्योगों का संरक्षण**—संरक्षण के सम्बन्ध में पाठ्य-पुस्तकों में जो तर्क दिए जाते हैं यहाँ उनकी पुनरावृत्ति करना ठीक न होगा। उन्हीं की ओर संकेत करना पर्याप्त होगा जो भारतीय दशाओं पर विशेष रूप से लागू हैं। संरक्षण के समर्थन का सबसे प्रबल आधार शिशु उद्योग-तर्क है। हमारे प्राकृतिक साधन ऐसे हैं कि यदि हमें उचित काल तक विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण प्राप्त हो सके तो हम उनकी सहायता से अन्य देशों के समान ही कुशलता और लागत से अपने यहाँ निर्माण-कार्य चालू कर सकते हैं। भारत में संरक्षण को इस आधार पर भी उचित ठहराया जाता है कि कुछ

संरक्षण-नीति के अन्तर्गत उद्योगों का विकास प्राय एकांगी रहा। इसका कारण चाहे प्रशुल्क मण्डल का असहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रहा हो, चाहे सरकार द्वारा उसकी सिफारिशों को कार्यान्वित करने से इन्कार करना या कम करना, परिणाम यह हुआ कि अनेक योग्य उद्योगों को अपर्याप्त संरक्षण प्राप्त हुआ। इसके उदाहरण में शीशे और दियासलाई के उद्योगों का नाम लिया जा सकता है। फिर भी विभेदात्मक संरक्षण का कुल परिणाम शून्य नहीं रहा जैसा कि प्रमुख उद्योगों के निम्न विवरण से स्पष्ट हो जायगा।

(१) सूती वस्त्र उद्योग—सूती वस्त्रोद्योग को संरक्षण देने का प्रश्न सर्वप्रथम १९२६ में भीषण व्यापारिक मन्दी के कारण हुआ। १९२७ में प्रशुल्क मण्डल ने अपनी रिपोर्ट में सुझाव रखा कि आयात पर ११ से १५ प्रतिशत का संरक्षण-कर लगाया जाय और उत्तम कोटि के सूत की कताई पर निर्यात-व्याज (बाउन्टी) दी जाय और कपड़े बनाने की मशीनों और मिल भण्डारों का आयात स्वतन्त्र रूप से किया जाय। सरकार ने यह तय किया कि कर ५ प्रतिशत या डेढ़ आना प्रति पौण्ड—इनमें से जो भी अधिक हो—की दर से लगाया जाय और मशीनों तथा मिल भण्डार से आयात-कर हटा लिया जाय। यह सहायता पर्याप्त न थी और उद्योग में मन्दी बनी रही। १९३० से ३१ मार्च १९३३ तक के लिए १५ प्रतिशत मूल्यानुसार कर लगाया गया और सादे भूरे कपड़े (मारकीन) पर ३½ आना प्रति पौण्ड का अतिरिक्त कर लगाया गया। १९३१ में जापानी प्रतिस्पर्धा से टक्कर लेने के उद्देश्य से गैर ब्रिटिश वस्तुओं पर ५ प्रतिशत अतिरिक्त कर लगाया गया। आगे चलकर उसी वर्ष में ८ प्रतिशत का मूल्यानुसार कर सभी सूती कपड़ों के टुकड़ों पर लगाया गया और वर्तमान करों पर २५ प्रतिशत का अधिभार लगाया गया। परिणामतः गैर ब्रिटिश सादे भूरे कपड़ों पर मूल्यानुसार कर २५ प्रतिशत या पौने पाँच आना प्रति पौण्ड—इनमें जो भी अधिक हो—कर दिया गया। आयात किये गए कृत्रिम रेशमी वस्त्रों पर लगे कर से, जो बढ़ाकर ४० प्रतिशत कर दिया गया था, यह आशा की जाती थी कि सूती वस्त्र उद्योग को लाभ पहुँचेगा।

जापानी सिक्के येन के मूल्य में अत्यधिक कमी हो जाने के कारण जापान की प्रतिस्पर्धा का भय बढ़ गया और १९३२ में प्रशुल्क मण्डल (टैरिफ बोर्ड) से तुरन्त जाँच करने के लिए कहा गया। परिणाम यह हुआ कि गैर ब्रिटिश कपड़ों पर मूल्यानुसार कर ३१¼ प्रतिशत से बढ़कर ५० प्रतिशत हो गया और गैर ब्रिटिश सादे भूरे कपड़े के सम्बन्ध में कर पहले (३० अगस्त, १९३२ में) बढ़ाकर ५¼ आना प्रति पौण्ड किया और फिर (७ जून १९३३) को ६¾ आना प्रति पौण्ड कर दिया गया तथा मूल्यानुसार कर और बढ़ाकर ७५ प्रतिशत कर दिया गया। भारतीय प्रशुल्क वस्त्र-संरक्षण संशोधन अधिनियम १९३४ में एक सिद्धान्त का विकास किया गया जो १९३४ में जापान से की गई व्यापारिक सन्धि के अनुरूप था। मोदी लीज समझौता के अनुसार गैर ब्रिटिश कपड़े पर ५० प्रतिशत का मूल्यानुसार कर लगाया गया और सादे भूरे कपड़े पर ५¼ आने का न्यूनतम प्रति पौण्ड कर लगाया गया। १९३५ में ब्रिटिश

आयात के प्रश्न पर एक विशिष्ट प्रशुल्क मण्डल द्वारा विचार किया गया। परिणामत २५ जून, १६३६ में करों को निम्न प्रकार से घटा दिया गया। सादे भूरे कपडो पर २५ प्रतिशत के मूल्यानुसार कर या ४$\frac{3}{8}$ आना प्रति पौण्ड के कर को घटाकर २० प्रतिशत मूल्यानुसार या ३$\frac{1}{2}$ आना प्रति पौण्ड कर दिया गया। किनारेदार, भूरे और श्वेत क्रिया से युक्त कपडे के टुकडा और छीट के अतिरिक्त अन्य रंगे कपडो पर २५ प्रतिशत का मूल्यानुसार कर घटाकर २० प्रतिशत कर दिया गया।

१६३४ के भारतीय ब्रिटिश समझौते के परिणामस्वरूप १६३६ में भारतीय प्रशुल्क (तृतीय सशोधन) अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार कर निम्न प्रकार से घटा दिये गए। छीट के कपडो पर कर घटाकर १७$\frac{1}{2}$ प्रतिशत मूल्यानुसार कर दिया गया। भूरे कपडा पर १५ प्रतिशत मूल्यानुसार कर दिया गया। इस अधिनियम से कपडे पर लगे सरक्षण-कर की अवधि ३१ मार्च, १६४२ तक बढा दी गई।

इस सरक्षण-काल मे उद्योग में लगातार प्रगति हुई। सूती कपडो के मिलो की सख्या १६३६ की ३७६ से बढ़कर १६४७ में ४२३ हो गई। उत्पादन १६२२ के १७ ३१० लाख गज से बढकर १६४७ मे ३८,१०० लाख गज हो गया और १६५३ मे ४६ ०५० लाख गज हो गया। १६३१ २ में भारतीय मिलें देश की आवश्यकता के ३८ प्रतिशत की पूर्ति करती थी। १६४० ४१ में वे ६४ ७ प्रतिशत और १६५१ म ७८ ८ प्रतिशत की पूर्ति करन लगी। यह कहा जा सकता है कि १६३६ तक सरक्षण त्यागने की दृष्टि से उद्योग काफ़ी दृढ हो चुका था। मार्च १६४७ में सरक्षण औपचारिक रूप से हटा लिया गया।

(२) लोहा और इस्पात उद्योग—इस उद्योग को १६२४ में सरक्षण मिला। यह सरक्षण युद्ध निर्माणो पर अधिक आयात कर तथा लोहे की भारी पटरियो फिश प्लेट और रल के डिब्बों के उत्पादन पर अध्युपकार (बाउटी) के रूप में मिला। १६२७ में लोह और इस्पात की कुछ वस्तुओं पर विभिन्न दर से कर लगाया गया। ब्रिटिश वस्तुओ पर एक आधार-कर लगाया गया तथा ग़र ब्रिटिश वस्तुओ पर एक अतिरिक्त कर भी लगाया गया। इसके बाद १६३२ का भारतीय प्रशुल्क (ओटावा व्यापारिक समझौता) सशोधन अधिनियम पास हुआ, जिसके अनुसार उन वस्तुओ को अधिमान्य प्रदान किया गया जो सरक्षण-कर के अधीन नही थीं। कुप्यायित (गाल्वनाइज्ड) लोहे की चद्दरो का कर एक पूरक समझौत से नियन्त्रित था। भारतीय कच्चे माल स इगलिस्तान में बनी चद्दरो पर कर ३० रु० प्रति टन था। अन्यत्र के कच्चे माल स इगलिस्तान मे बनी चद्दरो पर कर ५३ रु० प्रति टन था। अन्य सभी चद्दरों पर ८३ रुपया प्रति टन था। १६३४ के लोहा और इस्पात-कर अधिनियम स १६३२ के पूरक समझौते की कुप्यायित चद्दरों से सम्बन्धित व्यवस्था समाप्त हो गई। इस प्रकार होने वाली वित्तीय हानि का पूरा करने क लिए सरकार ने ब्रिटिश भारत में उत्पादित इस्पात पिण्डों पर ४ रु० प्रति टन का उत्पादन-कर लगान का निश्चय किया और उसी प्रकार का सीमा प्रतिशुल्क इस्पात-पिण्डों पर

के स्थानों पर एक स्थायी निकाय की नियुक्ति की जाय, जिसके अधिकार व्यापक हों। इसने संरक्षण देने की नीति को औद्योगिक विकास की नीति से संलग्न करने की सलाह दी। सुझावों का सारांश नीचे दिया जाता है—

(१) आयोजित अर्थ-व्यवस्था क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले उद्योगों को निम्न वर्गों में विभाजित करना चाहिए—(क) देश रक्षा एवं अन्य यौद्धिक उद्योग, (ख) अन्य आधारोद्योग (ग) अन्य उद्योग। (क) वर्ग के अन्तर्गत आने वाले उद्योगों को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से संरक्षित करना होगा चाहे उसका मूल्य कुछ भी हो। (ख) वर्ग में प्रशुल्क मण्डल को यह निर्धारित करना होगा कि संरक्षण का रूप और आकार क्या होगा। उसे संरक्षण देने की शर्तों को निर्धारित करना होगा और यह देखना होगा कि किस हद तक शर्तों का पालन हो रहा है। (ग) वर्ग के अन्तर्गत संरक्षण देने के आधार निम्न होंगे उद्योग द्वारा प्राप्त आर्थिक लाभ उसकी सम्भावित उत्पादन लागत को ध्यान में रखते हुए एवं निश्चित कालावधि के अन्तर्गत बिना सहायता और संरक्षण के अपने पैरों खड़े हो सकने की सामर्थ्य या देश के राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए उसे संरक्षण या सहायता देने की आवश्यकता, और सहायता, संरक्षण एवं अनुदान के लाभों को ध्यान में रखते हुए सामुदायिक दृष्टि से उसकी लागत।

(२) जहाँ तक स्वीकृत योजना में न शामिल किए जाने वाले उद्योगों का प्रश्न है प्रशुल्क अधिकारियों को उपयुक्त मानदण्ड के आधार पर उनकी जाँच करनी चाहिए और सिफारिशों को सरकार के सामने रखना चाहिए।

(३) जहाँ पर कोई स्वीकृत योजना न हो वहाँ पर निम्न प्रकार की व्यवस्था करनी होगी—

(क) सुरक्षा एवं अन्य यौद्धिक उद्योगों को हर कीमत पर संरक्षण देना होगा।

(ख) जहाँ तक अन्य उद्योगों का प्रश्न है, उनमें यही बातें लागू होंगी जिनका विवरण ऊपर भाग (१) में दिया जा चुका है।

§२८ संरक्षण-नीति की कुछ विशिष्ट समस्याएँ—(१) कच्चे माल की प्राप्यता कच्चे माल की स्थानीय प्राप्यता को ही संरक्षण की शर्त नहीं बनाना चाहिए। इसमें आन्तरिक बाजार, श्रम की प्राप्यता आदि पर भी ध्यान रखना होगा। (२) नवीन या सम्भाव्य उद्योग उद्योग के प्रारम्भ होने से पूर्व ही संरक्षण के आश्वासन की आवश्यकता उन उद्योगों में विशेष है जिनमें बहुत पूँजी लगती हो या सेविवर्ग और यन्त्र-सम्भार में विशेष कुशलता अपेक्षित हो और जिन्हें विदेशी सुसंगठित उद्योगों की प्रतिस्पर्धा सहनी पड़ती हो। (३) कृषि-उत्पत्ति को भी संरक्षण दिया जा सकता है। लेकिन ऐसा संरक्षण देने में इस बात का ध्यान रखना होगा कि संरक्षित वस्तुओं की संख्या कम ही रहे। इस प्रकार के चुनाव का सिद्धान्त—(क) उस उद्योग की महत्ता जिसे यह कच्चा माल देती है तथा (ख) उसके द्वारा प्रस्तुत रोजगार का आकार। संरक्षण अल्पकालीन आधार पर अल्पकाल के लिए तथा एक बार में ५ वर्ष से अधिक के लिए नहीं होना चाहिए। इसके साथ रोजगार-सुधार की योजना कार्यान्वित करनी चाहिए, जो संरक्षण का एक अंग हो। उन वस्तुओं के उत्पादन की प्रौद्योगिकीय

प्रगति के सम्बन्ध में सरकार को वार्षिक रिपोर्ट देना प्रशुल्क अधिकारियों की विशेष ज़िम्मेदारी होगी। (४) साधारण आधारों पर संरक्षित वस्तुओं पर उत्पादन-कर लगाना अवांछनीय है। इनके लगाने की राय तभी दी जा सकती है जब कि आय-प्राप्ति के लिए और कोई उपयुक्त विकल्प सरकार के सामने न हो। (५) केन्द्रीय सरकार को संरक्षित उद्योगों के कच्चे माल की कीमत विधान द्वारा तय कर देनी चाहिए। यह मूल्य निर्धारण आवश्यकता पड़ने पर ही करना चाहिए। अलग अलग राज्यों द्वारा बनाये गए कानूनों से कभी कभी कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। एक विकास निधि की स्थापना की जानी चाहिए, जिसके लिए प्रतिवर्ष संरक्षण प्रशुल्क की आय से भाग अलग कर देना चाहिए। इस प्रकार के कोष से जहाँ कहीं आवश्यकता हो, संरक्षण प्रशुल्क के अतिरिक्त या उनके स्थान पर सहायता दी जा सकती है। संरक्षण के उपरान्त देख रेख करने के लिए एक उपयुक्त मन्त्रालय के अन्तर्गत एक संस्था स्थापित होनी आवश्यक है, जो उद्योगों के अपेक्षित विकास पर ध्यान दे। घरेलू उद्योगों के संरक्षण के लिए मात्रा-सम्बन्धी सीमा का निर्धारण सामान्यतः यदा-कदा ही करना चाहिए। अत्यधिक आयात होने की दशा में मात्रा-सम्बन्धी अस्थायी प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। (६) आर्थिक सहायता—साधारणतया आर्थिक सहायता को प्रशुल्क संरक्षण से निम्न दशाओं में अधिक प्राथमिकता मिलनी चाहिए—(क) जहाँ उत्पादन घरेलू माँग की केवल आंशिक पूर्ति कर रहा हो, (ख) जहाँ वस्तुएँ उत्पादन का आवश्यक कच्चा माल या तत्त्व हो तथा (ग) जहाँ विशेष मात्रा की वस्तुओं के निर्माण पर या विशेष श्रेणी के उत्पादन को देश में संरक्षण की आवश्यकता हो। लेकिन आयात कर लगाने में इन वस्तुओं की श्रेणी और प्रकार से उन वस्तुओं से भेद करना कठिन होगा जिनके लिए संरक्षण आवश्यक नहीं है। (७) एकत्रीकरण या संचय केवल उन्हीं दशाओं में लागू हो सकता है जहाँ वस्तुएँ विशेष रूप से एक आदर्श के अनुरूप हैं। प्रशुल्क अधिकारियों को ऐसे मामलों की परीक्षा करनी होगी कि जहाँ संचय-व्यवस्था उपभोक्ता के भार को कम कर सकती हो। किसी भी वस्तु की उत्पादन लागत निर्धारित करने के लिए प्रशुल्क अधिकारी को सामान्य नियमों को निश्चित करना होगा। प्रस्तावित प्रशुल्क अधिकारी को सम्बद्ध उद्योगों से सभी हितों के परामर्श के बाद यह निर्धारित करना चाहिए कि प्रबन्धकर्ता को उत्पादन लागत निर्धारित करने के लिए क्या पारिश्रमिक दिया जाय। संरक्षित उद्योगों में पूँजी पर पर्याप्त लाभ या विनियोजित पूँजी के मूल्यांकन की सारी समस्या की विस्तृत जाँच प्रशुल्क अधिकारी द्वारा होनी चाहिए। जहाँ कहीं पक्षपात की भावना ने घर कर लिया हो वहाँ प्रशुल्क अधिकारी को उद्योग के लिए प्रस्तावित संरक्षण की प्रमात्रा में उचित अन्तर कर देना चाहिए। (८) भण्डार क्रय नीति—इस प्रकार निर्धारित होनी चाहिए कि विदेशी वस्तुओं की तुलना में देशी उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को उचित अधिमान मिले। इनमें निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए—(क) उन सब उद्योगों को अधिमान मिलना चाहिए जो ठोस आधार पर हों और जिनकी उत्पत्ति सरकार द्वारा निर्दिष्ट आदर्शों के अनुरूप हो। ये आदर्श सरकार

अध्याय १५

औद्योगिक श्रम

§१ भारतीय औद्योगिक श्रम का प्रवासी स्वभाव—पश्चिमी देशों के विपरीत भारत का श्रमिक विशेषतया परिवर्तनशील और प्रवासी स्वभाव का होता है। अधिकतर श्रमिक गाँवों से अपना सम्बन्ध बनाए रखते हैं, जहाँ वे कुछ वर्षों बाद जाते रहते हैं। अधिकतर उनका परिवार गाँवों में रहता है। यदि श्रमिक की पत्नी उसके साथ जाती भी है तो वह प्रसूति के समय गाँव लौट जाती है। गाँव की ओर यह प्रवाह विशेष रूप से उस समय दिखाई पड़ता है जब कृषि कार्य के लिए श्रम की आवश्यकता होती है यद्यपि कभी-कभी श्रमिकों के गाँव जाने का उद्देश्य छुट्टी मनाना होता है न कि वहाँ उनके श्रम की आवश्यकता। औद्योगिक श्रमिक को अपने गाँव से कदाचित् ही आर्थिक सहायता मिलती है। प्राय वह स्वयं गाँव में अपने सम्बन्धियों को रुपया भेजता रहता है। यद्यपि औद्योगिक श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति घट रही है किन्तु इस दिशा में परिवर्तन बहुत अधिक नहीं हुआ है।

कुछ औद्योगिक श्रमिक ऐसे हो सकते हैं जो कृषक हैं और अस्थायी रूप से कारखानों में अपनी आमदनी की वृद्धि करते हैं। इस प्रकार कुछ समय काम करके वे अपनी आमदनी की वृद्धि करते हैं। अधिकांश को विवश होकर या स्वतः औद्योगिक केन्द्रों में जीविका के लिए अर्ध-स्थायी निवास बनाना पड़ता है। इस बात की पुष्टि, कि भारतीय श्रमिक अस्थायी या अल्पकालीन श्रमिक है, इससे होती है कि वह एक कारखाने से दूसरे कारखाने में काम बदलता रहता है और किसी एक कारखाने में दीर्घकाल तक काम नहीं करता।

गाँवों से नगरों की ओर श्रम प्रवास का मुख्य कारण गाँवों की जन-संख्या वृद्धि और गाँवों में जीविका के साधनों में आनुपातिक विकास का अभाव है। गाँवों में भूमिहीन श्रमिकों की संख्या एवं अनार्थिक जोतों की वृद्धि के कारण कितने ही ग्रामीण विवश होकर नगरों की शरण लेते हैं। कभी-कभी साहूकार के पंजे से छुटकारा पाने के लिए भी लोग अपना गाँव छोड़ देते हैं। कभी कभी पशु या भूमि खरीदने के लिए अधिक धन राशि कमाने के लिए भी लोग गाँव छोड़कर बाहर चले जाते हैं। गाँवों में दलित वर्ग जिन दुष्परिणामों और बुराइयों के शिकार होते हैं उन्हें नगरों के उन्मुक्त वातावरण में उनसे छुटकारा मिल जाता है, उनमें से कुछ इसलिए भी गाँव छोड़ देते हैं। सब बातों को देखते हुए श्रम आयोग का निम्न मत उचित जान पड़ता है 'प्रवास

की प्रेरणा केवल एक ओर अर्थात् गाँव की ओर से होती है। औद्योगिक श्रमिक महत्त्वाकांक्षा या नागरिक जीवन के प्रलोभन से आकृष्ट नही होता। नगर अपने आप में उसके लिए कोई आकर्षण नही रखता और गाँव छोडते समय अपनी आवश्यकताओं की सतुष्टि से अधिक महत्त्वाकांक्षा भी उसके हृदय मे नही होती। गाँव मे पर्याप्त भोजन और वस्त्र प्राप्त होने पर कुछ ही ऐसे औद्योगिक श्रमिक होंगे जो उद्योगो में काम करने के लिए तयार हो। वे नगरो की ओर धकेले जाते हैं, आकृष्ट नहीं होते।'

औद्योगिक शहरो के जीवन के आकर्षक होने के बजाय अवरोधक होने के निम्न कारण हैं—

(१) अपरिचित रीति रिवाज।

(२) भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ।

(३) गदे और अस्वास्थ्यकर चालो का भीड भाड वाला जीवन।

(४) परिवार से वियोग।

(५) कृषि के उन्मुक्त-स्वच्छ जीवन से औद्योगिक अनुशासित श्रम की विपरीतता।

(६) शहरो म अनेक प्रलोभन होते हैं जो गाँवो में नहीं होते, जिनका शिकार ग्रामीण शीघ्र ही हो जाता है क्योकि वहाँ ग्रामीण जीवन के सामुदायिक बधनो का अभाव होता है।

श्रमिको के प्रवासी स्वभाव के कारण अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसा श्रमिक जो गाँव से नगर और नगर से गाँव बराबर आता रहता है, अपने काम में स्थायी रुचि विकसित नही कर पाता। इस परिस्थिति में आवश्यक प्रशिक्षा देकर अपेक्षित कुशलता का विकास उसमें नही किया जा सकता। उनके अनुपस्थितिशील स्वभाव के कारण उन्हे व्यापार सघो में सगठित करना कठिन हो जाता है। जब श्रमिक गाँव से लौटता है तो पुन जीविका ढूँढने के लिए उसे दलालो का सहारा लेना पडता है। काफी समय तक उसे बेकार रहना पड सकता है। इससे उसे साहूकार और अन्य व्यक्तियो की शरण मे जाना पडता है जो उसकी कठिनाइयो से लाभ उठाते हैं।

१९२८ में श्रम आयोग ने श्रमिक के गाँव से सम्बन्ध बनाए रखने में अनेक लाभ बताए। ऐसा कहा गया कि गाँवो से आने के कारण उनका स्वास्थ्य-स्तर ऊँचा होता है तथा प्रवास से उसे अपनी खोई हुई मानसिक एव शारीरिक शक्ति पुन प्राप्त करने का अवसर मिलता है। साथ ही बीमारी और बेकारी के समय गाँव में उसे तुरन्त शरण मिल जाती है। इस प्रकार का प्रवास गाँव और नगर दोनों के लिए लाभदायक है। दोनो म सम्पर्क बना रहता है। इन कारणो से श्रम आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वर्तमान समय म गाँवो से सम्बन्ध रखना बडा ही महत्त्वपूर्ण है और उद्देश्य यह होना चाहिए कि इस सम्बन्ध को प्रोत्साहित किया जाय ताकि यह नियमित रूप धारण करे।[1] फिर भी औद्योगीकरण के प्रवाह में एक स्थायी नागरिक

[1] सर जॉन मेथ्यू ने गाँवो और नगरो क जनप्रवाह के खतरे की ओर ध्यान आकर्षित किया है। यह रोग भारत के लिए विशेष महत्त्व रखता है। कारण यह है कि (क) कुछ गाँव कभी भी इसके [illegible]

श्रमिक वर्ग की उत्पत्ति होगी और औद्योगिक कुशलता की दृष्टि में रखकर इस प्रकार का विकास वांछनीय है। लेकिन शर्त यह है कि इसके साथ श्रमिकों को पर्याप्त पारिश्रमिक तथा रहने की अच्छी दशाएँ मिलें।[1]

§२ भर्ती की पद्धति—भारत के औद्योगिक श्रमिक की भर्ती 'जॉबर' नामक मध्यस्थ द्वारा होती है। भारत के भिन्न भिन्न भागों में उसके नाम भिन्न भिन्न हैं—जैसे सरदार, मुकद्दम, मिस्त्री इत्यादि। कर्मकार योजक) जाबर) को श्रमिकों पर अधिकार मिल जाता है। वह उनकी अज्ञानता और विवशता के आधार पर अपना व्यापार चलाता है और उनके सामान्य परामर्शदाता और झगड़ों के मध्यस्थ का काम भी करता है। चूँकि रोजी उसी के माध्यम से प्राप्त होती है अतएव श्रमिक उसे घूस देना आवश्यक समझता है। एक बार इस प्रकार का अधिकार श्रमिक पर प्राप्त कर लेने के बाद कर्मकारयोजक उसे कायम रखने का प्रयास करता है, और श्रमिक को यदि नौकरी कायम रखनी है तो उसे खुश रखना आवश्यक हो जाता है। परिणाम यह होता है कि श्रमिक को कर्मकारयोजक को छोटी-छोटी रिश्वतें हर समय देनी पड़ती हैं। कर्मकारयोजक का हित इसमें है कि रोजी प्राप्त करने वाले बदलते रहें ताकि उसे नया नया कमीशन और घूस प्राप्त होती रहे। उसी के कारण एक कारखाने से दूसरे कारखाने की ओर श्रमिकों का प्रवाह होता रहता है। इसे दूर करने के लिए आवश्यक है कि मिल के अधिकारी नियुक्तियों, स्थगनों एवं काम छुड़ाने की अवस्था के सम्बन्ध में कड़ा निरीक्षण और नियन्त्रण करें। कुछ बड़े-बड़े कारखानों, जैसे बर्मा शेल कम्पनी ने श्रम-कल्याणाधिकारियों (लेबर वेलफेयर ऑफिसर्ज) की नियुक्तियाँ की हैं जिनका काम श्रमिकों की भर्ती करना और उनके हित की देख रेख करना है। बम्बई के मिल मालिक संघ ने 'बदली नियन्त्रण प्रथा चलाई है। जिसके अनुसार काड रखने वाले को ही जगह खाली होने पर भर्ती किया जाता है। कुछ स्थानों पर वृत्ति विनिमयालय (एम्पलायमेंट एक्सचेन्ज ब्यूरो) स्थापित किये गए हैं जो माँगने पर मिलों को श्रमिक देते हैं।

§३ पारिश्रमिक देने की अवधि—जहाँ तक पारिश्रमिक देने की अवधि का प्रश्न है इस विषय में काफी विविधता पाई जाती है। बम्बई में पारिश्रमिक मासिक आधार पर दिया जाता है, पर यह माह के ठीक अन्त में न देकर एक-दो सप्ताह के बाद इसीलिए देते हैं ताकि सूचना दिये बिना श्रमिक न भाग सकें। लेकिन अधिक काम तक

सम्पर्क में नहीं आये हैं और वहाँ यह शीघ्रता से फैल सकती है। (ख) यह द्रुत तेज गति से गाँवों से नगरों की ओर प्रवाहित हो रही है। (ग) यह बेकारी उन देशों के जीवन स्तर का द्योतक है जिनमें यह काफी दिनों से टिकी हुई है। यह शीघ्रता से उन भू भागों में फैलती है जहाँ जनता कृषिभूमि से अभागी रहती है, जिनका आहार काफी निम्न है और जिनकी आदतें सफाई की नहीं हैं। जे० बी० शिवराम लिखित 'दी इण्डस्ट्रियल वर्कर इन इण्डिया' पृष्ठ ७५।

[1] 'हम इस दृष्टिकोण के सहमत नहीं हैं कि गाँव को औद्योगिक श्रमिकों के स्थायी निवास स्थान बनाने का प्रयास किया जाय। सबसे सच्ची बात तो यह है कि औद्योगिक केन्द्रों का इस प्रकार सुधार किया जाय, जहाँ आवास, पारिश्रमिक, आनन्द एवं श्रमिकों की सुरक्षा ... से अच्छी हो सके।' १९४६ की श्रमिक अनुसंधान समिति की रिपोर्ट, पृष्ठ ७८।

प्रतीक्षा के कारण श्रमिक ऋणिता में डूबा रहता है। कलकत्ता की जूट मिलो में साप्ताहिक पारिश्रमिक दिया जाता है और केवल एक सप्ताह का वेतन रोक रखा जाता है। अहमदाबाद मे प्रति दो सप्ताह बाद वेतन मिलता है।

१९३६ के पारिश्रमिक भुगतान अधिनियम में निम्न मुख्य धाराएँ हैं

(१) एक माह से अधिक कोई पारिश्रमिक अवधि न होगी।

(२) सब पारिश्रमिक नक्द रुपये मे दिए जायेंगे।

(३) किसी भी रेलवे के कारखाने या औद्योगिक सस्थान में जिसमे १,००० से ऊपर व्यक्ति काम कर रहे हो, पारिश्रमिक नियत्त तिथि के सात दिन के भीतर मिल जाना चाहिए। तथा अन्य प्रकार के रेलवे के कारखाने या औद्योगिक सस्थान में जिस अवधि का पारिश्रमिक मिलना हो उस तिथि से दस दिन के भीतर ही मिल जाना चाहिए।

पारिश्रमिक को नियमित करने और कटौतियो को सीमित करने की भी व्यवस्था अधिनियम मे है। इसमे कटौती केवल निम्न प्रकार की हो सकती है—

(१) जुर्माना।

(२) अनुपस्थिति के कारण कटौती।

(३) उसे सौंपी गई वस्तु को नुकसान पहुँचने पर या ऐसे रुपये की हानि होने पर जिसका हिसाब उसे देना है, पर ऐसा उसी हालत में किया जायगा जबकि ऐसी हानि उसकी गलती या उसकी असावधानी के कारण हो।

(४) आवास आदि के लिए दिये गए स्थान के किराये की कटौती।

(५) प्राविडट फण्ड (भविष्य निधि) के लिए या इस निधि में से उधार ली गई राशि के भुगतान के लिए कटौती।

जुर्माना केवल कुछ ही प्रकार की भूलों या अपराधो के लिए किया जाता है। इन भूलों या अपराधों की सूचना उचित रीति से देनी चाहिए। किसी भी माह मे वेतन के आध आना प्रति रुपये से अधिक जुर्माना नही होना चाहिए। १५ वर्ष की उम्र के नीचे किसी भी व्यक्ति पर जुर्माना नही होगा। इस अधिनियम के परिणामस्वरूप जहाँ जुर्माना करना प्राय बन्द-सा हो गया है, वृत्तिदाताओ ने इस व्यवस्था से बचने के लिए अन्य उपाय निकाल लिये हैं। वे श्रमिको को बिना तनख्वाह की छुट्टी लेने पर मजबूर करते हैं और पारिश्रमिक में भी भिन्न दरो का आश्रय लेते हैं।

§४ अनुपस्थायिता के दोष—श्रमिकों की अत्यधिक अनुपस्थिति के कारण भी उद्योगो की कुशल कार्यवाही में व्याघात पहुँचता है। अनुपस्थिति अपनी चरम सीमा पर मानसून के समय, विवाह और अन्य उत्सव के अवसरा पर मार्च से जून तक रहती है। दिसम्बर और जनवरी में अनुपस्थिति सबसे कम रहती है। जूट उद्योग म गर्मी के मौसम में अनुपस्थिति इतनी अधिक रहती है कि वृत्तिदाताओं को सनामावली (मस्टर रौल) रखनी पडती है ताकि वे इस अनुपस्थिति का सामना कर सकें। लेकिन इसका परिणाम होता है निम्न प्रकार की कुशलता वाले व्यक्तियों की नियुक्ति और कम उत्पादन। कमकारयोजक के कारण भी एक कारखाने से दूसरे कारखाने की

और प्रवास होता है। यह अनुपस्थायिता का एक अन्य कारण है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

§५ भारतीय श्रमिक की सापेक्षिक अकुशलता—यह बात सर्वमान्य है कि पश्चिम के विकसित देशों तथा जापान और चीन की तुलना में भी भारतीय श्रमिक अकुशल है। लेकिन यह भी असन्दिग्ध है कि अन्य पहलुओं पर ध्यान न देने के कारण भारतीय श्रमिक की अकुशलता बढ़ा चढ़ाकर प्रदर्शित की जाती है। उदाहरण के लिए कपड़े की मिलों में प्रतिकरघा श्रमिक की संख्या ही कसौटी मानी गई है। लेकिन इसका एक कारण यह भी है कि ब्रिटेन की अपेक्षा भारतीय श्रमिक अधिक सस्ती दर पर मिलता है। श्रमिक की स्पष्ट हीनता का कारण अकुशल प्रबन्ध, निम्नकोटि का कच्चा माल या पुराने उपकरण भी हो सकते हैं। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि भारतीय श्रमिक अपेक्षाकृत अकुशल हैं। अकुशलता के विभिन्न कारण देकर उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता है कि यह अपरिहार्य है। श्रम की अकुशलता के लिए उत्तरदायी प्रबन्ध एवं संगठन के दोषों के अतिरिक्त अन्य दोषों का संक्षेप में विवरण दिया जा सकता है। यद्यपि ऐसा करने में कुछ बातों को दोहराना पड़ेगा। ये कारण निम्न हैं—

(१) भारतीय श्रम का संक्रमणशील स्वभाव।

(२) अनुपस्थायिता का दोष।

(३) ग्रामीण श्रमिकों को, नागरिक एवं कारखाने के वातावरण से, तादात्म्य स्थापित करने में कठिनाइयाँ।

(४) समुचित प्रकाश एवं अन्य सुविधाजनक प्रबन्धों, जैसे पीने का शुद्ध जल, केण्टीन तथा शौचालय आदि के अभाव के कारण कार्य करने की कठोर परिस्थितियाँ।

(५) औसत श्रमिक का स्वास्थ्य एवं शरीर गठन निम्न प्रकार का होता है। कभी-कभी कहा जाता है कि भारतीय जलवायु भी भारतीय श्रमिक की सापेक्षिक अकुशलता के लिए उत्तरदायी है किन्तु जलवायु की प्रादेशिक विविधता के कारण में कोई सामान्य नियम नहीं बताया जा सकता। इस प्रसंग में हमें याद रखना चाहिए कि आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अपनी जलवायु के बावजूद भी भारत किसी भी राष्ट्र से भौतिक सभ्यता की प्रगति में पीछे नहीं था। अब तो विज्ञान ने अनेक उपकरण कर दिए हैं, अतएव जलवायु-सम्बन्धी बाधाओं पर विजय प्राप्त करना सरल हो गया है।

§६ आवास समस्या—सामान्यतया भारत की औद्योगिक आवास स्थिति को यदि अत्यन्त असन्तोषजनक कहा जाय तो असंगत न होगा। जैसा कर्नेट हर्स्ट ने कहा है—'अधिकांश श्रमिक चालों में या ऐसे मकानों में रहते हैं जिनमें एक ही कमरा होता है या कभी-कभी दो कमरे होते हैं किन्तु दो से अधिक कभी नहीं होते। इन कामों का उद्देश्य सस्ते से-सस्ते दाम पर अधिक से अधिक व्यक्तियों के रहने के लिए मकान या यों कहिए कि गोदाम, की व्यवस्था करना होता है।'[१] कुछ प्रबुद्ध एवं जागृत मिल मालिकों ने अपने श्रमिकों के निवास के लिए गृहों का निर्माण किया है ताकि वे औद्यो

१ डी० हर्स्ट, लेबर एण्ड हाउसिंग इन बॉम्बे, पृष्ठ २०१

गिक कुशल श्रमिक को आकर्षित कर सकें और रख सकें। चीनी के कारखाने और बिहार में भरिया के कोयले की खानो के श्रमिको के समुचित आवास का प्रबन्ध है, पर कुल मिलाकर देखा जाय तो मालिका द्वारा दी गई आवास-सुविधाएँ अत्यन्त कम हैं। कभी-कभी मालिको द्वारा दी गई सुविधाओ का उपभोग करने में कठिनाई का सामना करना होगा।

सरकारी या अर्ध-सरकारी सस्थाओ द्वारा श्रमिका की दशा सुधारने के प्रयास किये गए हैं। १८९८ मे स्थापित बम्बई इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट ने गरीबो के लिए कुछ स्वच्छ आवासा का निर्माण किया, लेकिन धनाभाव एव बम्बई नगर निगम के सहयोग के अभाव के कारण काय में बाधाएँ पडी। नगर निगम ने स्वय ३,००० घर अपने कर्मचारियों को १९२० तक दिये। प्रथम विश्वयुद्ध के अनन्तर बम्बई सरकार ने वोरली के पास चालें बनाइ, इन चालो का निर्माण विकास-सचालकालय द्वारा किया गया, लेकिन निर्माण के दोष तथा बाजार की दूरी के कारण इनमें काफी श्रमिक नहीं आए। १९४७ मे बम्बई सरकार ने वोरली के समीप फिर एक श्रमिक और विभिन्न आकार के श्रमिक परिवारा की आवश्यकताओ को ध्यान में रखकर भवन निर्माण की योजना कार्यान्वित की। श्रमिक की पहुँच के भीतर किराया रखने के लिए अनुदान एव सहायता देने की व्यवस्था की गई। घने औद्योगिक केन्द्रो मे आवास की समस्या अत्यन्त जटिल है। इसके कारण हैं—निर्माण की लागत, उचित स्थानो की दुलभता तथा भवन निर्माण सामग्री का अभाव।

अप्रैल, १९४८ में भारत सरकार ने १० वष में १० लाख श्रमिको के लिए भवन निर्माण पूरा करने की योजना घोषित की, किन्तु धनाभाव के कारण कम ही काम हो पाया है। सरकार ने इधर हाल मे सहायता प्राप्त औद्योगिक आवास की योजना की घोषणा की है जिसके अन्तगत औद्योगिक श्रमिका के लिए भवन निर्माण की व्यवस्था हैं। राज्य सरकारो के माध्यम से परिनियत आवास परिषद् मालिका तथा औद्योगिक श्रमिका की पजीकृत (रजिस्टड) सहकारी आवास समितियो को ऋण एव अन्य प्रकार से सरकार (केन्द्रीय) द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होगी। बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, पजाब, उत्तरप्रदेश मसूर, और केरल न औद्योगिक आवास निर्माण की योजनाएँ बनाई हैं। इनमे से कुछ ने जिनमें बम्बई भी शामिल है भवन निर्माण में काफी प्रगति की है।

मालिका द्वारा की गई आवास-व्यवस्था में विविधता पाई जाती है। सूती मिल उद्योग में कुछ ही श्रमिका को आवास की सुविधा मिल सकी। जूट की मिला न कलकत्ता के आसपास लगभग १/३ श्रमिका के आवास की व्यवस्था की है। लेकिन आवास-स्तर सन्तोषजनक नही है। अभियान्त्रिकी (इजीनियरिंग) उद्योग में केवल बड़ी सस्थाओ जसे टाटा आयरन और स्टील उद्योग, जमशेदपुर ने ही आवास-व्यवस्था की है। भारत में सीमेंट उद्योग आवास प्राप्त श्रमिकों और आवास-स्तर की दृष्टि से सबसे आगे है। कोयले की खानो में ८० प्रतिशत श्रमिका को मुफ्त मकान मिले हैं। कोयले की खानो के श्रम कल्याण निधि की आवास-योजना (भारत सरकार द्वारा स्थापित) के

व्यवस्था थी। प्रकाश, स्वच्छता एवं भीड़ रोकने की भी कुछ व्यवस्था की गई।

§१० १९११ का कारखाना अधिनियम—१९११ के कारखाना अधिनियम की प्रमुख बातें निम्न हैं—

(१) वर्ष में ४ माह से भी कम काम करने वाले मौसमी कारखानों पर भी कारखाना अधिनियम लागू कर दिया गया।

(२) आयु प्रमाण-पत्र का रखना अनिवार्य हो गया। सूती कपड़ों की मिलों में बच्चों के काम के घण्टे घटाकर ६ कर दिये गए।

(३) केवल कपास की ओटाई और दबाई के कारखानों में ही स्त्रियों से रात्रि में काम लेने की आज्ञा दी गई।

(४) सूती कपड़ों की मिलों में वयस्क पुरुष श्रमिकों के काम के घण्टे बारह तक सीमित कर दिये गए। उन सब कपड़ों की मिलों में जहाँ कोई स्वीकृत पारी-पद्धति नहीं थी—कोई भी ५ बजे प्रात से पहले और ७ बजे सायं के बाद काम न कर सकता था।

(५) कर्मचारियों की सुरक्षा और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अधिक व्यापक व्यवस्था की गई तथा कारखानों के निरीक्षण को और प्रभावपूर्ण कर दिया गया।

§११ १९२२ का कारखाना अधिनियम—

(१) १९२२ के कारखाना अधिनियम के अनुसार वे कारखाने, जिनमें विद्युत् शक्ति का उपयोग होता था तथा कम-से-कम २० व्यक्ति काम करते थे, कारखाना विधान के अन्तर्गत आ गए। स्थानीय सरकारों को १० से अधिक श्रमिकों से काम करने वाले कारखानों पर अधिनियम लागू करने या न करने की स्वतन्त्रता थी, चाहे वे कारखाने विद्युत् शक्ति का उपयोग करते हों या न करते हों।

(२) बच्चों की निम्नतम आयु १२ वर्ष और उच्चतम आयु १५ वर्ष निश्चित की गई। बच्चे एक दिन में ६ घण्टे से अधिक काम किसी भी कारखाने में नहीं कर सकते थे।

(३) किसी भी कारखाने में बच्चे और स्त्रियाँ प्रातः साढ़े पाँच बजे से पूर्व और सायंकाल सात बजे के बाद काम पर नहीं लगाए जा सकते थे।

(४) वयस्कों के लिए काम के घण्टे प्रति सप्ताह ६० तथा प्रतिदिन अधिक-से अधिक ११ घण्टे निश्चित कर दिये गए। एक सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था।

(५) हर ६ घण्टे के बाद एक घण्टे के विश्राम की व्यवस्था की गई। श्रमिकों की प्रार्थना पर इस आध आध घण्टा करके दो बार दिया जा सकता था, बशर्ते कि एक बार ५ घण्टे से अधिक काम न लिया जाता हो।

(६) प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में प्राविधिक (टेक्नीकल) ज्ञान रखने वाले और अधिक पूर्णकालिक निरीक्षकों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई।

(७) स्थानीय सरकारों को प्रकाश और कृत्रिम नमी के मानदण्ड स्थिर करने के अधिकार दिये गए।

१९२३, १९२६ और १९३१ के अधिनियमों द्वारा अपेक्षाकृत महत्वहीन सशोधन हुए जिनसे कुछ प्रशासकीय कठिनाइयाँ दूर हो गई।

§१२ १९३४ का कारखाना अधिनियम, १९४६ का कारखाना सशोधन अधिनियम एव १९४८ का कारखाना अधिनियम—१९३४ का अधिनियम जो १ जनवरी,१९३५ को लागू हुआ, के अनुसार—

(१) वर्ष भर चालू रहने वाले और मौसमी कारखानो म भेद किया गया।

(२) १५ और १७ वर्ष के बीच की आयु वाला का एक तृतीय किशोर-वर्ग बनाया गया, जिन्ह वयस्को के काम के उपयुक्त न समझा जाने पर बच्चा समझा जाने लगा।

(३) तत्कालीन ११ घण्टे प्रतिदिन एव ६० घण्टे प्रति सप्ताह काम का नियम मौसमी उद्योगों में जारी रहा, किन्तु वर्ष भर काम करने वाले उद्योगों में कुछ अपवादों को छोडकर इसे १० घण्टा प्रतिदिन और ५४ घण्टा प्रति सप्ताह कर दिया गया। बच्चो के लिए काम की अधिकतम सीमा पाँच घण्टा हर जगह कर दी गई।

(४) पहली बार प्रसार का सिद्धान्त (स्प्रेड ओवर) काम में लाया गया, जिसके अनुसार लगातार काम के घण्टे वयस्को के लिए तेरह और बच्चो के लिए साढ़े सात निश्चित कर दिये गए।

(५) कृत्रिम नमीकरण के नियन्त्रण से सम्बन्धित तत्कालीन व्यवस्थाओ को और व्यापक बनाया गया। स्थानीय सरकारा को निरीक्षको को यह अधिकार देने की शक्ति मिली कि जहाँ वे आवश्यक समझें कारखाने के प्रबन्धक को कारखाने की ठण्डक बढ़ाने को कहे।

(६) कल्याण की भी कुछ व्यवस्था की गई, जसे विश्राम के घण्टो मे बैठने के लिए विश्रामालय, स्त्रियो के बच्चों के लिए अलग स्थान, प्राथमिक सहायता के साधन।

(७) स्थानीय सरकारा को अधिकार दिया गया कि वे शारीरिक योग्यता निर्धारित करें और जिन बच्चो के पास योग्यता का प्रमाण-पत्र न हो उन्हें काम में न लगने दें।

(८) निरीक्षको को यह अधिकार दिया गया कि वे श्रमिको के लिए खतरनाक सिद्ध होने योग्य किसी कारखाना के निर्माण-सम्बन्धी दोष को दूर करने के लिए प्रबन्धको से कहें।

(९) अतिरिक्त समय काम करने के घण्टे की सीमा और पारिश्रमिक निर्धारित कर दिया गया।

१९४६ के कारखाना-सशोधन अधिनियम के अनुसार काम के अधिकतम साप्ताहिक घण्टे सांवत्सर (पेरेनियल) कारखाना के लिए ४८ और मौसमी कारखाना के लिए ५४ कर दिये गए। किन्तु प्रान्तीय सरकारा को यह अधिकार दिया गया कि जनहित के लिए आवश्यक प्रतीत होने पर व इस सीमा को बढ़ा सकती है।

१९४८ का कारखाना अधिनियम १ अप्रल १९४९ को लागू हुआ।

थी। इसका व्यय प्रवासी श्रमिक-कर नामक एक वार्षिक कर लेकर करने की व्यवस्था है। यह कर प्रति प्रवासी से इस दर पर लगाया जाता है कि ६ रुपया प्रति प्रवासी से अधिक न हो तथा भारत के गजट में सूचित दर के ही आधार पर हो।

१६५१ के चाय के बगीचों के अधिनियम में औषधि, शिक्षा, एवं अन्य सुख सुविधाओं की भी व्यवस्था थी जैसे पीने का पानी, कैन्टीन बालगृह तथा दैनिक एवं साप्ताहिक छुट्टियों का नियमन।

§१७ खानों का श्रम विधान—१६०१ में पास किये गए प्रथम खान अधिनियम के अनुसार निरीक्षकों की नियुक्ति हुई। १६२३ के खान अधिनियम में खान की परिभाषा और व्यापक कर दी गई और भूमि के ऊपर के श्रमिकों के लिए काम के घण्टे ६० प्रति सप्ताह और भूमि के अन्दर के श्रमिकों के लिए ५४ प्रति सप्ताह कर दिए गए। एक सप्ताह में ६ से अधिक दिन न हो सकते थे। १३ से नीचे की उम्र के लड़कों का खान के अन्दर काम करने का निषेध था। खान के अन्दर प्रायः ४५ प्रतिशत औरतों के काम करने के कारण एकाएक स्त्री श्रम का निषेध कर देने से दश के इस आधारोद्योग के अस्त-व्यस्त होने की आशंका थी। १६२६ के बने नियमों में तुरन्त ही औरतों को खान के अन्दर काम करने से निषेध कर दिया गया। केवल बिहार, बंगाल और मध्यप्रान्त की कोयले की खानें और पंजाब की नमक की खानें इसका अपवाद थीं। १ जुलाई १६३६ से खान के अन्दर औरतों का काम करना बिलकुल बन्द कर दिया गया। युद्धकालीन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए १६४३ में सरकार ने अल्पकाल के लिए निषेध को स्थगित कर दिया और युद्ध की समाप्ति पर १६४६ में इसे फिर लागू कर दिया।

१६२८ में १६२३ का भारतीय खान अधिनियम संशोधित किया गया ताकि खानों के दैनिक काम के घण्टों को नियमित किया जा सके। किसी भी खान में एक श्रमिक-समूह द्वारा २४ घण्टे से अधिक काम लेने पर निषेध लगा दिया गया। १६३५ के संशोधन में निम्न परिवर्तन हुए (१) खान में काम करने वाला आदमी एक सप्ताह में ६ दिन से अधिक काम न करेगा। (२) कोई भी श्रमिक जो खान के बाहर काम कर रहा है एक सप्ताह में ५४ घण्टे से अधिक काम नहीं करेगा और न एक दिन में १० घण्टे से अधिक काम करेगा। इस प्रकार से किसी भी व्यक्ति के काम इस प्रकार से समायोजित होने चाहिये कि अपने विश्राम के मध्यान्तरों के साथ किसी भी दिन उनका काम १२ घण्टे से अधिक न हो और (ग) एक घण्टे का विश्राम मिलने से पूर्व उसे ६ घण्टे से अधिक लगातार काम न करना पड़े। (३) खान के अन्दर काम करने वाला व्यक्ति किसी भी दिन ६ घण्टे से अधिक काम नहीं करेगा। ६ घण्टे से अधिक खान के अन्दर एक ही प्रकार का काम 'रिले' पद्धति में किया जा सकता अन्यथा नहीं किन्तु किसी भी 'रिले' में ६ घण्टे से अधिक समय न लगना चाहिए। (४) १५ वर्ष की आयु से छोटे बच्चों को खान में काम नहीं करने दिया जायगा।

१६४८ में एक विधेयक पास किया गया जिसमें कोयले की खानों में काम करने वालों के लिए 'प्रोविडेंट फण्ड' (भविष्य निधि) की व्यवस्था की। इसके यह भी

व्यवस्था थी कि मालिकों को श्रमिक के आधारभूत वेतन पर एक आना प्रति रुपया के हिसाब से योग देना होगा। इतना ही श्रमिको को भी देना होगा।

खान अधिनियमो के अतिरिक्त खान-स्वास्थ्य-परिषदो का भी निर्माण हुआ। जिनका काम श्रमिक के स्वास्थ्य की देखभाल करना और आवास, जल, प्रकाश, स्वच्छता तथा औषधि-सम्बन्धी सहायता के सम्बन्ध मे मालिक द्वारा की गई व्यवस्था की जाँच करना है।

१६३७ में सरकार ने एक विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति की जिसका काम कुछ वर्ष पूर्व कोयले की खानों में हुई दुर्घटनाओं की जाँच करना था। इसकी रिपोर्ट में कोयला-उद्योग का विवरण निम्न शब्दों में दिया गया— खेल का रूपक प्रयोग करते हुए यह कहा जा सकता है कि कोयले का उद्योग एक दौड रहा है जिसमे लाभ पहले आया है, और सुरक्षा को द्वितीय स्थान मिला है। उत्तम पद्धतियाँ 'खाली दौडने वालों' मे रही हैं तथा राष्ट्रीय हित मृतक अश्व' के समान रहा है जो मदान में उतरा तो अवश्य, परन्तु दौड प्रारम्भ न कर सका।"[1]

§१८ १६५२ का खान अधिनियम—श्रम के नियमन तथा खानो के सुरक्षा-सम्बन्धी संशोधन एवं एकीकरण करने के लिए १६५२ का खान अधिनियम पास किया गया। यह जुलाई १६५२ म लागू हो गया। जम्मू-काश्मीर को छोडकर यह अधिनियम पूरे भारत में लागू होता है। इसके अनुसार वयस्का के काम के घण्टे खान के बाहर ६ घण्टा प्रतिदिन और ४८ घण्टा प्रति सप्ताह तथा खान के अन्दर ८ घण्टा प्रतिदिन और ४८ घण्टा प्रति सप्ताह हो गए। खान के अन्दर अतिरिक्त समय के काम के लिए साधारण दर से दूना वेतन तथा खान के ऊपर का ड्योढा वेतन प्राप्त होगा। इस विधान म धरातल से नीचे किसी भाग म औरतो को काम करने की मनाही है। १५ साल से नीचे बच्चे खान के ऊपर या अन्दर काम नही कर सकते। औरते भी केवल ऊपर ही काम कर सकती हैं। ६ बजे प्रात से ७ बजे सायकाल के बीच ही १८ साल से कम वय के किशोर खान के भीतर काम न करने पायेंगे, जब तक उन्हें वयस्क होने का प्रमाणपत्र न मिल जाय। अप्रमाणित किशोर प्रतिदिन साढ़े चार घण्टे से अधिक काम नहीं कर सकते। पारिश्रमिक सहित १४ दिन की प्रतिवर्ष छुट्टी की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था उनके लिए थी जो मासिक आधार पर वेतन पाते हैं। साप्ताहिक तथा खण्ड-काम के आधार पर वेतन पाने वालों को वर्ष में ७ दिन की सवेतन छुट्टी मिलेगी। अधिनियम में स्वास्थ्य एव सुरक्षा-सम्बन्धी धाराएँ भी हैं। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार यह घोषणा कर सकती है कि १६४८ के कारखाना अधिनियम की सुरक्षा और स्वास्थ्य-सम्बन्धी धाराएँ हर खान और उसकी सीमाओं के भीतर लागू होंगी।

§१६ १६२३ का श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम (बाद में संशोधित)—पहला श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम १६२३ में पास किया गया। १६२६ १६२६ १६३१ और १६३३ म इसका संशोधन किया गया। इस अधिनियम के अन्तगत १० साल से

[1] गिवराव, दी इण्डस्ट्रियल वर्कर इन इण्डिया, पृष्ठ २३६।

अधिक श्रमिक आते हैं और लगभग हर उद्योग इसके अन्तगत है। क्षतिपूर्ति श्रमिक की मासिक आय पर निभर है। जहाँ पर मासिक वेतन १० रुपया से अधिक नहीं है वहाँ क्षतिपूर्ति (१) मृत्यु की दशा में बीमा किये हुए श्रमिक को ५०० रुपया, (२) स्थायी पूर्ण अयोग्यता की दशा में ७०० रुपया, (३) अस्थायी अयोग्यता के लिए वेतन की आधी होगी। जहाँ पर मासिक वेतन ५० या ६० रुपये के बीच है ये संख्याएँ कुछ ऊँची होंगी। प्रतिमास २०० रुपये से अधिक पाने वाले व्यक्तियों के लिए ये संख्याएँ क्रमश ४,००० रु० ५,६०० रु० और ३० रुपया प्रतिमास हैं। बच्चा के लिए मृत्यु और स्थायी अयोग्यता के लिए क्षतिपूर्ति क्रमश २०० रुपया और १ २०० रुपया है। और अस्थायी अयोग्यता के लिए वेतन की आधी है। १९३३ में अधिनियम जिस रूप म था, उसमे श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए यह व्यवस्था थी कि घातक दुर्घटनाओं की सूचना प्रान्तीय सरकार द्वारा अधिनियम के अन्तगत नियुक्त आयुक्तो को दनी चाहिए। १९४६ के संशोधन के अनुसार हर्जाना दी जाने वाली रकम की सीमा बढ़ाकर ३०० रुपया से ४०० रुपया प्रति मास तक कर दी गई है, और ३०० तथा ४०० रुपया के बीच पाने वाला की क्षतिपूर्ति का अनुमाप निर्धारित कर दिया गया है।

१९४८ का कमचारी राज्य-बीमा अधिनियम पारिश्रमिक के आधार पर विभिन्न साप्ताहिक दरो पर लाभ की व्यवस्था करता है। चोट की दशा में क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त अधिनियम में औषधि-सहायता, बीमारी, अगहानि, आश्रितों एव प्रसूति-लाभों की भी व्यवस्था है। इसके लिए धन श्रमिक, मालिक एव राज्य के योगदान से प्राप्त होता है। यह अधिनियम ४०० रुपया से कम वेतन पाने वाले श्रमिकों पर लागू होगा। विचार यह है कि यह अधिनियम धीरे धीरे श्रमिक-क्षतिपूर्ति अधिनियम को क्रमशः स्थानान्तरित कर दे।[1]

§२० रेलवे के लिए श्रम विधान—१९२२ का कारखाना अधिनियम सभी रेलवे कारखानों पर भी लागू है। अभी हाल तक काम के घण्टों को नियन्त्रित करने क कोई नियम नहीं थे, जिनसे २·५ लाख रेलवे कर्मचारियों का हित होता। १९३० के भारतीय रेलवे अधिनियम संशोधन ने १९१९ के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (वाशिंगटन) और १९२१ के जेनेवा सम्मेलन कन्वेन्शन को मान्यता दी। अधिनियम में यह धारा थी कि (१) किसी भी रेलवे कमचारी से औसतन एक महीने म ६० घण्टे प्रति सप्ताह से अधिक काम नहीं लिया जायगा। (२) रेलवे कमचारी जिनका काम लगातार न होकर विच्छिन्न हो, किसी भी सप्ताह में ८४ घण्टे से अधिक काम नहीं करेगा। (३) प्रति सप्ताह म २४ घण्टे का विश्राम मिलना आवश्यक है। यदि विश्राम-काल कभी छोड़ा गया है तो उसके बदले में विश्राम मिलना चाहिए। इन धाराओं का कार्यान्वयन स्थगित किया जा सकता है यदि (१) आपत्तिकाल में रेलवे की सामान्य कार्यवाही में व्याघात पड़ रहा हो (२) यदि काम का कोई असाधारण भार हो। इस हालत में भी अतिरिक्त समय के लिए पारिश्रमिक देना होगा।

§२१ भारत में औद्योगिक विवाद—प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व भारत म औद्योगिक विवाद

---

1 इ० प० ए० ओ०, लेबर लेजिस्लेशन इन इण्डिया 1930-52, पृष्ठ ६० ६१।

प्राय बहुत कम होते थे। युद्ध के उपरान्त थोडे थोडे समय पर अनेक हडतालें हुईं। १९१९-२० की बडी हडताल मे बम्बई की सूती कपडे की मिलो के १५०,००० श्रमिको ने काम बन्द कर दिया। युद्धोत्तर समृद्धि के अनन्तर होने वाली भीषण मन्दी के फल स्वरूप हुई वेतनों की कटौती के कारण भी बम्बई और अहमदाबाद में अनेक हडतालें हुईं। १९२८ मे देश भर में बडी-बडी हडतालें हुइ। १९३७ में इसी प्रकार के श्रमिको के झगडे बम्बई मद्रास, अहमदाबाद, कानपुर तथा अन्य औद्योगिक केन्द्रो मे हुए। द्वितीय विश्व युद्ध का समय श्रम अशांति से अछूता नहीं रहा, किन्तु भारत रक्षा नियम (डिफेंस ऑफ इण्डिया रूल्स) जैसे तात्कालिक उपायो द्वारा स्थिति काबू में रही। बाद मे राजनीतिक एव सामाजिक कारणो तथा साम्यवादियो की क्रियाओं से भी अशान्ति को प्रश्रय मिलता रहा। मूल्या और पारिश्रमिक की विषमता भी इसके लिए उत्तरदायी थी।

§२२ विवाद निवारण—विवाद उत्पन्न होने के बाद उसे सुलझाने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण तो यह है कि झगडो को उत्पन्न होने से रोका जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मालिको एव श्रमिको मे समुचित सगठन बनाए जायें। इस दृष्टिकोण से १९२६ का श्रमिक-सघ विधेयक महत्त्वपूर्ण है। १९२२ की बम्बई औद्योगिक विवाद समिति और १९२९ के श्रम आयोग ने इगलैण्ड की ह्विटले समितियो की तरह की कार्य-समितियाँ और दुकान समितियाँ बनाने की सिफ़ारिश की। सरकार एव टाटा जसे कुछ मालिको ने इस प्रकार की सस्थाएँ बनाई हैं, जिनमें श्रमिको एव मालिकों का समान रूप से प्रतिनिधित्व है। १९४० से ही सरकार ने एक नये परामर्श निकाय का विकास एव पोषण किया है जिसका नाम भारतीय श्रम-सम्मेलन (त्रिपक्षीय श्रम-सम्मेलन) है।

वार्षिक श्रम-सम्मेलन एक ऐसा माध्यम प्रस्तुत करता है जहाँ सभी सम्बन्धित हित मिल सकते हैं और विवाद निवारण हेतु विभिन्न दृष्टिकोणो पर विचार कर सकते हैं और झगडों को रोकने के लिए प्रस्ताव रख सकते हैं। सम्मेलन की स्थायी समिति की बैठकें बहुधा हुआ करती हैं। इसका प्रयास मालिको और कर्मचारियो के ऐसे मतभेदो को दूर करना होता है, जिसके फलस्वरूप हडतालें और मिल बन्दी होती है।

§२३ १९२९ का श्रमिक विवाद अधिनियम—इसमे मालिकों एव श्रम-सगठनो का अस्तित्व मानकर उन सस्थाओं के विकास का प्रयास किया गया है जो अकारण होने वाली हडतालो और मिल-बन्दियों को रोकने का प्रयत्न करें तथा झगडा प्रारम्भ होने के पूर्व ही माँगों की निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत कराने का प्रयास करें। अधिनियम म सरकार द्वारा जाँच के लिए न्यायालया और समझौता परिषद् की स्थापना की व्यवस्था है। ऐसा तभी होगा जब दोनों पक्षो का सम्मिलित या अलग अलग आवेदन हो। इस जाँच-न्यायालय मे एक स्वतन्त्र सभापति तथा उतने स्वतन्त्र व्यक्ति हो सकते हैं जितने नियुक्ति अधिकारी आवश्यक समझे। यह समिति केवल एक स्वतन्त्र व्यक्ति समझौते स ही बन सकती है। परिषद् में केवल एक व्यक्ति स्वतन्त्र भी

अनिवार्य मध्यस्थता को सिद्धान्ततः तो स्वीकार कर लिया गया है पर इसका विरोध इस आधार पर किया जाता है कि इससे श्रमिकों की सौदा करने की सामूहिक शक्ति और कामवाही में हस्तक्षेप होता है तथा अपनी मांगों को सामने रखने और पूरा कराने के शक्तिशाली अस्त्र—अर्थात् हड़ताल—से वे वंचित हो जाते हैं। इसके विपरीत यह कहा जाता है कि लोक हित की दृष्टि से तथा समझौते और ऐच्छिक निर्णय के मार्ग बन्द हो जाने पर, अनिवार्य मध्यस्थता का लागू करने का अधिकार आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस बात की जानकारी मात्र ही कि सरकार के पास ऐसी शक्ति है दोनों पक्षों को कट्टर दृष्टिकोण अपनाने से रोकेगी।

§२६ औद्योगिक विवाद (अपील-न्यायालय) अधिनियम १९५०—१९४७ के अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों द्वारा स्थापित न्यायालयों के निर्णय परस्पर विरोधी सिद्ध हुए हैं। इस दोष को दूर करने के लिए १९५० का यह अधिनियम पारित किया गया। यह अधिनियम सरकार को एक औद्योगिक विवाद (अपील न्यायालय) स्थापित करने का अधिकार देता है जो विभिन्न राज्यों के औद्योगिक न्यायालयों तथा केन्द्रीय अथवा राज्यीय सरकारों द्वारा औद्योगिक विग्रहों को निपटाने के लिए स्थापित परिनियत निकायों के निर्णयों की अपील सुनेगा। इस अपील न्यायालय को निम्न दशाओं में अपील सुनने का अधिकार है

(१) यदि अपील में कोई महत्त्वपूर्ण कानूनी बात है।

(२) निर्णय या पंच निर्णय का सम्बन्ध पारिश्रमिक, बोनस, यात्रा भत्ता, भविष्य निधि या पेंशन के प्रति मालिक के प्रदादान, काम से हटा देने पर मिलने वाली धनराशि, छंटनी या अधिनियम के अन्तर्गत प्रस्तावित अन्य ऐसी ही किसी बात से हो। निम्न दशाओं में अपील स्वीकार न की जायगी

(१) बैंकिंग कम्पनियों के विवादों के निर्णय के हेतु १९४९ में जो औद्योगिक न्यायालय नियुक्त किया गया था, उसके निर्णयों के विरुद्ध।

(२) दोनों पक्षों की स्वीकृति प्राप्त किसी भी न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध।

(३) समझौते की कार्यवाही के बीच हुए किसी भी समझौते के विरुद्ध।

(४) दोनों पक्षों की सहमति से नियुक्त मध्यस्थ के निर्णय के विरुद्ध सम्बद्ध सरकार को अपील-न्यायालय के किसी भी निर्णय को ३० दिन के भीतर परिवर्तित या रद्द करने का अधिकार है। ऐसी दशा में सरकार को विधान सभा के सामने ऐसा करने के कारण रखने पड़ते हैं। अपील दाखिल करने के लिए दिये गए ३० दिनों के अन्दर या अपील-काल में कोई भी मालिक श्रमिक की सेवा की परिस्थिति परिवर्तित नहीं कर सकता, जिससे श्रमिक का अहित होता है और न वह अपील न्यायालय की लिखित आज्ञा के बिना किसी भी श्रमिक को निकाल सकता या दण्ड दे सकता है।

१९४२ से ही भारत में केन्द्र और राज्य दोनों में ही त्रिदलीय श्रम यन्त्र का विकास हुआ है। केन्द्रीय त्रिदलीय यन्त्र में भारतीय श्रम-सम्मेलन, स्थायी श्रम समिति, केन्द्रीय कार्य मन्त्री-परिषद् तथा बगीचों, कपास, सीमेन्ट, चमड़े और कोयले के उद्योगों की समितियाँ हैं।

इस यन्त्र से श्रम समितियां के सम्मेलन का निकट सम्बन्ध है अनेक राज्यों ने राज्यीय श्रम-परामर्श-परिषदों की स्थापना की है जिनका स्वरूप त्रिपक्षीय ही है। जनवरी १९५२ में रेलवे में एक स्थायी त्रिपक्षीय-यन्त्र की स्थापना हुई।[1]

अनिवार्य मध्यस्थता हड़तालें बिलकुल बन्द नहीं कर सकी है परन्तु उनकी संख्या अवश्य कम हो गई है। पर श्रमिकों और उनके नेताओं ने इसका विरोध इस आधार पर किया है कि इससे मांगों और शिकायतों को प्रकट करने और उन्हें तुरन्त पूरा करने का प्रभावपूर्ण अस्त्र बेकार जाता है तथा अनिवार्य मध्यस्थता में वर्तमान सम्बन्धों को स्थायी एवं न्यायपूर्ण मान लिया जाता है। वे प्रत्यक्ष विचार विनिमय और सामूहिक सौदेबाजी को अधिक पसन्द करते हैं। वर्तमान समय में देश की सबसे बड़ी आवश्यकता औद्योगिक विग्रह के अभाव का होना है ताकि आयोजित विकास सुगमता से हो सके। अतएव श्रमिकों और मालिकों का यह कर्तव्य है कि वे हर प्रकार से खुले आम झगड़ों को बचाएँ और उन्हें शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाएँ। इसके लिए दोनों को एक दूसरे के आगे थोड़ा झुकना पड़ेगा। त्रिपक्षीय श्रम यन्त्र एवं श्रम मन्त्रियों के सम्मेलन तथा संयुक्त विचार विमर्श के अन्य साधनों का उद्देश्य सम्बन्धित दलों में उचित दृष्टिकोण उत्पन्न करना तथा औद्योगिक सम्बन्धों के सुधार में पर्याप्त सहायता करना है।[2]

§२७ १९५१ का श्रम सम्बन्ध अधिनियम—इसमें निम्न व्यवस्थाएँ हैं —

(१) इसमें अनेक अधिकारियों की नियुक्ति की योजना है—जैसे पंजीकरण अधिकारी मालिक श्रमिक समितियाँ (वर्क्स कमेटी), समझौता अधिकारी जाँच आयोग और अनेक श्रेणीबद्ध न्यायालय आदि।

(२) सम्बद्ध राज्य सरकारें औद्योगिक न्यायालयों के निर्णयों में संशोधन करने या रद्द करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

(३) अवैध मिल-बन्दी एवं हड़तालों को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है। किसी भी अवैध हड़ताल में सम्मिलित होने वाले श्रमिक को वेतन, भत्ता, छुट्टी भविष्य निधि में मालिक के अंशदान से हाथ धोने पड़ेंगे। यदि मालिक अवैध रूप से मिल बन्द करता है तो उसे सामान्य लाभों का दूना देना पड़ेगा।

(४) समझौते की शर्तों को तोड़ने वाले श्रमिक-संघ की मान्यता हटा ली जायगी।

(५) किसी भी स्थायी श्रमिक का, जो लगातार काम करता रहा हो, अपना पक्ष अच्छी तरह समझाने का अवसर दिये बिना बरखास्त नहीं किया जा सकता,

१ इण्डिया १९५५, पृष्ठ १०६।

२ सामूहिक सौदेबाजी के सफल उदाहरणों में बोनस सम्बन्धी समझौते हैं जिनसे उत्तरी बंगाल तथा आसाम के चाय के बगीचों के [illegible] लाख श्रमिकों को तथा बम्बई के [illegible] लाख सूती मिलों के श्रमिकों को लाभ हुआ। इन दोनों समझौतों का प्रारम्भ का श्रेय तत्कालीन केन्द्रीय श्रम मंत्री श्री खण्डूभाई देसाई को है। तीसरा सफल उदाहरण टिस्को समझौता जो जमशेदपुर के श्रमिक-संघ के साथ हुआ जिसमें [illegible] के बदले में श्रमिकों ने कम्पनी को [illegible] सहयोग का आश्वासन दिया है। [illegible] (कैपिटल, 'इकनामिक [illegible]', १४ जनवरी १९५६)

श्रमिक-संघो की रजिस्ट्री और सुरक्षा के लिए विधान बनना आवश्यक है। श्रम सदस्य स्वर्गीय श्री एन० एम० जोशी के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप यह कानून पास हुआ। इसमें श्रमिक-संघो की वैध स्थिति की स्पष्ट व्याख्या की गई। श्रमिक-संघों की रजिस्ट्री वैकल्पिक रही, लेकिन रजिस्ट्री शुदा संघो को कुछ सुविधाएं दी गइ। रजिस्ट्री-शुदा श्रमिक-संघों को अपने नाम और उद्देश्य की घोषणा करनी पड़ती थी। इसे सदस्य सूची रखनी और अपने कोष की वार्षिक जाँच करानी पड़ती थी। यह कोष श्रमिको के हितार्थ निश्चित मदो पर ही व्यय करने के लिए होता है। किसी भी श्रमिक-संघ के सदस्या में से कम-से कम आधे पदाधिकारी सम्बन्धित उद्योगो के कर्मचारी होने चाहिएँ। जहाँ तक सुविधाओं का सम्बन्ध है, श्रमिक संघ के वैध उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किये गए न्यायोचित कार्यों के लिए अधिकारियो को अपराध के उत्तरदायित्व से मुक्ति मिली हुई है और न उन पर षड्यन्त्र का आरोप ही लगाया जा सकता है। रजिस्ट्री-शुदा श्रमिक-संघ के किसी भी सदस्य या अधिकारी पर कोई दीवानी का मुकदमा इस आधार पर दायर नही किया जा सकता कि उसके द्वारा किसी श्रम विवाद पर विचार करने या उसे आगे बढाने से कोई वृत्ति-संविदा (इम्प्लाइमेंट कन्ट्रेक्ट) भंग हुआ है या उससे कुछ अन्य व्यक्तियो के व्यापार या रोजी में बाधा पहुँची है, अथवा उनके द्वारा इच्छापूर्वक श्रम या सम्पत्ति बेचने में बाधा पहुँची है। रजिस्ट्री शुदा श्रमिक-संघ के खिलाफ दीवानी मे कोई ऐसा मुकदमा भी दायर नही हो सकता, जिसमें उसकी ओर से किसी व्यक्ति पर श्रम विवाद पैदा करने या आगे बढ़ाने के लिए किये गए कार्य का दोषारोपण हो बशर्ते कि यह सिद्ध कर दिया जाय कि उसने श्रमिक-संघ की कार्यपालिका द्वारा दिये गए स्पष्ट आदेशो के विरुद्ध या अनजाने में ऐसा काम किया है। रजिस्ट्री शुदा श्रमिक-संघ एक कोष का निर्माण कर सकता है, जिससे वह अपने सदस्यों के नागरिक एवं राजनीतिक हितो का पोषण करे, किन्तु इसके लिए अनुदान पूर्णतया ऐच्छिक आधार पर होगा।

भारत के श्रम-संगठनो में निम्न चार अखिल भारतीय श्रमिक संघ संगठन प्रमुख हैं। हर दशा में सम्बन्धित संघो और सदस्या की संख्या का निर्देश कर दिया गया है। ये संख्याएँ 'इण्डियन लेबर ईयर बुक' १९५० ५१ से ली गई हैं (पृष्ठ १७३) जो १९५१ से सम्बन्धित है।

संस्था का नाम	संयुक्त संघों का नाम	सदस्य संख्या
१ इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस	१,२३०	१,५४८,५६८
२ ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस	७३६	७५८ ३१४
३ हिन्द मजदूर सभा	५१७	८०४ ३३७
४ हिन्द ट्रेड यूनियन कांग्रेस	३३२	३८४ ९६२

इन चारो मे इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस शान्ति और अहिंसा के गाधीवादी सिद्धान्तो पर आधारित है। यह झगडो के शान्तिपूर्ण समझौतों पर बल देती है और हड़ताल को उस अन्तिम अस्त्र के रूप में ही स्वीकार करती है जिसका

प्रयोग झगडा तय करने के सब उपायो के समाप्त हो जाने पर किया जाय। इसे काग्रेस सरकार द्वारा प्रश्रय मिलना ग्राश्चर्य की बात नही। सरकार इसे श्रमिको के हित की सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि सस्था मानती है।

विगत २५ वर्षों में श्रमिक-सघ ग्रान्दोलन ने काफी प्रगति की है। १९२७-२८ में रजिस्ट्री शुदा सघो की सख्या २९ और अपना लेखा प्रस्तुत करने वाले सघो की सख्या २८ थी। कुल सदस्य सख्या १००,६१९ और प्रति सघ सदस्य-सख्या ३,५९४ थी। १९५०-५१ की सख्याएँ क्रमश ३,४५४ रजिस्ट्री शुदा श्रमिक सघ, १,८९६ लेखा प्रस्तुत करने वाले सघ, कुल सदस्य सख्या १,५७७,२२७, ग्रौर ग्रौसत सदस्य-सख्या ८३२ थी। सघो की कुल वार्षिक ग्राय लगभग ६० लाख रुपये थी ग्रौर प्रति सघ ग्रौसत ग्राय ३,२०० रुपये थी। ग्रत यह स्पष्ट है कि सस्था की ग्रार्थिक स्थिति काफी कमजोर है। दूसरी कमजोरी की ग्रोर पहले निर्देश किया जा चुका है ग्रर्थात् यह राजनीति से बुरी तरह मिश्रित है। ग्रखिल भारतीय सस्थाग्रो के ग्रतिरिक्त कुछ स्थानीय सघ हैं, जसे १९२० मे महात्मा गाधी द्वारा स्थापित ग्रहमदाबाद की सूती-वस्त्र श्रम-सस्था। कुछ प्रान्तीय सगठन भी हैं। इनके ग्रलग ग्रलग सघो की शक्ति ग्रौर कुशलता भिन्न है। इसमे से कुछ तो हडताल-समितियाँ जसी हैं जो हडताल के समय उत्पन्न होती हैं ग्रौर हडताल समाप्त होते ही ग्रदृश्य हो जाती हैं। कुछ हस्तशिल्प-सघ हैं। कुछ ऐसी भी हैं जिनके सदस्य उसी उद्योग के कमचारी हैं, इत्यादि।

§३१ सामाजिक बीमा (सोशल इन्शोरेन्स)—सामाजिक बीमा की स्थापना के सम्बन्ध में एक ग्रावश्यक चीज है सांख्यिकीय तथा जीवनांकिक ग्राधार का होना। १९४४ की श्रम जाँच समिति ने इस सम्बन्ध मे लगभग ३६ उद्योगों मे काफी व्यापक ग्रौर गहन तथ्यात्मक सर्वेक्षण किया ग्रौर इस प्रकार नीति निर्धारण के लिए एक ठोस ग्राधार प्रस्तुत किया। जहाँ तक व्यय का प्रश्न है, सबसे ग्रच्छी योजना तो यह होगी कि राज्य, श्रमदाता ग्रौर श्रमिक—तीनो ही इसमें ग्रशदान दें।

§३२ कर्मचारी राज्य-बीमा निगम (इम्पलाईज स्टेट इन्शोरेन्स कारपोरेशन)—एक स्वास्थ्य बीमा योजना को सम्मिलित करते हुए कर्मचारी राज्य-बीमा ग्रधिनियम नामक विधेय ग्रप्रैल १९४८ में पास किया गया। यह ग्रधिनियम मौसमी कारखानो को छोडकर उन सब उद्योगो पर लागू होगा जिनमें शक्ति का प्रयोग होता हो ग्रौर २० से ग्रधिक व्यक्ति काम करते हो। यह ४०० रुपया प्रति मास तक का वेतन या पारिश्रमिक पाने वाले कर्मचारियो पर लागू होगा। इसका प्रशासन एक स्वायत्त निकाय कर्मचारी राज्य-बीमा निगम नामक सस्था के हाथ में है। एक स्थायी समिति (स्टैंडिंग कमेटी) है जो कि निकाय की कार्यकारिणी का काय करती है। एक ग्रौषध-हित-परिषद् भी है जो निगम को ग्रौषधि सम्बन्धी प्रश्नों, प्रमाणपत्र ग्रादि के सम्बन्ध में सलाह देती है। ये सब निकाय त्रिपक्षी हैं ग्रौर इनमें सरकार, मालिक ग्रौर कर्मचारी तीनों के ही प्रतिनिधि होते हैं। केन्द्रीय सरकार निकाय को ५ वर्षों तक उसके प्रशासकीय व्यय के २/३ के बराबर वार्षिक ग्रनुदान देगी। बीमा कराये

परिषद् की स्थापना की। यह एक स्वतन्त्र संस्था है जिसका काम कल्याणार्थ सेवाओं का विकास करना है। काम सुचारु रूप से चलाने के लिए ४ लाख रुपये की व्यवस्था की गई है। परिषद् की स्वीकृत नीति यह है कि वह सामाजिक दोषों एवं अन्यायों की आलोचना करे तथा अरक्षित वर्ग जिसमें बच्चे और स्त्रियाँ भी शामिल हैं, की रक्षा का प्रयास करे। परिषद् द्वारा आर्थिक सहायता ऐच्छिक संस्थाओं के जरिये दी जाती है। इसमें नागरिकों की सक्रिय सहायता को भी सम्मिलित करने का प्रयास किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में कल्याणार्थ काम प्रायः नहीं के बराबर हो रहा है। परिषद् इस कमी को पूरा करने के लिए प्रसार योजनाएँ बना रही है जो हर जिले में एक होंगी। योजना की प्रमुख रूपरेखा निम्न है—

स्त्रियों और बच्चों के लिए गाँवों में अत्यावश्यक कल्याणार्थ सुविधाओं का प्रबन्ध। इसमें लाभदायक हस्तशिल्पों की शिक्षा, जैसे कताई बुनाई सिलाई प्रसूति के पूर्व एवं उपरान्त की देख रेख का प्रबन्ध, आमोद प्रमोद की सुविधाएँ, बेसिक शिक्षा, दुष्प्रभावों से बच्चों को दूर रखना इत्यादि आते हैं। इन सेवाओं को ऐच्छिक महिला कार्यकर्ताओं के सहयोग द्वारा पूरा किया जायगा। ग्राम सेविकाएँ हस्त शिल्प सहायक और दाइयाँ उनकी सहायता करेंगी जो यथा-सम्भव ग्रामीण जनता से ही ली जायेंगी। ये काम सामुदायिक विकास-योजनाओं या राज्य सरकारों के ग्रामीण कल्याण-कार्यक्रमों के पूरक के रूप में होंगे। एकरूपता और कुशलता लाने के लिए राज्य सरकार के विकास और कल्याण-कार्यों के विभागों के सहयोग से राज्य-सामाजिक परिषद् (स्टेट सोशल बोर्ड) इन क्रियाओं का पर्यवेक्षण करते हैं। केन्द्रीय समाज-कल्याण परिषद् सम्पूर्ण देश के लिए कल्याण कार्यों की योजना बनाता है और यह देखता है कि कल्याण सेवाएँ ठीक से चल रही हैं या नहीं, और देश भर में सामाजिक निधि से कल्याण-संगठनों के बीच न्याय संगत वितरण हो रहा है या नहीं। यह वर्तमान सेवाओं द्वारा सहायता न पाने वाले वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति का भी प्रयास करता है। इसका एक उदाहरण उस योजना से मिलता है, जो नागरिक परिवारों के लाभ के लिए औद्योगिक सहकारी समितियों के निर्माण द्वारा विभिन्न केन्द्रों में चालू की जा रही हैं। इस प्रकार की चार योजनाएँ दिल्ली हैदराबाद, पूना तथा विजयवाडा में स्थापित की गई हैं। इनमें से प्रत्येक में निम्न एवं मध्यम वर्ग की ५०० ऐसी स्त्रियों को जो इन केन्द्रों में संगठित किसी विशेष उद्योग में प्रशिक्षित हो रोजी देने की व्यवस्था है।

समाज-कल्याण-कार्य का क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ने वाला है तथा इस कार्य का सम्बन्ध भी उत्तरोत्तर वृद्धिमान प्रक्रिया है।

अध्याय १६

परिवहन एवं यातायात

§१ परिवहन एवं यातायात का महत्त्व—आर्थिक, यौद्धिक प्रशासकीय, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से राष्ट्र के जीवन में परिवहन का विशिष्ट महत्त्व है। परिवहन एवं संचार के साधनों का विकास करने में ब्रिटिश शासकों के अनेक प्रकार के मन्तव्य हो सकते हैं।[1] उदाहरणार्थ लार्ड डलहौजी ने रेलों की शृंखलाओं के विकास पर जोर दिया था ताकि प्रत्येक प्रेसीडेंसी के आन्तरिक भाग का उनके प्रमुख बन्दरगाह से और विभिन्न प्रेसीडेंसियों का एक-दूसरे से सम्बन्ध स्थापित हो जाय, क्योंकि इसके विकास में ब्रिटिश साहसिकता एवं पूँजी का लाभ दृष्टिगोचर हुआ। यौद्धिक महत्त्व जैसा ब्रिटिश युग में था वैसा ही अब भी है। देश के किसी भाग के विद्रोह को शीघ्रता एवं सरलता से दबाना चाहिए और यह प्रभावपूर्ण परिवहन-व्यवस्था के अभाव में नहीं हो सकता।

किसी भी विशिष्ट क्षेत्र में रेल, सड़क या जलमार्ग में से कौन अधिक उपयुक्त है यह विवादास्पद विषय है। लेकिन देश के विभिन्न भागों को परिवहन के साधनों द्वारा जोड़ने से लाभ के विषय में दो मत नहीं हो सकते। देश के विभिन्न प्रदेशों के लोगों के सघन सम्पर्क के बिना राष्ट्रीय एकता की भावना की पुष्टि नहीं हो सकती। प्रशासकीय दक्षता, दुर्भिक्ष-सहायता, देश के प्राकृतिक स्रोतों का पूर्ण उपयोग तथा वाणिज्य-उद्योग का विकास—ये सभी प्रभावपूर्ण परिवहन पर आश्रित हैं। परिवहन के विकास के कारण कितने ही कोने में पड़े एकान्त गाँवों का सम्बन्ध भी बाहरी दुनिया से स्थापित हो गया है। किन्तु इससे केवल लाभ ही नहीं बल्कि हानियाँ भी हुई हैं। ग्रामीणों की आत्म निर्भरता के विघटन को, दुर्गुणों में गिनाया जा सकता है। तो भी बाहरी दुनिया से निकट सम्बन्ध स्थापित होने से गाँवों को लाभ हुआ है और होगा। कितने ही ऐसे गाँव हैं जो अपने आसपास के गाँवों से बिलकुल अलग हैं। हर विचारशील व्यक्ति इसे एक बाधा ही समझता है। इस एकाकीपन को दूर

[1] विभिन्न कालों में विभिन्न उद्देश्य थे और उनकी प्रतिक्रिया की गम्भीरता भी विभिन्न रही। उदाहरण के लिए समाज-सुधार की आकांक्षा, जाति प्रथा को दूर करने की इच्छा, भारत में पाश्चात्य सभ्यता तथा कला का प्रसार, वाणिज्य-व्यवसाय, आन्तरिक सुरक्षा (१८५७ के आन्तरिक विद्रोह और सिख-युद्धों के समय में), बाह्य आक्रमणों से रक्षा (१८६० के अनन्तर रूस का खतरा था), दुर्भिक्ष सहायता (१८८० के दुर्भिक्षायोग ने रेलवे निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया)—ये सब इच्छाएँ विचाराधीन थीं।

दुर्भिक्ष तथा अफगानिस्तान के साथ के युद्ध की स्थिति और भी खराब कर दी। १८८० के दुर्भिक्षायोग के मत में ५,००० मील और रेलवे का निर्माण अत्यावश्यक था, तथा दुर्भिक्ष से सुरक्षित करने के लिए लगभग कुल २०,००० मील रेलों का जाल देश में बिछा होना चाहिए। सरकार के पास इतनी सामर्थ्य न होने के कारण उसने फिर कम्पनियों को रेलवे का निर्माण करने के लिए आमन्त्रित करना प्रारम्भ किया।

§५ नवीन गारण्टी-पद्धति (१८७६ १९००)—इस बीच बंगाल नागपुर, दक्षिण मराठा रेलवे जसी कम्पनियों के साथ संविदा हुए। पुरानी पद्धति से यह निम्न बातों में भिन्न थी।

(१) कम्पनियों द्वारा निर्मित लाइनें प्रारम्भ से ही भारत सचिव की सम्पत्ति मानी गई जिन्हें वे २५ वर्ष के अन्त में या उसके बाद या दस-दस वर्ष के अन्तर से कम्पनियों को उनकी लागत पूँजी देकर इन संविदाओं को समाप्त करके अपने अधिकार में कर सकते थे।

(२) ब्याज दर पहले से कम कर दी गई। अब साधारण दर साढ़े तीन प्रतिशत हो गया।

(३) सरकार ने अपने लिए अतिरिक्त लाभ का प्राय ३।५ रखा।

जब पुरानी गारण्टी कम्पनियों की संविदाओं की अवधि पूरी हो गई, सरकार ने कुछ दशाओं मे इनको समाप्त कर दिया। कुछ रेलवे खरीदकर राज्य के प्रबन्ध में कर दी गई। लेकिन अधिकांश प्राय उन्ही कम्पनियों को संशोधित शर्तों पर प्रबन्ध के लिए दे दी गईं। नई कम्पनियों का संविदा-काल समाप्त होने पर भी उन्हें संशोधित शर्तों पर रेलवे का प्रबन्ध करने दिया गया। अब ये शर्तें पहले की अपेक्षा सरकार के पक्ष में अधिक थीं।

§६ रेलवे का तीव्र प्रसार एवं विकास तथा इसमें लाभ का प्रारम्भ (१९०० १४)—यह रेलवे के निर्माण का तीव्र विकास काल था। अब तक रेलवे जन-कार्य विभाग (पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट) के अन्तर्गत थी। १९०५ में रेलवे बोर्ड की स्थापना हुई, जिसमे एक सभापति तथा वाणिज्य एवं उद्योग विभाग के अन्तर्गत काम करने वाले दो सदस्य थे। इस समय मे रेलवे २४,७५२ मील (सन् १९००) से बढ़कर ३४,६५६ मील (१९१३ १४) हो गई।

अन्य महत्वपूर्ण विकास १९०० से लाभों का प्रारम्भ होना था। इससे पूर्व ब्याज चुकाने में सरकार को ५८ करोड का घाटा हुआ था। किन्तु अब देश के आर्थिक विकास के कारण रेलवे में लगाई गई पूँजी पर लाभ होने लगा और १९१४ तक सरकार को कुल १०३ करोड़ रुपये का लाभ हुआ।

§७ रेलवे पद्धति का विघटन (१९१४ २१)—प्रथम विश्वयुद्ध काल में रेलवे पद्धति का तीव्रता से विघटन एवं ह्रास हुआ। युद्ध-सामग्री एवं सैनिकों के परिवहन के कारण रेलवे पर बड़ा भार पड़ा भारत को पूर्वी अफ्रीका, मसोपोटामिया और अन्यत्र रेलवे कर्मचारियों को भेजना पड़ा। यही दशा सामग्रियों के विषय में भी थी। रेलवे

के कारखानों में अन्य प्रकार के विस्फोटकों, हास्पिटल ट्रेनों और अन्य युद्ध सामग्रियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया। इन परिस्थितियों में विशेषकर बाहर से रेलवे की सामग्री मिलने के अभाव में रेलवे पर पूँजी-व्यय बन्द कर देना पड़ा। रेलवे का विकास तो असम्भव था ही, वर्तमान लाइनें भी उचित सरक्षण में न रखी जा सकीं। ऑकवर्थ-समिति ने इस दशा का निम्न शब्दों में वर्णन किया है 'बीसियों ऐसे पुल हैं जो वर्तमान ट्रेनों के भार को सँभालने के बिलकुल अयोग्य हैं, रेल की कितनी ही पटरियाँ सैकड़ों इंजन तथा हजारों ऐसे डिब्बे हैं जिनको बदलने की उचित तिथि को बीते कितने दिन हो गए हैं। रेलवे सेवाओं के ह्रास के कारण जनता और व्यापारी वर्ग को होने वाली असुविधाओं से शिकायतों का ताँता बँध गया और रेलवे-नीति के पुनर्विचार एवं रेलवे वर्ग प्रबन्ध के आमूल पुनर्गठन की माँग होने लगी। १६१६ में ईस्ट इंडियन रेलवे कम्पनी का ठेका समाप्त होने को था। इसकी सूचना भी दी जा चुकी थी लेकिन सरकार अभी निश्चय न कर पाई थी कि वह रेलवे का प्रबन्ध अपने हाथों में ले या नहीं। भारतीय जनमत राज्य नियन्त्रण के पक्ष में था। इसी माँग की पूर्ति के लिए ईस्ट इंडियन रेलवे समिति (१६२० २१) की स्थापना १६२० में सर विलियम ऑकवर्थ के सभापतित्व में हुई।

६८ आकवर्थ समिति (१६२० २१)—इस समिति ने एक स्वर से स्वीकार किया कि निम्न आधारों पर अंग्रेजी कम्पनियाँ समाप्त कर दी जायेंगी—(१) उनकी कार्य-प्रणाली अव्यवहार्य थी। (२) उन्हें सौंपी गई सम्पत्ति उनकी नहीं है और उससे होने वाली उनकी आर्थिक हानि अपेक्षाकृत कम है।[1] 'भारतीय जनता का एक बड़ा अंग सरकारी प्रबन्ध को स्वीकार करता है, क्योंकि उनके विचार में कम्पनी का प्रबन्ध देशी उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन देने के बजाय आयात एवं निर्यात को प्राथमिकता देता है।[2] कम्पनी के प्रबन्ध की आज की पद्धति में अंग्रेजों को अधिक लाभ होता है तथा भारतीयों को ऊँचे पदों पर स्थान नहीं मिलता और न उन्हें प्राविधिक शिक्षा की सुविधाएँ दी जाती हैं।" तत्कालीन पद्धति के विरुद्ध यह भी कहा जाता था कि चूँकि सरकार स्वयं रेलवे की स्वामी थी अतएव कम्पनियों के पास कोई प्रेरणा नहीं थी और न सरकार ही कोई प्रेरणा प्रदर्शित कर रही थी। संक्षेप में यह ऐसी प्रथा थी, जिसमें प्रगतिशील कम्पनियाँ व्यय-सम्बन्धी सरकारी हस्तक्षेप और

१ रेलवे में लगी कुल पूँजी ८६२.५६ करोड़ रुपया था (मार्च १६४०)। इसमें ७२६.७२ करोड़ सरकारी पूँजी थी और २८.६ करोड़ कम्पनी की थी (देखिये, रिपोर्ट आन इण्डियन रेलवेज १६३६ ४०, खण्ड १, अनुच्छेद ३३)

२ भारतीय व्यापारियों एवं उद्योगपतियों ने यह शिकायत की कि बन्दरगाह से माल पर और विभिन्न बाजारों को भेजा जाने वाली वस्तुओं पर उनसे अनुचित दर पर किराये लिए जाते हैं। इस असन्तोष का दूसरा कारण था 'ब्लाक रेट्स' पद्धति का प्रचलन जिसके अन्तर्गत छोटे स्टेशन से अन्य स्टेशन तक पहुँचाने के लिए (ताकि दूसरे रेलवे द्वारा अधिक दूर की यात्रा की जा सके) थोड़ी दूर के परिवहन पर अधिक भाड़ा देना पड़ता था। इसका उद्देश्य, जिस लाइन पर यातायात प्रारम्भ हुआ, उसी पर उसे रोकने का था ताकि वह दूसरी प्रतिद्वन्द्वी लाइन पर न चला जाय। 'ब्लाक रेट' का अर्थ था अन्य लाइनों पर जाने से रोकने के लिए अधिक किराया लेना।

पुनर्विचार किया जाय। तथा ३—किसी भी वर्ष विशेष मे न खर्च की हुई धनराशि को रेलवे के नाम अगले वर्ष के लिए कर दिया जाय। समिति के मत में पाँच वर्ष पुरानी लाइनों के पुनर्स्थापन एवं प्रारम्भ की गई लाइनो की पूर्ति में १५० करोड रुपए लगेंगे। इन्चॅप समिति (इन्चॅप कमेटी) ने इस व्यय का विरोध किया। इसका आधार वित्तीय कठिनाइयाँ थी। यह निर्धारित किया गया कि रेलवे पर अधिक आर्थिक व्यय उसी हालत मे किया जाय जब इस बात के पुष्ट प्रमाण हो कि रेलवे की आय इतनी बढ जायगी कि अतिरिक्त ब्याज अदा किया जा सके। इसके मत म सरकार द्वारा दी गई पूँजी पर रेलवे ५½ प्रतिशत ब्याज दे। अन्य सिफारिशें घिसाव कोष (डेप्रिसिएशन फण्ड) के निर्माण, नियन्त्रण और अधिक विकेन्द्रण, और रेलवे के लेख की पूर्ण छानबीन के सम्बन्ध मे थी। तीनो समितियो की मुख्य सिफारिशो को सरकार ने अनुगामी वर्षों में स्वीकार कर लिया।

§१० रेलवे बोर्ड का पुनर्निर्माण—१६२२ मे रलवे बोर्ड का पुनर्निर्माण किया गया और सर क्लीमेंट हिण्डले को प्रमुखायुक्त नियुक्त किया गया। वित्तीय आयोग और दो कार्य-सदस्यो (फन्क्शनल मम्बर) की भी नियुक्ति हुई। प्रादेशिक विभाग करके प्रत्येक के लिए एक आयुक्त नियुक्त करने की अॅकवर्थ समिति की सिफारिश के स्थान पर विषय के आधार पर कार्य विभाजन की योजना को स्वीकार किया गया। एक सदस्य प्राविधिक विषयो के लिए तथा दूसरा सामान्य प्रशासन, सेवि वर्ग एवं यातायात के लिए था और वित्त विभाग का प्रतिनिधि—वित्तीय आयुक्त—सब वित्त सम्बन्धी प्रश्नो की देख रेख के लिए रहा। बोर्ड के सहायतार्थ पाँच सचालक थे। १—जनपद अभियान्त्रिकी (सिविल इजीनियर) २—यान्त्रिक अभियान्त्रिकी (मेकेनिकल इजीनियर) ३—यातायात ४—वित्त और ५—सस्थान।

§११ वित्त का पृथक्करण—रेलवे के वित्त को सामान्य वित्त से अलग करने का कार्य १६२४ मे सम्पन्न हुआ। पृथक्करण के पश्चात् सामान्य आगम या राजस्व (रेविन्यू) को रेलवे से वार्षिक अंशदान मिलेगा जो कि रेलवे की वास्तविक आय पर पहला भार होगा। इस देन के बाद जो कुछ बचेगा उस रेलवे रक्षित कोष में हस्तातरित कर दिया जायगा जिसकी अधिकतम वार्षिक धन राशि ३ करोड रुपए है। यदि तीन करोड रुपए से अधिक बचत होगी तो इस बचत का एक तिहाई राजस्व में सम्मिलित कर लिया जायगा। यह रेलवे रक्षित कोष, सामान्य राजस्व या पुराना बकाया चुकाने मे व्यय किया जायगा या घिसाव कोष (डेप्रिसिएशन फण्ड) या उसके बकाया में व्यय किया जायगा। इसका उद्देश्य रलवे की वित्तीय स्थिति को दृढ करना भी है ताकि जनता की सेवा मे सुधार और किराये में भी कमी हो सके।

§१२ वेजवुड समिति—१६२२ के बाद रेलवे ने विकास का नया पहलू देखा। जब सरकार ने कम्पनियों के ठेके समाप्त होने पर रेलवे का नियन्त्रण और प्रबन्ध अपने हाथो में ले लिया, कम्पनियों ने सहायता या हस्तक्षेप के लिए भारत मन्त्री की ओर देखना बन्द कर दिया और भारतीय विधान सभा तथा जनमत के अनुकूल बनने लगीं।

१६२५ से रेलवे की अभूतपूर्व समृद्धि का काल प्रारम्भ हुआ जो १६३० तक रहा। ५००० मील रेलों की पटरियाँ बिछाई गइ, परन्तु यह मके समिति द्वारा निर्धारित लक्ष्य बिन्दु १,००,००० मील से काफी कम थी। इस समृद्धि-काल में काफी अपव्यय भी हुआ। फिर भी वास्तविक आय से व्याज तथा अन्य अप्रत्यक्ष प्रभार देकर राज्य को काफी बचत हुई। १६३० के बाद का काल मन्दी का था और १६३० से १६३७ के बीच रेलवे ने सामान्य राजस्व के लिए सिफ एक बार ५·७४ करोड रुपये का अंशदान किया (१६३०-३१)[1]। अत सरकार ने उन सैकडों छिद्रो को बन्द करने का प्रयास किया जिनमे से होकर समृद्धि-काल म अथ प्रवाह बाहर की ओर होता था। १६३६ में भारतीय रेलवे जाँच-समिति सर राल्फ वेजउड के सभापतित्व मे नियुक्त की गई जिसका उद्देश्य भारत सरकार के स्वामित्व की रेलो की जाँच करके सुधार के लिए सुझाव रखना और यथा-सम्भव अपव्ययों को दूर करते हुए रेलवे के अथ को एक ठोस आधार पर लाना था। इस समिति न १६३२ की पोप समिति की बहुत सी सिफारिशो को स्वीकार कर लिया जिसमें (पोप समिति) रेलवे के विभिन्न पहलुओं की विशद व्याख्या थी ताकि रेलवे की मितव्ययता और कुशलता में वृद्धि हो। समिति ने एक अच्छे घिसाव कोष (डेप्रिसिएशन फण्ड) की स्थापना का सुझाव दिया और सामान्यत ३० करोड रुपये के शेष निक्षेप (बलैन्स) का लक्ष्य स्थापित किये जाने की ओर सकेत किया। इसमे एक सामान्य रक्षित कोष की स्थापना का भी सुझाव था जो समकारी निधि (इक्वालिजेशन फण्ड) का काम देगा और व्याज तथा पूँजी के प्रत्युत्सजन को चुकता करेगा। इसमें रेलवे परिवहन को लोकप्रिय बनाने की भी सिफारिश की गई थी और एक प्रेस-सम्पर्काधिकारी तथा रेलवे सूचना कार्यालय द्वारा प्रेस से घनिष्ठतर सम्बन्ध स्थापित करने की सिफारिश की गई थी।

११ द्वितीय विश्वयुद्ध में रेलवे—मन्दी के काल में जसा कि हम देख चुके हैं, रेलवे की आय विनियोजित पूँजी पर सामान्य राजस्व को व्याज देने के लिए भी कम थी। अधिक धन निकाल लेने से रक्षित कोष भी समाप्तप्राय सा हो गया। और घिसाव कोष (डेप्रिसिएशन फण्ड) पर भी अतिक्रमण हुआ। १६३५-३६ में एक विलम्ब काल की घोषणा करनी पडी और सामान्य राजस्व के लिए दिये जाने वाले धन को स्थगित करना पडा। सुधारण को धीमा करना पडा, या प्रतियथ उसे स्थगित करते रहना पडा तथा नवकरण और प्रतिस्थापन व्यय न्यूनतम करने पडे। १६३७ से स्थिति में सुधार होने लगा और सुधारण तथा प्रतिस्थापन के पिछडे हुए कार्यों को पूरा करने के प्रयत्न प्रारम्भ किए गए।

इसी बीच द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ। आर्थिक दृष्टिकोण से युद्धकाल समृद्धि का था, क्योंकि रेलवे के परिवहन की माँग असाधारण रूप से बढ गई। रेलवे अपने रक्षित कोष को पूरा कर सकी और सामान्य राजस्व के प्रति शेष अंशदानों का भी चुकता कर सकी। साथ ही रेलवे-समार के ह्रास को रोका न जा सका। युद्धकाल मे भारतीय रेलवे को इंजनों डिब्बा, पटरियों की सामग्रियों को मध्य-पूर्व म

१ इंडियन रेलवेज का इकोनॉमिक्स (१८५३—१९५३) पृष्ठ ३८।

लिए देना पडा, और २६ शाखा लाइनों को उखाड दिया गया। पहले युद्ध की भाँति, रेलवे के कारखानो में युद्ध-सामग्री तयार की जाने लगी। परिणामत युद्ध की समाप्ति पर रेलवे की हालत बडी असतोषजनक थी, मरम्मत नही हो सकी थी और नवकरण तथा प्रतिस्थापन का काम बहुत पिछडा हुआ था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति और देश के विभाजन के पश्चात् अनेक कठिनाइयाँ हुइ। शरणार्थियो की अभूतपूव समस्या, देश की अशान्त स्थिति, अन्न-वस्त्र वितरण के समस्याजन्य भार के कारण रेलवे को बडी ही कठिनाई का सामना करना पडा।

§१४ रेलवे दर नीति—जब तक रेलवे कम्पनी के प्रबन्ध में थी रेलवे की दर लाभ की इच्छा से अनुशासित होती रही। यह समझ म आने वाली बात थी। लेकिन इससे भी बडी शिकायत यह थी कि भारतीय हितों की अपेक्षा वे ब्रिटिश हितो का अधिक ध्यान रखती थी। ब्लाक रट[1] पद्धति के कारण भी काफी असन्तोष था। रेलवे दर की नीति में कच्चे माल के निर्यात और ब्रिटेन म निर्मित वस्तुओं के आयात को अधिक प्रोत्साहन दिया जाता था। परिणाम यह होता था कि बन्दरगाह के पास के शहरो मे उद्योग केन्द्रित होने लगे और कलकत्ता, बम्बई, मद्रास के बन्दरगाहों से दूरस्थ क्षेत्रों के औद्योगिक विकास मे बाधा पहुँचने लगी। ऑक्वथ समिति ने एक दर न्यायालय की स्थापना की सिफारिश की थी, किन्तु उसके स्थान पर एक दर-परामर्श समिति की स्थापना हुई (१६२६)। इसमे एक सभापति, एक वाणिज्यिक हितो का प्रतिनिधि तथा एक रेलवे का प्रतिनिधि—ये तीन सदस्य होते थे। इसका काय अनुचित अधिमान तथा देश की अनौचित्य सम्बन्धी शिकायतो तथा अन्य तकलीफों की जाँच करना था। यद्यपि समिति ने काफी लाभपूर्ण काय किया था और इसके सुझाव स्वीकृत भी होते थे, फिर भी वाणिज्यिक हित स्वतन्त्र न्यायालय की माँग करते रहे। १६४६ मे परिनियत रेलवे दर न्यायालय की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य दर के सम्बन्ध म उत्पन्न होने वाले झगडों को तय करना था।

आकवथ समिति के सुझाव के अनुसार केन्द्रीय विधान मण्डल की समिति के अतिरिक्त रेलवे के लिए परामश समितियो की स्थापना हुई। बाद में रेलवे उपभोक्ता परामश समितियाँ प्रादेशिक (रीजनल) कटिबन्धीय (ज़ोनल) और राष्ट्रीय स्तर पर नियुक्त की गइ, ताकि उपभोक्ताओं को रेलवे प्रशासन के निकट लाया जा सके।

ऑक्वथ समिति ने प्रशिक्षण के सम्बन्ध में कुछ सिफारशें की थीं, तदनुसार उच्च सेवाओ के लिए भारतीयों के प्रशिक्षण की सुविधाओ के प्रसार की व्यवस्था सरकार ने की ताकि ७५ प्रतिशत स्थानो पर भारतीयो को नौकरियाँ प्राप्त हो सकें। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीयकरण की समस्या ही हल हो गई।

ऑकवथ समिति के सुझावों की पूर्ति के लिए सरकार ने कुछ कदम उठाए जस चक्र स्कन्ध (रोलिंग स्टाक) की वृद्धि, और यात्रियों की सुविधाओ में वृद्धि—विशेषकर तृतीय श्रेणी के यात्रियो की—आदि पर ध्यान दिया गया। सरसरी तौर पर हम यहाँ यह कहेंगे कि यह सच कि रलवे की आमदनी का अधिकाश तृतीय श्रेणी

१ देखिए पाद टिप्पणी २, पृष्ठ २५७।

के यात्रियो द्वारा प्राप्त होता है अतएव उनकी सुविधाओ को सर्वोत्तम प्राथमिकता मिलनी चाहिए सिद्धान्तत तर्कसगत नही है। तृतीय श्रेणी के यात्रियों को उचित सुविधाएँ देन का तर्कसम्मत मत यह है कि चूँकि रेलवे सार्वजनिक उपयोगिता की सेवा है अत उन्हें केवल वाणिज्यिक उद्देश्यो से परिचालित न होकर जन-कल्याण के सिद्धान्तो पर चलकर यह देखना चाहिए कि तृतीय श्रेणी के ही व्यक्ति रेलवे का अधिक उपयोग करते हैं, अतएव इनकी यात्रा की दशाएँ सहनीय तो है ?

§१५ रेलवे अभिसमय (कन्वेंशन) के सशोधन—१९२४ के रेलवे अभिसमय (कन्वेंशन) का १९४३ और १९४९ में सशोधन हुआ। २ मार्च १९४३ में धारा सभा ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह कहा गया कि रेलवे अभिसमय (कन्वेंशन) अपने उद्देश्यो की पूर्ति में असफल रहा है अतएव यह सिफारिश की गई कि—

(१) १९२४ के अभिसमय (कन्वेंशन) के अन्तरिम प्रचलित और बकाया के अतिरिक्त सामान्य राजस्व को १९४२ ४३ के लिए रेलवे २३,५३२,००० रुपया दे।

(२) १ अप्रल १९४३ से वह धारा समाप्त हो जायगी जिसमे रेलवे की बचत (अतिरिक्त) का कुछ अश सामान्य राजस्व को दिया जाता था।

(३) १९४३ ४४ के वाणिज्यिक लाइनो से होने वाले लाभ को घिसाव कोप (डेप्रिसिएशन फण्ड) से लिये गए ऋण को चुकाने में व्यय किया जायगा। इसके पश्चात् २५ प्रतिशत रेलवे रक्षित कोष को मिलेगा और ७५ प्रतिशत सामान्य राजस्व को। यौद्धिक लाइनो पर यदि कोई घाटा होगा तो उसे सामान्य राजस्व से पूरा किया जायगा, और,

(४) आने वाले वर्षों म जब तक कि कोई नया प्रस्ताव स्वीकृत नही होता तब तक वाणिज्यिक लाइनो स होने वाली बचत के रेलवे रक्षित कोष और सामान्य राजस्व के बीच के बँटवारे को दोनो की आवश्यकताओ को ध्यान में रखकर किया जायगा।

§१६ १९४९ के प्रस्ताव—२१ दिसम्बर १९४९ को भारतीय सविधान सभा ने निम्न प्रस्ताव पास किये कि—

१—रेलवे वित्त सामान्य वित्त से अलग रहना चाहिए।

२—सामान्य कर-दाता की स्थिति रेलवे के सम्बन्ध में भागीदार (शेयर होल्डर) की होगी।

३—सामान्य राजस्व से वार्षिक गणना के अनुसार रेलवे में विनियोजित पूँजी पर सामान्य राजस्व को निश्चित लाभांश प्राप्त होना चाहिए।

४—१९५०-५१ स ५ वर्ष तक ४ प्रतिशत की दर से वार्षिक लाभांश मिलेगा। सामान्य राजस्व से अलाभकारी यौद्धिक लाइनो पर लगाई पूँजी पर कोई लाभांश नही मिलेगा।

५—धारा सभाओ की एक समिति ५ वर्ष बाद लाभांश दर का पुनर्विलोकन करेगी और आगामी वर्षों के लिए आवश्यक समायोजन की आवश्यकताओं को सामने रखेगी। ऐसा करने में रेलवे के राजस्व तथा सरकारी ऋण सब की दर एव अन्य

कारणो को भी ध्यान मे रखा जायगा।

६—वर्तमान रेलवे रक्षित कोष (रलवे रिजव) का नाम राजस्व रक्षित कोष (रेवेन्यू रिजव फण्ड) रखा जायगा, जिसे सामान्य राजस्व के प्रति निश्चित अशदान देने तथा रेलवे के किसी घाटे को पूरा करने मे व्यय किया जायगा।

७—निम्न कार्यों के अर्थ प्रबन्धन के लिए एक विकास निधि की स्थापना की जाय। (क) यात्रियो की सुविधाएँ, (ख) श्रम कल्याण और (ग) रेलवे योजनाए जो अलाभकारी होते हुए भी आवश्यक हैं।

८—सम्पत्ति और सम्भार के नवकरण और प्रतिस्थापन की लागत के लिए घिसाव कोष (डेप्रिसिएशन फण्ड) को आगामी पाँच वर्षों के लिए प्रतिवर्ष १५ करोड रुपया मिलना चाहिए।

९—रेलवे बचत को राजस्व रक्षित कोष, विकास कोष, एव घिसाव रक्षित कोष मे इस प्रकार वितरित किया जाना चाहिए कि अन्तिम को घिसाव रक्षित कोष के वार्षिक अनुदान के अतिरिक्त भी पुष्ट करने की आवश्यकता रहे।

१९५३ में नियुक्त रेलवे समिति (रेलवे कन्वेंशन कमेटी) ने इस अभिसमय (कन्वेंशन) के निर्णयों को चालू रखने के पक्ष में मत दिया परन्तु मरम्मत आदि के सम्बन्ध में रेलवे की वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए कुछ परिवर्तन भी सामने रखे। समिति ने यह सिफारिश की कि रेलवे द्वारा अधिपूँजीकरण प्रदर्शित करने वाली राशि जो लगभग १०० करोड रुपये है पर सामान्य राजस्व को दिये जाने वाले धन की दर घटा देनी चाहिए।[1] दूसरा सुझाव यह है कि सामान्य राजस्व का बकाया उस शर्त पर चुकाया जाय, जब कि हर रेलवे लाइन की आय इसके लिए पर्याप्त हो। घिसाव कोष ३० करोड रुपये के स्थान पर ३५ करोड रुपये कर दिया जाय।

१९५५ के बाद लागू होने वाले सशोधित वित्तीय अभिसमय (कन्वेंशन) में १९४९ के अभिसमय (कन्वेंशन) की ही दर निर्धारित की गई है। अपवाद केवल इतना है कि नई लाइनो के निर्माण काल और अनुगामी पाँच वर्ष तक एक विलम्बकाल दिया जायगा।[2]

§१७ पुनप्रतिष्ठापन पुनर्स्थापन तथा प्रसार—१९३०-४० की आर्थिक मन्दी के कारण उत्पन्न हुई पुनप्रतिष्ठापन और पुनर्स्थापन की समस्या युद्ध-काल में सुलझाई न जा सकी। स्वतन्त्रता के उपरान्त विभाजन के फलस्वरूप यह और भी जटिल हो गई। साथ ही वस्तुओं और यात्रियों के यातायात में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, जो औद्योगीकरण और विकास योजनाओ का परिणाम थी। अत पुनर्स्थापन के कार्यक्रम में दो अलग अलग समस्याओ का विचार करना पडा १—खराब हुई सम्पत्ति और सामग्री तथा २—बढे हुए यातायात की आवश्यकताए। बाह्य साधनो की निर्भरता को दूर करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने अनुमानत १५ करोड रुपये की लागत से चितरजन में इजन

१ अर्थात् केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यावसायिक विभागों से ली जाने वाली दर।

२ इण्डिया १९५६ पृष्ठ २४३।

बनाने का कारखाना खोला। इसमें प्रतिवर्ष १२० इंजन[1] और ५० अतिरिक्त वाष्पित्र (वायलर) बनाने का लक्ष्य रखा गया। सरकार ने टाटा लोकोमोटिव इंजीनियरिंग कम्पनी को भी आर्थिक सहायता दी है और उसकी पूँजी सरचना में दो करोड़ रुपय का भाग लिया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में इस कारखाने द्वारा १७० इंजनो की पूर्ति करने की व्यवस्था थी।

अत्यधिक भीड़ की समस्या को हल करने के लिए यह आवश्यक है कि गाडी के और डिब्बे प्राप्त किये जायें। प्रथम पंचवर्षीय योजना मे देश के अन्दर ४,३८० डिब्बे के उत्पादन का लक्ष्य था। इसकी पूर्ति करने के लिए सरकार ने ४ करोड रुपये की अनुमानित लागत से पराम्बुर मे, 'इण्टेग्रल कोच फैक्ट्री' डिब्बे बनाने का कारखाना, स्थापित किया, जिसकी वार्षिक उत्पादन-सामर्थ्य ३००-३५० डिब्बे है और जो १९५९ ६० मे पूरी होगी। डिब्बो का उत्पादन प्रथम पंच-वर्षीय योजना में ३०,००० होगा। योजना-काल में यह प्रस्ताव रखा गया कि ६०० इंजन १,२९४ डिब्बे (कोचेज) और १९,१४३ मालगाडी के डिब्बे बाहर से मँगाये जायेंगे।[2] द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यात्रियो के लिए १३,००० डिब्बो की आवश्यकता होगी। अब आन्तरिक उत्पादन से देश के डिब्बा, रेल की पटरियां और डिब्बों की सामान्य आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। अत अब आर्डर दिये गए डिब्बो इत्यादि को छोड़कर और आयात करने का इरादा नही है। बंगलोर स्थित भारत सरकार की 'हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट फैक्ट्री' द्वारा १९५० ५१ मे तृतीय श्रेणी के १०० पूरे डिब्बे इस्पात के बनाए गए, अगले वर्ष १५० और इस प्रकार ९ अप्रैल १९५४ तक ५०० डिब्बे बन चुके थे।[3]

रेलपथ की अवह्रासित दशा एक और गम्भीर समस्या है। ऐसी आशा की जाती है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में प्रतिवर्ष ४००—५०० मील रेलपथ ठीक किया जा सकेगा। जहाँ तक रेलपथ के नवकरण का प्रश्न है इस सम्बन्ध मे देश की अधिकतम सामर्थ्य का उपयोग किया जा रहा है और विदेश मे पटरियों और स्लीपरो के आयात का बिलकुल विचार नही है। रेलवे योजना में कलटरबकगंज और कोयम्बटूर के पास दो डिपो लकड़ी से लोबान निकालने के लिए स्थापित किये गए हैं। इनके अलावा ढिलवान (पंजाब) नरकटिया (आसाम) में इस प्रकार के डिपो पहले से ही हैं।

१९५३ ५४ में रेलवे की पूँजी (कैपीटल एट चार्ज) ८७८ ४५ करोड रुपय थी

---

[1] एक नये अनुमान के अनुसार जब १९५८ में कारखाना पूरा हो जायगा वार्षिक उत्पादन २०० इंजन होगा। जनवरी १९५६ तक कारखाने में १२० इंजन बनाए गए हैं। १९५५-५६ के लिए उत्पादन का लक्ष्य ९८ इंजन है। प्रथम पंचवर्षीय योजना का मूलोद्देश्य योजना-काल में २६० इंजन उत्पन्न करने का था। टाटा के अन्य 'टेलको लोकोमोटिव कारखान' को रेलवे मन्त्रालय ने उसके वार्षिक उत्पादन ५० इंजिन से बढ़ाकर ७४ इंजन करने का आदेश दिया है। इस प्रकार भारत की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति होने की आशा है।

[2] प्रथम पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ४६४।

[3] भारत १९५८ पृष्ठ ३०७ और १९५६ पृष्ठ २४६।

और कुल रेलपथ ३४,४०६ मील था।[1] १९५६ में समाप्त होने वाले पचवर्षीय काल में विचारित वार्षिक व्यय ८० करोड प्रतिवर्ष अर्थात् कुल ४०० करोड रुपये था। नई लाइनों के लिए पचवर्षीय योजना में २० करोड रुपये की व्यवस्था थी। रेलवे योजना के कुल ४०० करोड रुपये[2] के व्यय में से केन्द्रीय राजस्व से ८० करोड रुपये मिलेंगे तथा ३२० करोड रुपये रेलवे को स्वयं उपार्जित करने होंगे।

§१८ रेलवे का पुनरसमूहीकरण—पहले तो अलग अलग रेलवे प्रशासन थे, जिनके काय में समुचित समन्वय का अभाव था। १९५० में जब रेलवे राज्य की सम्पत्ति हो गई प्रशासकीय दृष्टि से कुछ परिवर्तन किये गए। नौ प्रशासनीय इकाइयों को घटाकर भौगोलिक एवं व्यापारिक दृष्टि से ६ कटिबन्धीय प्रशासकीय इकाइयों में बाँट दिया गया। प्रशासकीय समन्वय के अतिरिक्त परिवर्तन से कुछ मितव्ययता की भी आशा है। अद्यतन कटिबन्धीय विभाजन का पता निम्न तालिका से लग जायगा,[3]

भू-खण्ड	मार्ग मीलों में	प्रमुख कार्यालय
उत्तरी	६ ०५१	दिल्ली
उत्तर-पूर्वी	४,७९९	गोरखपुर
पूर्वी	२ ३२१	कलकत्ता
दक्षिण पूर्वी	३,३९९	कलकत्ता
दक्षिणी	६,०५८	मद्रास
पश्चिमी	५,६२१	बम्बई
केन्द्रीय	५ ६३?	बम्बई

उत्तरी रेलवे में पूर्वी पंजाब, जोधपुर बीकानेर और ईस्ट इण्डियन रेलवे के तीन ऊपरी भाग शामिल हैं। उत्तर-पूर्वी रेलवे मे अवध तिरहुत और आसाम की रेलवे आती हैं। दक्षिण-पूर्वी रेलवे और पूर्वी रेलवे में ईस्ट इण्डियन रेलवे के (तीन ऊपरी भागों को छोड़कर) और बंगाल नागपुर रेलवे शामिल हैं।[4] दक्षिणी रेलवे में मद्रास, दक्षिणी मराठा, दक्षिण भारतीय और मसूर रेलवे आती हैं। पश्चिमी रेलवे में बम्बई बडौदा एण्ड सेन्ट्रल इण्डिया रेलवे, मध्यभारत, सौराष्ट्र, कच्छ राजस्थान और जयपुर रेलवे आती हैं। मध्य रेलवे (सण्ट्रल रेलवे) में ग्रेट इण्डियन पेनिनसुला, निजाम राज्य और सिंधिया तथा धौलपुर रेलवे शामिल हैं। इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य न्यूनतम विघटन है। प्रमुख कार्यालयों (हैडक्वाटर्स) की व्यवस्था इस प्रकार है कि उनमें कारखानों की सुविधा प्राप्त हो सके, तथा अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण का लाभ प्रत्येक कटिबन्ध

१ इण्डिया १९५६ पृष्ठ ?४०, मार्ग व मीलों में साइडिंग भी शामिल है।

२ १९५६ में समाप्त होने वाले कालखण्ड में अनुमानतः ४१८ करोड रुपया व्यय हुआ।

३ इण्डिया १९५६, पृष्ठ २४२ भी देखिए। आँकड़े १ अगस्त १९५५ के हैं।

४ एक अगस्त १९५५ में रेलवे कटिबन्धों की संख्या ६ से बढ़ाकर ७ कर दी गई। पूर्वी रेलवे को दो भागों में बाँट दिया गया। (१) पुरानी ईस्ट इण्डिया रेलवे विभाग, (मुगलसराय से लेकर सियाल्दह तक) (२) दक्षिण-पूर्वी रेलवे जिसमें पुराना बी० एन० रेलवे का भाग था।

तक यथाशीघ्र पहुँचाया जा सके।

§१९ सडक परिवहन—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रेलवे के अतिरिक्त परिवहन पर बहुत ही कम ध्यान दिया। सडकें बनाने का काम प्राय नही के बराबर हुआ। कभी कभी कुछ प्रशासकों—जसे लार्ड विलियम वैंटिंक ने—इस दिशा मे अपने आप काय प्रारम्भ किया। किन्तु यह सुविचारित राज्य की नीति का एक अग न थी। बंटिंक ने उत्तरी भारत को सडक द्वारा बगाल से सम्बधित करने के विचार को पुनर्जीवित किया। इसके फलस्वरूप ग्रड ट्रक रोड का निर्माण हुआ, जिससे पेशावर दिल्ली और कलकत्ता से सम्बन्धित हो गया। लार्ड डलहौजी न एक बडी ही व्यापक और क्रियाशील सडक नीति का निर्माण किया। इसके शासन काल म केन्द्रीय एव प्रान्तीय सावजनिक काय विभाग-(पी० डब्लू० डी०) की स्थापना १८५५ मे हुई। एक ओर रलवे के विकास के साथ सहायक रूप में सडकों के निर्माण की आवश्यकता का अनुभव भी हो रहा था। दूसरी ओर सडकें रेलवे की प्रतिस्पर्धा होने के कारण, सरकार रलव के हितो की रक्षा के लिए सडको की उपेक्षा कर रही थी। लार्ड मेयो और लार्ड रिपन के काल में स्वायत्त शासन के विकास से सडक निर्माण को प्रेरणा मिली। लेकिन समय के साथ यह स्पष्ट हो गया कि आर्थिक कठिनाइयो के कारण स्थानीय सस्थाएँ सडक निर्माण के काय में असफल रही हैं।

इस समय चार प्रमुख सडकें हैं जिनसे दश की छोटी-छोटी सडकें जुडी हुई हैं। इनमें से ग्रड ट्रक रोड की चर्चा ऊपर हो चुकी है। अन्य तीन कलकत्ता को मद्रास से, मद्रास को बम्बई से, और बम्बई को दिल्ली से मिलाती हैं। इन चारो को मिलाकर ५ ००० मील लम्बी पक्की सडक हो जाती है। सडकों की सख्या और प्रकार की दृष्टि से दक्षिण भारत का स्थान प्रथम है। राजस्थान पूर्वी पजाब क भाग, उडीसा और बगाल की स्थिति इस दृष्टि से अच्छी नहीं है। भूतपूव सडक परिवहन नियन्त्रक श्री केनेथ मिचेल के आदश से भारत सडक परिवहन के मामले में काफी पिछडा हुआ है। उनका कहना था कि कोई भी १,००० या अधिक की जनसख्या वाला गाँव सावजनिक सडक स आधा मील दूर न हो। अविभाजित भारत मे सात लाख गाँव थे। यदि हम पास के बाजार या स्टेशन से जोडने के लिए प्रति गाँव एक मील सडक का औसत भी रखें तो ७००,००० मील सडक बनानी होगी जबकि वतमान सडकें ३०० ००० मील हैं। नगरपालिकाओ के अतिरिक्त भारत सघ म ३१ माच १९४८ को सडको की लम्बाई २४८ ९१४ मील थी। इसम से पक्की सडक ९०,१०८ मील थी और शेष १५८ ८०६ मील कच्चा थी। पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में भारत म ९७ ००० मील पक्की सडक थी, १४७,००० मील कच्ची सडक थी जिसमें कुछ मोटर चलाने योग्य थी। विभिन्न देशा की तुलनात्मक सख्याओं म यह स्पष्ट हो जायगा कि सडकों के विषय में भारत की स्थिति कितनी असन्तोषजनक है। कुछ चुने हुए देशा म सडको की प्रति १०० वगमील लम्बाई इस प्रकार है ब्रिटेन २०२, फ्रास १८८, अमरीका १०३ जमनी, ९५ इटली ८६, सीलोन ७०, भारत ००।[1]

१ टाइमस् ऑफ इण्डिया डायरेक्टरी एण्ड इयर बुक, १९५५ ", पृ० २३४।

§२० सडक योजनाएँ—१९४३ की नागपुर रिपोर्ट (नागपुर योजना) में युद्धोत्तर विकास योजना में १० वर्षों में (१) ६६,४०० मील की कठिन सेवा योग्य सडकें बढ़ाकर १२२,००० मील, (२) घटिया प्रकार की सडकें ११२,००० मील से बढाकर २०७ ५०० मील करने की व्यवस्था थी, और (३) पुरानी सडको की मरम्मत पर भी जोर दिया गया था। इस प्रकार से सडकें आगामी २० वर्षों तक अनुमानित यातायात की पूर्ति कर सकेंगी। इसका मूलोद्देश्य यह था कि कोई भी गाँव मुख्य सडक स ५ मील से अधिक दूर न रहे। प्रत्येक सडक अकेली न देखी जाकर व्यापक शृंखला की एक कडी के रूप में देखी जायगी। कोई भी सडक वतमान या निकट भविष्य में सम्भावित यातायात के लिए अपेक्षित मानदण्ड से अधिक की न होनी चाहिए। वतमान मूल्य स्तर पर इस योजना में होने वाला व्यय ७४४ करोड रुपये होगा, जिसमे १३३ करोड रुपये राष्ट्रीय मार्गों तथा ६११ करोड रुपये अन्य सडकों के लिए होगा। किन्तु सामग्री, प्रशिक्षित कमचारियों तथा अर्थाभाव के कारण नागपुर योजना की अवधि बढ़ानी होगी। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो द्वारा आज तक किया गया व्यय नागपुर योजना मे निश्चित की गई धनराशि से कही कम है। अन्य क्षेत्रों के विकास के सदर्भ में ही सडकों की प्राथमिकता निश्चित करनी होगी। जो सडकें उत्पादन—विशेषकर कृषि उत्पादन को सहायता पहुँचाएँगी, उन्हें वतमान दशा में सर्वोच्च प्राथमिकता दी जायगी। इसी प्रकार जो सडकें रेलवे की सहायक हैं या जो रेलवे जक्शनो के भार को कम करती हैं या देश को खोलती हैं उन्ह कुछ अधिमान अवश्य मिलना चाहिए।

§२१ राष्ट्रीय माग—नागपुर योजना मे सडको का विभाजन उनके काम के अनुसार करने की सिफारिश की थी। इस प्रकार सडकें राष्ट्रीय माग, राज्य मार्ग, जिले की छोटी बडी सडका एव ग्रामीण सडको मे विभाजित की गई हैं। राष्ट्रीय मार्ग की परिभाषा में वे सडकें आएँगी जो मुख्यत राज्य हिता से भिन्न राष्ट्रीय हितो के काम आती हैं—जैसे देश के एक कोने से दूसरे कोने तक उसके प्रमुख बन्दरगाहों विदेशी राजमार्गों राज्य की राजधानियो या भारत की सैनिक प्रतिरक्षा की सडकों को मिलाने वाली सडकें इस प्रकार की हैं। राष्ट्रीय माग लगभग १३,८०० मील हैं।[१] प्रथम पचवर्षीय योजना म सडक विकास के लिए २७ करोड रुपये की व्यवस्था की गई थी। मध्य प्रदेश में भी ४२४ करोड रुपये की व्यवस्था थी। यह कुछ निश्चित सडका—राष्ट्रीय मार्गों के अतिरिक्त—का विकास करने के लिए थीं, जिसकी आर्थिक जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार ने स्वीकार कर ली थी। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सडक अनुसन्धान सस्था को देश के विभिन्न भागों में सडक निर्माण-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए २१ १५ लाख रुपये दिये गए।

§२२ राज्य सडक और ग्राम सड़क—प्रथम पचवर्षीय योजना म सडक विकास के लिए प्रस्तावित कुल व्यय ११८ ८८ करोड रुपये था, जिसका विभाजन निम्न प्रकार स किया गया था केन्द्रीय सरकार ३१ ५४ करोड रुपये पाट 'ए' के राज्य ५० ५६ करोड रुपये, पाट 'बी' के राज्य १५ ८३ करोड रुपये पाट 'सी' के राज्य ६ २७ करोड रुपये जम्मू और काश्मीर ४ ६५ करोड रुपये। जहाँ तक ग्रामीण सडकों का

१ इण्डिया १९५६, पृ० २४६।

सम्बन्ध है, उनका मुख्य उद्देश्य गाँवो को विक्रय-केन्द्रो एव जिले के मुख्य स्थानो (सदर मुकामो) से सम्बद्ध करने का है। सहकारी आधार पर इनके विकास के लिए पर्याप्त स्थान है। इसमें स्थानीय जनता को स्थानीय योजनाओ की पूर्ति के लिए गतिशील करना चाहिए। सामुदायिक विकास योजना के अन्तगत भी अनुमानत १६ १७ हजार मील कच्ची सडको के विकास की व्यवस्था है।

§२३ मोटर परिवहन—भारत में वाणिज्यिक मोटर परिवहन १६२० से प्रारम्भ होता है जब कि प्रथम युद्ध के पश्चात् अतिरिक्त सनिक मोटरो ने उसके विकास का अवसर प्रदान किया। व्यक्तिगत मोटर बसें चलाने वालो मे किराए की दर घटाने की प्रतिद्वन्द्विता चली। दूसरी ओर सडक और रेलवे परिवहन की प्रतिस्पर्धा शुरू हुई। सन् १६३० के आते आते रेलवे मे सडक-परिवहन की ओर यात्रियों के ध्यान के कारण रेलवे राजस्व को काफी घाटा हुआ। बाद मे रेल-सडक प्रतिद्वन्द्विता की जाँच की गई। १६३६ में 'मोटर विहिकल एक्ट के लागू होने से प्रतिद्वन्दिता की न्यायोचित दशाएँ उत्पन्न करने और सडक-परिवहन को उचित माग पर विकसित करने का काम हाथ में लिया गया।

१६३६ के मोटर विहिकल एक्ट' के दो पहलू थे १—नियमन तथा २—समन्वय। इसकी सामान्य योजना यह थी कि परिवहन साधनो का नियन्त्रण प्रादेशिक परिवहन अधिकारियो के हाथ में होना चाहिए जो प्रान्त के निश्चित भू भाग के लिए बनाई जायँ तथा समन्वय, अपील आदि सुनने के लिए सम्पूर्ण प्रान्त के हेतु एक प्रान्तीय परिवहन अधिकारी होना चाहिए।

प्रत्येक मोटर गाडी को प्रादेशिक परिवहन अधिकारी से अनुज्ञा लेनी पडती थी। अनुज्ञा प्राप्त प्रत्येक व्यक्ति को मोटरों को अच्छी स्थिति मे रखन तथा एक निश्चित गति सीमा को स्वीकार करने, निश्चित सख्या से अधिक सवारी न बैठाने और ड्राइवरा से निश्चित घण्टो से अधिक काम न लेने के नियम मानने पडते थे। (ड्राइवरो के काम के घण्टों की सीमा ६ घण्टे प्रतिदिन और ५४ घण्टे प्रति सप्ताह थी। प्रति ५ घण्टे लगातार श्रम के बाद कम-से कम आध घण्टे का विश्राम मिलना आवश्यक था।) मोटर बस तथा टैक्सी वालो के अनुज्ञा (परमिट) जनता की आवश्यकता तथा सड़कों की प्राप्यता तथा उचित दशा के अनुसार दिये जाते थे। अनार्थिक प्रतिद्वन्द्विता से बचने का उपाय किया जाता था। दूरस्थ यातायात, विशेषकर रेलवे के लिए छोड देने की व्यवस्था थी। माग अनुज्ञा-पत्र पाने वाले को नियमित सेवा न्यूनतम तथा उच्चतम किराए की दर निश्चित करनी पडती थी। मोटर गाड़ियों के अनिवार्य बीमा (त्रिपक्षी जोखम) की भी व्यवस्था की गई।

१६४६ ई० मे त्रिपक्षी आधार पर सडक परिवहन अर्थात् व्यक्तिगत, सरकार और रेलवे के सहयोग को प्रोत्साहित करने की नीति अपनाई गई। यह एक अन्य महत्त्वपूर्ण विकास था। १६४८ के सडक-परिवहन निगम अधिनियम के अन्तगत—जिसे १६५० के सशोधित अधिनियम द्वारा स्थानान्तरित किया गया—विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा परिनियत परिवहन निगम बनाये गए। यह सडक-परिवहन का अधतन

विकास है। सरकार द्वारा चालित परिवहन विभिन्न मात्रा में २१ राज्यों में काम कर रहे हैं।[1]

§२४ सडक वित्त—भारतीय सडक विकास (जयकर) समिति (१९२७) ने यह मत प्रकट किया कि अनेक अंशों में सडक-विकास का व्यय स्थानीय संस्थाओं एवं प्रान्तीय सरकारों की आर्थिक शक्ति के बाहर होता जा रहा है। अतएव केन्द्रीय राजस्व से इसके विकास के लिए धन मिलना चाहिए, क्योंकि सडकों के विकास से केन्द्रीय सरकार भी लाभान्वित होगी। समिति ने मोटर-कर की एक सन्तुलित योजना बनाई, जिसकी आय सडक विकास पर खर्च करने की व्यवस्था थी। समिति ने रेलवे प्रशासन द्वारा उनकी पूरक सडकों के विकास का भी समर्थन किया। उन्होंने सडक की चुंगी की समाप्ति तथा यथासम्भव सरल प्रकार की कर-व्यवस्था पर जोर दिया। उन्होंने ऋण द्वारा सडकों के विस्तार का विरोध किया, विशेषत उन दशाओं में जब कि ऋण के लिए प्रान्तीय राजस्व को लम्बे समय के लिए बन्धक में रखना पडे। उन्होंने सुझाव रखा कि केवल निर्माण अथवा पुनर्निर्माण ही ऋण द्वारा प्राप्त धनराशि से किया जाय तथा ऋण अल्पकाल के हेतु लिये जायें। साथ ही लिये गए ऋण का ब्याज आदि चुकाने के लिए आय के स्रोत स्पष्ट होने चाहिएँ। और ऋण विशेषत स्थायी कामों, जैसे पुल के निर्माण इत्यादि, में ही लगाए जायें।

समिति ने ऋण द्वारा सडक विकास के सम्बन्ध में जो असम्मति व्यक्त की, उसे अन्य प्राधिकारी निकाय नहीं मानते। उदाहरण के लिए कृषि आयोग ने ऋण लेकर सडक विकास की योजना को पूरा करने का समर्थन किया है। इसी प्रकार १९३३ के रेल-सडक सम्मेलन में भी ऋण लेकर ऐसी सडकों के विकास पर जोर दिया गया है। परन्तु शर्त यह थी कि यह साधारण के लिए उपलब्ध साधनों की सीमा के भीतर हो।

१९४० में भारतीय सडक परिवहन एवं विकास संस्था लिमिटेड की बारहवीं साधारण वार्षिक बैठक में ऐसा ही मत प्रकट किया गया। प्रसंगवशात् यह भी कहा गया कि जहाँ रेलें उधार ली गई धनराशि और हिस्सा की पूँजी से निर्मित एवं सुसज्जित की गई हैं वहाँ पर सडकों का विकास प्रधानतया राजस्व से हुआ है।

१९३० में ५ वर्ष की परिवीक्षावधि (प्रोबेशनरी) के लिए केन्द्रीय धारा सभा ने एक अभिसमय (कनवेंशन) स्वीकार किया। इसके अनुसार १—मार्च १९२९ के भारतीय वित्त अधिनियम द्वारा मोटर स्पिरिट के आयात और उत्पाद कर की चार आने से छः आने प्रति गैलन वृद्धि ५ वर्ष तक रहेगी। २—अतिरिक्त करों से होने वाली आय एक समूह अनुदान (ब्लाक ग्रान्ट) को सौंप दी जानी चाहिए और अलग सडक विकास अधिनियम के नाम पर जमा होनी चाहिए। व्यय न की गई धनराशि वर्ष के अन्त में व्ययगत (लैप्स) न होगी। ३—वार्षिक अनुदान को निम्न प्रकार से विभाजित करना था (क) भारत सरकार १० प्रतिशत स्थानीय सरकारों को विशेष सहायता देने के लिए रक्षित रखेगी (ख) अवशिष्ट में से विभिन्न प्रान्तों में

१ इण्डिया १९५६, पृ० २८१।

सम्पूर्ण भारत के गतवष के पेट्रोल उपभोग के अनुपात के अनुसार विभाजन किया जायगा। (यह धनराशि साधारण सडको के सधारण मे व्यय नही की जायगी) शेष धन राशि भारत सरकार को सौंप दी जायगी। ४—'गवनर जनरल इन कौंसिल द्वारा स्वीकृत योजनाओ के लिए प्रत्येक प्रात को अनुदान दिये जायेंगे। ५—प्रतिवष सडको के लिए एक स्थायी समिति की स्थापना की जायगी जो सडको से सम्बन्धित हर मामले पर गवनर जनरल इन कौंसिल' को परामश देगी। अभिसमय पर १६३४ में पुर्नविचार हुआ और केन्द्रीय धारा सभा ने एक नया प्रस्ताव स्वीकृत किया, जिसके अनुसार भारत सरकार के हाथ मे रक्षित कोष १० प्रतिशत मे बढाकर १५ प्रतिशत कर दिया गया। १६३७ के सशोधन में धारा-सभा ने एक नया सडक प्रस्ताव पास किया जिसके द्वारा १—प्रान्तों के लिए निर्धारित धनराशि तब तक केन्द्र में रहेगी, जब तक प्रान्तो को उसकी आवश्यकता न हो। २—यदि प्रान्तीय सरकार अलग की गई धनराशि सडक विकास पर व्यय करने में देर करती है तो केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार था कि वह अशत या पूणत उस धनराशि को अपने हाथो में ले ले। ३—गवनर जनरल इन कौंसिल' को यह अधिकार था कि वह किसी भी प्रान्त का हिस्सा अपने हाथो में ले ले, बशर्ते कि उस प्रान्त में गवनर-जनरल द्वारा की गई सिफारिशो के अनुसार मोटर गाडियो का नियमन एव नियन्त्रण न किया गया हो।

१६५० में ससद् द्वारा पास किये गए सडक विकास-लेखा प्रस्ताव (दी डिसपोजल आफ रोड डिवेलपमेन्ट एकाउन्ट रेजोल्यूशन) के अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा रक्षित प्रतिशत १५ से बढाकर २० कर दिया गया। इसके अनुसार राज्य के हिस्से मे से कम-से-कम २५ प्रतिशत पूरक सडको के लिए और अधिक-से अधिक २५ प्रतिशत रेलवे की प्रतिद्वन्द्वी सडकों पर व्यय करना होगा।

§२५ देशाभ्यन्तर जलपथ—भारत के उत्तरी भाग मे लगभग २६,००० मील नौका गम्य जलपथ है। मुगलकालीन भारत मे नदी से काफी यातायात होता था। गगा व्यापार का प्रमुख जलमाग थी, लेकिन नहरें निकालने के फलस्वरूप काफी पानी बाहर निकल जाने से नौकागमन में बाधा पहुँची। ब्रिटिश काल म रेलो के निर्माण से भी नौकागमन को क्षति पहुँची। १६१६ के औद्योगिक आयोग ने कहा कि वतमान जल-मार्गों के हितों के प्रतिनिधित्व के अभाव म रेलवे हितो ने इसके विकास को आगे बढ़ने से रोक दिया है। उन पर उतना ध्यान नही दिया जाता जितना अन्य देशों म, जहाँ उनसे सन्तोषजनक परिणाम भी मिले हैं।' १८७० म सर आथर काटन ने एक ससदीय समिति के समक्ष नौकागम्य नहरों के सम्बन्ध में एक बडी ही महत्वाकाक्षी योजना रखी। लेकिन अधिक व्यय के कारण उनके प्रस्तावो को कार्यान्वित नहीं किया गया। सरकार रेलो को प्रतिद्वन्द्विता से बचाने के कारण भी इनके प्रति उदासीन थी। इसका कारण इगलण्ड का यह अनुभव भी था कि नहरों की अपेक्षा रेलें यातायात सम्भालन में अधिक सेवा कर सकती हैं। केन्द्रीय जलमाग एव सिंचाई तथा नाव्यता आयोग (सेंट्रल वाटरवेज एण्ड इरीगेशन एण्ड नेवीगेशन कमीशन) प्राचीन जलमार्गों को पुनर्जीवित करने तथा नवीन मार्गों के निर्माण द्वारा देशाभ्यन्तर नाव्यता

के प्रसार की सम्भावनाओं की जाँच कर रहा है। चूँकि कितनी ही नदियाँ अनेक अधिकार क्षेत्रों में होकर प्रवाहित होती हैं, इसलिए जलमार्गों के उचित विकास के लिए उन्हें उद्गम से लेकर मुहाने तक एक इकाई मानना होगा। इस सम्बन्ध में हाल में बने गंगा और ब्रह्मपुत्र जल परिवहन परिषद् की स्थापना की चर्चा करना असंगत न होगा जो उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, बिहार एवं आसाम में नौकागमन को प्रेरणा देने के लिए बना है।

§२६ नागरिक उड्डयन—भारत की स्थिति वायु परिवहन के लिए भी बड़ी सन्तोषजनक है। यहाँ आन्तरिक एवं बाह्य वायु परिवहन का बड़ा ही शीघ्र विकास किया जा सकता है। देश की विशाल भूमि और वर्ष के अधिकांश में उड़ने की सन्तोषजनक दशा से यह स्पष्ट है कि इस दिशा में विकास के लिए काफी स्थान है। इस समय देश के प्रायः सभी प्रशासकीय एवं औद्योगिक केन्द्र वायु मार्ग से सम्बद्ध हैं। रात्रि सेवाएँ, जो देश के प्रमुख चार नगरों को सम्बद्ध करती हैं, देश के उड्डयन की प्रधान कड़ी हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पूर्व और पश्चिम के मार्ग में भारत का भौगोलिक दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे भारत सरकार पर अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेनाओं के लिए निर्धारित मानदण्ड की यौद्धिक सेवाएँ कायम रखने का दायित्व आ जाता है। संकट काल में नागरिक उड्डयन भी महत्त्वपूर्ण काम कर सकता है, जैसा कि विभाजन के उपरान्त अथवा उसके बाद संकटग्रस्त क्षेत्रों से लोगों को निकालने की समस्या के सम्बन्ध में देखा गया (१९४९-५०)। साथ ही बाढ़ और भूचाल के समय भी शीघ्रता और सरलता से सहायता पहुँचाई जा सकती है। फिर प्रतिरक्षा का भी एक पहलू है। इन कारणों से आगे की विकास योजनाओं में नागरिक उड्डयन पर विशेष रूप से ध्यान रखना होगा।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर उड्डयन के लिए कितनी ही कम्पनियाँ बनाई गई। युद्धकालीन समृद्धि से यह आभास हो रहा था कि उड्डयन को व्यावसायिक स्तर पर चलाना बड़ा ही लाभदायक होगा। विशेषतः उस दशा में जब कि युद्ध के कुछ प्रकार के वायुयान कम दाम पर प्राप्य थे। इन दशाओं के कारण बड़ी संख्या में कम्पनियाँ बनीं। लेकिन शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि अनेक कम्पनियों की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल है। वायु परिवहन जाँच समिति ने रिपोर्ट दी कि इसका प्रमुख कारण यह था कि आर्थिक आधार पर चलाने की दृष्टि से प्राप्य वायु परिवहन व्यापार के लिए अपेक्षित माँग-संख्या से कम्पनियों की संख्या अधिक थी। इस व्यवसाय की सबसे बड़ी बाधा भारतीयों की दरिद्रता है, जिससे हवाई यात्रियों की संख्या कम है। साथ ही देश का औद्योगिक विकास इस स्तर का नहीं है कि वायु परिवहन को प्रोत्साहन दे सके। किराए पर सरकार का अत्यधिक नियन्त्रण, उड्डयन इंधन और तेल की ऊँची लागत से भी विकास में बाधा पहुँचती है। १९५३ के वायु निगम अधिनियम (एयर कारपोरेशन एक्ट) द्वारा देश की वायु परिवहन सेवाओं का राष्ट्रीयकरण हो गया। देशाभ्यन्तर सेवाओं का प्रबन्ध भारतीय वायु मार्ग निगम (इण्डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन) और बाह्य सेवाओं का प्रबन्ध भारतीय वायु अन्तर्राष्ट्रीय निगम (एयर इण्डिया इण्टरनेशनल कारपोरेशन) द्वारा होता है। केन्द्रीय सरकार निगम को नई

परिवहन सेवाएँ खोलने, वतमान सेवाम्रो को बन्द करने तथा कायक्रम में परिवतन करने के निर्देश देने के लिए म्रधिकृत है। प्रत्येक वित्तीय वष के म्रन्त में निगम को एक रिपोट देनी होती है जिसे ससद् के सम्मुख रखा जायगा।

§२७ उड्डयन-नीति—नागरिक उड्डयन के महासचालक (परिवहन मत्रालय) ने जनवरी १९५२ में वायु माग के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन बुलाया। सभी सहमत थे कि म्रद्ध म्रन्तर्राष्ट्रीय एव मुख्य मार्गों (रूट्स) पर डाकोटा के स्थान पर म्रधिक म्राधुनिक प्रकार के वायुयान रखे जायँ ताकि वायु परिवहन उद्योग विदेशी वायु-सेवाम्रो की प्रतिस्पर्धा समान स्तर पर कर सके देश विमान सम्बन्धी म्राधुनिकतम विकास के सम्पक में रहे तथा देश के म्रविधिज्ञो को नये प्रकार के विमान की मरम्मत म्रादि का ज्ञान हो सके। प्रथम पचवर्षीय योजना की समाप्ति के पूर्व यह म्रनुमान किया गया था कि २० नवीन वायुयानो की म्रावश्यकता होगी जिनका म्रनुमानित मूल्य १० करोड रुपये होगा।[1]

§२८ परिवहन समन्वय—विभिन्न प्रकार के परिवहन को उचित तथा उसके उपयुक्त काय के वितरण के लिए समुचित समन्वय की म्रावश्यकता है। ऐसा न करने से गडबडी म्रौर म्रव्यवस्था उत्पन्न होती है। म्रत्यधिक व्यय म्रौर परिवहन सेवाम्रो के लिए म्रपेक्षित भारी लागत तथा उनकी म्रद्ध-स्थायी प्रकृति के कारण यह म्रावश्यक है कि उन्हें सावजनिक उपयोगिता सेवाम्रों के रूप में चलाया जाय। यह एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ जनता के हित मे (यदि राष्ट्रीयकरण नही हो) कठोर नियन्त्रण म्रावश्यक है। म्रभी तक परिवहन सुविधाम्रो का प्रसार एव विकास म्रव्यवस्थित रूप से हुम्रा है। इसमें राष्ट्र के म्रधिकतम हित का भी ध्यान नही रखा गया था। जैसा हम देख चुके हैं, कुछ प्रकार के परिवहन—जसे रलवे—का काफी दिनो तक पक्ष लिया गया तथा सडको म्रौर जलमार्गों की उपेक्षा की गई। प्राय केन्द्रीय म्रौर प्रान्तीय सरकारो ने विरोधी नीतियो का म्रनुसरण किया। जसा कि वेजउड समिति ने कहा है 'प्रान्तीय सरकारो द्वारा म्रनुसरण की गई नीति स म्रसगठित एव म्रकुशल प्रकार के सडक परिवहन को प्रोत्साहन मिला जिसकी प्रतिद्वन्द्विता से रेलवे को हानि पहुँची, लेकिन सडको का कोई लाभ नहीं हुम्रा। इसके विपरीत केन्द्रीय सरकार द्वारा किये गए नियन्त्रण से भी सडको के विकास में दर हुई या बाधा पहुँची। परिणाम यह हुम्रा कि भारत को दोनो प्रकार से हानि हुई—रेलें म्रसमृद्ध रहीं म्रौर सडकें म्रपर्याप्त।"[2]

पहले-पहल जब सडको का निर्माण प्रारम्भ हुम्रा—कुछ केन्द्रीय सरकार द्वारा, कुछ प्रान्तीय सरकारो एव स्थानीय म्रधिकारियो द्वारा—उस समय सडक म्रौर रेलव की प्रतिस्पर्धा का कोई प्रश्न नही था यहाँ तक कि सडको के रेलो के समानान्तर होने पर भी कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती थी क्योकि परिवहन का एकमात्र म्रन्य साधन बलगाडियाँ थीं, जिनकी रेलव स प्रतिस्पर्धा सोची ही नहीं जा सकती थी। लेकिन जब मोटर बस सामने म्राईं तो प्रतिस्पर्धा म रेलों का काफी घाटा होने

---

१ प्रथम पचवर्षीय योजना, पृष्ठ ४७७।
२ रिपोर्ट पैरा १९८

लगा। उस समय यह समस्या उठी कि किस प्रकार रेलवे में ८०० करोड़ रुपये से अधिक लगी हुई राष्ट्रीय सम्पत्ति को खतरे से बचाया जाय और साथ ही उसे मोटर परिवहन के विकास को भी बाधा न पहुँचने दी जाय। प्रस्तावित सुझाव दो प्रकार के थे। एक तो यह कि रेलवे की प्रतिस्पर्धा शक्ति में वृद्धि की जाय। इसके लिए १९३३ मे सशोधित रेलवे अधिनियम से रेलवे को यह अधिकार मिला कि वह रेल के साथ ही मोटर परिवहन चलाना शुरू कर दे। वेजउड समिति ने इस बात पर काफी जोर दिया। यह भी प्रस्ताव रखा गया कि उन्हें सडक परिवहन चलाने, उसमें भाग लेने, पूँजी लगाने तथा सडक परिवहन वालो से समझौता करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। सडक परिवहन की प्रतिस्पर्धा रोकने के लिए अनेक उपायो के सुझाव दिये गए—जैसे द्रुतगामी पसेंजर गाडियाँ, अच्छे मेल, अधिक सेवाएँ, निम्न श्रेणी के यात्रियों के लिए अधिक अच्छी सुविधाएँ। किन्तु वे सामान्य नीति के रूप में किराया घटाने के पक्ष में न थे। किसी स्थानीय मामले में जहाँ यात्रियों के दूसरी ओर जाने का भय था वहाँ किराया घटाया जा सकता था। साथ ही उन्होंने तेज मालगाडियो, सामान एकत्र करने और यथा-स्थान पहुँचाने और औपचारिकताओं को सरल बनाने की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। इनमें से अनेक सुझावों को रेलवे ने कार्यान्वित किया है, परन्तु इधर हाल में भीड की और भार की वृद्धि होने के कारण रेलवे के उपभोक्ताओं को काफी कठिनाइयो का अनुभव हो रहा है। यातायात की वृद्धि के कारण वर्तमान समय में सडक और रेलवे की प्रतिस्पर्धा पृष्ठभूमि में पड गई है।

दूसरे प्रकार के सुझाव प्रतिस्पर्धा को अधिक न्यायपूर्ण बनाने तथा मोटर परिवहन की अत्यधिक अव्यवस्था और विषम वितरण बचाने से सम्बन्धित थे। यह उद्देश्य भी था कि मोटर यात्रा को अधिक सुरक्षित और सुखपूर्ण बनाया जाय। मोटर चलाने वालों को किराये की दर में कटौती करने से रोका जाय जो रेलवे के लिए ही अनुचित नहीं थी बल्कि अन्तत मोटर मालिकों के लिए भी हानिकारक सिद्ध होती। 'मोटर विहिकल्स एक्ट' मे इन उद्देश्यों को दृष्टि में रखा गया। उपभोक्ता के दृष्टिकोण से अधिक-से अधिक प्रकार के परिवहन साधनों की सुलभता मे निश्चित लाभ है, क्योंकि उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से किराये की दर और सुविधाएँ बढेंगी। उन्हें एक या दूसरा परिवहन साधन चुनने की स्वतन्त्रता रहेगी। हल्के यातायात और कम दूर की यात्रा के लिए लोग मोटर बसो को पसन्द करेंगे। जहाँ गति अधिक महत्त्वपूर्ण होगी जैसे हल्की और मूल्यवान वस्तुओं के लिए, वहाँ हवाई जहाज को रेल और मोटर दोनों से ही अधिक पसन्द किया जायगा।

फिर भी जहाँ वर्तमान परिवहन सुविधाएँ सस्ती और सन्तोषजनक हैं, वहाँ जहाँ तक सम्भव हो दोहरेपन को बचाना श्रेयस्कर है। देश का कल्याण इसमे अधिक है कि उन स्थानो पर सेवाएँ सुलभ की जायँ, जहाँ कि अप्राप्य हैं, न कि जहाँ वे हैं वहीं उनकी वृद्धि की जाय। अपनी आवश्यकताओं तथा सीमित वित्तीय साधनों को ध्यान में रखते हुए हमें सडको की उत्तमता से अधिक उनकी संख्या को महत्त्व देना

है। हमे थोडी-सी अच्छी प्रकार की सडको की अपेक्षा ऋतु मे काम देने वाली सडकों की अधिक सख्या को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। इस विचारधारा के अन्तगत प्रयत्न यह होना चाहिए कि सडको का तल ऐसा हो कि मोटर और बस गाडियो को कम-से कम हानि हो। इससे भारवाही पशुओ की शक्ति का भी क्षय कम होगा। यह भी सुझाव है कि जहाँ व्यवहाय हो, गाडिया के पहियो में रबर के टायर लगाए जायें। इससे भारवाही पशुओ के भार को घटाने के साथ ही सडको का कटाव भी कम होगा। फिर भी, टायर कितनी ही ग्रामीण सडको पर नही चल सकता, वहाँ केवल चालू किस्म की बल गाडियाँ ही चल सकती हैं।

इस सम्बन्ध मे यह याद रखना चाहिए कि रेलवे और सडक के बीच प्रति स्पर्धात्मक सम्बन्ध न होकर पूरक और सहकारी सम्बन्ध होना चाहिए। इसे सरकार ने स्वीकार कर लिया है। १९५० का आधुनिकतम सडक प्रस्ताव इसका द्योतक है जिसमें प्रतिस्पर्धी, सडको की अपेक्षा पूरक सडकों पर अधिक ध्यान दिया गया है। १९३७ से एक नये सचार विभाग की स्थापना से परिवहन के समन्वय का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होने लगा है। नये विभाग (१९४७ से मन्त्रालय हो गया है) ने रेलवे तार डाक, नागरिक उड्डयन प्रसार, ऋतु विमान, सडक, बन्दरगाह, देशाभ्यन्तर नौका गमन—सबको अपने हाथ मे ले लिया है।

नेमियर वित्तीय निर्णय[1] द्वारा रेलो के प्रति प्रान्तीय पूर्वग्रह का भी निराकरण हो गया है, जिसके अनुसार आयकर का कुछ अश प्रान्तीय सरकारो को मिलेगा इस शर्त पर कि रेलवे प्रान्त म अपना काम चला सकें। यह इसलिए किया गया कि प्रान्तीय सरकारें मोटर परिवहन द्वारा रेलवे की आय की हानि होने स बचाएँ। इस समय कोई ऐसा कारण दिखाई नही पडता जिसके कारण केन्द्रीय सरकार अन्य परिवहन साधनो की अपेक्षा रेलवे का अधिक पक्षपात करे। साथ ही पचवर्षीय-योजनाओ के अन्तगत आर्थिक विकास को ध्यान मे रखते हुए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय एव राज्यीय सरकारा में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध हो और निम्न प्रकार से सकुचित प्रान्तीयता का विनाश हो। देश के व्यापक हित मे राज्य सरकार निर्धारित नीति को कार्यान्वित करे। इसके लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय सत्ता अधिक शक्तिशाली हो।

§२९ सचार—डाक और तार का अस्तित्व भारत में लगभग १ शताब्दी मे है। उनके क्रमिक विकास के बावजूद भी उनकी सेवाएँ देश की आवश्यकताओ के अनुरूप विकसित नही हो सकी। पचवर्षीय योजना के अन्तगत होने वाले विकास के कारण उनका उत्तरदायित्व और कार्यभार और भी बढ़ेगा। एक प्रभावपूर्ण सचार पद्धति में डाक की सुविधाएँ डाक और तार के पर्याप्त कार्यालयों की व्यवस्था, टेलीफोन का विकास, डाक एव तार के कार्यालयों का अभिनवीकरण आदि आते हैं। एक मुख्य काम सचार सुविधाओ का ग्रामीण क्षेत्रा म प्रसार करना है। लक्ष्य यह रखा गया है कि २००० या इससे अधिक जनसख्या वाले प्रत्येक गाँव में एक डाकघर हो।

१ देखिए, अध्याय २२।

इसके अतिरिक्त डाक सेवाओं की वृद्धि की माँग नागरिक क्षेत्रों में भी पूरी होती है। विकास-योजना में सचार सेवाओं के अधिक केन्द्र खोलने की भी व्यवस्था है। विशेष आग्रह टेलीफोन पर है। इस दिशा मे भारत काफी पिछड़ा है। उदाहरणत यह चीन से भी अधिक पिछड़ा है। पूरे भारत में टेलीफोन की लाइनों की सख्या आस्ट्रेलिया के एक नगर सिडनी से भी कम है।

१९२५ के पूर्व भारतीय राज्य प्रसार सेवा (ब्राडकास्टिंग) म केवल दो प्रेषक (ट्रान्समिटस) थे—एक बम्बई और दूसरा कलकत्ता म, जिनसे लगभग ५,४०० वर्गमील मे १०० लाख व्यक्तियो की सेवा होती थी। १९३५ से इस सस्था का नाम आल इण्डिया रेडियो हो गया और बाद म 'आकाशवाणी' कहा जाने लगा। तब से अनेक स्टेशन देश के विभिन्न भागों में स्थापित किये गए हैं। देश के प्रमुख भाषा क्षेत्रों की सेवा करने के लिए इस समय देश में २४ स्टेशन हैं।

अध्याय १७

व्यापार

§१ मान्तरिक व्यापार— (क) अन्त स्थलीय व्यापार—यदि हम भारत के महाद्वीपीय आकार, विशाल जनसंख्या, जलवायु और विविध प्राकृतिक साधनो को ध्यान मे रखें, तो भारत के आन्तरिक व्यापार का महत्व स्वत स्पष्ट हो जायगा। इस व्यापार की मात्रा एव प्रकार तथा मूल्य के सम्पूर्ण एव सतोषजनक आँकडे प्राप्य नही है। कुल उत्पादन की सख्या से निर्यात व्यापार के मूल्य को घटाने की साधारण विधि से आन्तरिक व्यापार का सही मूल्य मालूम नही होता है, क्याकि उत्पादन का कुछ अश स्वय उत्पादको द्वारा उपयुक्त होता है। कुछ गणनाएँ रेलवे के पदार्थ परिवहन की कुल आय के आधार पर की गई हैं। इनमें सडको और जलमार्गों से होने वाले व्यापार के मूल्य को जोडना होगा। लेकिन इस सम्बन्ध में, यद्यपि भारत के तटीय व्यापार के काफी सतोषजनक आँकडे प्राप्य हैं किन्तु सडक और नदियो से होने वाले व्यापार के सम्बन्ध में यह बात सत्य नही है। प्रो० के० टी० शाह ने १९२१ २२ में भारत के आन्तरिक व्यापार का मूल्य अनुमानत २,५०० करोड रुपये निर्धारित किया था। श्री जे० एन० सेन गुप्ता ने १९२५ ६ म ब्रिटिश भारत में ६००० करोड रुपये प्रतिवर्ष का अनुमान लगाया। १९४० में योजना आयोग के मतानुसार इसका मूल्य ८,०००करोड रुपये से कम न होगा। द्वितीय विश्व युद्ध-काल में अभिवर्धित उत्पादन, १९४७ मे देश के विभाजन तथा देशी रियासतो के विलयन के कारण यह अनुमान अब सत्य नहीं रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रथम पचवर्षीय योजना-काल मे अभिवर्धित परिवहन एव सचार के कारण देश के आन्तरिक व्यापार के आकार एव मात्रा मे काफी वृद्धि अवश्य हुई होगी। अतएव आँकडों का पुन सग्रह अत्यन्त आवश्यक हो गया है।

(ख) तटीय व्यापार—भारत की विस्तृत तट रेखा के बावजूद भी उसके तटीय व्यापार की मात्रा अपेक्षाकृत कम है। इसके विकास मे जहाजरानी की कमी और बन्दरगाहो के अपेक्षाकृत अभाव के कारण भी बाधा पहुँची है। ब्रिटिश भारत का तटीय व्यापार अनुमानत ८७०२ लाख रुपया (१९३७ ८), ५५४५ लाख रुपया (१९३८-३९) और ६९९६ लाख रुपया (१९३९ ४०)[१] आँका गया था। इन सख्याओ में सरकारी माल और खजाने का आयात निर्यात मूल्य शामिल है। वस्तुत तटीय व्यापार को देश के आन्तरिक व्यापार का अग मानना चाहिए यद्यपि इसमें किंचित् विदेशी व्यापार भी सम्मिलित है। विदेशो से आयात किये गए सौदो का मूल्य (तटीय व्यापार में शामिल) अनुमानत ४८५ लाख रुपया (१९३७-३८) था। निर्यात की समवर्ती सख्या ६५० लाख रुपया थी। भारत के तटीय व्यापार के

१ बाद के वर्षों के आँकड़े अप्राप्य हैं।

सम्पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि जलयान निर्माण तथा बन्दरगाहों के विकास के साथ-ही साथ रेलवे परिवहन को तटीय यातायात से समन्वित किया जाय।

§२ वाह्य व्यापार–(क) सीमा-पार-व्यापार—नीचे की तालिका में करोड रुपयों में भारत का सीमा पार-व्यापार प्रदर्शित किया गया है।

	१९५०-५१	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५
आयात					
अन्न, दाल, आटा	३५	२ १९	०५	०८	१-
कच्चा जूट	२७ ५०	६७ ००	१६ ४१	१४ २४	१२ १७
रसायन और औषधियाँ	६२	२६	१३	१७	१७
फल तरकारियाँ बादाम आदि	४ ०६	४ ०७	४ ४३	३ ८६	४ ५५
मसाला	२ ४४	१ १०	४७	०५	
कच्चा ऊन		०९	०५	०६	
बीज	२ ७४	१ ४१	४१	४८	१२
कुल योग अन्य वस्तुओं को शामिल करते हुए	४२ ८७	८० ४५	२५ १९	२२ ६३	२१ ३६
निर्यात और पुनर्निर्यात					
जूट का सूत तथा निर्मित	५०	१८	४७	०३	०३
चाय	५९	५३	६८	९७	५२
रुई का सूत तथा कपड़ा	१ ७३	४३	८९	४८	११
मसाला	१७	२ ६०	४७	०८	११
तेल (वनस्पति, खनिज और जानवर)	२ ०८	२ ६६	२ ६८	०३	०१
तम्बाकू	३ २५	५ १२	०१		
फल तरकारियाँ और बादाम आदि	१ ७९	३ २६	१ १६	२१	३-
रसायन और औषधियाँ	६६	८६	१ ०४	०१	
कुल योग अन्य वस्तुओं को शामिल करते हुए	१७ ८१	२७ १४	१८ ८४	७ ४१	५ ७३

सीमा पार व्यापार अफगानिस्तान, ईरान, पाकिस्तान एव अन्य मध्य एशियाई देशो से होता है। पाकिस्तान के साथ होने वाले व्यापार की चर्चा इस अध्याय के §९ मे की गई है। भारत अफगान व्यापार की प्रमुख विशेषता, भारत से होकर होनेवाला अधिकाश पारगमन व्यापार है। अफगानिस्तान से भारत में चमडा, समूर, फल और वनस्पतियाँ आती हैं जिनके बदले जीवित पशु, लोहा, इस्पात की वस्तुएँ और चाय का निर्यात होता है। ईरान से भारत में फल, तरकारियाँ, ऊनी कालीन, कम्बल और शाल भारत मे आती है और चीनी, गेहूँ, चाय और जूट ईरान को जाता है।

(ख) मध्यागार व्यापार (एन्ट्रेपॉट ट्रेड)—मध्यागार व्यापार का अभिप्राय देश मे बाहर से आयात की गई वस्तुओं के पुनर्निर्यात से है। पूर्व और पश्चिम के बीच भारत की केन्द्रीय स्थिति के कारण भारत को पुनर्वितरण केन्द्र का काम करने का अवसर प्राप्त होता है। इधर हाल के कुछ वर्षों में भारत के पुनर्निर्यात व्यापार का

१ इसमें ८० लाख और ६० लाख रु० (क्रमश १९५०-५१ और १९५१-५२ में) पारगमन व्यापार (ट्रांजिट ट्रेड) के भी शामिल हैं—अफगानिस्तान को जूट का पारगमन भारत से होकर।

मूल्य अनुमानत इस प्रकार है १६२० १ में १८ ०४ करोड रुपये, १६३१ ३२ में ४ ६५ करोड रुपये, १६४१ ४२ में १५ ३३ करोड रुपये, १६५१-५२ मे ३ ६३ करोड रुपये, १६५२ ५३ में ५ ७५ करोड रुपये, १६५३ ५४ में ४ ८५ करोड रुपये, १६५४ ५५ मे ५ ४६ करोड रुपये। यह व्यापार १६३० ४० के बीच कुछ कम हुआ। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध से इसमें वृद्धि हुई है। १६४१-२ मे प्रमुख देशों का प्रतिशत भाग निम्न था सयुक्त राज्य अमेरिका ८ प्रतिशत, बर्मा ८ प्रतिशत, अदन तथा अन्य आश्रित देश ६ प्रतिशत, अरब ५ प्रतिशत, ईराक और मिश्र ४ प्रतिशत, तथा सीलोन ३ प्रतिशत। मध्यागार व्यापार का अधिकांश बम्बई, कराची और कलकत्ता से होकर होता रहा है। अब कराची से होकर जाने वाला मध्यागार व्यापार पाकिस्तान का है। अब विभिन्न देशों मे परस्पर निर्यात व्यापार सीधे-सीधे प्रारम्भ हो रहा है। इस प्रकार मध्यागार व्यापार के केन्द्र के रूप में भारत पर उनकी निभरता घटती जा रही है। विभाजन से भारत और अन्य एशियाई देशो के बीच एक अन्य देश आ गया है जिससे उसके मध्यागार व्यापार को धक्का पहुँचा है।

§३ व्यापारिक सतुलन—अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका से भारत के १६५० ५५ मे आयात निर्यात (जिसमें पुनर्निर्यात भी सम्मिलित है) का सतुलन स्पष्ट हो जायगा। इस तालिका के आँकडे करोड रुपयो में हैं।

१६५० ५३ के बीच भारत के प्रतिकूल व्यापारिक सतुलन के प्रमुख कारणो मे देश का विभाजन और दुर्भिक्ष है। १६५१-५२ के अति प्रतिकूल व्यापारिक सतुलन को सयुक्तराज्य अमरीका से खाद्यान्नो की आयात के फलस्वरूप मानना चाहिए। साथ ही आन्तरिक कमी की पूर्ति के लिए कपास का आयात बडी मात्रा में हुआ। भारत-पाकिस्तान समझौते के अनुसार जूट का आयात तथा बाहर से यन्त्रो, तेल, रसायनों, और धियो का आयात भी बडे ऊँचे मूल्यो पर करना पडा था, क्योंकि उसके बिना देश में आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त नही हो सकती थी। सयुक्तराज्य अमेरिका से आयात किया गया गेहूँ उधार खाते से आया था। परिणामत व्यापारिक सन्तुलन पर उसका प्रतिकूल प्रभाव नही पडा। १६५२ ५३ मे देश में आन्तरिक खाद्यान्नोत्पादन मे काफी वृद्धि हुई, इसलिए आयात को घटाना पडा। इससे व्यापारिक सन्तुलन पर पडने वाले प्रतिकूल प्रभाव में कमी हुई। कुछ वस्तुओं की अप्राप्यता और देर मे प्राप्त होने के कारण भी व्यापारिक सतुलन की प्रतिकूलता कम हुई। सीलोन और हिन्देशिया से चाय की प्रतिस्पर्धा कम होने के कारण भारतीय चाय का निर्यात बढ़ गया। १६५० ५१ में होने वाले स्वल्प घाटे को रुपये के अवमूल्यन का परिणाम कहा जा सकता है।

§४ व्यापारिक सन्तुलन में परिवर्तन—गत दो-तीन दशकों में भारत के व्यापारिक सतुलन में काफी परिवर्तन हुए हैं। १६०५ के पश्चात् उसका विदेशी व्यापार बडी ही तीव्र गति से बढ़ा। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व के पाँच वर्षों में सबसे अधिक वृद्धि हुई। इस काल में रुपये का मूल्य प्राय स्थिर था, सिंचाई और रलवे का काम आगे बढ़ रहा था। न तो कठोर दुर्भिक्ष ही पडे और न भयकर बीमारियाँ ही। अतएव इन वर्षों म भारत का आक्सन नेट (नेट्टि बलस) औसतन ७८ करोड रुपये था। यद्यपि

को युद्धकाल में बडी बाधा पहुँची, क्योकि उस पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गए थे। शत्रु राष्ट्रों से तो व्यापार बन्द ही था। विलासिता की वस्तुओ का आयात निर्यात भी प्रतिबन्धित था। व्यक्तिगत व्यापारियो को अनुज्ञा देना प्रारम्भ किया गया और प्राथमिकता पद्धति को भी अपनाया गया। इन सबसे विदेशी व्यापार बडा ही विस्थापित एव विकृत हो उठा। फिर भी युद्ध की माँग भारत के पक्ष में थी। ब्रिटेन एव अन्य राष्ट्रों (मित्र या शत्रु) के युद्ध-सामग्री के उत्पादन में रत होने के कारण तथा उनकी मानवी शक्ति के युद्ध में लगने के कारण भारतीय कच्चे माल, खाद्यान्न एव भारत में निर्मित वस्तुओं की माँग बढ गई। साथ ही निर्यात व्यापार के लिए उन राष्ट्रों की उत्पादन क्षमता कम या बन्द हो जाने के कारण भी विदेशी बाजार भारत के लिए खुल गए। संयुक्तराज्य अमेरिका को अपने पूर्वी यौद्धिक मोर्चे के लिए भारत से सामग्री प्राप्त करना सरल पडता था। इसके विपरीत भारत का आयात काफी घट गया। सयुक्त राज्य अमेरिका एव इगलिस्तान इस दशा में न थे कि वे भारत द्वारा अपेक्षित निर्मित वस्तुओं की पूर्ति कर पाते। इन सबका सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि भारत का व्यापारिक सन्तुलन उसके अनुकूल हुआ और पौण्ड पावने जमा हुए, यद्यपि उसके कुल विदेशी व्यापार का आकार काफी क्षीण हो गया। इस दृश्यमान शेष का अधिकाश भारत के ३,२०० लाख पौण्ड अर्थात् ४२५ करोड रुपये के बाह्य ऋण के चुकाने में व्यय किया गया।

युद्धोत्तर काल, जसा हम देख चुके हैं, प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन का काल है। १९४८–४९ में १७५ करोड रुपये, १९४९–५० में १३४ करोड रुपये, १९५०–५१ मे ७ करोड रुपय, १९५१–५२ मे २३२ करोड रुपये, १९५२–५३ में ८६ करोड रुपये, १९५३–५४ में ५० करोड रुपये, १९५४–५५ में ५३ करोड रुपये।

§५ व्यापार सरचना—निम्न तालिका भारत से निर्यात की जाने वाली और भारत में आयात की जाने वाली वस्तुओं की सूची प्रस्तुत करती है[1]—

निर्यात	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५
जूट का सूत और निर्मित	२६९.७३	१२८.९२	११३.७७	१०३.१०
चाय	९३.४४	८०.७०	१०१.५७	१४६.५४
रुई का सूत और निर्मित	५८.०९	६६.५८	७१.८३	६६.२१
मसाला	२७.८९	२०.८४	१६.६३	११.३४
चमडा सिझा हुआ	२५.६६	२०.३८	२४.८४	१६.०१
रुई कच्ची और व्यय	७१.०२	२८.१६	१९.२६	२०.१४
तेल	२२.७६	२५.१४	६.१४	७१.११
धात्वीय अयस्क	१८.९५	१७.६५	३५.५७	१९.०५
तम्बाकू	१४.९३	१३.८५	११.२६	११.०३
चाकू छुरी, धातु के बर्तन	७.१३	७.२१	२.४३	२.३३
रबर निर्मित	१.०६	१.४२	१.३३	१.३५
रसायन और औषधियाँ	५.२७	४.१३	४.३७	४.४७

[1] आँकड़े करोड रुपयों में हैं—अकाउण्ट्स रिलेटिंग टु दि फारेन ट्रेड ऑफ इण्डिया, मार्च १९५५ और टाइम्स ऑफ इण्डिया डायरेक्टरी एण्ड इयर बुक, १९५५-५६, पृष्ठ १४३।

इस तालिका से स्पष्ट है कि चाय के निर्यात में काफी वृद्धि हुई है जो अब अन्य वस्तुओं की तुलना में शीर्ष स्थान पर है। साथ ही तम्बाकू और मसालों के निर्यात में कमी हुई है।

आयात	१९५१ ५२	१९५२ ५३	१९५३ ५४	१९५४-५५
अन्न, दाल और आटा	२२८ १२	१५३ १०	६३ ६५	६८ ०१
रुई कच्चा और व्यर्थ	१३८ ९९	७६ ६७	५२ ७१	५८ ४८
यन्त्र और मिल सम्बन्धी	१११ ८८	८७ ८१	८५ ८४	८३ ७६
तेल	७९ ४९	८१ ९१	९२ ३१	९० ०१
धातुएँ	४३ ४५	४३ १४	३८ १०	५६ २८
रसायन और औषधियाँ	३५ ९७	२४ ८८	२५ ७८	३१ ८८
कपड़े का सूत और निर्मित	३५ ०८	२१ ३१	२७ ०३	१९ ७९

आयात की जाने वाली अनेक वस्तुओं में कमी हुई है। इसका कारण देश के अन्दर उत्पादन में वृद्धि है। अन्न, दाल और आटे के सम्बन्ध में सबसे अधिक कमी हुई है

भारत के विदेशी व्यापार की सरचना गत दो या तीन दशकों में काफी परिवर्तित हुई है। निर्मित वस्तुओं का आयात १९२० २१ के ८४ प्रतिशत से घटकर १९३८ ३९ में ६२ ६ प्रतिशत, १९५० ५१ में ४५ ३ प्रतिशत और १९५२ ५३ में ४३ १ प्रतिशत रह गया। कच्चे माल का आयात साधारणतया बढ़ने की प्रवृत्ति रही है। कुल व्यापार का १९२० २१ में ५ प्रतिशत १९३८ ३९ में २१ ७ प्रतिशत, १९४५ ४६ में ४८ ५ प्रतिशत उसके बाद घटकर १९५० ५१ में ३४ ८ प्रतिशत, १९५१-५२ में २९ ३ प्रतिशत १९५५ ५६ में २७ ८ प्रतिशत था। खाद्यान्नों की आयात-दशा परिवर्तनशील रही है क्योंकि यह आन्तरिक माँग और विश्व उत्पादन पर आश्रित थी। निम्न तालिका से इन परिवर्तनों का प्रतिशत स्पष्ट हो जायगा[1]—

आयात	१९२० २१	१९३८ ३९	१९४५ ४६	१९५५-५६
भोजन, पेय पदार्थ और तम्बाकू	११ ०	१५ ७	९ ३	९ २
कच्चा माल	५ ०	२१ ७	४८ ५	२७ ८
निर्मित पदार्थ	८४ ०	६२ ६	४२ २	६३ ०

निर्यात पक्ष में अब निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा कच्चे माल का महत्त्व कहीं कम है। कारण यह है कि मध्य-पूर्व (मिडल ईस्ट) के बाजार निर्मित वस्तुओं और विशेषत कपड़े इत्यादि के सम्बन्ध में अब भारत पर निर्भर रहने लगे हैं, क्योंकि यूरोपीय देश युद्ध-सामग्री के उत्पादन में व्यस्त रहे और युद्ध के कारण उनके उद्योग ध्वस्त हो गए। नीचे की सारणी में भारत के निर्यात-व्यापार की सरचना का परिवर्तित

[1] इन तालिकाओं में दिये गए आँकड़े कुछ सीमाओं में बद्ध हैं। पहले तो विभाजन के उपरान्त और पूर्व के क्षेत्रों में ही अन्तर है। दूसरे १ अप्रैल १९४८ के आँकड़ों में वैयक्तिक और सरकारी आँकड़े एक में मिले हैं। पहले केवल वैयक्तिक लेखे के आँकड़े ही प्रकाशनीय प्राप्य थे। इस प्रकार ये आँकड़े व्यापार की साधारण प्रवृत्ति के निर्देशक मात्र हैं और किसी अनेक से तुलना के द अभाव सिद्ध होंगे। प्रतिशत आँकड़े भारत विदेशी व्यापार के वार्षिक लेखे के आधार पर निकाले गए हैं।

ब्रिटेन से आयात उसके लिए भारत के निर्यात की तुलना में क्रमश कम हो रहे हैं। व्यापारिक सन्तुलन के भारत के अनुकूल होने से वह इस दशा में हो गया है कि (१) सीधे निर्यात द्वारा वह ब्रिटेन के प्रति अपने देय को चुका सके, (२) भारत के पौण्ड ऋण (स्टर्लिंग डैट) को लौटा सके और इस प्रकार ब्रिटेन के प्रति अपना देय कम कर सके, और (३) रिजर्व बैंक के नाम ब्रिटेन में पौण्ड पावना एकत्र कर सके।

§७ भारत-बर्मा व्यापार—अप्रैल, १९३७ के पूर्व भारत और बर्मा का व्यापार तटीय व्यापार समझा जाता था। १ अप्रैल, १९३७ मे बर्मा के विभाजन के कारण यह विदेशी व्यापार हो गया। भारत से बर्मा को जिन वस्तुओ की आवश्यकता पड़ती है, उनमें अनेक वस्तुएँ आती हैं, जैसे जूट, कपडा बर्तन, छुरी, चाकू, कैंची, मूँगफली, चाय, लोहा, इस्पात, बिजली का सामान, परिवहन की वस्तुएँ इत्यादि। नवीन भारतीय इजीनियरिंग उद्योग बर्मा में अपने लिए बाजार स्थापित कर सकता है। भारत को बर्मा से निर्यात होने वाली सामग्रियो में चावल, सागौन की लकड़ी एव खनिज तेल हैं, इन दोनों देशो के व्यापार को एक द्विपक्षीय व्यापार सन्धि द्वारा नियमित किया गया है जिस पर जुलाई १९५३ में हस्ताक्षर हुए थे।

§८ भारत और मध्य पूर्व—जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है भारत कपड़े और जूट की निर्मित वस्तुओं, चाय, तम्बाकू इत्यादि का बाजार अपने कब्जे मे कर सका था। इसका कारण जापान एव जर्मन प्रतिस्पर्धा का अस्थायी रूप स दूर होना था। द्वितीय विश्व-युद्ध में इन आयातो का कुल मूल्य १९३८ ३९ मे ३१ लाख रुपये से बढ़ कर १९४२ ४३ में १० करोड रुपये हो गया। मध्य-पूर्व से भारत के आयात—विशेषत मिस्र ईरान, सूडान केन्या से—की प्रमुख वस्तुएँ खनिज, तेल, चावल, कपास एव खाद्यान्न हैं। निकट भविष्य में मध्य-पूर्वी देशों स व्यापार की वृद्धि के अच्छे लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका म स्पष्ट हो जायगा कि कितने ही मध्यपूर्वी देशो म इस प्रकार के बाजार कायम भी हो चुके हैं। इसका विकास भारत के हित म किया जा सकता है। भारत को इन देशो का निर्यात काफी घट चुका है परन्तु भारत का निर्यात धीरे धीरे बढ रहा है।[1]

§९ पाक भारत व्यापार—व्यापार की दृष्टि स १ मार्च १९४८ से पाकिस्तान विदेश हो गया। १९४८ के भारत-पाक व्यापारिक समझौते मे पारस्परिक विनिमय—विशेषकर आवश्यक वस्तुओ के पारस्परिक विनिमय—की अल्पकालीन स्तर पर व्यवस्था की गई। उस समय भारत ने जिन वस्तुओं की पूर्ति की जिम्मेदारी ली थी उनमे कोयला (२३ लाख टन) कपड़ा और सूत (४ लाख टन), जूट की निर्मित वस्तुएँ (५०,००० टन), लोहा और इस्पात (८० ००० टन) और वनस्पति तेल था। इसके बदले में

बाजार भी सामने हैं, जैसे पश्चिमी जर्मनी, रूस, नीदरलैण्ड इत्यादि। यहाँ तक आयात का सम्बन्ध है, इनमें बर्मा, जर्मनी और आस्ट्रेलिया का हिस्सा काफी बढ़ गया है। माल ढो जाना, कनाडा मे होने वाला आयात घटा है। आंकड़े करोड़ रुपये में हैं। (मार्च १९५४ और मार्च १९५५ एकाउण्ट्स रिलेटिंग टू फारेन ट्रेड ऑफ इण्डिया।)

१ एकाउण्ट्स रिलेटिंग टु फारेन ट्रेड, मार्च १९५५।

	निर्यात (करोड़ रुपयों में)			आयात (करोड़ रुपयों में)		
	१९५२ ३	१९५३ ४	१९५४ ५	१९५२ ३	१९५३ ४	१९५४ ५
मिस्र	१५ १२	२७ ७१	१९ ६८	५ ६८	३ ४७	८ १८
इथोपिया	० ०२	० ३५		० ३२	२ २५	३ २९
त्रिपोली				० १६	० १७	० ३९
सीरिया			० ०३	० ७५	० ९८	२ १३
सऊदी अरब	१४ ७६			२ ९६	३ ४८	
लेबनान	० ०१			० २८	० १८	० ५२
जोर्डन	-			० २३	० १९	० ३२
केन्या	२० ५७	१५ ९२	१८ ३९	६ ५४	५ ९९	६ ९८
युगेण्डा	१ २१	१ ५८	० ०७	० ७०	० ८१	० ८२
टांगानीका	१ ६८	१ १४	२ ४६	३ ६७	३ ३७	४ ४६

पाकिस्तान ने प्रमुखतया कच्चा जूट (५० लाख गाँठ), कपास (६ ५ लाख गाँठ) तथा खाद्यान्न (१ ७५ लाख टन) देने का वायदा किया। १९४९ में इस समझौते को पुन दोहराया गया। लेकिन दोनो देशो के सम्बन्धो में कुछ कठिनाइयाँ होने के कारण इसका पालन नही किया जा सका। १९४९ में भारतीय रुपये के अवमूल्यन तथा पाकिस्तान द्वारा मुद्रा अवमूल्यन न करने के कारण[1] पाकिस्तानी वस्तुओ का मूल्य बढ़ गया। अत भारत को विवश होकर पाकिस्तान को अपना निर्यात कम करना पड़ा और पाकिस्तानी वस्तुओ का क्रय भी कम करना पड़ा। इससे भारत के जूट-उद्योग के लिए एक कठिन समस्या उत्पन्न हो गई जो कच्चे माल के लिए अधिकाशत पाकिस्तान पर आश्रित था।

व्यापारिक सम्बन्धो को पुन कायम करने के लिए २१ अप्रल, १९५० को एक अल्पकालीन व्यापारिक समझौता फिर किया गया। यद्यपि विनिमय-दर के सम्बन्ध मे कोई समझौता नही किया गया, फिर भी वस्तुओ का आयात निर्यात इस प्रकार व्यवस्थित किया गया कि भारतीय रुपये में इन दोनो का सन्तुलन हो जाय। इस समझौते की मुख्य बात भारतीय-जूट मिल सस्था एव पाकिस्तान जूट-परिषद् के बीच यह समझौता था कि पाकिस्तान कच्चे जूट की ८ लाख गाँठें भारतीय रुपए के मूल्य में बेचेगा और वह रुपया पाकिस्तान के नाम से भारत में रिजर्व बैंक में जमा हो जायगा और उसका उपयोग पाकिस्तान द्वारा भारतीय सामग्री के क्रय के लिए किया जायगा। ये वस्तुएँ निश्चित थीं, जसे जूट निर्मित वस्तुएँ (२०,००० टन), कपास के कपड़े (४५,००० गाँठें) सरसो का तेल (७ ००० टन), लोहा (५,००० टन), इत्यादि।[2] पाकिस्तान जूट देने की निर्धारित किश्तियो का पालन न कर सका।

---

१ बाद में पाकिस्तान ने भी अवमूल्यन किया, किन्तु यह कदम ६ वर्ष बाद १९५५ में उठाया गया।
२ करेंसी एण्ड बकिंग रिपोर्ट आफ दि रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया, १९५० ५१, पैरा ७७।

परिणाम यह हुआ कि भारतीय वस्तुएँ भी शीघ्रता से पाकिस्तान न भेजी जा सकीं। इतना होने पर भारत और पाकिस्तान के बीच का व्यापार १ अप्रैल, १९५० से सितम्बर १९५० तक ४३ करोड रुपये का था (आयात २४ करोड रुपये निर्यात १९ करोड रुपये)।

यह समझौता ३० सितम्बर १९५० को समाप्त हो गया। इसी बीच पाकिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोष (इण्टरनेशनल मानिटरी फण्ड) का सदस्य बन गया और उसने अपने रुपये का प्रारम्भिक सम-मूल्यन (पार वल्यू) सूचित किया। कोरिया-युद्ध से भी कच्चे जूट की माँग बढी और जब विदेशों में भारत के जूट निर्माणों की माँग अपने शिखर पर थी, उस समय भारत कच्चे माल की अत्यधिक कमी अनुभव कर रहा था। इस स्थिति में उसने पाकिस्तान से फिर व्यापारिक समझौता करने की बात शुरू की तथा २५ फरवरी, १९५१ को दोनो देशों के बीच एक समझौता हुआ, जिसमें भारत को ३५ लाख गाँठ कच्चा जूट तथा ७ ७ लाख टन खाद्यान्न प्राप्त हुए। भारत इसके बदले पाकिस्तान को २१ लाख टन कोयला, ७५ ००० गाँठ मिल का बना कपडा, १५,००० गाँठ कपास का सूत और ६२,००० टन जूट निर्मित वस्तुएँ देगा। इस प्रकार सामान्य व्यापारिक सम्बन्धों के पुनर्प्रारम्भ होने पर व्यापारिक घाटों का प्रारम्भ हुआ जबकि ऊँची कीमतों पर कच्चा जूट मँगाया जाने लगा, कपडे और अन्य सामग्रियों की माँग घटी तथा निर्यात कम होने लगा। इस प्रकार पाकिस्तान के साथ भारत के चालू खाते मे १९५१ में ४६ ९ करोड रुपये की कमी हुई। १९५२ में भारत द्वारा कच्चे जूट का क्रय ३९ करोड रुपये घट गया। १९५१ में खाद्यान्न आयात जिसका मूल्य १९५१ में १० करोड रुपये था, बिलकुल समाप्त हो गया। भारत से पाकिस्तान भेजी जाने वाली वस्तुओं—कोयला, कपास, जूट निर्मित वस्तुओं—में वृद्धि हुई। इस प्रकार ३२ करोड रुपये की बचत हुई। अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिका से पाकिस्तान को निर्यात की गई एवं पाकिस्तान से आयात की गई वस्तुओं का मूल्य स्पष्ट है। ये आँकडे लाख रुपयों में हैं।[1]

§१० कामनवेल्थ देशों से व्यापार—अगले पृष्ठ की सबसे नीचे की तालिका से कामनवेल्थ देशों के साथ भारत का व्यापार स्पष्ट हो जायगा।[2] जैसा कि स्पष्ट होगा, कामनवेल्थ का भाग, आयात और निर्यात, दोनों का बढ रहा है। १९५४–५५ में आयात में थोड़ी कमी हुई जबकि निर्यात में काफी वृद्धि हुई। निर्यात में वृद्धि निम्न देशों के कारण हुई थी—कनाडा, आस्ट्रेलिया न्यूज़ीलण्ड, ट्रिनिडाड टोबागो, ब्रिटिश गायना, फिजी द्वीप समूह, एग्लो मिस्री सूडान दक्षिणी रोडेशिया, नाइजेरिया और टाँगानीका। आयात में प्रमुख देन बहरीन द्वीप समूह, साइप्रस सीलोन टाँगानीका, मलाया-सघ, आदि हैं। आयात निर्यात दोनों में शीर्ष स्थान पर ब्रिटेन है।

१ रिपोर्ट्स ऑन करेंसी एण्ड फाइनेंस १९५२ ५३, पृष्ठ २००, १९५३ ५४, पृष्ठ २०० १९५४-५५ पृष्ठ २०० ।
२ आँकडे करोड रुपये में हैं।

	१९४८-४९	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५
निर्यात					
फल, तरकारियाँ, मसाले	४१७	६७३	२५८	१६	३१
तम्बाकू, निर्मित अनिर्मित	६००	७००	२३४	७	२६
कोयला	१७८१	२३६	३२१	८७४	२५४
सूती कपड़े	२,११८	३७०	४६४	४८	२२०
जूट की निर्मित वस्तुएँ	५५१	४३८	३०७	४	४
अन्यों को मिलाकर योग	७,५०१	४,५२६	३,११०	८०१	६७७
आयात					
कच्चा जूट	७,१२४	६,७०८	१,६४८२	१,४३२	१,३००
कच्ची कपास	१,६५४	७		४	२
खाद्य पदार्थ	४७१	१,२६८	१२६	६२	१०८१
अन्यों को मिलाकर योग	१०,६२६	८,७५०	२,१८८१	१,६३०	१,६३८

	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५
आयात				
योग	८७४.१४	६३५.४६	५४२.३०	६१०.५९
कामनवेल्थ	२९३.३३	२५२.६६	२५६.६०	२६१.३४
	३३%	४०%	४७%	४३%
निर्यात, पुनर्निर्यात				
योग	७०१.७५	५५३.७७	५१५.६६	५७२.३०
कामनवेल्थ	३६५.१३	२६३.३६	२६७.१५	३१८.६६
	५२%	४७%	५१%	५६%

§११ भारत और रूस का व्यापार—भारत की यह इच्छा है कि जितने भी अधिक देशों से हो सके अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये जायँ। इसमें यह मतवाद सम्बन्धी भेदों को बाधक नहीं समझता। इसका प्रमाण रूस के साथ होने वाला (१९५३) व्यापारिक समझौता है जिसके अनुसार भारत ने रूस को जूट-निर्मित वस्तुएँ, चाय, कॉफी, तम्बाकू, लाख, काली मिर्च अन्य मसाले, ऊन, चमड़ा और वनस्पति तेल निर्यात करने का वादा किया है। इनके बदले में रूस भारत को गेहूँ जौ पेट्रोल (क्रूड), पदार्थ, लकड़ी, लोहा कागज, इस्पात की वस्तुएँ, रसायन, रंग, सिनेमेटोग्राफ फिल्म और अनेक कृषि, विद्युतीय, सड़क बनाने और खुदाई के सामान भेजेगा। रूस ने यह भी स्वीकार किया है कि अपने द्वारा दिये गए यन्त्रों के लिए वह प्राविधिक सहायता भी भेजेगा। यह विनिमय-समझौता ५ वर्ष के लिए हुआ है।

१ अपूर्ण।
२ अनुमानित।

§१२ भारत और चीन का व्यापार—प्रारम्भ में दो वर्ष की अवधि के लिए अक्तूबर १९५४ में भारत और चीन ने एक औपचारिक व्यापारिक समझौता किया। भुगतान पौण्ड और रुपयों में किया जाता है। इसमें १०० विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ आती हैं। भारत से होने वाले निर्यात में अनेक निर्मित वस्तुएँ—जैसे साइकिल, सिलाई की मशीन, पम्प, टायर-ट्यूब, मोटर कार और कपास तथा जूट की वस्तुएँ हैं। चीन के निर्यात में यन्त्र, औजार, मशीनें, औषधि-सामग्री एवं यन्त्र, रसायन एवं वानस्पतिक उत्पादन और वनस्पति (डिब्बे में बंद) आती हैं।

§१३ व्यापारिक समझौते—खाद्यान्न के अभाव तथा आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के कारण भारत के विदेशी व्यापार की संरचना एवं दिशा का निर्धारण इधर कुछ वर्षों में प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन, डालर की कमी, प्राथमिकता पद्धति द्वारा हुआ है। इधर भारत ने जो व्यापारिक समझौते किये हैं उनका मूल उद्देश्य यह रहा है कि (१) जिन वस्तुओं की कमी पड़ रही हो उचित मात्रा में उनकी पूर्ति करना (२) कठिन चलाय क्षेत्र (हार्ड-करेंसी एरिया) से व्यापार को हटाकर सरल चलाय क्षेत्र (सॉफ्ट करेंसी एरिया) की ओर मोड़ना, और (३) भारतीय वस्तुओं के लिए नये बाजार की व्यवस्था करना। इसके लिए अनेक देशों से, जिनमें जर्मनी, जापान, पूर्वी यूरोपीय देश, रूस, मिस्र अर्जेंटाइना, आस्ट्रेलिया, स्वीडन अफगानिस्तान ईरान और अन्य देश भी शामिल हैं द्विपक्षीय एवं अदला-बदली के समझौते किये गए हैं।

महान् अवसाद के समय से ही व्यापारिक समझौतों का प्रचलन रहा है। कितने ही देशों ने आर्थिक एकाकीपन की नीति का अनुसरण किया है जिसका परिणाम आयात निर्यात करों की वृद्धि, कोटा पद्धति और कठोर विदेशी विनिमय नियन्त्रण आदि हैं। यूरोपीय देशों को विशेषकर चलाथ एवं विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों का अनुभव हुआ है। इससे स्वभावतः ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को धक्का पहुँचा और आवश्यक वस्तुओं तक सीमित व्यापारिक समझौते अधिक प्रचलित हो गए।

§१४ ओटावा समझौता—१९३२ के जुलाई और अगस्त में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों में आपस में कई समझौते हुए जिनमें आपसी विनिमय-मार्गों का ध्यान में रखा गया। इस प्रकार से उत्पन्न होने वाली साम्राज्य अधिमान प्रथा (इम्पीरियल प्रेफरेंस) द्वारा साम्राज्य-व्यापार के प्रसार पर जोर दिया गया, क्योंकि साम्राज्य देशों ने आपस में एक दूसरे के लिए आयात निर्यात कर घटा दिए। १ जनवरी, १९३३ से लागू होने वाले ब्रिटिश भारत व्यापारिक समझौते के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने आयात निर्यात-करों में आवश्यक परिवर्तन किये। इस प्रकार कुछ प्रकार की मोटर गाड़ियों पर भारत ने साढ़े सात प्रतिशत अधिमान दिया और कुछ अन्य वस्तुओं पर १० प्रतिशत अधिमान दिया।

भारतीय जनमत सदैव साम्राज्य अधिमान के विपक्ष में रहा है क्योंकि इससे इंगलैण्ड पर भारत की निर्भरता बढ़ती थी। कारण यह था कि भारत उसमें व्यापार में इस प्रकार बँधा था कि उसके पास साम्राज्य के बाहर के बाजारों में ऐसे

के बदले में देने योग्य कोई वस्तु नहीं थी। ओटावा-समझौते से होने वाला लाभ भी संदिग्ध था। इस समझौते से केवल कुछ वस्तुओं जैसे अलसी, चावल कालीन और कम्बलों के क्षेत्र में कुछ लाभ हुआ। १९३७ में बर्मा के भारत से अलग होने के कारण वे वस्तुएँ—जैसे चावल सागौन की लकड़ी, पराफिन मोम इत्यादि—जिन्हें अधिमान मिला था, या तो बिलकुल बंद हो गईं या उनका महत्त्व काफी कम हो गया। यह मानने के पुष्ट प्रमाण हैं कि बिना ओटावा समझौते के भी भारत का ब्रिटेन के साथ व्यापार बना रहता। उदाहरण के लिए ब्रिटेन का कपास उद्योग हर हालत में भारतीय कपास को बिना कर के स्वीकार कर लेता।

इंगलण्ड से किये गए आयातों का दाम चुकाने के लिए तथा इंगलण्ड में अपने दायित्वों की पूर्ति के लिए भारत को अपना व्यापार इंगलिस्तान की ओर प्रवाहित करना ही पड़ता। ओटावा के अधिमानों से भारत की अपेक्षा इंगलैण्ड का अधिक लाभ था। अधिमान पाने वाली ब्रिटिश वस्तुओं की संख्या १६२ थी, जबकि उपर्युक्त भारतीय वस्तुओं की संख्या अत्यन्त सीमित थी। यह शिकायत होने लगी कि भारतीय शिष्टमण्डल ने जो ओटावा-समझौते में भाग लिया था वह भारतीय कृषि, वाणिज्य, उद्योग का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करता था उसने दिया बहुत अधिक और उसके बदले में उसने बहुत कम प्राप्त किया। अतएव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि भारतीय धारा सभा ने ३० मार्च १९३६ में इस समझौते को रद्द कर दिया।

§१५ मोदी-लीज समझौता (बम्बई-लंकाशायर टेक्सटाइल समझौता)—सितम्बर, १९३३ में सर विलियम क्लेयर लीज की अध्यक्षता में आये हुए एक ब्रिटिश वस्त्र शिष्ट-मण्डल ने बम्बई के मिल मालिक संस्था के अध्यक्ष श्री एच० पी० मोदी से समझौता किया। १९३३ में किये गए इस समझौते का नाम मोदी-लीज पैक्ट था। इसके अनुसार लंकाशायर से भारत आने वाले सूती कृत्रिम रेशमी वस्त्र पर निम्नतर दर से आयात कर लगाया गया। इसके बदले में साम्राज्य में ब्रिटिश वस्तुओं को प्राप्त अधिमान भारतीय वस्तुओं को भी दिये गए तथा निर्णय किया गया कि विभिन्न बाजारों में ब्रिटेन के कोटा में भारत भाग ले सकता है भले ही उसे उसमें कोई कोटा न मिला हो। यह आश्वासन भी दिया गया कि ब्रिटिश टेक्सटाइल मिशन ब्रिटेन में भारतीय कपास के उद्योग का प्रचार करेगा। यह समझौता ३१ दिसम्बर १९३५ तक लागू रहने को था।

§१६ पूरक आंग्ल भारतीय व्यापारिक समझौता (१९३५)—बम्बई लंकाशायर समझौता के स्थान पर १९३५ में आंग्ल भारतीय व्यापारिक समझौता हुआ। यह स्वीकार किया गया कि भारतीय उद्योगों के संरक्षण के उपाय उस सीमा से आगे नहीं बढ़ने चाहिएँ जो आयात की हुई वस्तुओं की कीमतों को भारत में उत्पादित वस्तुओं के उचित विक्रय-मूल्य के समान करती हो। इन दशाओं के अन्तर्गत जहाँ तक सम्भव हो इंगलण्ड की वस्तुओं पर कम दर से कर लगाया जाय। यह भी स्वीकार किया गया कि जब किसी भारतीय उद्योग को संरक्षण दिया जाय तो उसी प्रकार के ब्रिटिश उद्योग के पक्ष को भी भारतीय प्रशुल्क मण्डल को सुनना चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने यह आश्वासन दिया कि वह भारत में अधिमान पाने वाली निर्मित वस्तुओं

के उपयोग मे आने वाले कच्चे माल एव अर्धनिर्मित वस्तुओ के आयात को प्रोत्साहन देगी, तथा इगलण्ड मे भारतीय कपास के उपयोग को प्रचलित करने का प्रयास किया जायगा। भारतीय अपिघम अयस (पिग आयरन) का ब्रिटेन में कर मुक्त प्रवेश जारी रहा। इसकी आलोचना इस आधार पर की गई कि भारत ने निश्चित शर्तें स्वीकार की थीं, जबकि ब्रिटेन ने केवल आश्वासन मात्र दिये जिनका कोई तात्कालिक उपयोग न था।

§१७ आंग्ल भारतीय व्यापारिक समझौता (१६३६)—माच, १६३६ में किये गए एक नये समझौते के अन्तगत भारत ने ब्रिटेन से आयात होने वाली अनेक वस्तुओं, जसे रसायन, रग, कपडा के अवशिष्टांश, ऊनी कालीन, सीने की मशीन, पर १० प्रतिशत और मोटर कार, मोटर साइकिल, स्कूटर, साइकिल, वर्सा इत्यादि पर साढ़े सात प्रतिशत अधिमान दिया। ब्रिटेन ने निम्न अधिमान दिये—(१) हड्डी, अलसी रेंडी, मूंगफली, बिना सिझाए चमड़े, नारियल के रेशे सोयाफली, मसाले इत्यादि पर मूल्यानुसार १० प्रतिशत का अधिमान दिया। (२) जूट निर्मित वस्तुओं जसे सुतली, रस्सियां, रेंडी का तेल, अलसी का तेल, मूंगफली का तेल, मोम, पर १५ प्रतिशत अधिमान दिया गया। (३) नारियल के रेशो की चटाइयां, बोरों, कपास की निर्मित वस्तुओं और कुछ अन्य प्रकार के जूट के बोरो पर २० प्रतिशत अधिमान दिया गया। (४) मैग्नीशियम क्लोराइड पर वजन के हिसाब स १ शिलिंग प्रति हण्डरवेट, हाथ से बनी फर्श की चटाइयों या दरियों पर ४ शि० ६ पें० प्रति वर्ग गज, काफी पर ६ शि० ८ पें० प्रति हण्डरवेट, चाय पर २ शिलिंग प्रति पौण्ड तथा चावल पर ¾ पें० प्रति पौण्ड के हिसाब से अधिमान दिया गया। कुछ भारतीय वस्तुओं का बिना कर के प्रवेश जारी रहा जिनम लाख, कच्चा जूट, अभ्रक, आंवला इत्यादि सम्मिलित थे। ३१ माच, १६४१ तक के लिए अपिघम अयस (पिग आयरन) को भी कर मुक्त कर दिया गया। इस तिथि के पश्चात् ब्रिटेन भारतीय लोहे के आयातों पर कर लगाने के लिए स्वतन्त्र था यदि भारत को प्रेषित लोहे पर लगाया गया कर १६२४ के लोहा और इस्पात सरक्षण अधिनियम में प्रस्तावित करो से अधिक हो। ब्रिटेन को होने वाले कपास के निर्यात को ब्रिटेन से होने वाले कपड़े के आयात से विसर्प अनुमाप (स्लाइडिंग स्केल) द्वारा सम्बद्ध कर दिया गया। भारत और अन्य साम्राज्य के देशो द्वारा परमानुगृहीत राष्ट्र के व्यवहार को स्वीकार कर लिया गया।

यह नवीन समझौता भी न तो भारतीय कपडों के उत्पादकों का ही समथन पा सका और न भारतीय व्यापारिक सगठनो का ही। दोनो की अस्वीकृति के कारण समान थे। यह कहा गया कि इस समझौते मे भारतीय बीमा, बकिंग और जहाजरानी को विवेचनात्मक व्यवहार के विरुद्ध कोई सरक्षण न मिला। भारत को मिले अधिमानों की अपेक्षा ब्रिटेन को प्राप्त सुविधाएं कहीं अधिक ठोस और लाभदायक थीं। साथ ही यह अन्य महाद्वीपीय देशों से भारत के द्विपक्षीय व्यापारिक समझौता करने के माग में बाधा उपस्थित करता था, क्योंकि उन देशो से प्राप्त आयात के बदले में देने के लिए भारत के पास कोई मूल्यवान वस्तु न थी और अंग्रेजी रंगे वस्त्र, औजार

और रसायनो को अधिमान देने का अर्थ था देशी उद्योगो के विकास का गला घोटना । भारतीय वस्तुओं को ब्रिटेन से प्राप्त अधिमान बेकार थे । ब्रिटेन उन पर कर लगा ही नही सकता था, क्योकि वे उसकी औद्योगिक स्थिति के लिए अनिवार्य थी । उदाहरणार्थ जूट को लिया जा सकता है जिसकी आवश्यकता अस्त्रीकरण तथा ब्रिटिश उद्योगो के लिए होती थी । ब्रिटिश कपडे तथा भारतीय कपास के आयात एव निर्यात को जिस विरूप अनुमाप से लागू किया गया वह भी लकाशायर के अधिक अनुकूल था । इस व्यापारिक समझौते के प्रभाव का पता लगाना काफी कठिन है । समझौते के बाद इस सम्बन्ध म आवश्यक आँकडे केवल छ माह के ही प्राप्त हैं । उसके बाद द्वितीय महासमर प्रारम्भ हो गया । इसके पश्चात् अधिमानो का प्रभाव आयात निर्यात प्रतिबन्धो से आच्छन्न हो गया ।

§१८ भारत जापानी व्यापारिक समझौते—भारत जापानी व्यापार का नियमन १६०४ के जापान भारतीय व्यापारिक अभिसमय (कन्वेन्शन) द्वारा होता था, जिसे अप्रल, १६३३ में भारत सरकार ने त्याग दिया । अभिसमय के अन्तगत जापान को परमानुगृहीत राष्ट्र का पद प्राप्त था । इससे भारत का कपडे का उद्योग क्षतिग्रस्त हो रहा था और भारत परमानुगृहीत राष्ट्र की व्यवस्था के कारण कुछ कह नहीं सकता था । १६३३ मे भारत ने सभी विदेशी कपडे की वस्तुओं पर (जापानी वस्तुओं पर भी) कर बढ़ाया (७५ प्रतिशत मूल्यानुसार) तथा सारे भूरे कपडे पर ६¾ आना प्रति पौण्ड का निम्नतम कर लगाया । इसके परिणामस्वरूप जापानी शिष्टमण्डल भारत पहुँचा । उनके वार्तालाप के परिणामस्वरूप १६३४ का व्यापारिक समझौता हुआ, जिसके दो भाग थे—अभिसमय (कन्वेन्शन) और अधिकृत (प्रोटोकोल) । पहले भाग मे दो देशो के व्यापारिक सम्बन्धों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई । इसके अन्तगत परमानुगृहीत राष्ट्र के सिद्धान्त का प्रसार किया गया । दोनों देश अपने गृह उद्योगो के हित मे कर लगाने के लिए स्वतन्त्र थे । येन और रुपये की विनिमय-दर के परिवर्तनो को सतुलित करने के लिए विशेष आयात निर्यात-कर लगाने की छूट थी । दूसरे भाग म आयात निर्यात के सम्बन्धो को निर्धारित किया गया था । भारत जापानी सादे भूरे कपडे पर ५० प्रतिशत मूल्यानुसार या सवा पाँच आना प्रति पौण्ड से अधिक कर नहीं लगा सकता था । अन्य कपडो पर मूल्यानुसार ५० प्रतिशत से भी अधिक कर लगाया जा सकता था । कोटा पद्धति लागू की गई । यदि जापान १० लाख गाँठ कपास खरीदता तो भारत प्रतिवर्ष जापान से ३ २५० लाख गज कपडे का आयात करता । जापान भारत को ४,००० लाख गज प्रतिवर्ष मे अधिक कपडा निर्यात नहीं कर सकता था । इससे अतिरिक्त वृद्धि १५ लाख गज जापानी कपडा प्रति १० हजार भारतीय कपास की गाँठो के निर्यात के अनुपात म होगा । भारत में आयात होने वाले विभिन्न कपडो के प्रकारों का आयात निम्न प्रकार से निर्धारित किया गया—(१) सादा भूरा कपडा ४५ प्रतिशत, (२) किनारदार भूरा कपडा १३ प्रतिशत, (३) सफेद धुला कपडा ८ प्रतिशत और (४) रगीन (छीट या बुने हुए) ३४ प्रतिशत । इस समझौते की आलोचना कोटा पद्धति को लेकर हुई । कितनी ही ऐसी बातें थी जिनसे यह अपने

उद्देश्य मे सफल न हो सका।

बनावटी सिल्क और कटे हुए टुकडे इसमें सम्मिलित नहीं किये गए यद्यपि जापान से भारत मे इसका बडी मात्रा में आयात होता था। इसी प्रकार कोटा के प्रतिबन्ध से बचने के लिए जापान ने सिले सिलाए कपडे भेजना प्रारम्भ किया जिनकी भारतीय बाजारो म भरमार हो गई। जापान ने परमानुगृहीत राष्ट्र वाली धारा का पूरा-पूरा लाभ उठाया और बडी सख्या मे शीशे का सामान, बूट, जूते, धातु के बतन ऊनी सामान, साइकिलें और छाते भेजना प्रारम्भ किया, जिनका भारत के अनेक नव जात उद्योगों और शिल्पों पर प्रतिकूल प्रभाव पडा। इस प्रकार जबकि भारत के लिए जापानी निर्यात बढ गया, भारत से जापान के लिए अपिघम अयस (पिग आयरन) और तिलहन के निर्यात में काफी कमी हुई।

३१ मार्च, १६३७ के एक संशोधित समझौते के अनुसार परमानुगृहीत राष्ट्र धारा तीन वर्ष के लिए और बढा दी गई। आधारभूत वार्षिक कोटा ३ २५० लाख गज मे घटाकर २ ८३० लाख गज कर दिया गया, जिसके बदल में जापान को भारतीय कच्ची कपास की १० लाख गाँठें खरीदनी पडती। रगीन कपडे का कोटा ३४ प्रतिशत से बढाकर ३७ प्रतिशत कर दिया गया। जापान ने भारत के लिए कटे हुए कपडे के टुकडो का निर्यात केवल ८ ६५० ००० गज तक सीमित करने का वचन दिया। भारत ने सूती कटे टुकडो पर मूल्यानुसार ३५ प्रतिशत से अधिक कर न लगाने का वचन दिया। यह अभिसमय (कन्वेन्शन) भारत के नवीन उद्योगो के लिए हानिकारक था। यदि भारत सरकार ने अपनी सौदा करने की शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग किया होता, तो उसने अपने नवजात उद्योगो की रक्षा करते हुए एक व्यापक व्यापारिक समझौता किया होता। इन नवजात उद्योगो म शीशे के बतन और सामान, पाद्यादि (होजरी) रसायन इत्यादि आते हैं। इसके स्थान पर समझौते म कपास और सूती कपडे के अदल-बदल की शर्तें ही निश्चित की गई।

३१ मार्च १६४० मे अधिवृत्त (प्रोटोकॉल) की समाप्ति तथा १६४१ में ब्रिटिश सरकार द्वारा जापान के साथ किये गए समझौते को त्यागने के बाद १६४८ तक भारत और जापान के बीच कोई व्यापारिक समझौता नही हुआ। इसका कारण जापान का जर्मनी के पक्ष में युद्ध म उतरना था। ८ नवम्बर, १६४८ को एक पाउण्ड क्षेत्र समझौता (स्टर्लिंग एरिया ऐग्रीमेण्ट) हुआ, जिसके अनुसार १६४८ ४६ में भारत ८ ८ करोड रुपये का सामान जापान से आयात करेगा और इसके बदले में उस देश को ५ ६ करोड रुपये की सामग्री निर्यात करेगा (१६४८ ४६)। आयात की सामग्री मे विशेषत औद्योगिक मशीनें और यन्त्र सूती वस्त्र तथा निर्यात में कच्ची कपास जूट और कच्चा लोहा थे। इस व्यापारिक समझौते का विस्तार और नवकरण प्रतिवर्ष होता है।

§१६ विदेशी व्यापार-नीति—इधर हाल के कुछ वर्षों के प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन के कारण भारत सरकार काफी परेशान है। अगत अमरिका के गेहूँ के ऋण के कारण और अगत एकत्र पौण्ड पावने के कारण अभी तुरन्त तो कोई समस्या नहीं है

लेकिन यदि यही हाल रहा तो इससे भारत की अर्थ व्यवस्था पर बड़ा भार पड़ेगा। इस समस्या को हल करने के लिए दो उपाय किये गए हैं—(१) आयात निर्यात नियन्त्रण, तथा (२) अवमूल्यन। १९४७ में आयात निर्यात नियन्त्रण कानून पास किया गया तथा सितम्बर, १९४९ मे रुपये का अवमूल्यन किया गया। आयात निर्यात नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य कठोर मुद्रा क्षेत्रों से आयात घटाना और उन वस्तुओं तक सीमित करना है जो राष्ट्रीय विकास के लिए अत्यावश्यक हैं। कठोर और सरल मुद्रा के आधार पर अनुज्ञा देने की प्रथा का अनुसरण किया गया। अनुज्ञाधीन एव स्वतन्त्र वस्तुएँ आवश्यकतानुसार परिवर्तित होती रही हैं। १९४८ ४९ में आयात नियन्त्रण काफी ढीला कर दिया गया। यह अगस्त, १९४९ तक कायम रहा। इसका उद्देश्य भारत की मुद्रास्फीति को दबाना था और यह पौंड पावने के कारण सम्भव हो सका। अगस्त, १९४९ के निर्बाध सामान्य अनुज्ञप्ति १९ (ओपन जनरल लाइसेंस १९) अधिनियम में अधिक प्रतिबन्ध उपभोग की वस्तुओं पर लगाये गए—तेल-सम्बधित सामान, विविध प्रकार के कपड़े, तम्बाकू इत्यादि। आयात की वस्तुओं म रग, दवाएँ, रसायन, कागज, दफ्ती गाड़ियाँ बिजली का सामान चाकू छुरियाँ और बर्तनों के आयात को बहुत कम कर दिया गया। अनावश्यक वस्तुओं का आयात बन्द करने तथा औद्योगिक कच्चे माल के आयात की आज्ञा देने वाली १९४९ ५० की प्रतिबन्ध आयात नीति बाद में भी चालू रही। सितम्बर, १९४९ के पश्चात् पाकिस्तान से व्यापार प्राय बन्द हो गया। इन परिस्थितियों में विदेशी विनिमय स्थिति में काफी सुधार दिखाई पड़ा, अतएव १९५० ५१ में आयात के सम्बन्ध में कुछ उदारता की नीति बरतना सम्भव हुआ।

जुलाई १९५० के पूर्व भारत सरकार ने आयात-व्यापार नियन्त्रण के प्रशासन को सुदृढ़ करने का काफी प्रयास किया। आयात नियन्त्रण की जाँच करने तथा सगठन की कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। अक्तूबर, १९५० मे इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसकी प्रधान सिफारिशों में तीन दिशाओं में आयात सम्बन्धी स्थिरता पर जोर दिया गया—यथा विनिमय का विभाजन (निर्धारण), विशेष वस्तुओं के सम्बन्ध मे सामान्य अनुज्ञा नीति और प्रशासकीय पद्धतियाँ तथा व्यवहार के सम्बन्ध म। समिति के विचार मे आयात नियन्त्रण के मूल उद्देश्य ये थे (१) सरकारी तथा वाणिज्यिक आयातों को कुल प्राप्य विदेशी विनिमय तक ही सीमित रखना (जिसमे पौण्ड पावना भी शामिल है), (२) कृषि एव उद्योग के आयोजित विकास को दृष्टि म रखकर उपभोग की आवश्यक वस्तुओं पर तथा विकास के लिए आवश्यक उत्पादक वस्तुओं के बीच प्राप्य विदेशी विनिमय का समान रूप से वितरण करना और (३) इसके साथ ही जिन वस्तुओं का मूल्य सामान्य स्तर से अधिक उठ गया हो उन्हें नीचे लाना। इस प्रकार की वांछित स्थिरता कायम रखने तथा मूल्य के घट-बढ़ को नियन्त्रित करने के लिए प्रतिवर्ष ४०० करोड़ रुपया वाणिज्यिक आयात के लिए निर्धारित (आगामी दो वर्ष के लिए) करने की सिफारिश की गई। निर्बाध सामान्य अनुज्ञप्ति प्रथा को अनिश्चित काल के लिए जारी

रखा गया। अनुज्ञा प्राप्त वस्तुओं के आयात को क्रमश बढ़ाने तथा विद्यमान प्राथमिकता को संशोधित करने की भी सिफारिश की गई। ऐसा संशोधन न होने तक प्राथमिकताओं का निम्न क्रम रखा गया–(१) कच्चा माल, (२) अतिरिक्त पुर्जे और उपसाध्य वस्तुएँ, (३) कृषि उत्पादन के लिए यन्त्र और समार, (४) नवीनीकरण के लिए यन्त्र और मशीनें, (५) देश के स्वास्थ्य या जीवन के लिए आवश्यक उपभोक्ता वस्तुएँ, (६) उत्पादन की वृद्धि या उत्पादन की लागत घटाने वाले यन्त्र और समार, (७) नये उद्योगों की स्थापना के लिए आवश्यक मशीनें, और (८) सामान्य वस्तुएँ। समिति का मत था कि सामान्य वस्तुओं के लिए अनुज्ञा (लाइसेंस) का समय कम-से-कम एक वर्ष का होना चाहिए। पूंजी वस्तुओं तथा विद्युत् मशीनों और अन्य भारी मशीनों के लिए यह तीन वर्ष होना चाहिए। अनुज्ञा प्रथा का विकेन्द्रीकरण, स्वतन्त्र अनुज्ञा प्रथा का प्रसार, देश के बजाय क्षेत्र के अनुसार अनुज्ञा देना, नये आने वालों को अधिक सुविधाएँ देना तथा आयात नियन्त्रण-संगठन की कुशलता की वृद्धि आदि के सम्बन्ध में भी सिफारिशें की गईं।

जनवरी, १९५१ के एक प्रस्ताव द्वारा सरकार ने इनमे से अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और घोषणा की कि वह विदेशी विनिमय के अर्जन तथा आयात की देयता के अनुसार उच्च एवं स्थायी आयात कायम रखेगी। जनवरी जून, १९५१ की अनुज्ञा नीति में दीर्घ काल के लिए अनुज्ञा देने और देश विदेश के बजाय कठोर तथा सरल चलार्थ क्षेत्रों के अनुसार अनुज्ञा देने को भी शामिल कर लिया गया।

इस व्यापारिक नीति का मूल उद्देश्य आयात की ओर उदारतावादी दृष्टिकोण रखना था ताकि चालू आवश्यकताओं के लिए आवश्यक कच्चा माल प्राप्त हो सके और भविष्य के लिए भी उनका स्टाक फिर से बढ़ाया जा सके। जुलाई दिसम्बर १९५१ मे इस नीति में कुछ सुधार किये गए ताकि आयात की बढ़ती कीमतों का सामना किया जा सके। इसके अतिरिक्त आयात की जाने वाली वस्तुओं की संख्या तथा अनुज्ञप्ति-मूल्य, दोनों के सम्बन्ध में उदारतावादी दृष्टिकोण अपनाया गया। उदाहरण के लिए १९५१ ५२ मे औषधियों के आयात की अनुज्ञाओं का मूल्य दूना कर दिया गया।

१९५२ ५३ में भारतीय निर्यात को धक्का पहुँचा। कोरियाई समृद्धि के अन्त तथा क्रेता बाजारों की स्थापना के कारण निर्यात के विकास की ओर जोर दिया जाने लगा। जहाँ तक आयातों का प्रश्न है, गैर डालर माल क्षेत्रों की ओर नीति काफी उदार थी। डालर क्षेत्रों से आयात काफी सीमित रखा गया ताकि पाउन्ड क्षेत्र के डालर के घाटे को कम किया जा सके।

निर्यात नियन्त्रण का उद्देश्य देश की आन्तरिक आवश्यकताओं का ध्यान में रखते हुए निर्यातों की अधिकतम वृद्धि करना था। नियन्त्रण-मुक्त वस्तुओं की संख्या में क्रमशः वृद्धि हुई है और २५० से अधिक वस्तुओं पर से नियन्त्रण (कण्ट्रोल) हटा लिया गया है। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण निम्न हैं—अभ्रक, लाख, मैंगनीज, जूट तथा उसकी वस्तुएँ, दरियाँ, कम्बल, कच्चे और सिझाये हुए चमड़े के अनेक प्रकार, और चाय। इनमें से चाय के ऊपर एक प्रकार का कोटा प्रतिबन्ध है। नियन्त्रित वस्तुएँ

कोटा पद्धति के अनुसार वितरित होती हैं। इनमें से प्रमुख हैं कपास की निर्मित वस्तुएँ, मगनीज, कच्चा लोहा, क्रोमाइट, इत्यादि। इन पर निर्यात नियन्त्रण की सख्ती और ढिलाई देश की आन्तरिक आवश्यकतानुसार होती रही है।

सितम्बर, १६४६ मे भारतीय रुपये के अवमूल्यन से डालर तथा गैर-डालर, दोनो क्षेत्रो मे भारतीय वस्तुओ की माँग बढ गई है, क्योंकि भारतीय निर्यात सस्ता हो गया है। सयुक्तराज्य अमेरिका के आयात करने वालो को जो मूल्यगत लाभ प्राप्त हुआ इससे वे अन्य क्रेताओ की अपेक्षा भारतीय वस्तुओं के लिए अधिक रुपये देने के लिए तैयार थे। मूल्यो की अनुचित वृद्धि रोकने के लिए सरकार ने कुछ वस्तुओ पर निर्यात-कर लगा दिया। सरसो के तेल पर आठ आना प्रति पौण्ड तथा लोहे और इस्पात के नियन्त्रित वर्गों की सामग्रियो पर मूल्यानुसार ४५ प्रतिशत कर निर्धारित हुआ। केवल चद्दरें अपवादस्वरूप थीं जिन पर निर्यात कर ३० प्रतिशत निर्धारित हुआ। सरकार ने टाट (हेसन) पर निर्यात-कर ८० रुपये प्रति टन से बढ़ाकर ३५० रुपये प्रति टन कर दिया। पश्चिमी बगाल म जूट निर्मित वस्तुओ में अग्रे व्यापार को बन्द कर दिया गया। इसके बाद सरकार ने अक्तूबर, १६४६ में एक अष्ट तत्त्व योजना (एट पाइण्ट प्रोग्राम) बनाई, जिसमे भविष्य के व्यापार को इस प्रकार आयोजित करने का विचार था कि देश की आवश्यकताओ को ध्यान में रखते हुए विदेशी विनिमय का व्यय कम-से-कम हो तथा कठोर मुद्रा क्षेत्रों को होने वाले निर्यातो पर कर लगाया जाय। पहले तत्त्व के अन्तगत उठाये गए कदम आयात प्रतिबन्ध के रूप म थे और दूसरे तत्त्व के अन्तगत उठाये गए कदम सट्टेबाजी और उससे उत्पन्न मूल्य-वृद्धि को रोकने से सम्बन्धित थे।

१६५० के पूर्वार्द्ध म निर्यातों मे वृद्धि हुई थी। इसका कारण अशत अव मूल्यन और अशत अनेक वस्तुओ के सम्बन्ध मे अनुज्ञा पद्धति को सरल बनाना तथा कुछ मदो को निर्बाध सामान्य अनुज्ञप्ति पर रखना था। १६५० ५१ मे यह नीति क्रमश पलटने लगी। कितनी दशाओ मे अल्पकालीन स्थगन अथवा निषेध तथा निर्यात के कोटे में कमी करने की पद्धति भी लागू हो गई। कच्चे ऊन का निर्यात अल्पकाल के लिए बन्द कर दिया गया।[1] मूँगफली का निर्यात स्थगित कर दिया गया। कितनी ही सामग्रियो पर पुन कर लगाया गया या बढ़ाया गया। गृह आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ये स्थगन एवं निषेध १६५१ ५२ तक जारी रहे। जून, १६५१ तक निर्यात नियन्त्रण नीति मे कुछ परिवर्तन अनिवार्य हो गया। मोटे और मध्यम कोटि के कपड़े तथा मूँगफली की माँग के भार को कम करने के लिए तथा घर और बाहर उनके मूल्यों की विषमता को दूर करने के लिए इन वस्तुओं के निर्यात-करो को सशोधित किया गया।

१६५२ के प्रथम चरण में विक्रेता बाजार का स्थान क्रेता बाजार ने ले लिया। यह परिवर्तन १६५१ में ही दिखाई पड़ने लगा था। १६५२ में यह इतना स्पष्ट हो गया

1 नवम्बर १६५० में निषेध आंशिक रूप से हटा लिया गया और निर्यात के लिए १५० लाख पौण्ड का कोटा निर्धारित किया गया।

कि निर्यात-कर में पुन परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। सरसों के तेल पर कर ८ आना प्रति पौण्ड से घटाकर ३ आना प्रति पौण्ड कर दिया गया। टाट (हेसियन) पर कर आधा कर दिया गया, कच्ची कपास पर प्रति गाँठ ४०० रुपये से घटाकर २०० रुपय कर दिया गया, और कच्चे ऊन, मूँगफली, नाइजर बीज (नाइजर सीड), करडी पर से कर बिल्कुल उठा लिया गया।

निर्यात पर निर्देशात्मक प्रतिबन्धों के अलावा सरकार ने इसे घटाने का भी उपाय किया। १९४९ मे श्री ए डी गारवाला के सभापतित्व मे एक निर्यात प्रवतन समिति (ऐक्सपोर्ट प्रोमोशन कौंसिल) की स्थापना हुई। इसकी सिफारिशें (१) निर्यात नियन्त्रण (२) निर्यात में बाधा पहुँचाने वाले करो के निवारण, (३) निर्यात की जाने वाली वस्तुओ के सम्बन्ध में सट्टेबाजी पर नियन्त्रण, तथा (४) निर्यात की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि से सम्बन्ध रखती थी। सरकार ने इनमें से अधिकांश सुझावो को कार्यान्वित किया और निर्यात परामर्श परिषद् की नियुक्ति की, जो सरकार को निर्यात नियन्त्रण नीति पर सलाह देती थी। हर छठे महीने नीति पर पुनर्वीक्षण होता है और परिस्थितियों के अनुसार वस्तुओ के निर्यात को प्रोत्साहित किया जाता है।

द्विपक्षीय व्यापार सधियाँ भी निर्यात-व्यापार के प्रतिबन्ध एव प्रवतन का महत्वपूर्ण अग है। हवाना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में भारत हवाना चार्टर से बद्ध है और इसका उद्देश्य अधिक-से अधिक देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना है।

§३० आधुनिक प्रवृत्तियाँ—भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आधुनिक प्रवृत्तियाँ निम्न हैं—

(१) निर्यात की मात्रा घट रही है।

(२) कच्चे माल के आयात के लिए विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है।

(३) डालर क्षेत्र से व्यापार प्राय असन्तुलित है। पचवर्षीय योजनाओ की पूर्ति से हमारे विदेशी व्यापार सम्बन्धी कुछ समस्याएँ हल हो जायँगी। गृह-उत्पादित कपास और जूट से इन वस्तुओ के लिए विदेशो पर निर्भरता कम हो जायगी। खाद्यान्नों के उत्पादन की वृद्धि के कारण विदेशो पर खाद्य सम्बन्धी निर्भरता कम हो रही है और इनका आयात क्रमश घट रहा है। खाद्यान्नों की स्थिति इतनी सुधर गई है कि हर प्रकार के नियन्त्रण हटा लिये गए हैं और अब इनका आयात प्राय बन्द हो गया है।

निकट भविष्य में भारत के निर्यात-व्यापार में वृद्धि होने की पूर्ण आशा है। विशेषत ऊनी कपडे, जूट निर्मित वस्तुएँ और सूत कच्चा मैगनीज, तेल, कोयला और काली मिर्च, तम्बाकू नारियल जटा, ऊनी कपडे सिलाई की मशीनें, कपडे बनाने की मशीनें, औजार, शुष्क बैटरियाँ, साबुन सीमेंट, बिजली के पंखे, रसायन, कागज और दफ्तियों के निर्यात मे वृद्धि होगी। आयात पर पचवर्षीय योजना का प्रभाव योजना के हर चरण मे देश की आवश्यकताओं आयात नियन्त्रण नीति और विदेशी विनिमय की प्राप्यता पर निर्भर होगा। यह निश्चित है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के कार्यों

न्वयन के लिए विदेशो से मशीनो का आयात जारी रखना पड़ेगा।

§२१ दीघकालीन व्यापार नीति के विभिन्न चरण—१९४९ ५० के राजकापीय आयोग ने भारत की दीघकालीन व्यापार-नीति के निम्न चरणो की ओर सकेत किया है—(१) पहले चरण में विदेशो से पूँजी वस्तुआ का आयात अधिक होगा ताकि देश के प्राकृतिक साधनों, आवश्यक तृतयिक (टशरी), आधारभूत और उपभोग्य वस्तुओ के उद्योगो का विकास किया जा सके। वतमान निर्याती में कमी होगी और आयात बढेगा क्योंकि स्थानीय उपभोग के लिए कच्चे माल और धातुओं का अधिकाधिक विधायन देश म ही होगा। विदेशी विनिमय का भार कम करने के लिए उपभोक्ता-वस्तुआ के आयात पर कठोर प्रतिबन्ध लगाने पड सकते हैं (२) दूसरी अवस्था वह होगी जब पूँजी-वस्तुओ का आयात समाप्तप्राय होगा और लगाई हुई पूँजी से वस्तुआ और सेवाओं का उत्पादन होने लगेगा। इस लगी पूँजी द्वारा अभिवर्द्धित राष्ट्रीय आय स उपभोक्ता-वस्तुओ के आयात की माँग वढ सकती है, जब तक कि गृह उद्योग उस माँग के बराबर उत्पादन करने मे समय न हो। ऐसा न होने पर निर्यात की वस्तुएँ गृह उपभोग के लिए काम में आयेंगी। परिणाम यह होगा कि विदशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ वढ़ जायेंगी। (३) तीसरी अवस्था में गौण उद्योगो का महत्त्व वढ़ जायगा और आयात में शीघ्रता से कमी होगी। यदि गौण उद्योगो का उत्पादन बढता है तो उनके द्वारा लाभदायक विदेशी वाजारो की स्थापना का अवसर भी मिल सकता है। निर्यात की वृद्धि से उत्तम प्रकार की वस्तुओ का आयात सम्भव हो सकेगा और इस प्रकार काफी उच्च स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सतुलन स्थापित किया जा सकगा।

देश के नियोजन प्रयासों के परिणामस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार की भावी रूपरेखा सामान्यत निम्न रूप धारण कर सकती है। मशीनो जसी पूँजी वस्तुओं का आयात आर्थिक दृष्टि से विकसित देशो से होगा और प्राथमिक वस्तुआ का आयात जसे कृषि एव वन-उत्पत्ति विशेषतया पूव के कम विकसित देशा से होगा। भारत अधिकतर विधायित खनिज कृषि-उत्पत्ति हल्की मशीनें एव उपभोक्ता पदार्थों को एशिया और अफीका के पडोसी देशो को निर्यात करेगा। घरेलू अथ-व्यवस्था को निर्यात-व्यापार के इस नय नमूने के अनुरूप बनाने के लिए सरकार तथा व्यक्तिगत व्यापारियो को विशेष प्रयास करना होगा।[१]

§२२ भुगतान सतुलन का अर्थ—किसी देश के भुगतान सतुलन में उस दश क विदशो स होने वाले सभी सौदो को ध्यान म रखा जाता है। व्यापारिक सतुलन म केवल दृश्यमान मदो को ही लिया जाता है, अर्थात् ये मदें जिनका लेखा आयात निर्यात-कर कार्यालय या अन्य सार्वजनिक आँकडो में रहता है तथा अदृश्यमान मदो को छोड दिया जाता है। किसी समुचित लेखा सतुलन में सब मदें (चाहे व दृश्य हो या अदृश्य) ध्यान में रखनी पडती हैं। इन मदो का सम्बन्ध (१) सोने और खजाना के आयात या निर्यात (२) दिये गए या प्राप्त ऋण, (३) ऋणा पर दिया जाने वाला ब्याज

१ फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, १९४९-५०, पैरा १४८।

भुगतान-सन्तुलन

	१९५२			१९५३			१९५४		
	प्राप्ति	भुगतान	वास्तविक (Net)	प्राप्ति	भुगतान	वास्तविक (Net)	प्राप्ति	भुगतान	वास्तविक (Net)
चालू खाता—									
मौद (निर्यात f.o.b आयात c.i.f)									
वैयक्तिक (Private)	६०७.०	५०९.०	+९८.०	५२७.९	४२५.९	+१०२.०	६४७.४	६०७.३	+ ४०.१
सरकारी खाद्य एवं भण्डार	५.८	२३७.७	—२३१.९	५.०	१४०.४	—१३५.४	१.४	११७.२	—११५.८
अद्राव्यिक स्वर्ण गतिशीलता									
विदेशी यात्राएँ	०.६	१०.१	—९.५	०.९	१०.४	—९.५	१.६	१०.२	— ८.६
परिवहन	३४.४	१९.९	+१४.५	३०.८	१३.५	+१७.३	३२.८	१०.४	+ २२.४
बीमा	६.०	३.७	+२.३	५.७	३.९	+ १.८	५.१	३.९	+ १.२
विनियोग आय (Investment Income)	१६.२	२६.६	—१०.४	१८.३	३०.०	—११.७	२१.९	२६.७	— ४.८
सरकारी (जो अन्यत्र शामिल नहीं हुई)	३१.२	२१.०	+१०.२	२८.२	१६.५	+११.७	२३.०	१५.४	+ ७.६
विविध	२०.८	६.३	+१४.५	२५.५	८.९	+१६.६	२६.६	१२.४	+ १४.२
दान—सरकारी	१२.५		+१२.५	१७.८		+१७.८	५.०		+ ५.०
वैयक्तिक गैर सरकारी	२२.३	५.५	+१६.८	१९.२	५.०	+१४.२	२१.६	१५.७	+ ५.९
अशोधित	७०.७	६.२	+६४.५	४१.३	७.०	+३४.३	३६.२	२.७	+ ३३.५
भूल-चूक			— ०.१			+ ०.१			+ ८.२
कुल चालू हिसाब	८११.५	८४८.९	—३७.४	७२०.७	६६१.५	+५९.२	७२५.६	७२१.९	+ ३.७

पूंजी खाता—									
पूँजी और द्राव्यिक स्वर्ण का वास्तविक प्रवाह									
वैयक्तिक (अधिकोषण संस्थाओं के अतिरिक्त)									
दीर्घकालीन	—९९	—१६६	+ ६७	—१०२	—१२२	+ २०	—६८	—६४	+ २६
अल्पकालीन		+२०	— २०	— ०१	—७८	+ ७७	+०१	—५३	+ ५४
सरकारी एवं अधिकोषण संस्थाएं									
दीर्घकालीन पूँजी—									
सरकारी ऋण		+५५३	—५५३		+१७	— १७		+०६	— ०६
बैंक ऋण		...							
परोक्ष प्रतिभूतियाँ (Portfolio Security)	—०२	—२३	+ २१		+०८	— ०८	+०२	+२३	— २१
प्रमुक्ति (Amortization)	—७४	—१२८	+ ५३	— ६०	—१२०	— ३०	—१६१	—१०६	— ५२
अन्य ठेके के पुनर्भुगतान									
अन्य		—३२	+ ३२					—०६	+ ०६
अल्पकालीन पूँजी									
भुगतान और Clearing agreements									
अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यकोष और बैंक के प्रति देनदारियाँ								—२२२	+ २२२
सरकारी और बैंकों के प्रति देनदारियाँ		—३७४	+३७४		—४४	+ ४४		+१५४	— १५४
अन्य	—६५३	—३०४	—३४८	+२८२	—१६३	+४४६	+११	—३६	+ ४७
द्रव्य स्वर्ण									
पूँजी और द्रव्य स्वर्ण का कुल प्रवाह	—८२८	—५५४	—३७४	+८६	—५०२	+५६२	—२१५	—३३८	+ ११६

स्रोत—(रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की) व्यापार एवं वित्त पर रिपोर्ट १९५२-५३, पृ० १८४-८५, १९५३-५४, पृ० १८२-८३, १९५४-५५, पृ० १९८-९९। ये आँकड़े करोड़ रुपयों में हैं।

रुपये की बचत थी, जबकि १९४९ में १६९.३ करोड रुपये का घाटा था। कठोर मुद्रा क्षेत्रों के सम्बन्ध में १९४९ में ५३ करोड रुपये का घाटा था, परन्तु १९५० में २९ करोड रुपये की बचत दिखाई पडी। १९५१ फिर एक घाटे का वर्ष रहा। चालू खाते में होने वाले ९३.५ करोड रुपये के घाटे का कारण गैर-स्टर्लिंग क्षेत्र (नान स्टर्लिंग एरियाज) में बढी कीमतों पर कच्ची कपास, यन्त्र, अन्य अत्यावश्यक वस्तुओं का आयात तथा सरकार द्वारा खाद्यान्न का क्रय था। १९५२ में भुगतान-सतुलन में थोडा-सा ही घाटा हुआ। यद्यपि मुद्रास्फीति को रोकने के लिए किये गए उपायों के कारण, जिनमें प्रतिबन्धो की ढिलाई भी सम्मिलित थी, व्यापारिक घाटा १९५१ ११३ करोड रुपये से बढ़कर १९५२ में १३४ करोड रुपये हो गया, तथापि अदृश्यमान निर्यात तथा बाह्य दोनो के कारण वास्तविक घाटा कम ही रहा। १९५३ में चालू खाते में कुछ बचत दिखाई पडी। इसका प्रमुख कारण खाद्य पदार्थों के आयात में कमी तथा जूट निर्मित वस्तुओ के निर्यात में वृद्धि थी।

यह आवश्यक है कि भारत एक अनुकूल भुगतान सतुलन बनाये रखे और इसके लिए विदेशी विनिमय की एकत्र धनराशि को आयात के भुगतान के लिए हाथ न लगाए। इस धनराशि से पूँजी-सामग्री के क्रय किया जा सकेगा जो देश के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है। पूँजी-सामग्रियो की आयात को सर्वोच्च प्राथमिकता देने के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि आयात पर कुछ नियन्त्रण रखा जाय। यह भी वाछनीय है कि भारत के निर्यात में विविध प्रकार की वस्तुएँ हों, न कि केवल कुछ वस्तुएँ ही, जसा कि इस समय है।

अध्याय १८

राष्ट्रीय आय[1]

§१ परिभाषा—राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न उत्पादक साधनो के स्वामियो की अर्जित आय के कुल योग को राष्ट्रीय आय कहते हैं। इसमें श्रमिकों का पारिश्रमिक, ऋण एव प्रतिभूतियो का वास्तविक ब्याज वास्तविक लगान और अधिकार शुल्क (रॉयल्टी) तथा सभी प्रकार की साहसिकता से होने वाले लाभ सम्मिलित है। इसका कुछ अश उपभोग में और कुछ पूंजी के रूप में फिर उत्पादन के काम में लगाया जाता है। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आय किसी वर्ष विशेष में वस्तुओ तथा सेवाओ के उत्पादन के कुल योग के समान होती है। राष्ट्रीय आय पदार्थों और सेवाओ के प्रचलित मूल्य पर किसी एक वर्ष में उपभोग के लिए उत्पादित वस्तुओ के मूल्य तथा पूंजी पदार्थों के लिए दिये गए मूल्यो के आधार पर अनुमानित पूंजी की वृद्धि के योग से वर्तमान पूंजी पदार्थों के घिसाव एव उनके अप्रचलन के लिए अपेक्षित धन राशि के घटाने से प्राप्त होती है। इसमें स्टॉक मे वृद्धि या ह्रास को भी प्रचलित कीमतो पर जोडना या घटाना होगा। राज्य तथा स्थानीय शासनो (डाकखाना, नगरपालिका, ट्रामवे इत्यादि) द्वारा की गई सेवाओ को भी उनके प्रसार के आधार पर सम्मिलित करना होगा।

किसी वर्ष में उत्पादित वस्तुओ और की गई सेवाओं का आकलन प्रचलित मूल्यों पर किया जाता है। इनको जोडते समय यह सावधानी बरतनी होगी कि माध्यमिक वस्तुओं, उदाहरणार्थ एक उत्पादक से दूसरे उत्पादक के पास जाने वाली वस्तुओं, की दुबारा गणना न होने पाये। इससे बचने के लिए केवल अन्तिम पदार्थों एव सेवाओं की ही गणना करनी चाहिए।

§२ पहले के अनुमान—अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका में राष्ट्रीय आय के विभिन्न समयों पर किये गए अनुमान दिये गए हैं।

इनमे सबसे व्यापक एव वैज्ञानिक गणना १९३१ ३२ वर्ष के लिए डॉ० वी० के० आर० वी० राव द्वारा की गई है, जिसके अनुसार प्रतिव्यक्ति आय ६५ रुपये थी। इसमें ६ प्रतिशत + या — अशुद्धि का स्थान था। अनुमान की विस्तृत व्याख्याएँ आगे दी गई हैं।

§३ राष्ट्रीय आय समिति का अनुमान—१९५१ और १९५४ मे प्रकाशित सरकारी

[1] यह अध्याय राष्ट्रीय आय समिति की पहली और अन्तिम रिपोर्ट पर आधारित है।

अनुमानों से[1] १९४८-४९ तथा १९५०-५१ की राष्ट्रीय आय की गणनाएँ की गई हैं। ये गणनाएँ उपयुक्त आँकड़ों तथा व्यवहृत विचारों की दृष्टि से पहले के सब अनुमानों से व्यापक एवं संतोषजनक हैं। निम्नलिखित आँकड़े अंशतः वस्तु गणना और अंशतः आय गणना के आधार पर प्राप्त हैं। पहली विधि में कुल उत्पादन के मूल्य का आकलन किया जाता है। इसके लिए सब उत्पादकों का कुल उत्पादन (ग्रॉस आउट पुट)

लेखक	अनुमान के वर्ष	प्रतिव्यक्ति आय का अनुमान (रुपयों में)
दादा भाई नौरोजी	१८६८	२०
एफ० जे० एटकिन्सन	१८७५	३०.५
ई० बेरिंग और डी० बार्बर	१८८२	२७
एफ० जे० एटकिन्सन	१८९५	३९.५
लार्ड कर्ज़न	१८९७-९८	३०
विलियम डिग्बी	१८९९	१८
वकील और मुरंजन	१९१०-१४	५८.५
वी० एन० शर्मा	१९११	५०
पी० ए० वाडिया और जी० एन० जोशी	१९१३-१४	४४.५
जा० फिंडले शिराज	१९२१	१०७
के० टी० शाह और के० जे० खंभाटा	१९२१	७४
वी० के० आर० वी० राव	१९२५-२९	७८
वी० के० आर० वी० राव	१९३१-३२	६५
आर० सी० देसाई	१९३१-३२ से १९४०-४१	८५
ईस्टर्न इकनोमिस्ट	१९४०-४१	७०
भारत सरकार (राष्ट्रीय आय समिति की रिपोर्ट)	१९४८-४९	२४६.९[2]
	१९४९-५०	२५३.९
	१९५०-५१	२६५.२
	१९५१-५२	२७४.५
	१९५२-५३	२६०.४
	१९५३-५४	२८१.१
	१९५५-५६	२८०.०[3]

१ अगस्त १९४९ में भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय आय समिति की स्थापना प्रो० पी० सी० महालनोबिस के सभापतित्व में की, जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय आय संबंधित अनुमानों पर रिपोर्ट करना, प्राप्त आँकड़ों का सुधार, अधिक आँकड़ों के संग्रह तथा इस क्षेत्र में शोध कार्यों को प्रोत्साहन देने के तरीकों के लिए सुझाव रखना था। अप्रैल, १९५१ और फरवरी, १९५४ में प्रकाशित रिपोर्टों को सरकारी अनुमान कहा जाता है।

२ १९४८-४९ के आँकड़े प्रचलित मूल्यों पर गणित हैं।

३ १९५२-५३ के मूल्यों पर आधारित (द्वितीय पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा, पृष्ठ ३१)।

का मूल्य (विक्रय+आत्म-उपभोग+स्टॉक में वृद्धि) आँककर उसमें से अन्य उत्पादकों से खरीदी हुई सामग्री के मूल्य तथा घिसाव को घटाया जाता है। एक दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर इस में पारिश्रमिक, लाभ तथा उत्पादन प्रतिक्रिया मे प्राप्य अन्य प्रकार की आय सम्मिलित है। दूसरे शब्दो म विभिन्न प्रकार के भुगतानों को भी जोडकर यही परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। कृषि, पशु-पालन, मछली पकडना, खानो तथा अन्य उद्योगो के क्षेत्रों में प्राप्त आय की गणना उत्पादन पद्धति पर की जाती है। अन्य क्षेत्रो मे आय गणना पद्धति का प्रयोग किया जाता है। इनमें परिवहन, व्यापार सावजनिक प्रशासन तथा अन्य पेशे सम्मिलित हैं। गणना की सुविधा के लिए पूरी अर्थ व्यवस्था को विभिन्न क्षेत्रो में विभाजित कर दिया जाता है जैसा कि पृष्ठ ३०८ पर दिखाया गया है। फिर हर क्षेत्र की आय का अनुमान करके जोड लिया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय प्राप्त हो जाती है।

§४ प्राप्य आँकडों की सीमा—साधारणतया अनुमान नियमित सरकारी (केन्द्रीय एवं प्रान्तीय) आँकडो पर आधारित होते हैं। राज्यो तथा केन्द्रीय मन्त्रालयो की अप्रकाशित सामग्री का भी उपयोग किया जाता है। इन आँकडो की अनेक सीमाएँ होती हैं। कृषि तथा अन्य सम्बन्धित उद्योगो मे मूल्य और व्यय के आँकडे अपूर्ण हैं। कारखानो में केवल महत्त्वपूर्ण कारखानों के आँकडे प्राप्त हैं। सरकारी कार्यों का

विवरण	करोड़ रुपयों में मूल्य	अशुद्धि की सम्भावना (प्रतिशत)
कृषि उत्पादन का मूल्य	५,९२ ७	
पशु-उत्पत्ति का मूल्य	२,६८ ३	± १०
मछली पकड़ने और शिकार का मूल्य	१२ ०	± २०
वन्य पदार्थों का मूल्य	९ २	
खनिज उत्पादनों का मूल्य	१८·०	
आय जिस पर कर लगा है	२ १६ १	
कारखानों में काम करने वालों की आय, जिन पर आयकर नहीं लगा है।	७,१०० ०	± १७
राज्य रेलवे, डाक और तार तथा अन्य सेवाओं की कर मुक्त आय	५९ ०	
व्यापार में लगे श्रमिकों की कर मुक्त आय	१,७३ ९	± १५
उदार कलाओं और पेशों में लगे श्रमिकों की कर मुक्त आय	४१ ६	± १५
रेल, डाक तार के अतिरिक्त अन्य परिवहन के पेशों में लगे श्रमिकों की कर मुक्त आय	२८ ३	± २०
गृह-सेवा में लगे सेवकों की कर मुक्त आय	९२·५	± २०
अर्द्धार्घ मदें	७८ ०	± १०
योग	१६,८९ ०	∓ ६

औद्योगिक स्रोतों से भारतीय संघ की राष्ट्रीय आय[1]

मदें	१९५०-५१		१९४९-५०		१९४८-४९	
	वास्तविक उत्पत्ति[2]	प्रतिशत	वास्तविक उत्पत्ति[2]	प्रतिशत	वास्तविक उत्पत्ति[2]	प्रतिशत
कृषि						
कृषि, पशुपालन और तत्सम्बन्धी कार्य	४७·८	५०·२	४३·८	४८·६	४१·६	४८·१
वन उद्योग	०·७	०·७	०·७	०·८	०·६	०·७
मछली उद्योग	०·४	०·४	०·४	०·४	०·३	०·३
कृषि का योग	४८·९	५१·३	४४·९	४९·८	४२·५	४९·१
खनिज, निर्माण एवं हस्त शिल्प						
खनन	०·७	०·७	०·६	०·७	०·६	०·७
कारखाने	५·५	५·८	५·४	६·०	५·५	६·४
छोटे उपक्रम	९·१	९·६	९·०	१०·०	८·७	१०·०
खनन का योग	१५·३	१६·१	१५·०	१६·७	१४·८	१७·१
वाणिज्य, परिवहन और संचार						
तार, डाक, टेलीफोन	०·४	०·४	०·३	०·३	०·३	०·३
रेलवे	१·८	१·९	१·८	२·०	१·७	२·०
संगठित अधिकोषण एवं बीमा	०·७	०·७	०·६	०·७	०·५	०·६
अन्य वाणिज्य और परिवहन	१४·०	१४·७	१३·९	१५·४	१३·५	१५·६
वाणिज्य-परिवहन का योग	१६·९	१७·७	१६·६	१८·४	१६·०	१८·५
अन्य सेवाएँ						
उदार कलाएँ एवं पेशे	४·७	४·९	४·५	५·०	४·३	५·०
सरकारी सेवाएँ (प्रशासकीय)	४·३	४·५	४·१	४·६	४·०	४·६
गृह सेवाएँ	१·३	१·४	१·२	१·३	१·२	१·४
गृह सम्पत्तियाँ	४·१	४·३	४·०	४·४	३·९	४·५
अन्य सेवाओं का योग	१४·४	१५·१	१३·८	१५·३	१३·४	१५·५
साधन व्यय पर वास्तविक देशीय-उत्पादन	९५·५	१००·२	९०·३	१००·२	८६·७	१००·२
बाह्य साधनों से अर्जित आय	—०·२	—०·२	—०·२	—०·२	—०·२	—०·२
साधन व्यय पर वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन —(राष्ट्रीय आय)	[illegible]	१००·०	९०·१	१००·०	८६·५	१००·०

१ राष्ट्रीय आय समिति की अन्तिम रिपोर्ट, फरवरी १९५४, पृष्ठ १०६ इसमें वस्तुओं की रेहड़ी विक्रय तथा कृषक द्वारा अपने उत्पादन के साथ किये गए अन्य काम भी सम्मिलित हैं।

२ १०० करोड़ रुपयों में (=१०⁹)

आर्थिक वर्गीकरण कठिन है। भारत मे उत्पत्ति के मूल्याकन मे एक कठिनाई यह होती है कि उसके कुछ भाग का रुपये से विनिमय नहीं किया जाता। उसका उपयोग या तो स्वय उत्पादक द्वारा ही होता है या उसका उपयोग सेवाओ और अन्य वस्तुओ से अदल-बदल में होता है। अधिकाश जनता की निरक्षरता और हिसाब न रखने की आदत से भी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। कृषि-उत्पादनो का केवल अनुमान लगाना पडता है और इस प्रकार गणना में अनुमान को काफी स्थान मिलता है। छोटे उत्पादको एव घरेलू उद्योगो के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से लागू होती है। इनका भारत की अर्थ-व्यवस्था मे काफी बडा स्थान है। इस प्रकार के आकलन में गलती होने की सम्भावना बढ जाती है। इस प्रकार सरकारी गणनाओ मे १० प्रतिशत अशुद्धि की सम्भावना हो सकती है।[1]

§५ राष्ट्रीय आय का वितरण—गणनाओ से पता चलता है कि कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति का लगभग ५१ प्रतिशत कृषि से, १६ प्रतिशत खान निर्माणों एव अन्य हस्त शिल्पो से, १८ प्रतिशत वाणिज्य, परिवहन एव सचार से तथा १५ प्रतिशत सेवाओ एव पेशो से आता है। कृषि पर इतनी निर्भरता के बावजूद भी प्रतिव्यक्ति कृषि आय अत्यन्त कम अर्थात् केवल ५०० रुपये है। इससे कम आय केवल घरेलू सेवाओ की (४०० रुपये) ही है। अन्य आकडे इस प्रकार हैं—कुल घरेलू उत्पत्ति (साधन-व्यय के रूप में) ६७० रुपये, पेशे और उदार कलाएँ (लिबरल एक्टस) ७०० रुपये, गैर-सरकारी सेवाओ का योग ५०० रुपये, छोटे उपक्रम ८०० रुपये, खनन, निर्माण एव हस्तशिल्प का योग १,००० रुपये, बकिंग और बीमा तथा अन्य वाणिज्य एव परिवहन १,००० रुपया, वाणिज्य, परिवहन एव सचार का कुल योग १,५०० रुपये, रेलवे और सचार १,६०० रुपये, खुदाई एव कारखाने १ ७००[2] रुपये। घरेलू उद्योग मे १९५० ५१ में सरकार का हिस्सा ७ २ सौ करोड रुपये था। सरकारी उपक्रमो का कुल उत्पादन २ ६ सौ करोड रुपये तथा सरकारी प्रशासन का कुल उत्पादन ४ ३ सौ करोड रुपये आँका गया। शेष उत्पादन, जिसका मूल्य ८८ ३ सौ करोड रुपये था, गैर सरकारी उद्योगो ने किया। यह कुल उत्पादन का ९२ ४ प्रतिशत है।

६ भारत का राष्ट्रीय लेखा—आगे दी गई तालिका के रूप मे राष्ट्रीय आय को व्यक्त किया जा सकता है। इसमें (१) विभिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियाएँ हैं विशेषत तीन प्रमुख—उत्पादन, उपभोग और धन की वृद्धि—म भेद किया जा सकता है। (२) विभिन्न प्रकार के लेन-देन, विशेषत सरकारी और व्यक्तिक तथा व्यक्तिग क्षेत्र मे घरेलू और व्यापार उद्योग धन्धो मे भेद किया जा सकता है। (३) विभिन्न प्रकार के लेन देन, विशेषकर वे, जिनमें वस्तुओं या सेवाओं का लन देन होता है तथा प्राय एकपक्षीय भुगतान का रूप धारण करने वाले लेन-देन के बीच भी भद किया जा सकता है। शेष अतिरिक्त लेखे द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

---

१ राष्ट्रीय आय समिति की अन्तिम रिपोर्ट, पृष्ठ १०५।

२ ये आंकडे १९५०-५१ से सम्बन्धित हैं। देखिए, राष्ट्रीय आय समिति की अन्तिम रिपोर्ट पृ० १०८, तालिका १०।

आगे दी गई तालिका में ५ लेखे हैं—(१) घरेलू उत्पाद लेखा, (२) वैयक्तिक विनियोजन लेखा (प्राइवेट एप्रोप्रिएशन अकाउण्ट), (३) सरकारी विनियोजन लेखा (गवनमेंट एप्रोप्रिएशन अकाउण्ट), (४) सचित विश्रामी लेखा और (५) शप विश्व के साथ लेखा (अकाउण्ट विद् दि रेस्ट ऑफ दि वल्ड)। ये सब लेखे एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। हर प्रविष्टि (इन्ट्री) की सख्या होती है और उसके सामने कोष्ठक में दी गई सख्या अन्यत्र ऐसी ही प्रविष्टि की द्योतक है।

घरेलू उत्पाद लेखा कार्यात्मक है। यह सक्षेप में भारत सघ के कुल घरेलू उत्पादन से सम्बन्धित सभी लेन-देन को—बिना क्षेत्र के विभाजन के—प्रदर्शित करता है। दूसरे शब्दों में यह अन्य चारों लेखों का एकरूप प्रस्तुत करता है। इसमें उपभोग, व्यय तथा सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्रों में होने वाला कुल विनियोग-व्यय (ग्रास इन्वेस्टमेण्ट एक्सपेंडीचर) और वस्तुओं तथा सेवाओं का निर्यात प्रदर्शित किया गया है। वैयक्तिक तथा सरकारी विनियोजन लेखा में देनदारी के खाते में दिखाये जाने वाले उपर्युक्त व्यय घरेलू उत्पाद लेखा मे प्राप्ति के खाते में दिखाये जाते हैं। घरेलू उत्पाद खाते का व्यय सम्बन्धी लेखा विभिन्न उत्पादन के साधनों को किया गया कुल भुगतान होता है। यह अर्थ-व्यवस्था के उत्पादन का मूल्य है। इसमें घिसाव तथा अप्रत्यक्ष करों एव शुल्कों का समायोजन कर दिया गया है। घरेलू उत्पत्ति खाते के व्यय और आगम के खाते राष्ट्रीय आय को दो विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने के ढग हैं अर्थात् (१) विभिन्न उत्पादन के साधनों द्वारा अर्जित आय के योग का दृष्टिकोण, तथा (२) किसी वर्ष में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के योग का दृष्टिकोण। ये दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। अतएव जुड़ने पर परिणाम एक होगा।

वैयक्तिक विनियोजन लेखा, आगम पक्ष में वैयक्तिक आय के विभिन्न तत्वों को प्रदर्शित करता है। इसमें न केवल पारिश्रमिक, वेतन और लाभ शामिल हैं जोकि गैर-सरकारी धन्धा एव भारतीय सघ की फर्मों को मिलते हैं, बल्कि सरकार को दिये गए ऋण—उदाहरण के लिए परम प्रतिभूतियों में विनियोग (गिल्ट-एज्ड पेपर)—का ब्याज भी सम्मिलित है। विदेशी आयात के भुगतान के फलस्वरूप होने वाली हानि को आगम-पक्ष में सन्तुलित किया जाता है। १९५०-५१ में हानि २० करोड़ रुपये थी। व्यय-पक्ष में यह लेखा इस बात को प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार यह आय उपभोग और कर देने में व्यय होती है और कितना बच रहता है। चूँकि इस समय वयक्तिक व्यय और बचत के आँकड़े प्राप्य नहीं हैं, अत इनको क्रमश ई० और एस० से प्रदर्शित किया गया है।

कर, व्यक्ति से सरकार की ओर आय का स्थानान्तरण है। इस प्रकार इन सरकारी विनियोजन-लेखे में आगम-पक्ष में स्थान मिलता है। सरकारी कारखानों और सेवाओं के विक्रय द्वारा होने वाली आय को भी सरकारी विनियोजन लेखे में आगम-पक्ष में स्थान मिलता है। व्यय-पक्ष में समुदाय के लिए वस्तुओं और सेवाओं (शिक्षा, स्वास्थ्य, प्रशासन एव प्रतिरक्षा) पर सरकारी व्यय, सरकार द्वारा सहायता एवं सरकारी बचत आती है।

सचित विश्रामी लेखा (कसोलिडेटिड रेस्टिंग प्रकाउण्ट) में भारत सघ के हर पूँजी सम्बन्धी लेन देन को एकत्र किया जाता है और यह प्रदर्शित किया जाता है कि किस प्रकार देश में पूँजी के व्यय (डोमिस्टिक कपिटल एक्सपेंडीचर) की पूर्ति बाहरी ऋण तथा सरकारी प्राधिकारा, व्यक्तियो और फर्मों के घिसाव-कोष एवम् बचत से की जा सकती है। अतिम तथा पाँचवें लेखे में अन्य देशों से भारत के लेन देन प्रदर्शित हैं।

§७ राष्टीय लेखे में रिक्त स्थान—जहाँ कही भी सख्यात्मक सामग्री प्राप्त नही होती वहाँ तत्सम्बन्धी क्रियाओं के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणाथ डी घिसाव की व्यवस्था के लिए प्रयुक्त होता है, ई उपभोक्ता के प्रचलित व्यय के लिए प्रयुक्त होता है, आई वयक्तिक पूँजी निर्माण के लिए प्रयुक्त होता है और एस वैयक्तिक बचत के लिए प्रयुक्त होता है। ये चारो मदें दो स्वतन्त्र समीकरणो से परस्पर सम्बद्ध हैं, जिन्ह निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है—

ई+आई – डी=६१ ५ सौ करोड रुपये

ई+एस =६३ ४ सौ करोड रुपये

यदि इन प्रतीको के लिए सख्याएँ प्राप्य हो जायें तो राष्ट्रीय लेखा और भी सरल हो जायगा। उनसे विनियोजित पूँजी तथा उपभोक्ता व्यय का अनुमान लगेगा और अन्तत इससे आर्थिक और विकास सम्बन्धी नीतियो के निर्धारण तथा आर्थिक विकास पर उनके प्रभावों को आँकने में सहायता मिलेगी। प्रतीको से प्रकट किये गए इन रिक्त स्थानों की पूर्ति सांख्यिकी के सामने आँकडे इकट्ठे करने का काम ला देती है।

भारत सघ का राष्ट्रीय लेखा १९५० ५१[1]

व्यय		राजस्व	
	घरेलू उत्पत्ति लेखा		
१ अप्रत्यक्ष कर		५ वस्तुओं और सेवाओं पर चालू व्यय	
१ १ कर (२५ १)	४ ३	५ १ उपभोक्ता (१०)	ई
१ २ अर्जीर्ण शुल्क (२५ २)	१ १	५ २ सरकारी क्षेत्र का (२०)	५ ६
२ घिसाव की व्यवस्था (३३)		६ कुल पूँजी निर्माण	
३ होने वाला घरेलू उत्पादन		६ १ वैयक्तिक क्षेत्र में (३० १)	आई
३ १ वैयक्तिक क्षेत्र (१४) में	९४ ८	६ २ सरकारी क्षेत्र में (३० २)	२ ७
३ २ सरकारी क्षेत्र (२७) में	० ७	७ सेवा एव सामग्री का वास्तविक निर्यात (११)	० ७
		८ आर्थिक सहायता (२१)	—० ४
४ योग	डी+१००९	९ योग	ई+आई+८ ०

१ राष्ट्रीय आय समिति की तालिका न० ७ में निर्दिष्ट आधारो पर उपर्युक्त तालिका प्रस्तुत की गई है। इसमें केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन द्वारा नियमित 'एस्टीमेट्स ऑफ नेशनल इन्कम' १९४८ ४९, १९५१-५२, के आँकडों म सशोधन ला गए है। ये आँकडे १०० करोड रुपयों में है।

वैयक्तिक विनियोजन लेखा

१० उपभोक्ता व्यय (५ १)	ई	१४ घरेलू उत्पादन से आय (३ १)	१४८
११ प्रत्यक्ष कर (२६)	२ ३	१५ राष्ट्रीय ऋण का ब्याज (२८)	० ४
१२ वैयक्तिक बचत (३४ १)	एस	१६ बाहर से अर्जित वास्तविक आय(४०)	—० २
		१७ हस्तांतरण भुगतान (२२)	० ६
		१८ बाहर से प्राप्त वास्तविक दान (३६)	० १
१३ योग	ई+एस+२ ३	१९ योग	१५०

सरकारी विनियोजन लेखा

२० सेवाओं और वस्तुओं पर सरकारी व्यय (५ २)	५ ६	२५ अप्रत्यक्ष कर	
		२५ १ कर (१ १)	४ १
२१ आर्थिक सहायता (८)	० ४	२५ २ प्रकीर्ण शुल्क (१ २)	१५
२२ हस्तांतरण भुगतान (१७)	० ६	२६ प्रत्यक्ष कर (११)	२३
२३ सरकारी बचत (३४ २)	१ ४	२७ गृह उत्पादनों से आय (३ २)	० ७
		२८ राष्ट्रीय ऋण ब्याज (१५)	—० ४
२४ योग	८ ०	२९ योग	८ ०

संचित विश्रामी लेखा

३० कुल पूँजी संचय		३३ घिसाव की व्यवस्था (२)	डी
३० १ वैयक्तिक क्षेत्र में (६ १)	आई	३४ बचत	
३० २ सरकारी क्षेत्र में (६ २)	२ ७	३४ १ वैयक्तिक क्षेत्र में (१२)	एस
३१ विदेशों में दिया उधार (३७)	० ६	३४ २ सरकारी क्षेत्र में (२३)	१ ४
३२ योग	आई+३ ३	३५ योग	डी+एस+१ ४

शेष विश्व का लेखा

३६ भारत को मिले दान (१८)	० १	३९ भारत को आने वाली सेवाएँ एवं वस्तुएँ (७)	—० ७
३७ भारत को मिला ऋण (३१)	—० ६	४० भारत से अर्जित आय (१६)	० २
३८ योग	—० ५	४१ योग	० ५

§८ **वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन में परिवर्तन**—राष्ट्रीय आय के अनुमानों में अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादन तथा वितरण एवं उपभोग सम्बन्धी सूचना होती है। इन क्षेत्रों में मात्रा सम्बन्धी परिगणन आर्थिक नीतियों के निर्धारण में भारी सहायक होगा। यदि कई वर्षों के अनुमान प्राप्य हों तो आय, उत्पादन तथा विभिन्न क्षेत्रों के व्यय की तुलना एवं विश्लेषण सम्भव हो सकेगा और आर्थिक नीति के प्रति विभिन्न आर्थिक समूहों की प्रतिक्रिया का भी पता लग जायगा तथा देश के आर्थिक विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

आगे की तालिका में चालू मूल्यों पर वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन के तीन वर्ष (१९४८ ४९, १९४९ ५० तथा १९५० ५१) के आँकड़े प्रस्तुत किये जा रहे हैं। अगर हम उनकी तुलना से परिवर्तनों को देखना चाहें तो हमें मूल्यों के परिवर्तनों के अनुसार

समायोजन करना होगा। १९४८-४९ के मूल्या पर वास्तविक उत्पादन और प्रतिव्यक्ति उत्पादन भी प्रदर्शित किया गया है।[1]

	वास्तविक उत्पादन[2]		प्रतिव्यक्ति उत्पादन (रुपयों में)	
	चालू मूल्य	१९४८ ४९ के मूल्य	चालू मूल्य	१९४८ ४९ के मूल्य
१९४८ ४९	८६ ५	८६ ५	२४६ ९	२४६ ९
१९४९ ५०	९० १	८८ २	२५३ ९	२४८ ६
१९५० ५१	९५ ३	८८ ५	२६५.२	२४६ ३

प्रतिव्यक्ति उत्पादन मे प्रत्यक्ष रूप से १० प्रतिशत की वृद्धि दिखाई पडती है। यदि १९४८-४९ से १९५० ५१ तक देखा जाय तो यह आय अपरिवर्तित है, बशर्ते कि गणना स्थायी कीमतों पर की जाय। इनमें केवल १९४९ ५० के आकडो मे ही ० ७ प्रतिशत की वृद्धि तथा १९४९ ५० की अपेक्षा १९५०-५१ में केवल ० ९ प्रतिशत की कमी है।[3] लेकिन राष्ट्रीय आय के इन परिवतनो के आधार पर निश्चित प्रवृत्तियो के सम्बन्ध में निष्कष निकालना उचित न होगा।

§९ अन्तर्राष्ट्रीय तुलना—कुछ देशो की प्रतिव्यक्ति वास्तविक राष्ट्रीय आय की तुलना के प्रयास मे कालिन क्लाक ने राष्ट्रीय आय के विभिन्न आकलनो को एक ही मूल्य-स्तर पर घटाते हुए वास्तविक आय को अन्तर्राष्ट्रीय इकाइयो में कार्यशील जन सख्या के प्रतिव्यक्ति के लिए प्रकट करते हुए यह बताया है कि १९२५ स १९३४ के बीच भारत की औसत वास्तविक आय २०० अन्तर्राष्ट्रीय इकाइयाँ हैं, जबकि अन्त राष्ट्रीय इकाइयों मे यह औसत सयुक्तराज्य अमेरिका के लिए १,३८१, ग्रेट ब्रिटेन के लिए १,०६९, इटली के लिए ३४३ और बलगेरिया के लिए २५९ है। टाटा इण्डस्ट्रीज लि० (अर्थशास्त्र एव आँकडा विभाग तालिका न० ५) द्वारा प्रकाशित भारत की साख्यिकी रूपरेखा (स्टेटिस्टीकल आउटलाइन ऑफ़ इण्डिया) में निम्न आँकडे पाये जात हैं। यह अनुमान अधिक हाल का है।[4]

देश	प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (रुपयों में)	देश	प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (रुपयों मे)
भारत	२५८	जापान	८२०
आस्ट्रेलिया	४,३४०	इगलिस्तान	३,५९०
कनाडा	६,१९०	संयुक्तराज्य	
फास	३,२८०	अमरिका	८,०४०

१ राष्ट्रीय आय समिति की अतिम रिपोट।

२ १०० करोड रुपयों में।

३ राष्ट्रीय आय समिति की अतिम रिपोट, पृष्ठ ११६।

४ सभी आकडे १९५२ के हैं। ये राष्ट्रीय आय के आँकडो को जनसख्या के मध्यवर्षीय अनुमान से विभाजित करने पर प्राप्त हुए हैं।

यहाँ दिये गए आँकड़ों को सामान्य रूप से विभिन्न देशों की आर्थिक स्थिति का द्योतक मानना चाहिए। किन्तु इनसे सापेक्षिक समृद्धि के सम्बन्ध में बिलकुल *ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। जैसा कि सर जोसया स्टाम्प ने कहा है* कि तुलना के लिए चुने गए देशों मे मनुष्यों को एकसे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक ही प्रकार से परवाह करनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से देशों में जितनी ही असमानता होगी, उसी मात्रा में निष्कर्ष भी भ्रामक हो सकते हैं। इस सम्बन्ध मे ए० एल० *बाउली के निम्न विचार भी ध्यान देने योग्य हैं—"दो देशों की संख्यात्मक तुलना बड़ी* ही संदिग्ध है क्योंकि न तो आवास, न भोजन और न वस्त्र ही तुलनीय हैं। पारिश्रमिक के अलावा प्राप्त होने वाली आय की महत्ता में काफी भिन्नता रहती है। किसी देश में कितनी ही वस्तुएँ खरीदनी पड़ती हैं जोकि (दूसरे देश में) अनावश्यक हो सकती हैं या गृह-उत्पादित होती हैं या बिना मूल्य के प्रकृति से प्राप्त हो सकती हैं। न हमें औद्योगिक वर्गों की ही तुलना करनी चाहिए—जैसे विभिन्न देशों में भवन निर्माण, अभियान्त्रिक तथा छपाई कार्यों में लगे श्रमिक—क्योंकि विभिन्न देशों में कार्य-पद्धतियों एवं दशाओं मे काफी अन्तर रहता है। हम ऐसी तुलना तभी कर सकते हैं जब इन विषमताओं से उत्पन्न प्रभावों को दृष्टि में रखा जाय।"[1] भारत के *कृषि उत्पादन का काफी भाग स्वयं किसानों द्वारा उपयुक्त होता है। चूँकि यह बाजार* में नहीं आता अतएव इसे राष्ट्रीय आय गणना में स्थान नहीं मिलता। यह भी स्पष्ट *है कि भारत की जलवायु सम्बन्धी दशाएँ भिन्न होने के कारण पाश्चात्य देशों की* अपेक्षा यहाँ भोजन, वस्त्र, ईंधन पर कम खर्च होता है। अन्त में, जिन देशों से तुलना का प्रयास किया जाता है, उनके मूल्य-स्तरों में भी समानता नहीं होती।

§१० पूँजी निर्माण—हमारी प्रति व्यक्ति निम्न आय का प्रमुख कारण पूँजी निर्माण की दर का कम होना है, अर्थात् पूँजी-सामग्री—मशीनों, इमारतों औजार कारखानों, रेलवे इञ्जिनों इञ्जिनों, सिंचाई के साधनों, विद्युत् केन्द्रों, परिवहन के साधनों—की वृद्धि की धीमी गति है। योजना आयोग के अनुमान के अनुसार प्रथम पंचवर्षीय योजना *के प्रारम्भ में पूँजी निर्माण की दर ५ प्रतिशत के लगभग थी। ब्रिटेन में १८७० व* १९१३ के बीच वास्तविक विनियोजित पूँजी राष्ट्रीय आय के लगभग १० प्रतिशत *से भी अधिक थी, तथा समृद्धिकाल में यह १५ प्रतिशत थी।* १८६९ १९१३ के बीच संयुक्तराज्य अमरिका की पूँजी निर्माण की दर इससे भी ऊँची थी। वास्तविक विनियोग राष्ट्रीय उत्पादन के १३ प्रतिशत से १६ प्रतिशत तक था, जबकि कुल विनियोजित पूँजी २१ से २४ प्रतिशत के बीच थी। जापान मे १९०० १९०९ तक पूँजी निर्माण की दर १२ प्रतिशत थी। सोवियत यूनियन का वास्तविक विनियोग १९२८ ३८ के बीच राष्ट्रीय आय का २० प्रतिशत था। ब्रिटेन में वास्तविक विनियोग की दर १० से १५ प्रतिशत के बीच रही, जबकि १८७० से १९१३ के बीच राष्ट्रीय आय में १५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इससे तथा अन्य देशों से इसी प्रकार के सम्बन्धों

---

१ ए० एल० बाउली, 'दि नेचर एण्ड परपज ऑफ दि मेजरमेंट ऑफ सोशल फेनामेना', [illegible] *नेशनल इन्कम कमिटी की रिपोर्ट में पृ० ११७ पर दिया गया है।*

से स्पष्ट है कि एक पीढ़ी (२५ से ३० वर्ष के बीच) मे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को दूना करने के लिए राष्ट्रीय आय के १२ से १५ प्रतिशत तक के वास्तविक विनियोग की आवश्यकता है। इस मान्यता पर कि जनसंख्या गत दशक की गति से (अर्थात् १¼ प्रतिशत प्रतिवर्ष) बढ़ती रहेगी भारत को प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय आय की वृद्धि के दो-तिहाई का विनियोग करना होगा, ताकि राष्ट्रीय आय २२ वर्ष मे १६० प्रतिशत बढाई जा सके और प्रति व्यक्ति आय दूनी हो जाय। लेकिन योजना आयोग के अनुसार प्रारम्भ मे इस प्रकार के विनियोग से देश के प्राप्य साधनो पर बडा भार पडेगा तथा १० से १५ वर्ष तक प्रति व्यक्ति उपभोग में कमी करना आवश्यक हो जायगा।[1] आयोग ने सुझाव रखा है कि उपभोग स्तर को बिना अधिक गिराए ही विनियोग-दर को आधार वर्ष १९५०-५१ में राष्ट्रीय आय के ५ प्रतिशत से १९५५-५६ में ६¾ प्रतिशत और १९६०-६१ में ११ प्रतिशत किया जा सकता है। इस आधार पर प्रति-व्यक्ति आय २७ वर्ष में अर्थात् १९७७ म लगभग दूनी हो जायगी।

§११ सांख्यिकी सामग्री में सुधार—राष्ट्रीय आय समिति ने वर्तमान दोषपूर्ण सांख्यिकी सामग्री को सुधारने के लिए कुछ उपाय प्रस्तुत किये हैं। विभिन्न क्षेत्रीय सांख्यिकी सामग्री के संकलन के सम्बन्ध मे यह सुझाव रखा गया है कि सम्पूर्ण सामग्री एकत्रित की जाय और अंशत या पूर्णत वार्षिक या पंचवार्षिक आधार पर सामग्री का संकलन किया जाय। देशी रियासतो के विलयन से बिना आँकडे वाले क्षेत्रो का विस्तार और भी बढ़ गया है इसकी पैमाइश होनी चाहिए। सांख्यिकी सामग्री को एकत्रित करने के लिए स्थापित की जाने वाली संस्था को मालगुजारी प्रशासन के लिए भी उत्तरदायी होना चाहिए। फसलो की उपज का अनुमान लगाने के लिए 'अनीवारी' पद्धति के स्थान पर फसल कटाई के प्रयोग को लागू करना चाहिए, और बगीचों की उपज का अलग से अध्ययन करके तब उसे निर्धारित करना चाहिए। कृषि पदार्थों के मूल्यों के सम्बन्ध में समिति ने सुझाव रखा है कि गाँवो के मूल्यो या उत्पादको के मूल्यों के संग्रह के स्थान पर कुछ विशिष्ट बाजारो के व्यापारियो के मूल्यो का संग्रह अधिक उपयुक्त होगा। ग्रामीण बाजार दो प्रकार के होते हैं—(१) वे बाजार जहाँ विक्रेता प्रमुखतया उत्पादक हैं, (२) वे बाजार जहाँ विक्रेता केवल मध्यस्थ हैं। प्रथम प्रकार के बाजार को पुन उपविभाजित किया जा सकता है—(१) विशेष वस्तुओं के बाजार या उन वस्तुओ के बाजार जो किसी भी प्रकार से नियन्त्रित हैं तथा (२) सामान्य अनियमित बाजार। इन व्यवस्थाओ से आँकडों का संकलन सरलता और शीघ्रता से होगा। इस समय के राष्ट्रीय आय के अनुमान प्रमुखतया उत्पादन अनुमान हैं और बीच की खाई को आय के अनुमानों से पूरा किया जाता है। यह भी वाछनीय है कि आय के पक्ष से भी पूर्ण अनुमान प्राप्त हो, ताकि एक-दूसरे से निरपेक्ष दो अनुमान प्राप्त हो सकें। आय के आकलन में पेशों के वर्तमान असतोषजनक विभाजन पर निर्भर रहना पड़ता है। समिति ने यह सुझाव रखा कि पारिश्रमिक या वेतनभोगी सभी वर्गों के आँकड़े एकत्र करने का प्रयास किया जाय। जहाँ तक सम्भव हो, सभी स्रोतो से प्राप्त

१ प्रथम पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ११-२०।

ये आँकड़े जनगणना-काल के हों और इनकी जनगणना के आँकड़ों से तुलना की जा सके। वार्षिक वेतन, पारिश्रमिक, पेंशन, भविष्य निधि, सामाजिक सुरक्षा में योगदान आदि सभी के विवरण प्राप्त करना चाहिए। गृह सेवकों एवं खेतों पर काम करने वाले श्रमिकों की पारिश्रमिक सम्बन्धी सांख्यिकी सामग्री एकत्र करने के लिए सर्वेक्षण किये जा सकते हैं। दीर्घकाल में इस प्रकार की आंशिक गणना वांछनीय है।[1] व्यक्तिगत आय तथा मकानों के किराये से होने वाली आय के लिए भी अलग से अध्ययन करना होगा। आय-कर के आँकड़ों के संकलन में सुधार अपेक्षित है। उदाहरण के लिए कृषि आय के आकलन में, जो इस समय आय कर के क्षेत्राधिकार के बाहर है, कठिनाई है। अनेक राज्यों में कृषि आय पर भी कर लगाने की बात विचाराधीन है और यदि यह कर लगाया गया तो कृषि से होने वाली आय का अधिक सुव्यवस्थित आधार पर अनुमान हो सकेगा।

आँकड़ों के संग्रह एवं विभाजन के लिए सरकार ने १६५० में राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण की स्थापना की, जिसका काम अनवरत रूप से न्यादर्शन करते रहना है। राज्यीय एवं स्थानीय सामग्री-संग्रह की वर्तमान विधियों को जारी रखना होगा और राज्यीय आर्थिक एवं सांख्यिकी कार्यालय के प्रकार की संस्थाओं की स्थापना करनी होगी, जिनका निर्देशन राष्ट्रीय आय इकाई द्वारा होगा। राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण को उपभोक्ता व्यय तथा ग्रामीण क्षेत्रों में पूँजी निर्माण के आँकड़ों का संग्रह करना चाहिए। साथ ही इसे राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकड़ों की भी छान-बीन करनी चाहिए। राष्ट्रीय आय समिति के मत में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण योजना आयोग की अनुसंधान कार्यक्रम समिति (रिसर्च प्रोग्राम्स कमेटी) की तरह की एक प्रविधिक समिति के निर्देशन की आवश्यकता होगी और इन दोनों में निकट सम्पर्क होना चाहिए। यह भी सुझाव रखा गया है कि अनुसंधान कार्यक्रम समिति और भारतीय सांख्यिकी संस्था कलकत्ता द्वारा एक संयुक्त संस्था की स्थापना की जाय, जो राष्ट्रीय न्यादर्श सर्वेक्षण के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी कामों की देख रेख करे। इस संयुक्त संस्था को अनुसंधान कार्यक्रम समिति और उसके द्वारा योजना आयोग को सामयिक रिपोर्ट देनी चाहिए। तब योजना आयोग यह निर्धारित करेगा कि किस मद तक काम में संशोधन और प्रसार किया जाय। इस प्रकार राष्ट्रीय आय समिति यह आशा करती है कि राष्ट्रीय आय के आँकड़ों के प्रकार में सुधार होगा, उनका क्षेत्र अधिक व्यापक हो जायगा और समस्त आर्थिक विश्लेषण में सहायता मिलेगी, जिसका उपयोग योजना एवं आर्थिक विकास के हेतु हो सकेगा। राष्ट्रीय आय के विश्लेषण का काम अनवरत रूप से जारी रखना होगा। इसके लिए राष्ट्रीय आय समिति का यह सुझाव है कि राष्ट्रीय आय इकाई (एन० आई० यू०) को स्थायी बना दिया जाय। इस समय यह संस्था आर्थिक विभाग (डिपार्टमेंट ऑफ इकनामिक अफेयर्स) का एक अंग मात्र है। चूँकि राष्ट्रीय आय इकाई का काम अनेक प्रकार के आँकड़ों का संग्रह है, अतः यह लाभदायक होगा कि इसे केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (सेंट्रल)

[1] अर्थात् सम्पूर्ण गणना पाँच वर्षों में पूरी हो।

में मिला दिया जाय। इस प्रकार के विलयन से अनावश्यक दोहरापन न होगा और केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन को, जो सूचना नत्यक एवं स्वाभाविक रूप में मिलती है, सरलता से राष्ट्रीय श्राय इकाई को मिल सकेगी। राष्ट्रीय श्राय इकाई को इंगलिस्तान के श्वेतपत्र की भाँति राष्ट्रीय श्राय से सम्बन्धित एक वार्षिक पत्र प्रस्तुत करना चाहिए।

सोने की अपेक्षा सस्ता हो गया था)। भारत मे यह चाँदी शीघ्रता से रुपये बनाने के काम में लाई जाने लगी। रुपये की मात्रा में वृद्धि करने का परिणाम यह हुआ कि मूल्यो की वृद्धि हुई और रुपये का विनिमय-मूल्य घट गया। प्रति औंस ५८ पेंस (१८७५) से घटकर चाँदी का मूल्य १८९२ में ३७½ पेंस प्रति औंस हो गया और रुपये का मूल्य १८७१ में २ शिलिंग से घटकर १८९२ मे १ शिलिंग २ पेंस रह गया।

१८७४ से ही स्वर्णमान और स्वर्ण-चलाप के पक्ष में एक आन्दोलन चल रहा था। लेकिन भारत सरकार इस आशा में बैठी थी कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुता के प्रयत्न सफल होंगे। उस दशा में स्वर्ण के साथ-साथ रजत फिर एक प्रामाणिक धातु के रूप में स्थापित हो जायगी। यद्यपि १८६७ और १८९२ के बीच ४ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सम्मेलन हुए, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुता को अपनाने के प्रयत्न सफल नही हुए। इसका कारण इगलैंड और अन्य महत्वपूर्ण यूरोपीय देशों का विरोध था। ये देश स्वर्णमान पर तुले हुए थे। ये समझते थे कि स्वर्ण एवं रजत के द्विधातुमान अपनाने में भारत में विश्व के अधिकांश सोने की खपत होने लगेगी।

§४ चतुर्थ काल (१८९२-१९१४) हर्शल समिति १८९२—इस काल में अवसरवादी उपायों के परिणामस्वरूप अनायास ही स्वर्ण मान स्थापित हो गया। इसका प्रथम परीक्षाकाल १९०७-८ का था। कुछ कठिनाइयों के साथ यह इस संकट से बाहर आया। तदनन्तर १९१४ में विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने तक यह अपेक्षाकृत सरलता से चलता रहा।

रजत का मूल्य लगातार गिर रहा था और संयुक्तराज्य अमेरिका में "शरमन अधिनियम"[1] को रद्द किये जाने के खतरे से रुपये का विनिमय-मूल्य गिरना प्रारम्भ हो गया। १८९२ में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में हो रहा था, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह कोई समाधान प्रस्तुत न कर सका। भारत सरकार के सामने एक कठिनाई यह थी कि भारत का गृह प्रभार के लिए विलायत रुपया भेजना पड़ता था।[2] यह स्वर्ण के रूप में देना पड़ता था और इसका रुपयों में मूल्य विनिमय परिवर्तनों पर निर्भर था, जो जैसा हम देख चुके हैं, रजत का मूल्य और परिणामत रुपये का मूल्य गिरने के फलस्वरूप था। प्रतिवर्ष भारत सरकार को यह पता नहीं चलता था कि उन्हें गृह प्रभार के लिए आय-व्ययक में कितने रुपयों की व्यवस्था करनी होगी।

सरकारी नौकरियों या व्यापारिक नौकरियों में यूरोपीय कर्मचारी भी इंगलैंड में अपने परिवारों को भेजने में इसी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते थे। रुपये के मूल्य गिरने का अर्थ यह था कि उन्हें आने पर पौंड की निश्चित धनराशि के विप्रेषण के लिए अधिक रुपये देने पड़ते थे। रुपये के गिरते हुए मूल्य के कारण भारत

---

१ शरमैन अधिनियम के अनुसार अमरिका की सरकार को प्रतिमास रजत देने के लिए ४५० लाख औंस रजत क्रय करना आवश्यक था। इस कानून से [illegible] की मांग में वृद्धि।

२ गृह प्रभार में निम्न मदें थे—पेंशन (सार्वजनिक [illegible]), छुट्टी के भत्ते, [illegible] ऋण पर ब्याज, रुपये के लिए [illegible] और [illegible]।

की ओर ऋण या यूरोपीय पूँजी का भारत म आना भी कम हो गया। साथ ही पूँजी वापस लेना और लाभ आदि को विलायत भेजने का अथ हानि उठाना था, क्योंकि विनिमय-दर गिर चुकी थी। विनिमय म परिवतन के कारण व्यापारिक खतरे भी बढ गए और इसका बडा दुष्प्रभाव हुआ। १८९२ मे नियुक्त की गई हारशेल समिति का काम इन कठिनाइयो से उत्पन्न समस्याओ का अध्ययन करना और तत्सम्बन्धी सुझाव रखना था। समिति ने पणमान (लिम्पिंग स्टैण्डर्ड) की सिफारिश की जिसमें (१) न सोने और न चाँदी का ही टकण स्वतन्त्र रूप से हो सकता था, (२) रुपया असीमित वध सिक्का रहे और (३) अन्तरिमकाल मे स्वण केवल अशत चलाथ के रूप मे प्रयुक्त हो जिसके पश्चात् एक उचित स्वर्णमान प्रचलित किया जाय।

सरकार न इन सुझावो को स्वीकार किया और उन्ह कार्यान्वित करने के लिए नीचे लिखे हुए कदम उठाए—(१) १८७० का टकण अधिनियम (क्वोएनज एक्ट, १८७०) और १८८२ का भारतीय कागजी मुद्रा चलाथ अधिनियम (इण्डियन पपर करेंसी एक्ट, १८८२) का एक नवीन अधिनियम पास करके सशोधन किया गया। (२) रजत के स्वतन्त्र टकण के लिए भारतीय टकसालें बन्द कर दी गई, यद्यपि भारत सरकार को आवश्यकतानुसार रुपये बनाने का अधिकार प्राप्त था। (३) सरकार ने तीन अधिसूचनाएँ जारी की। पहली द्वारा भारतीय टकसाला मे स्वर्ण-मुद्रा या धातु का विनिमय १६ पेंस प्रति रुपया की दर से हो सकता था। दूसरी अधिसूचना के अनुसार सरकारी देय का भुगतान सावरेन और अध-सावरेन द्वारा किया जा सकता था। तीसरी अधिसूचना द्वारा कागजी चलाथ कार्यालय को नाट छापने का अधिकार मिला जिनकी विनिमय दर सोने और सोने के सिक्का के सम्बन्ध में वही थी जो रुपये की थी। दूसरे शब्दो में इन अधिसूचनाओ का परिणाम यह हुआ कि लोग (१) सोन या सोन के सिक्को को रुपये या नोट में बदल सकते थे और (२) सरकारी भुगतान में सोने के सिक्को का उपयोग कर सकते थे। दर प्रत्येक दशा में एक रुपया= १ शिलिंग ४ पेंस थी।

आशा यह थी कि टकसाला में रुपये का स्वतन्त्र टकण बन्द करने का प्रभाव यह होगा कि (१) देश में सस्ती चाँदी के आयात की अधिकता और उसका रुपये मे बदला जाना कम हो जायगा, और (२) रुपये की पूर्ति सीमित होने से रुपये का विनिमय मूल्य बढ जायगा। इस प्रकार गह प्रभार (होम चार्जिज) के सम्बन्ध में सरकार की कठिनाइयाँ, भारत मे पूँजी लगाने के इच्छुक यूरोपियनो और भारत में सेवा करने वाले अन्य यूरोप निवासियो की कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी। स्वण मुद्रा के आंशिक उपयोग से यह आशा थी कि यततोगत्वा पूण स्वणमान की स्थापना म सहायता मिलेगी तथा जनता इसका साथ देगी।

§५ फाउलर समिति, १८९८—सक्रमण-काल में मुद्रा एव चलाथ की भारी कमी का अनुभव हुआ था, और अन्त में १८९८ म, फाउलर समिति की स्थापना की गयी। उस समय तक विनिमय-दर १ शिलिंग ४ पेंस हो गई थी। समिति क सामने कितनी ही योजनाएँ रखी गई थी। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण योजना बंक ऑफ़ बगाल के श्री ए०

एम० लिंडसे की थी जो मुख्यत, बाद में अपनाये गए स्वर्ण विनिमय-मान के ही समान थी।

फाउलर समिति के मत मे भारत का अंतिम उद्देश्य एक वास्तविक स्वर्णमान होना चाहिए, जिसमें देश में स्वतन्त्र रूप से स्वर्ण का अन्तप्रवाह और बहिप्रवाह हो सके अतएव समिति ने निम्न सुझाव रखे—(१) भारतीय टकसालों में सावरेन और अर्ध सावरेन की ढलाई स्वतन्त्र रूप से हो, जबकि रजत की ढलाई के लिए टकसालें बिलकुल बन्द रहे, (२) विनिमय-दर को १ शिलिंग ४ पेंस पर स्थिर कर दिया जाय, (३) रुपया असीमित वैध सिक्का रहे, (४) सरकार सोने के बदले में रुपये दे, किन्तु रुपये के बदले में सोना देने के लिए बाध्य न हो, (५) रुपये को सावरेन में परिवर्तित करने की सुविधा के लिए रुपये की ढलाई से होने वाला लाभ स्वर्ण-कोष में जमा कर दिया जाय जोकि कागजी चलाय रक्षित कोष से और राजकोष की साधारण निधियों से बिलकुल अलग हो, और (६) प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन के लिए सरकार स्वर्ण देने को तैयार हो।

सरकार ने फाउलर समिति के सुझावों को स्वीकार कर लिया और १८९९ में एक अधिनियम पास किया जिसके अनुसार भारत भर में उसी अनुपात पर सावरेन और अर्ध सावरेन को वैध सिक्का घोषित कर दिया गया, जिसकी सिफ़ारिश समिति ने की थी। १९०० में स्वर्णमान रक्षित कोष की स्थापना हुई जोकि सरकारी साख से रुपये की ढलाई से होने वाले लाभ से बनाया गया था। अब सरकारी तौर पर रुपये की ढलाई प्रारम्भ हो गई थी।

§६ १८९८ से १९०७ तक का घटनाचक्र—रुपये की स्वतन्त्र ढलाई बन्द हो जाने से मुद्रा सकट उत्पन्न हो गया था, विशेषकर व्यापार के विस्तार और जनसंख्या की वृद्धि के कारण यह कठिनाई और भी अनुभव होने लगी थी। इस सकट का सामना करने के लिए अस्थायी उपाय के रूप में १८९८ का द्वितीय अधिनियम पास हो ही चुका था जिसके अनुसार भारत मन्त्री को लन्दन में कौंसिल बिलों के बेचने तथा प्राप्त धनराशि को स्वर्ण के रूप में भारतीय कागजी मुद्रा रक्षित कोष में रखने का अधिकार मिला। इस स्वर्ण के आधार पर भारत सरकार नोट जारी कर सकती थी ताकि यह कौंसिल बिलों[1] का रुपया दे सके और खजाने को न छूना पड़े। साथ ही मुद्रा के रूप में स्वर्ण के प्रयोग को प्रोत्साहित करने के प्रयास भी किये जाने लगे। रेलवे, डाकखानों, जिले के खजानों तथा कागजी मुद्रा के कार्यालयों को यह आदेश दिया गया कि वे लोगों

१ प्रति बुधवार को भारत मन्त्री द्वारा बेचने के लिए प्रस्तुत बिलों को कौंसिल बिल के नाम से पुकारा गया। कुछ ऊँचे मूल्य पर भारत मन्त्री अन्य दिनों पर भी बिलों को विक्रय के लिए प्रस्तुत करता था। इन्हें माध्यमिक या विशिष्ट बिल के नाम से पुकारा गया। सामान्यतया लन्दन में विक्रय किये बिलों को रुपये में बदलने के लिए भारत भेजने में १५ दिन का समय लगता था। यदि क्रेता दरों या ब्याज की हानि से बचना चाहते थे तो वे कुछ अधिक देकर टेलीग्राफिक ट्रान्सफर्स (तार हुण्डियाँ) प्राप्त करते थे और इस प्रकार भारत में उन्हें तुरन्त रुपये मिल सकते थे। 'कौंसिल ड्राफ्ट' एक ऐसा शब्द है, जिसमें ऊपर कहे गए हर प्रकार के बिल आ जाते हैं। चेम्बरलेन आयोग की रिपो०, पैरा १३०-३१, जे० एम० कीन्स, इण्डियन करेंसी एण्ड फ़िनान्स, पृष्ठ १०४-५।

को स्वर्ण के रूप मे भुगतान के लिए प्रोत्साहित करें। लेकिन वाछित परिणाम नहीं हुआ और १९०० मे विवश होकर सरकार को बडे पमाने पर फिर से चाँदी के सिक्कों का टकण प्रारम्भ करना पडा। लन्दन में कागजी चलाथ कोष में एकत्र स्वर्ण को रजत के क्रय में व्यय किया जाने लगा। १८९८ का द्वितीय अधिनियम इस अथ म एक अस्थायी व्यवस्था थी। इसके अनुसार कागजी चलाथ कोष में रखे स्वर्ण को भारत मन्त्री उसे भारत भेजने तक या उस समय तक अपने पास रख सकता था जब तक कि भारत सरकार कौंसिल बिलो की विक्रय राशि के बल पर जारी किये गए नोटों के मूल्य के बराबर सिक्के चलाथ रक्षित कोष के रूप में अलग नहीं रख लेती। १९०० में इस अधिनियम की अवधि दो और वर्षों के लिए बढा दी गयी। और भारत मन्त्री को इस प्रकार प्राप्त स्वर्ण से रुपये के टकण के लिए भारत भेजी जाने वाली चाँदी खरीदने का अधिकार दिया गया। अत स्पष्ट है कि लन्दन स्थित स्वर्ण के उपयोग के निम्नलिखित तीन भिन्न उद्देश्य थे—(१) भारत मे रुपया ढालने के लिए आवश्यकता पड़ने पर चाँदी खरीदना। (२) कौंसिल बिलो[1] के विक्रय को रोक कर भारतीय विनिमय को सहायता पहुँचाना। (३) यह एक ऐसा कोष था जिसमें भारत मन्त्री के पास आवश्यकता से अधिक धन होने पर उस फालतू धन को जमा किया जाय। उदाहरणाय ऐसी स्थिति ऐसे समय हो सकती थी जब भारत मन्त्री कौंसिल बिलो का विक्रय स्वय रुपया प्राप्त करने के बजाय विनिमय-दर को १ शिलिंग ४ पेंस से अधिक होन से रोकने के लिए करे। यह व्यवस्था १९०२ मे स्थायी बना दी गई। १९०५ में ५० लाख पौण्ड की जो राशि एकत्र हुई उसे विलायत भेज दिया गया ताकि यह कागजी चलाथ कोष में जमा रहे। इस चलाथ कोष का कुछ भाग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (कौन्सल्स) म ही लगाया गया और बाद मे १९०३ म राष्ट्रीय युद्ध ऋण एव अन्य अश पूँजी (स्टाक) या हिस्सा म लगा दिया गया। इस प्रकार सरकार की नीति फाउलर समिति के सुझावो से विचलित होने लगी जिसमें यह उद्देश्य सामने रखा गया था कि भारत म एक स्वर्ण निष्क्रयण-कोष की स्थापना हो जो नियमित स्वर्णमान का आधार हो और जिससे रुपये की विनिमय दर कायम रहे। तीनों कोष—अर्थात् (१) कागजी चलाथ रक्षित कोष (२) स्वर्ण रक्षित कोष जो १९०६ म स्वर्णमान रक्षित कोष के नाम से पुकारा जान लगा और (३) राज्य मन्त्री की निधियाँ एक जगह एकत्र होने लगी और इनका उपयोग समुचित विवेचन के बिना ही राजकोष और धन की आवश्यकताओं के लिए किया जाने लगा।[2]

रुपये के टकन से होने वाले लाभ का विनियोग के लिए विलायत भेज दिया

---

१ यह कौंसिल बिल का नकारात्मक प्रयोग था जिससे भारतीय रुपये को दुर्लभ करके भारतीय विनिमय को सहायता पहुँचाई जाती थी। जब भारतीय विनिमय की स्थिति दुर्बल होती थी, कौंसिल बिल १ शि० ४ पें० प्रति रुपये की सरकारी दर पर बेचे नहीं जा सकते थे। यदि भारत मन्त्री कौंसिल बिलों के विक्रय से भारत की ओर से इंगलैण्ड में व्यय के लिए पर्याप्त रुपया प्राप्त नहीं कर सकता था तो वह या तो लन्दन स्थित रक्षित कोष का आश्रय लेता था या स्वर्ण से सकता था।

२ चेम्बरलेन आयोग ने स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—' [illegible]

जाता था।[1] इसके लिए तरीका यह था कि भारत में टंकित नये रुपये के बदले में इंगलण्ड के कागजी चलाथ कोष में स्वर्ण निकाल लिया जाता था। इसका एक साधारण उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। यदि भारत में १५,००० नये रुपये ढाल गए हो तो भारत मन्त्री विनियोग के लिए १,००० पौण्ड मूल्य का सोना कागजी चलाथ कोष से निकाल सकता था। १९०६ में भारत में रुपये की माँग की पूर्ति के लिए एक रुपया रक्षित कोष बनाया गया जो कागजी चलाथ कोष से भिन्न था। इसका नाम स्वर्णमान रक्षित कोष की रजत शाखा पड़ा। यदि विनिमय-दर के १ शिलिंग ४ पेंस से बढ़ने के चिह्न दिखाई पड़ते तो सरकार बाजार में होड़ लगाकर निश्चित दर पर रुपये प्रस्तुत कर सकती थी। १९०४ में भारत मन्त्री ने घोषणा की कि अब से वह लन्दन में क्रेताओं को १ शिलिंग ४ पेंस की दर से किसी भी मूल्य तक के कौंसिल बिल बेचने को तैयार होगा।[2] जब वे भारत में प्रस्तुत किये जाते थे तो उनका भुगतान नकद होता था। ऐसा करने का एक अतिरिक्त साधन स्वर्णमान कोष की 'रजत शाखा' थी।

§७ १९०७–८ का संकट—१९०७–८ में फसलों के खराब होने और यूरोप में आर्थिक मन्दी के कारण भारत को विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारतीय गेहूँ, जूट, कपास इत्यादि का निर्यात काफी घट गया। इसके विपरीत रजत का आयात बढ़ गया जिसका मूल्य कि बहुत गिर गया था। विनिमय के ह्रास एवं प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन के कारण बाहर सोना भेजने की आवश्यकता पड़ी। इस माँग के कारण सावरेन का भण्डार घटने लगा और भारत के कागजी चलाथ कोष से स्वर्ण निकाला जाने लगा। चूँकि ये उपाय सफल नहीं हुए अतः भारत मन्त्री ने भारत सरकार को १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पें० की दर पर रिवर्स कौंसिल बिल या तार हुण्डियाँ बेचने का निर्देश दिया।[3] कागजी चलाथ रक्षित कोष का स्वर्ण

भारत कार्यालय के कोष तथा स्वर्णमान एवं कागजी चलाथ रक्षित कोष के भारत और लन्दन स्थित अंश, ये सब अन्ततोगत्वा एक ही कोष के विभिन्न अंग हैं। विभिन्न अंगों के विभिन्न नाम केवल इस बात के द्योतक हैं कि सारा कोष किस प्रकार के आधारों और आवश्यकताओं के लिए है। हर अंग के नाम से उस भाग के प्रमुख कार्य का द्योतन होता है, किन्तु न तो व्यवहार में और न सिद्धान्त में ही ये विभिन्न कोष केवल उसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए प्रयुक्त किये गए हैं। (पैरा ६ रिपोर्ट)

१ चाँदी के रुपये की कीमत प्रायः १० पेंस था, लेकिन रुपये का सरकारी मूल्य १ शि० ४ पें० था। इस प्रकार रुपये के प्रत्येक सिक्के पर होने वाला लाभ ६ पेंस था। एक बार भारत मन्त्री ने प्रस्ताव किया था कि सिक्के (रुपये) की ढलाई से होने वाला आधा लाभ रेलवे के निर्माण में व्यय किया जाए, लेकिन यह योजना कभी कार्यान्वित न की गयी।

२ १८६३ तक मन्त्री भारत उस हद तक कौंसिल बिलों का विक्रय करता था जिस हद तक उसे गृह प्रभार के लिए रुपयों की आवश्यकता पड़ती थी। भारत का निर्यात उसके आयात से अधिक था और निर्यात के माल की कीमत भेजने के लिए भी कौंसिल बिलों का उपयोग किया जाता था। १८६३ के बाद ये देश के विनिमय-नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण अंग बन गए।

३ इनका यह नाम इसलिए पड़ा क्योंकि ये कौंसिल ड्राफ्ट और कौंसिल बिलों के उलटे थे। कौंसिल बिल लन्दन में भारत मन्त्री द्वारा निर्गमित किये जाते थे और रिवर्स कौंसिल बिल भारत सरकार जारी करती थी। कौंसिल बिल का अर्थ था स्वर्ण को रुपये के लिए प्रस्तुत करना, विनिमय के दृष्टिकोण से

रियम कौंसिलों को भुनाने के लिए व्यय किया जाता था और उसी मूल्य के रुपये भारतीय खजानों से कागजी चलाथ रक्षित कोष में डाल दिए जाते थे।[1] कौंसिल बिलों को बेचने के बजाय भारत मन्त्री ने अपने व्यय के लिए आवश्यक धन प्राप्त करने के लिए ४३½ लाख पौण्ड का ऋण लिया। इस उद्देश्य के लिए उसे स्वर्णमान रक्षित कोष की स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को बेचने के लिए विवश होना पड़ा।

इस सकट का सामना करने के लिए किये गए उपायों से भारत और लन्दन के कोष से काफी धन निकल गया। लन्दन में चलाथ कोष ७० लाख पौण्ड से घटकर १५ लाख पौण्ड रह गया और भारत का स्वर्ण रक्षित कोष समाप्त हो गया। इस सकट से एक पाठ मिला कि पर्याप्त और सुलभ स्वर्ण रक्षित कोष कायम रखना अत्यावश्यक है। १६१२ में भारत मन्त्री ने भारत सरकार और जनता की मांग को यहाँ तक स्वीकार किया कि २ करोड़, ५० लाख पौण्ड स्वर्णमान रक्षित कोष की निश्चत राशि रहेगी और ५० लाख पौण्ड बैंक ऑफ इंगलैंड में जमा रहेगा। भारत सरकार की राय के विरुद्ध भारत मन्त्री ने यह निर्णय किया कि स्वर्णमान रक्षित कोष का कुछ भाग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों या कन्सोल्स एव अल्पकालीन ऋण (लन्दन के मान्यता प्राप्त ऋणकर्ताओं को) में लगाया जायगा। इस कार्य की भारत में लगातार कटु आलोचना होती रही।

§८ स्वर्ण विनिमय-मान—१६०७–८ के सकट का सामना करने के लिए उठाये गए विभिन्न कदमों जो १८६३ में टकसाल बन्दी से प्रारम्भ हुए के परिणाम स्वरूप स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना हुई। यह उस मान से भिन्न था जिसकी कल्पना १८६३ में की गयी थी। और १८६६ में न भारत सरकार ने और न फ़ाउलर समिति ने ही इसे पसन्द किया। भारत सरकार को यह ज्ञात हुआ कि अनजान ही, माना विविध अवस्था में, धूयमनस्क ढंग से कभी भारत-मन्त्री के कहने पर और कभी उसके द्वारा विवश किये जाने पर वह इस स्थिति में आ गई कि स्वर्ण विनिमय-मान स्थापित हो गया तथा कुछ समय पश्चात् न केवल वह इसे स्वीकार करने लगी वरन् इससे प्रेम भी करने लगी।

स्वर्ण विनिमय पद्धति में चलाथ स्वर्ण से सम्बद्ध होता है। यह सम्बन्ध सीधा न होकर किसी दूसरे देश के चलाथ के माध्यम से होता है जहाँ स्वर्णमान हो। इस प्रकार रुपया ब्रिटेन के पौण्ड से सम्बद्ध कर दिया गया जहाँ स्वर्ण चलाथ व मान्य एव प्रभावपूर्ण स्वर्णमान प्रचलित था। रुपये को प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण में परिवर्तित न किया जा सकता था किन्तु इस निश्चित दर पर पौण्ड से बदला जा सकता था और

[1] कौंसिल बिलों का उद्देश्य रुपये की विनिमय दर को १ शिलिंग ४ पेंस से ऊपर उठने से रोकना था और रिवर्स कौंसिल बिलों का उद्देश्य इस दर को इस अनुपात से नीचे गिरने से रोकना था।

[2] जैसा आगे स्पष्ट हो जायगा, भारत के कागजी चलाथ का आधार भारत में रुपया या सिक्के (धातु के सिक्के) या रुपये की प्रतिभूतियों में और लन्दन में इसके लिए स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ और सोना रखा जाता था। यदि पत्र और धातु रक्षित कोष में कमी होती थी तो इस कमी को दूसरी तरह उसी रूप में धातु (सोना या चांदी) रखकर पूरा किया जाता था।

पौण्ड स्वयं स्वर्ण में एक निश्चित दर पर परिवर्तित किया जा सकता था। लार्ड कीन्स के मतानुसार स्वर्ण विनिमय मान की विशेषताएँ ये हैं—"स्थानीय चलार्थ का उपयोग, जो मुख्यतः स्वर्ण का नहीं होता, स्थानीय चलार्थ के विनिमय में स्वर्ण देने में किंचित् अनिच्छा, किन्तु एक निश्चित अधिकाधिक दर पर विदेशी चलार्थ को स्थानीय चलार्थ में भुगतान के लिए बेचने की उत्कट अभिलाषा और ऐसा करने के लिए विदेशी उधार का उपयोग।"[1]

कीन्स ने स्वर्ण विनिमय मान की कार्य प्रणाली का निम्न शब्दों में वर्णन किया है। '(१) रुपया असीमित वैध मुद्रा है और कानूनी व्यवस्था के अनुसार सोने में अपरिवर्तनीय है। (२) १ पौण्ड=१५ रुपये की दर से सावरेन असीमित वैध मुद्रा है और इस दर पर उस समय तक परिवर्तनीय है जब तक कि १८९३ की अधिसूचना रद्द नहीं कर दी जाती, और तब तक भारत सरकार को एक पौण्ड के बदले १५ रुपये देने पड़ेंगे। (३) प्रशासकीय नियम तो यह है कि सरकार इस दर पर रुपये के बदले सावरेन देगी लेकिन कभी कभी यह व्यवहार स्थगित कर दिया जाता है, और रुपये देकर भारत में बड़ी मात्रा में स्वर्ण प्राप्त करना असम्भव हो जाता है। (४) प्रशासकीय व्यवहार यह है कि सरकार कलकत्ता में परिवर्तन के लिए पेश किए गए रुपयों के बदले में विलायत में भुगतान योग्य बिल बेचेगी। यह दर १ शिलिंग ३$\frac{29}{32}$ पेंस प्रति रुपया से कम न होगी। (रुपये के पौण्ड मूल्य को स्थायी रखने के लिए चौथी व्यवस्था आवश्यक है, यद्यपि सरकार ने रुपये के मूल्य को स्थिर रखने की कोई प्रतिज्ञा नहीं की थी कि लेकिन यदि ऐसा करने में असमर्थ हो जाती तो उसका अभिप्राय यह होता कि यह पद्धति असफल रही है।) इस प्रकार दूसरी व्यवस्था से रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ४ पें० से अधिक न होगा। केवल भारत में पौण्ड भेजने की कीमत तक ही वृद्धि सम्भव थी और चौथी व्यवस्था से यह दर १ शि० ३ $\frac{29}{32}$ पेंस[2] से नीचे नहीं गिरेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यवहार में रुपये के पौण्ड मूल्य के परिवर्तन की सीमाएँ १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पें० और १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पेंस हैं।'[3]

§६ चेम्बरलेन आयोग—भारतीय जनता स्वर्ण विनिमय मान को, जो अकारण ही उत्पन्न हो गया था, स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत न थी। लगातार यह मांग की जा रही थी कि समुचित स्वर्णमान की स्थापना की जाय, जैसा कि फाउलर समिति ने सुझाव रखा था और जिसका उस समय भारत सरकार ने समर्थन भी किया था। जब समस्त विश्व स्वर्णमान को एकमात्र सन्तोषजनक मान के रूप में स्वीकार कर रहा था, भारत में इसकी स्थापना न करना बड़ा ही अन्यायपूर्ण प्रतीत होता था। जनता की मांग को देखते हुए अप्रैल, १९१३ में श्री आस्टिन चेम्बरलेन के सभापतित्व में एक आयोग की नियुक्ति की गई किन्तु आयोग ने स्वर्ण विनिमय मान का पूर्णतया

१ जे० एम० कीन्स, इण्डियन करेंसी एण्ड फाइनेंस, पृष्ठ २६।

२ विनिमय दर की वृद्धि रोकने में द्वितीय व्यवस्था का वही अर्थ है जो कि भारत मन्त्री द्वारा बेचे गए बिलों के बेचने का है।

३ इन सीमाओं को भारत के स्वर्ण आयात बिन्दु और स्वर्ण निर्यात बिन्दु भी कहा जा सकता है।

समर्थन किया। इसके मतानुसार भारत में स्वर्णमान ही था। यह सत्य यह है कि स्वर्ण वास्तविक रूप में प्रचलित न था। लेकिन यह स्वर्णमान की आवश्यक शर्त न थी। भारत के लिए यह लाभप्रद भी न था कि बड़ी मात्रा में स्वर्ण प्रचलित रहे और न जनता इसे चाहती थी। आयोग की निम्नलिखित सिफारशें उल्लेखनीय हैं—(१) भारत की आंतरिक आवश्यकताओं के लिए सबसे उपयुक्त चलाथ रुपये और नोट हैं। (२) विनिमय और चलाथ के लिए सोने के सिक्के ढालने के लिए किसी टकसाल की आवश्यकता न थी, फिर भी यह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसमें भारत की इच्छा पूरी होनी चाहिए। (३) सरकार को चाहिए कि जनता रुपया, नोट या सोना, जिस प्रकार की भी चलाथ चाहे, वैसा ही उसे देने का प्रयास करे, लेकिन नोटों के प्रचलन को प्रोत्साहित करना चाहिए। (४) विनिमय के प्रयोजनों के लिए आन्तरिक चलाथ की सहायता के लिए स्वर्ण और स्टर्लिंग का पर्याप्त रक्षित कोष होना चाहिए। (५) स्वर्ण मान रक्षित कोष की वृद्धि की कोई सीमा नहीं होनी चाहिए। विनिमय की सहायता के लिए कागजी चलार्थ रक्षित कोष पर उस समय तक निर्भर रहना होगा जब तक कि स्वर्ण रक्षित कोष पर्याप्त नहीं हो जाता। (६) स्वर्णमान रक्षित-कोष की भारतीय शाखा को समाप्त कर देना चाहिए। (७) सम्पूर्ण स्वर्णमान रक्षित कोष के लिए उपयुक्त स्थान लन्दन है। (८) सरकार को यह जिम्मेदारी लेनी चाहिए कि जब भी आवश्यकता पड़े वह १ रुपया = १ शि० ३ २९/३२ पेंस की दर पर लन्दन में भुगतान होने वाली हुण्डियों का भारत में विक्रय करे।[1]

§१० भारतीय चलाथ पर प्रथम विश्व-युद्ध का प्रभाव—प्रथम विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने पर जनता में एक व्यापक भय और अविश्वास उत्पन्न हो गया एवं व्यापार-वाय में अस्त-व्यस्तता आ गई। विनिमय में दुर्बलता आ गई। जनता अपनी बचत जमा-खाते (सेविंग्स बैंक अकाउण्ट) से वापस लेने लगी। साथ ही बहुत से नोट स्वर्ण में परिवर्तन के लिए पेश किए गये। सरकार ने इन सब माँगों की पूर्ति की। फरवरी, १९१५ तक ८० लाख पौण्ड के लगभग रिवर्स कौंसिल बिलों का विक्रय किया गया ताकि विनिमय की सहायता की जा सके। इसके बाद कौंसिल बिलों की बड़ी माँग हुई। बचत बैंकों में जमा धन से १८ करोड़ रुपये वापस लौटाये गए तब कहीं जनता को भरोसा हुआ। १९१५ के अन्त में फिर रुपये जमा होने लगे। नोटों के बदले में स्वर्ण की माँग की गई और सरकार को व्यक्तियों को स्वर्ण देना स्थगित करना पड़ा। अब नोटों को केवल चाँदी के सिक्कों में ही बदला जा सकता था। मार्च १९१५ तक १० करोड़ रुपये के मूल्य के नोटों के बदले में रुपये दिये गए। इसके पश्चात् नोटों का चलन क्रमशः बढ़ने लगा।

[1] अपने विमति टिप्पण में सर जेम्स बेग्बी ने निम्न बातों के आधार पर स्वर्ण चलाथ युक्त स्वर्ण मान का समर्थन किया था। (१) सांकेतिक मुद्राओं की अपेक्षा स्वर्ण के सिक्के विनिमय को अधिक सुरक्षित रखते हैं और (२) स्वर्ण चलाथ युक्त स्वर्ण मान, संग्रह की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के बजाय इसे रोकने में सहायक होगा। जनता की स्वर्ण संग्रह की प्रवृत्ति अत्यधिक सांकेतिक चलार्थ रखने के कारण है जो अभिमूल्यित है तथा अर्थ के संचय की दृष्टि से अविश्वसनीय है।

ऐसा लगा कि स्थिति फिर पूर्ववत हो गयी है। लेकिन १९१६ के अन्त में फिर उलझनें उत्पन्न हुइ।[1] यद्यपि मित्र राष्ट्रो की सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत के निर्यात मे वृद्धि हुई, किन्तु आयात में कमी होने लगी। एक ओर तो युद्ध की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्यात करना जरूरी था। इसके अतिरिक्त निर्यात किए गए माल का मूल्य आयात के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से चुकाने की कठिनाई भी उत्पन्न हुई। युद्ध से पूर्व ही हमारा निर्यात आयात से अधिक था और यह अन्तर सोने चादी आदि के आयात द्वारा पूरा किया जाता था। लेकिन युद्ध-काल में विदशी सरकारो ने सोना चादी बाहर भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिए। इन परिस्थितियों में भारत मन्त्री को भारत मे रुपये भेजने के लिए बडे पमाने पर कौंसिल बिलों का विक्रय करना आवश्यक हो गया। भारत सरकार को इन बिलो का भुगतान करने के लिए बहुत बडी मात्रा मे रुपये के सिक्के बनाने पडे। ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत सरकार को व्यय करना पडता था, जो बाद में उससे फिर वसूल हो जाता था। कुछ उपनिवेशो और आश्रित देशो की ओर से जो क्रय किया जाता था उसके लिए और भारतीय माल के अफरीकी आयातको के लिए भी रुपये की आवश्यकता पडती थी। विश्व के बाजारो में रजत की भारी कमी थी, इसका कारण बढ़े हुए उत्पादन-व्यय और इस धातु के प्रमुख उत्पादक मेक्सिको की अस्थिर राजनीतिक स्थिति थी। मुद्रा बनाने के लिए चांदी की मांग बहुत अधिक हो गयी क्योंकि विश्व के सभी देश चाहे वे युद्धरत थे या निष्पक्ष, सोना बचा कर रखना चाहते थे। इन सब का परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार को बडे पैमाने पर रुपये ढालने की आवश्यकता पडी। इसके लिए दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई कीमतो पर चाँदी खरीदनी पडती थी। कारण यह था कि रजत की मांग बढ गई थी और पूर्ति कम हो गई थी। १९१५ और १९२० के बीच रजत की कीमत २७ पेंस प्रति औंस से बढकर ८९ पेंस प्रति औंस हो गई।[2] रुपयो में चाँदी की कीमत बढने का एक कारण पौण्ड डालर विनिमय का क्रमिक ह्रास था। मार्च, १९१९ तक यह दर ४ ८६ डालर=१ पौण्ड से घटकर ३ ४० डालर=१ पौण्ड पर आ गयी थी। भारत के लिए खरीदी चाँदी का मूल्य डालर में चुकाना पडता था। यदि डालरो के लिए अधिक पौण्डो की आवश्यकता थी तो इसका अभिप्राय यह था कि इसी कार्य के लिए अधिक रुपयो की आवश्यकता थी, क्योंकि रुपये का पौण्ड से एक निश्चित अनुपात था अर्थात् १ रुपया = १ शि० ४ पें०।

§११ सरकार द्वारा किये गए प्रयास—भारतीय वस्तुओं के विदेशी क्रेताओं को विप्रेषण का माध्यम प्रदान करने के लिए कौंसिल बिलो के अत्यधिक विक्रय की ओर

१ यह कहा जा सकता है कि स्वर्ण-विनिमय मान १८९८ से (जब रुपये का विनिमय-मूल्य १ शि० ४ पें० हो गया था) १९१६ तक रहा।

२ जब दर ४३ पेंस से ऊपर हो गइ तो रुपये को गलाना लाभदायक सिद्ध हुआ। रुपये की सरकारी दर १ शि० ४ पें० थी, लेकिन रुपये में जो रजत की मात्रा (१६५ ग्रेन) थी जिससे सर्राफ़ा बाजार में १ शि० ४ पें० से अधिक मूल्य प्राप्त हो सकता था। विधि का निषेध होते हुए भी इस प्रकार रुपये प्रचलन से गायब होने लगे। गायब रुपयों के स्थान पर नये रुपयों का टंकण करना पड़ता था।

हम सकेत कर चुके हैं। इन बिलो के रुपये मे परिवर्तित होने के कारण भारतीय रुपये के रक्षित कोष म कमी होने लगी। नोटों की परिवर्तनशीलता के लिए उत्पन्न खतरे से बचने के लिए सरकार को रक्षित कोष पर पडने वाले बोझ को रोकने के लिए बाध्य होना पडा। पहला कदम यह था कि दिसम्बर १९१६ में कौंसिल बिलो के विक्रय को सीमित कर दिया गया। माध्यमिक (इण्टरमीजिएट) कौंसिल बिलो का विक्रय बन्द कर दिया गया। कौंसिल बिलों का विक्रय कुछ चुने हुए बकों तथा फर्मों तक विशेष वस्तुओं के मूल्य, विशिष्ट दरों पर चुकाने के लिए सीमित कर दिया गया। फिर भी रजत के मूल्य में वृद्धि के कारण सरकार के लिए यह सम्भव न हो सका कि वह १ शि० ४ पें० के अनुपात को कायम रख सके। ऐसा करने का अर्थ हरक बनने और प्रचलित होने वाले रुपये पर कुछ हानि उठाना था। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए यह निश्चय किया गया कि ज्यों-ज्यों चाँदी का मूल्य बढ़े रुपये का विनिमय मूल्य बढा दिया जाय। दूसरे शब्दों में, रुपये का मूल्य उसके धातु मूल्य के बराबर कर दिया जाय। इसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि स्वर्ण विनिमय मान के स्थान पर रजत विनिमय मान हो गया। यद्यपि इस प्रकार की कोई औपचारिक घोषणा नहीं की गई। इस प्रकार कई अवस्थाओं में विनिमय दर जो १९१७ मे १ शि० ४½ पेंस थी बढ़कर दिसम्बर, १९१९ मे २ शि० ४ पें० हो गई तथा जनवरी और मार्च, १९२० मे दर बढकर २ शि० ६ पें० और फिर २ शि० ११ पें० हो गई और फरवरी १९२० के बाद की जाने वाली रिवर्स कौंसिल की बिक्री पर भी लागू हो गई। चलाय के लिए रजत की सरल उपलब्धि के हेतु व्यक्तियों द्वारा रजत का आयात सितम्बर, १९१७ स बन्द कर दिया गया। १९१८ मे सरकार ने अमरीका से २० करोड औंस चाँदी १०१½ सेंट प्रति शुद्ध औंस के हिसाब स खरीदना तय किया।[1]

चाँदी का कम उपयोग करने और देश के लिए पर्याप्त चलाय की व्यवस्था और आयात होने वाले माल के मूल्य के भुगतान के लिए पर्याप्त सुविधाओं के लिए निम्न उपाय किये गए—(१) जून १९१७ में रजत और स्वर्ण मुद्राओं के निर्यात और गलाने को निषिद्ध करार देने वाला अधिनियम पास किया गया। (२) दिसम्बर, १९१७ मे एक रुपये और ढाई रुपये के मूल्य के नोट चालू किये गए। जनवरी, १९१८ म निकल की दुअन्नियाँ, चवन्नियाँ और अठन्नियाँ चालू की गई। (३) जून १९१७ व्यक्तियों द्वारा आयात किये जाने वाले स्वर्ण को सरकार ने ले लिया और इस स्वर्ण के बदले में नोट जारी किये गए। रजत मुद्रा की कमी दूर करने के लिए सोने

1 संयुक्त राज्य अमरीका की कांग्रेस ने अप्रैल, १९१८ में पिटमैन अधिनियम पास किया जिसके अनुसार अन्य सरकारों को डालर कोष से अधिक से अधिक ३५,०० ०० ००० डालर की चाँदी बेचने का अधिकार मिला। भारत को २० करोड औंस चाँदी देकर (जो कि १९१४ के ...) संयुक्त राज्य की सरकार ने भारत सरकार की ... संकट से उबरने में और उसके नोटों द्वारा रजत और परिवर्तनीयता को कायम रखने में सहायता की। (बैबिंगटन समिति रिपोर्ट, पैरा २१)

ऐसा लगा कि स्थिति फिर पूर्ववत हो गयी है। लेकिन १९१६ के अंत में फिर उलझनें उत्पन्न हुई।[1] यद्यपि मित्र राष्ट्रों की सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत के निर्यात में वृद्धि हुई, किन्तु आयात में कमी होने लगी। एक ओर तो युद्ध की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्यात करना जरूरी था। इसके अतिरिक्त निर्यात किए गए माल का मूल्य आयात के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से चुकाने की कठिनाई भी उत्पन्न हुई। युद्ध के पूर्व ही हमारा निर्यात आयात से अधिक था और यह अन्तर सोने चांदी आदि के आयात द्वारा पूरा किया जाता था। लेकिन युद्ध-काल में विदेशी सरकारों ने सोना चांदी बाहर भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिए। इन परिस्थितियों में भारत मन्त्री को भारत में रुपये भेजने के लिए बड़े पैमाने पर कौंसिल बिलों का विक्रय करना आवश्यक हो गया। भारत सरकार को इन बिलों का भुगतान करने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में रुपये के सिक्के बनाने पड़े। ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत सरकार को व्यय करना पड़ता था, जो बाद में उससे फिर वसूल हो जाता था। कुछ उपनिवेशों और आश्रित देशों की ओर से जो क्रय किया जाता था उसके लिए और भारतीय माल के अफरीकी आयातकों के लिए भी रुपये की आवश्यकता पड़ती थी। विश्व के बाजारों में रजत की भारी कमी थी, इसका कारण बढ़े हुए उत्पादन-व्यय और इस धातु के प्रमुख उत्पादक मेक्सिको की अस्थिर राजनीतिक स्थिति थी। मुद्रा बनाने के लिए चांदी की मांग बहुत अधिक हो गयी क्योंकि विश्व के सभी देश चाहे वे युद्धरत थे या निष्पक्ष, सोना बचा कर रखना चाहते थे। इन सब का परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार को बड़े पैमाने पर रुपये ढालने की आवश्यकता पड़ी। इसके लिए दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई कीमतों पर चांदी खरीदनी पड़ती थी। कारण यह था कि रजत की मांग बढ़ गई थी और पूर्ति कम हो गई थी। १९१५ और १९२० के बीच रजत की कीमत २७ पेंस प्रति औंस से बढ़कर ८९ पेंस प्रति औंस हो गई।[2] रुपयों में चांदी की कीमत बढ़ने का एक कारण पौण्ड डालर विनिमय का क्रमिक ह्रास था। मार्च, १९१९ तक यह दर ४.८६ डालर = १ पौण्ड से घटकर ३.४० डालर = १ पौण्ड पर आ गयी थी। भारत के लिए खरीदी चांदी का मूल्य डालर में चुकाना पड़ता था। यदि डालरों के लिए अधिक पौण्डों की आवश्यकता थी तो इसका अभिप्राय यह था कि इसी कार्य के लिए अधिक रुपयों की आवश्यकता थी क्योंकि रुपये का पौण्ड से एक निश्चित अनुपात था अर्थात् १ रुपया = १ शि० ४ पें०।

§११ सरकार द्वारा किये गए प्रयास—भारतीय वस्तुओं के विदेशी क्रेताओं को विप्रेषण का माध्यम प्रदान करने के लिए कौंसिल बिलों के अत्यधिक विक्रय की ओर

१ यह कहा जा सकता है कि स्वर्ण-विनिमय मान १८९८ से (जब रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ४ पें० हो गया था) १९१६ तक रहा।

२ जब दर ४३ पेंस से ऊपर हो गई तो रुपये को गलाना लाभदायक सिद्ध हुआ। रुपये की सरकारी दर १ शि० ४ पें० थी लेकिन रुपये में जो रजत की मात्रा (१६५ ग्रेन) थी जिसके बदले में सिक्का बाजार में १ शि० ४ पें० से अधिक मूल्य प्राप्त हो सकता था। विधि का निषेध होने हुए भी इस प्रकार रुपये प्रचलन से गायब होने लगे। गायब रुपयों के स्थान पर नये रुपयों का टंकण करना पड़ता था।

हम सकेत कर चुके हैं। इन बिलों के रुपये मे परिवर्तित होने के कारण भारतीय रुपये के रक्षित कोष मे कमी होने लगी। नोटो की परिवर्तनशीलता के लिए उत्पन्न खतरे से बचने के लिए सरकार को रक्षित कोष पर पडने वाले बोझ को रोकने के लिए बाध्य होना पडा। पहला कदम यह था कि दिसम्बर १९१६ में कौंसिल बिलो के विक्रय को सीमित कर दिया गया। माध्यमिक (इण्टरमीजिएट) कौंसिल बिलो का विक्रय बन्द कर दिया गया। कौंसिल बिलो का विक्रय कुछ चुने हुए बैंको तथा फर्मों तक विशेष वस्तुओं के मूल्य, विशिष्ट दरो पर चुकाने के लिए सीमित कर दिया गया। फिर भी रजत के मूल्य में वृद्धि के कारण सरकार के लिए यह सम्भव न हो सका कि वह १ शि० ४ पें० के अनुपात को कायम रख सके। ऐसा करने का अर्थ हरेक बनने और प्रचलित होने वाले रुपये पर कुछ हानि उठाना था। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए यह निश्चय किया गया कि ज्यो-ज्यो चाँदी का मूल्य बढे रुपये का विनिमय मूल्य बढा दिया जाय। दूसरे शब्दों में रुपये का मूल्य उसके धातु-मूल्य के बराबर कर दिया जाय। इसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि स्वर्ण विनिमय मान के स्थान पर रजत विनिमय मान हो गया। यद्यपि इस प्रकार की कोई औपचारिक घोषणा नही की गई। इस प्रकार कई अवस्थानो में विनिमय दर जो १९१७ मे १ शि० ४½ पेंस थी बढकर दिसम्बर, १९१९ म २ शि० ४ पें० हो गई तथा जनवरी और मार्च, १९२० मे दर बढ़कर २ शि० ६ पें० और फिर २ शि० ११ पें० हो गई और फरवरी, १९२० के बाद की जाने वाली रिवर्स कौंसिल की बिक्री पर भी लागू हो गई। चलाथ के लिए रजत की सरल उपलब्धि के हेतु व्यक्तियो द्वारा रजत का आयात सितम्बर, १९१७ से बन्द कर दिया गया। १९१८ म सरकार ने अमरीका से २० करोड औंस चाँदी १०१⅛ सेंट प्रति शुद्ध औंस के हिसाब से खरीदना तय किया।[1]

चाँदी का कम उपयोग करने और देश के लिए पर्याप्त चलाथ की व्यवस्था और आयात होने वाले माल के मूल्य के भुगतान के लिए पर्याप्त सुविधाओं के लिए निम्न उपाय किये गए—(१) जून, १९१७ में रजत और स्वर्ण मुद्राओ के निर्यात और गलाने को निषिद्ध करार देने वाला अधिनियम पास किया गया। (२) दिसम्बर, १९१७ मे एक रुपये और ढाई रुपये के मूल्य के नोट चालू किये गए। जनवरी, १९१८ मे निकल की दुअन्नियाँ, चवन्नियाँ और अठन्नियाँ चालू की गई। (३) जून १९१७ से व्यक्तियों द्वारा आयात किये जाने वाले स्वर्ण को सरकार ने ले लिया और इस स्वर्ण के बदले में नोट जारी किये गए। रजत मुद्रा की कमी दूर करने के लिए गोल

---

१ संयुक्त राज्य अमरीका की कांग्रेस ने अप्रैल, १९१८ में पिटमैन अधिनियम पास किया जिसके अनुसार अन्य सरकारों को डालर-कोष से अधिक से अधिक ३५,०० ००,००० डालर का चाँदी देने का अधिकार मिला। भारत को २० करोड औंस चाँदी देकर (जो कि १९१४ के बाद विश्व के अधिक उत्पादन से अधिक थी) संयुक्त राज्य की सरकार ने भारत सरकार को अत्यन्त कठिन रुपया संकट से उबरने में और उसके नोट जारी रखने और परिवर्तनशीलता को कायम रखने में सहायता की। (बैबिंगटन समिति रिपोर्ट, पैरा २१)

की मुहरें और सावरेन भी बनाये गए।[1] अगस्त, १९१९ में सरकार ने जनता को उन स्वर्णों का विक्रय प्रारम्भ किया जो उसने पहले ले लिया था। इसका अभिप्राय इसके मूल्य को बढ़ने से रोकना तथा इसके आयात को प्रोत्साहित करना था। (४) नोटों के प्रचलन में भी कुछ वृद्धि की गई, जिनके पीछे धातु का आधार न था और नोटों के रुपये में बदलने की विधिसम्मत सुविधाओं के अतिरिक्त सुविधाओं को भी बन्द कर दिया गया। (५) सरकारी व्यय को यथासम्भव कम रखा गया तथा कराधान एवं ऋण द्वारा धन सचय किया गया।

§१२ बबिंगटन स्मिथ समिति—युद्ध के कारण फली अस्त व्यवस्था से भारत चेम्बरलेन आयोग की सिफारिशें पुरानी पड़ गई। इसलिए १९१९ में परिस्थिति के पुनर्वीक्षण के लिए सर हेनरी बेबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की गई। समिति के मत में भारत की वर्तमान परिस्थितियों में एक स्थिर विनिमय-स्तर की अत्यन्त आवश्यकता थी—विशेषकर इसलिए कि यहाँ विनिमय स्तर के सम्बन्ध में अप्रत्याशित सरकारी कार्यवाही तथा स्वतः चलित आर्थिक प्रक्रिया परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं, जिनके कारण व्यापारिक सौदों में एक प्रकार की अनिश्चितता आ जाती है। अतः यह आवश्यक एवं वाञ्छनीय समझा गया कि सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त स्वतः चलित पद्धति प्रचलित की जाय। समिति के प्रमुख सुझाव निम्न थे—(१) रुपया असीमित वैध सिक्का रहे। (२) इसका विनिमय-मूल्य २ शि० निर्धारित किया जाय जिसमें ११ ३००१६ ग्रेन सोना, अर्थात् पौण्ड के सोने का दसवां भाग हो। (३) इस नये अनुपात १० रु०=१ सावरेन पर सावरेन वैध सिक्का हो। (४) स्वर्ण एवं रजत के स्वतन्त्र आयात एवं निर्यात की अनुमति दी जाय तथा बम्बई में एक टकसाल खोली जाय जहाँ जनता द्वारा दिये गए सोने की सावरेन में ढलाई की जाय। (५) सावरेन का रुपये में परिवर्तनीय होना समाप्त किया जाय। (६) रजत पर से यथाशीघ्र आयात-कर हटा लिया जाय। (७) स्वर्णमान रक्षित कोष का पर्याप्त अंश स्वर्ण के रूप में रहना चाहिए और शेष साम्राज्य के किसी भी देश द्वारा निर्गमित तथा १२ मास में परिपक्व होने वाली प्रतिभूतियों के रूप में होना चाहिए। स्वर्ण रक्षित कोष में स्वर्ण की आधी मात्रा भारत में रहनी चाहिए।

समिति ने २ शिलिंग के अनुपात का सुझाव इस आधार पर दिया कि इससे व्यापार आदि में कम-से-कम गड़बड़ होगी और यह विश्व की मूल्य-दशाओं में तथा आन्तरिक उत्पादन लागत को देखते हुए सबसे उपयुक्त है। यह तर्क भी दिया गया कि २ शिलिंग की उच्च दर भारत के निर्यात में कोई हानि पहुँचाए बिना आयात तथा गृह प्रभार के भुगतान के सम्बन्ध में लाभप्रद सिद्ध होगी, क्योंकि कच्चे माल और खाद्य की भारी कमी होने के कारण भारतीय उत्पादन की विश्व-बाजार में किसी भी मूल्य पर माँग है।

१ सोने की मुहर १५ रुपये का सिक्का था। इसका वजन और शुद्धता पौण्ड के बराबर था। अगस्त १९१८ में खोली गई शाही टकसाल की बम्बई शाखा में मुहरें और पौण्ड बनाए जाते थे। कर्मचारियों की कठिनाइयों के कारण अप्रैल १९१९ में यह शाखा बन्द कर दी गई।

§१३ रिपोट पर सरकारी कायवाही—सरकार ने बविंगटन स्मिथ समिति की रिपोट की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए निम्न उपाय किये—(१) सरकार ने यह अधिसूचना निकली कि कौंसिल ड्राफ्ट और तार हुण्डियों को लन्दन में साप्ताहिक विक्रय के लिए प्रतिस्पर्धी टेण्डर द्वारा विक्रय के लिए प्रस्तुत किया जायगा और इनकी कोई निर्धारित यूनतम दर न होगी। भविष्य में रिवस ड्राफ्ट और तार हुण्डियाँ भारत में प्रचलित डालर-स्टर्लिंग विनिमय द्वारा निर्धारित सावरेन दर १ रुपया= ११ ३००१६ ग्रेन स्वर्ण के आधार पर भारत में प्रस्तुत किये जायेंगे। इसमें स्वर्ण प्रेषण की लागत घटा दी जायगी। (२) फरवरी, १६२० में चाँदी के आयात पर से शुल्क हटा दिया गया। साथ ही युद्धकालीन निषेध को, जिसम चलाथ के अतिरिक्त अन्य कार्यों म सोने चादी के उपयोग तथा अधिक दर पर उनके लेन देन को वर्जित किया गया था, समाप्त कर दिया गया था। मई १६२० से चाँदी के मूल्य में कमी आने और चलन से रजत-मुद्राओ की वापसी से सरकार को रजत एव स्वर्ण लाने ले जाने पर से सब प्रतिबन्ध हटाने का अवसर मिला। सरकार की ओर से भुनाने वाले की इच्छानुसार भुगतान किये जाने लगे क्योंकि अब चाँदी के सिक्को म भुगतान को रोकने का कोई कारण न था। (३) नोट भुनाने के सम्बन्ध में विधिसम्मत सुविधाओं के अतिरिक्त सुविधाए जो अस्थायी रूप से हटा ली गई थी, पुन दी गइ। (४) सरकार की पाक्षिक बिक्री, जो सितम्बर, १६१६ से प्रारम्भ हो गई थी और जिसकी ओर सकेत किया जा चुका है के बावजूद सोना उस मूल्य से अधिक पर बिकता रहा जिसकी सिफारिश स्मिथ समिति ने की थी। अतएव सरकार ने फरवरी, १६२० से सितम्बर, १६२० तक २२ रुपया प्रति तोला के औसत मूल्य पर काफी मात्रा म सोना बेचा। लेकिन ज्यों ही अक्तूबर में विक्रय बन्द हुआ मूल्य जिनकी वृद्धि अब तक रुकी हुई थी फिर एकदम बढ़ने लगे। (५) जून, १६२० मे अध्यादेश नम्बर ३ द्वारा सावरेन और अर्ध-सावरेन, जो तब तक १५ रुपया प्रति पौण्ड की दर पर चल रहे थे, वैध मुद्रा न रहे यद्यपि तीन सप्ताह के विलम्ब काल मे उन्हें पुरानी दर पर स्वीकार किया जाता रहा। इसके पश्चात् भारतीय टकण सशोधन अधिनियम (१६२० का ३६) पास किया गया जिसके अनुसार क्रमश १० रुपये और ५ रुपये के अनुपात से सावरेन और अर्ध सावरेन फिर वैध मुद्रा बन गए। अब से सावरेन और अर्ध-सावरेन इस नई दर पर खजाने तथा चलाथ कार्यालयो द्वारा स्वीकार किये जाने लगे, लेकिन वे निर्गमित न होते थे। चूँकि सावरेन का बाजार मूल्य १० रुपये से अधिक था अत निर्धारित अनुपात पर चलाथ के रूप म यह नहीं चल सका। अतएव स्मिथ समिति की सिफारिशो के अनुसार बम्बई मे सोने के सिक्के की ढलाई के लिए टकसाल खोलने की आवश्यकता न रही।

§१४ सरकारी नीति का प्रभाव—स्मिथ समिति की रिपोट के प्रकाशन के दिन पौण्ड डालर के विनिमय का अनुपात एक पौण्ड=३ ६५ डालर था। १ रुपया=२ शि० के अनुपात को ध्यान मे रखते हुए यह रुपया और पौण्ड की विनिमय-दर के ऊँचे रहने की बड़ी ही स्पष्ट चेतावनी थी। भारतीय निर्यातक, जिनके पास पौण्ड की हुण्डियाँ

थीं, इस बात की ताक मे थे कि प्रत्याशित वृद्धि से पूर्व ही उन्हें भुना लें।[1] इससे विनिमय दर में वृद्धि होने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला क्योंकि इसका अर्थ पौण्ड के विनिमय के लिए रुपया की माँग की वृद्धि था। परिणाम यह हुआ कि २ शिलिंग के अनुपात की घोषणा के तीन दिन के भीतर विनिमय-दर बढ़कर २ शिलिंग साढ़े आठ पेंस हो गयी और फरवरी, १९२० के अन्त तक यह बढ़कर २ शिलिंग १०½ पेंस की चरम सीमा पर पहुँच गई। इसमें डालर स्टर्लिंग दर का गिरना भी सहायक हुआ। इसके पश्चात् विपरीत दशा मे गति प्रारम्भ हुई। अनेक व्यक्तियों ने युद्ध-काल में बड़ा ही मुनाफा कमा लिया था। परिणाम यह हुआ कि देश में एक औद्योगिक समृद्धि की सी स्थिति उत्पन्न हो गई। कितने ही नये उद्योग प्रारम्भ किये गए तथा विदेशी मशीनों आदि के लिए बड़े पैमाने पर आर्डर दिये गए, जिनके लिए उच्च विनिमय-दर के कारण अग्रिम भुगतान किये गए। इसका परिणाम यह हुआ कि स्टर्लिंग की माँग बढ़ गई तथा विनिमय में सट्टेबाजी के कारण माँग और भी अधिक हो गई। किन्तु गिरते हुए विनिमय का सबसे प्रमुख कारण यह था कि जनवरी, १९२० से ही भारत का व्यापारिक सन्तुलन लगातार प्रतिकूल था। इन सबके सम्मिलित प्रभाव से रुपये के मूल्य में ह्रास प्रारम्भ हो गया। सरकार ने बड़ा ही प्रयास किया कि रिवर्स कौंसिल बिलों के विक्रय द्वारा विनिमय को सहारा दिया जाय। जनवरी से सितम्बर, १९२० के अन्त तक ५,५३ ८२ ००० पौण्ड मूल्य के ये बिल बेचे गए। विक्रय-दर बाजार में गिरते हुए रुपये के मूल्य के अनुसार रही न कि सरकारी २ शि० के अनुपात से। रिवर्स कौंसिल बिलो का भुगतान करने के लिए भारत मन्त्री को विवश होकर स्वर्ण प्रतिभूतियों और राजकोष हुण्डियो का विक्रय करना पड़ा जो लन्दन के कागजी चलार्थ कोष में रखे गए थे। इन हुण्डियो का मूल्य ७ रु० से १० रु० प्रति पौण्ड तक मिला जब कि ये १५ रु० प्रति पौण्ड के हिसाब से खरीदी गई थी। इस प्रकार रिवर्स कौंसिल की बिक्री से भारतीय खजाने को होने वाली हानि ३५ करोड़ रुपये तक पहुँच गई।

रिवर्स कौंसिलो के बदले में जो नोट सरकार को जनता से प्राप्त हुए वे रद्द कर दिये गए। इसके परिणामस्वरूप १ फरवरी १९२० से १६ सितम्बर, १९२० तक प्रचलित मुद्रा में लगभग २७ करोड़ रुपये की कमी हुई। यद्यपि इससे मुद्रा की कमी अत्यधिक हो गई, किन्तु विनिमय दर को गिरने से रोकने में इसका प्रभाव शून्य के बराबर ही रहा। इससे मूल्यों में गिरने की प्रवृत्ति आ गई, जिससे व्यापारी घबराकर अत्यन्त कम कीमतों पर सामग्री बेचने के लिए विवश हो गए। परिणामस्वरूप कितने ही व्यापारी बरबाद हो गए। जिन व्यापारियों ने विदेशी सामग्री के लिए उस समय आर्डर दिये थे, जब रुपये का विनिमय मूल्य ऊँचा था, उन्होंने देखा कि विनिमय दर गिरने के कारण सामान पहुँचने पर रुपयों में किया जाने वाला भुगतान उनके हिसाब से कहीं अधिक होगा इस प्रकार उनमें से कितने ही दिवालिए हो गए।

§१५ सरकारी नीति की आलोचना—कितने ही आलोचकों ने इस सब गड़बड़ी का

[1] यदि विनिमय दर बढ़े तो पौण्ड में प्राप्त धनराशि रुपये में उतना ही कम होगी और इसके बदले निर्यातक को हानि होगी।

कारण सरकार का यह निर्णय बताया है कि स्मिथ समिति की सिफारिश के अनुसार २ शि० प्रति रुपये के विनिमय अनुपात को स्वीकार किया गया और उसे हर तरह से कायम रखने का प्रयास किया गया। सर स्टैनले रीड के शब्दों म 'वह नीति, जो विनिमय-दर के स्थिर करने के लिए अपनाई गई, शोधक्षमी देश के विनिमय मे अत्य धिक उथल पुथल का कारण बनी जिसमे व्यापार मे व्यापक व्याघात पहुँचा। सरकार को बहुत हानि उठानी पड़ी और कितने ही व्यापारी दिवालिय हो गए।" सरकारी नीति की निन्दा मे निम्न बातें विशेष रूप से कही गइ—(१) २ शिलिंग स्वर्ण का अनुपात असम्भव रूप स ऊँचा है। इसका अनुमान इसी से लग जाना चाहिए था कि जबकि अनुपात के अनुसार सोने की कीमत १५ रुपये १४ आने प्रति तोला होनी चाहिए, वास्तव में अक्तूबर १९२० में यह बाजार-दर पर, जबकि अनुपात लागू होने को था २३ रुपये ४ आने प्रति तोला थी। (२) चाँदी की कीमत घटकर ४४ पेंस प्रति औंस हो गई थी। यह अनुपात रुपये के बड़े पैमाने पर गलाए जाने क खतर से बचने के लिए निर्धारित किया गया था, यह खतरा स्वय समाप्त हो गया था जसा कि चाँदी के मूल्य में परिवतनो से स्पष्ट था। इस धातु की मूल्य वृद्धि का कारण सट्टेबाजी थी। इस प्रकार यह एक अस्थायी बात थी। इसमे घबराकर सरकार को शीघ्रता स अनुपात में इतना भारी परिवतन करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। (३) रुपये के विनिमय मूल्य की वृद्धि का कारण रुपये की तुलना में पौण्ड की क्रय शक्ति का अधिक घट जाना था, पर यह क्रय शक्ति समता सिद्धान्त (परचेजिंग पावर परिटी) के अनुसार हुआ था और इसका रजत की मूल्य वृद्धि से कोई सम्बन्ध न था। (४) १ रुपया = २ शिलिंग की दर बाजार के अनुभव से असगत थी। एक रुपये को ११ ३००१६ ग्रेन स्वर्ण (=२ शिलिंग सोना) होने के लिए स्वर्ण का बाजार मूल्य १५ रुपय १४ आने प्रति तोला होना चाहिए था। लेकिन जसा कि हम देख चुके हैं यह मूल्य २३ रुपये ४ आन प्रति तोला था। अत नये अनुपात में रुपया अधिमूल्यित हो गया। (५) यदि रुपये को स्वर्ण से सम्बद्ध करना था तो बुद्धिमानी इसी में थी कि सोने के परिवतनशील मूल्य के स्थिर और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की परिस्थितियो के ठीक होने तक प्रतीक्षा की जाती।

§१६ बाद के प्रभाव—जसा हम देख चुके हैं रिवस कौंसिल बिलो क विक्रय से नये अनुपात को कायम न रखा जा सका। इस काय के लिए अपेक्षित विस्फीति इतनी अधिक होती कि उस पर विचार करना बेकार था। जून, १९२० तक इस अनुपात को किसी प्रकार कायम रखने के सब प्रयत्नो की निरथकता स्पष्ट हो गई, किन्तु सरकार सितम्बर तक इस प्रयास में लगी रही। इससे कष्ट बढ़ता गया और राजकीय कोष की भी हानि हुई।[1] विदेश मूल्यो के गिर जाने के कारण भारतीय निर्यात कम हो गया था। इसका विशेष कारण इगलण्ड म पौण्ड क मूल्य का गिर जाना भी था। रुपये की अपेक्षा पौण्ड के क्रय मूल्य के बढ़ जाने क कारण रुपये और पौण्ड के अनुपात में कमी प्रारम्भ हो गई यद्यपि १९२१ में ३१ ५८,००० रुपय बनाय

---

१ देखिये § १४।

लगी, किन्तु यह काल इतना अल्प था कि इसका विशेष प्रभाव स्पष्ट न हो सका। १९१४ के पश्चात् कागजी मुद्रा पद्धति पर बड़ा बोझ पड़ा। रुपयों की माँग अत्यन्त बढ़ी और नई मुद्रा जारी कर इसकी पूर्ति करना सम्भव न था। जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं विश्वासाश्रित निगम की अधिकतम सीमा, जो १८६१ में ४ करोड़ रुपया थी १९११ में बढ़ाकर १४ करोड़ रुपये कर दी गई थी। १९१५ में यही सीमा थी। निम्न तालिका में युद्ध-काल में की गई वृद्धि दी गयी है (आँकड़े करोड़ रुपयों में हैं)।

अधिनियम	स्थायी विनियोग	अनुमेय अल्पकालीन विनियोग	कुल योग
१९१५ का ८वाँ अधिनियम	१४	६	२०
१९१६ का ९वाँ अधिनियम	१४	१२	२६
१९१७ का ११वाँ अधिनियम	१४	३६	५०
१९१७ का ११वाँ अधिनियम	१४	४८	६२
१९१८ का ५वाँ अधिनियम	१४	७२	८६

निम्न तालिका[1] से कुल रक्षित कोष में प्रतिभूतियों के प्रतिशतता की क्रमिक वृद्धि स्पष्ट हो जायगी।

मार्च का अन्तिम दिन	कुल नोट प्रचलन	रजत	रक्षित कोष की संरचना एवं स्थिति (लाख रुपयों में)						कुल रक्षित कोष में प्रतिभूतियों का प्रतिशत
			स्वर्ण			प्रतिभूतियों का क्रय मूल्य			
		भारत	भारत	इंगलैण्ड	कुल योग	भारत	इंगलैण्ड	कुल योग	
१९१४	६६,१२	२०,५३	२२ ४४	६,१५	३१,८६	१०,००	४,००	१४,००	२१
१९१५	६१,६३	३२,३४	७,६४	७,६५	१५,२६	१०,००	४ ००	१४,००	०१
१९१६	६७ ७३	२३,५७	१२,२४	११,८२	२४,०६	१०,००	१०,००	२० ००	११
१९१७	८६,३७	१६,२१	१२ ००	६,६७	१८,६७	१०,००	३८,४६	४८,४६	५६
१९१८	९९,७९	१०,७९	२६,८५	६७	२७,५२	१०,००	५१ ४८	६१,४८	६१

§१९ युद्धोत्तर काल में कागजी चलार्थ सम्बन्धी घटना चक्र—युद्धकालीन कागजी मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति युद्धोत्तर-काल में भी जारी रही। १९१९ में विश्वासाश्रित (फिड्यूशरी) नोट जारी करने की सीमा निम्न प्रकार से बढ़ा दी गई (आँकड़े करोड़ रुपये में हैं)

अधिनियम	स्थायी विनियोग	अनुमेय अस्थायी विनियोग	योग
१९१९ का द्वितीय अधिनियम	१४	८६	१००
१९१९ का इक्कीसवाँ अधिनियम	२०	१०० (ब्रिटिश राजकोषीय हुण्डियाँ)	१२०

[1] सिराम 'दी सार स आफ पब्लिक फिनान्स' (दूसरा संस्करण), पृ० २६४।

माच, १९२० मे ६ मास के लिए एक अस्थायी कानून पास किया गया जिसके अनुसार विनियाग की स्थिति और स्वरूप (स्टर्लिंग या रुपया) सम्बन्धी सभी प्रतिबन्ध हटा लिये गए। धन की कमी के कारण भारत मन्त्री को बाध्य होकर लन्दन में कागजी चलाथ रक्षित कोष मे रखी स्टर्लिंग प्रतिभूतिया का विक्रय करना पडा, जिससे कि लन्दन को धन प्रेषण की भारी माँग की पूर्ति की जा सके। इसका परिणाम यह हुआ कि समान मूल्य के कागजी चलाथ (नोटो) को (१ पौण्ड=१५ रुपये की दर से) रद्द करना पडा।

१ अक्तूबर, १९२० को लागू होने वाले कागजी चलाथ सशोधन अधिनियम म दो प्रकार की व्यवस्था थी—(१) स्थायी, (२) सक्रमणकालीन। (१) स्थायी व्यवस्था-न्यूनतम धातु रक्षित कोष कुल रक्षित कोष का ५० प्रतिशत होगा (स्मिथ समिति ने ४० प्रतिशत की सिफारिश की थी)। २० करोड रुपये के मूल्य की प्रतिभूतियाँ भारत में रखी जानी थीं और विनियोजित पूँजी का बाकी भाग लन्दन में अल्पकालीन प्रतिभूतियों के रूप मे रखा जाना था। अन्त मे चलाथ नियन्त्रक (करेन्सी कण्ट्रोलर) को यह अधिकार दिया गया कि वह ९० दिन तक की परिपक्वावधि वाली भुनाई गई हुण्डियो के आधार (बकिंग) पर ५ करोड रुपये तक के नोट जारी कर सके। १९२३ के कागजी चलाथ सशोधन अधिनियम द्वारा यह सीमा बढ़ाकर १२ करोड रुपये कर दी गई। ५० प्रतिशत के धातु-कोष की गणना में इस अतिरिक्त राशि को शामिल नही किया जाना था। जहाँ तक रक्षित स्वर्ण कोष का सम्बन्ध है, यह व्यवस्था की गई थी कि भारत मन्त्री लन्दन मे ५० लाख पौण्ड से अधिक स्वर्ण पिण्ड (गोल्ड बुलियन) न रखेगा।

(२) सक्रमणकालीन व्यवस्था—नये अनुपात के अनुसार लन्दन मे सोने और स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के पुनर्मूल्यन के प्रश्न को सुलझाने के लिए अधिनियम में कुछ सक्रमणकालीन व्यवस्था की गई। पुनर्मूल्यन द्वारा रक्षित धातु-कोष की प्रतिशतता ५० से कम हो गई। अत यह तय किया गया कि अस्थायी रक्षित-कोष का विनियोजित भाग ८५ करोड रुपये निश्चित कर दिया जाय। स्वर्ण तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतिया का उनके पुराने मूल्य के दो तिहाई पर मूल्यांकन होने से जो अन्तर उत्पन्न हो गया, उसकी पूर्ति के लिए सरकार को अधिकार मिला कि वह तदर्थ रुपया प्रतिभूतियाँ जारी करके कागजी चलाथ रक्षित-कोष को दे। इस प्रकार अधिनियम द्वारा रुपये की प्रतिभूतियों की निर्धारित सीमा का अतिक्रमण हो रहा था, अत यह निर्णय किया गया कि धीरे धीरे इनके स्थान पर स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ रखी जायें। स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के क्रय के लिए उस समय धन नही था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कागजी चलाथ रक्षित कोष निम्न स्रोतों से सहायता ले सकता था—(१) रक्षित-कोष की प्रतिभूतिया पर ब्याज, (२) रुपये के नये टकण पर लाभ, (३) स्वर्णमान रक्षित-कोष मे ४ करोड पौण्ड से अधिक होने पर उसका ब्याज और (४) चलाथ नियन्त्रक के पास रखी गई वाणिज्यिक हुण्डियों का ब्याज। किन्तु वित्तीय कठिनाइयों के कारण यह आवश्यक हो गया कि इन स्रोतो की आय को राजस्व म शामिल किया जाय। केवल १९२१ २२

में इस आय को राजस्व में शामिल नहीं किया गया। उस वर्ष मे स्वर्ण रक्षित-कोष में जो अतिरिक्त धन था, उसे तदर्थ प्रतिभूतियो को समाप्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया।

१९२७ के भारतीय चलार्थ अधिनियम द्वारा स्वर्ण एव स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का पुनर्मूल्यन हुआ और अनुपात १ पौण्ड = १३ रु० १ आ० ३ पा० निर्धारित किया गया।[1] परिणाम यह हुआ कि स्वर्ण एव स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का मूल्य ९ करोड़ ३० लाख रुपये बढ़ गया और इतने ही मूल्य की राजहुण्डियाँ (ट्रेजरी बिल्स) भारत में रद्द कर दी गई।

§२० १९२५ से १९३५ तक कागजी चलार्थ रक्षित कोष[2]—निम्नलिखित तालिका मे १९२५-३५ के काल में कागजी चलार्थ रक्षित कोष की सरचना एव स्थिति के सम्बन्ध में होने वाला परिवर्तन दिलचस्पी से खाली न होगा।

१९२९ से १९३२ की कालावधि में व्यापार में बड़ी मंदी आई और राजनीतिक परिस्थिति में बड़ी उथल पुथल रही। देश में मूल्य सामान्यतया गिरते रहे और कागजी नोटों के प्रचलन में कमी आ गई। निर्यात होने वाली प्रमुख वस्तुओं के मूल्य गिर जाने से विनिमय कमजोर हो गया। इसका आंशिक कारण यह भी था कि राजनीतिक अस्थिरता और मुद्रा की सट्टेबाजी से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण पूँजी देश से बाहर जाने लगी।[3] भारत मंत्री को सामान्य रीति से धन भेजना कठिन हो गया

३१ मार्च	कुल प्रचलन[4]	भारत में रजत मुद्रा	भारत में स्वर्ण मुद्रा एव स्वर्णपिंड	रजतपिंड जिसका टकन हो रहा था	प्रतिभूतियाँ		आन्तरिक हुण्डियाँ	कुल रक्षित कोष में प्रतिभूतियों का प्रतिशत
					भारत में रुपया प्रतिभूतियाँ	इंगलैण्ड में स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ		
१९२५	१८४ १	७० २	२२ ३	६ ७	५७ १	२० १	८ ०	४०८
१९२६	१९३ ३	७७ २	२२ ३	७ ६	५७ १	२९ ०		४४६
१९२७	१८४ १	९४ ६	२२ ३	८ ५	४९ ७	५ ५	२ ०	३११
१९२८	१८४ ८	९८ ७	२९ ७	७ ६	३७ ९	३ ७	७ ०	२६४
१९२९	१८८ ०	९४ ९	३२ २	४ ९	४३ २	१० ६	२ ०	३८७
१९३०	१७७ २	१०८ १	३२ २	२ ८	३३ ८	० १		१११
१९३१	१६० ८	११७ ८	२५ ८	६ ६	१० २			९३
१९३२	१७८ १	१०० ०	५ २	३ २	४७ ९		३ ८	१२४
१९३३	१७६ ९	९६ ३	२६ ०	१५ ५	३९ १			२२१
१९३४	१७७ २	८६ ५	४१ ५	११ ५	२९ ५	८ २		२१३
१९३५	१८६ १	७७ २	४१ ५	१३ १	३५ ९	१८ ३		२६१

१ देखिए § २९।

२ देखिए चलार्थ नियन्त्रक की सलाना रिपोर्ट।

३ सट्टेबाजों ने इस आशा में कि पुराना १ रु० = १ शिलिंग ६ पेंस का अनुपात फिर निर्धारित होगा, रुपये को १ शिलिंग ४ पेंस की दर पर बेचना प्रारम्भ किया, क्योंकि ऐसा होने पर उन्हें पौंड को रुपये में बदलवा लेने पर लाभ होता।

४ सारे आँकड़े करोड़ रुपयों में हैं।

भ्रौर इसलिए उसे गृह प्रभार की पूर्ति के लिए लन्दन मे पौण्ड प्रतिभूतियो का विक्रय करना पडा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत मे उतनी ही मात्रा में नोट कम हो गए। १९३०-३१ मे रुपया प्रतिभूतियो के आधार पर प्रचलित चलाय की मात्रा कम हो जाने से सरकार के पास इन प्रतिभूतियो की कमी हो गई।

यह तो रक्षित कोष के अधातवीय भाग की बात हुई। जहाँ तक रक्षित धातु-कोष का प्रश्न है, स्वर्ण कोष कम हो गया। जनता की माँग (जो राजनीतिक स्थिति की उथल पुथल और किसी हद तक सट्टेबाजी के कारण थी) पर नवम्बर, १९३० से फरवरी, १९३१ तक स्वर्णमान कोष की भारतीय शाखा में से ८¾ करोड रुपये का सोना निकाला गया जिससे कि ६२ लाख पौण्ड की प्रतिभूतियो का आधार कायम किया जा सके जोकि ब्रिटेन के राजकोष के शेष धन और १ शिलिंग ५¹⁵⁄₁₆ पेंस के हिसाब से स्टर्लिंग (प्रतिपारपद हुण्डियाँ) के विक्रय के कारण वापस ले ली गई थी।

जहाँ तक रजत-मुद्रा का प्रश्न है, इसकी मात्रा ¹१९३१ में बढकर ११७.८ करोड रुपये हो गई। १९२९ में यह मात्रा ८४.९ करोड रुपये थी। सरकार १९२७-३७ के बीच बडी मात्रा मे चाँदी न बेचती तो और भी वृद्धि होती। इन क्रियाओं का परिणाम यह हुआ कि (१) रजत मुद्रा के प्रचलन में कमी आ गई (२) कागजी चलाय रक्षित कोष म चाँदी के सिक्को की मात्रा मे कमी आ गई, (३) कागजी चलाय रक्षित कोष में स्वर्ण की वृद्धि हुई और रुपये की प्रतिभूतियो में कमी हुई। अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति निम्न प्रकार हुई—रजत विक्रय की आय को स्टर्लिंग प्रतिभूतियो के क्रय मे व्यय किया गया, जो स्वर्णमान रक्षित कोष में सोने के स्थान पर रखी गई। वह सोना कागजी चलाय कोष में डाल दिया गया, जिससे रक्षित कोष म उसी मात्रा मे रुपये की प्रतिभूतियो की कमी हो सके। आगामी वर्षों में रक्षित कोष की स्टर्लिंग परिसम्पत्ति मे वृद्धि हुई। यह प्रतिभूतियो के क्रय का परिणाम थी जो ब्रिटेन के राजकोष की अतिरिक्त राशि और चाँदी के विक्रय की आय से खरीदी गई थी।

§२१ कुल और वास्तव में प्रचलित नोट—कुल प्रचलन से हमारा अभिप्राय प्रचलित नोटों के मूल्य से है, जिनका भुगतान नही हुआ। वास्तविक प्रचलन का अर्थ है कुल जारी किये गए नोट, जिनम वे नोट शामिल नहीं, जो चलाय अधिकारी अर्थात् रिजर्व बैंक द्वारा बैंकिंग विभाग में रखे गए हों। मन्दे समय में व्यापारियों एव बैंकों द्वारा चलाय नोट के रूप म रखा रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि वर्ष के मन्दे समय में कुल प्रचलन बढ जाता है। उस समय जब फसलें खरीदनी होती हैं और किसानों को भुगतान करना पडता है तब बैंक और बडे व्यापारी नोटों के बदले रुपये प्राप्त करते हैं क्योंकि किसान रुपयो में भुगतान अधिक पसन्द करते हैं, यद्यपि वे क्रमश कागजी मुद्रा के अभ्यस्त हो रहे हैं। अन्य शब्दों में नोटो का कुल प्रचलन उस समय कम हो जाता है¹ जब काम धन्धा जोरों से चलता है।

§२२ हिल्टन यंग आयोग—१९२१ और १९२५ के बीच की भारत सरकार की

¹ देखिए जे० एम० के० सी० कुमार, इण्डियन बैंकिंग एण्ड फिनान्स' पृ० ५३।

चलाय-सम्बन्धी नीति को 'बेजोड अकमण्यता' का नाम दिया जा सकता है। इसमें अधिक बल सत्ता पर है, विशेषण बेजोड पर नहीं। २ शि० की विनिमय दर को स्थायी रखने में सरकार ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। अब उसके प्रयास यही थे कि किसी प्रकार विनिमय-दर को बहुत अधिक गिरने से रोका जा सके। जब अप्रैल, १९२५ मे विनिमय दर १ शि० ६ पेंस हो गई तब यह भान होने लगा कि अधिक निश्चित नीति की बात सोचनी पड़ेगी। अतएव १५ अगस्त, १९२५ को एक साम्राज्यिक आयोग लेफ्टिनेंट कमाण्डर हिल्टन यंग की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया, जिसका काम चलाय-सम्बन्धी परिस्थिति की पूरी पूरी छानबीन करके सिफ़ारिशें करना था। आयोग ने तत्कालीन पद्धति के निम्न दोषो को विशेष रूप से महसूस किया। (१) *यह सरल नही थी और जल्दी समझ में न आ सकती थी। चलाय में दो सिक्के थे, अर्थात् रुपये और रुपये के नोट और सावरेन (पौण्ड) के रूप में तीसरी* पूरे मूल्य की मुद्रा थी जिसका प्रचलन होता ही न था। एक सांकेतिक मुद्रा (नोट) दूसरी सांकेतिक मुद्रा (रुपये) मे बिना किसी शर्त के परिवर्तनीय थी। रुपये के सिक्के पर न केवल खर्च अधिक होता था, बल्कि यदि चाँदी का मूल्य ४३ पेंस प्रति औंस से बढ़ता तो उसके बाजार से गायब होने की सम्भावना भी थी। (२) इस पद्धति में स्थिर विनिमय दर के गिरने का कोई सुविहित परित्राण नही था क्योंकि माँग होने पर प्रति-परिपद् हुण्डियों (रिवर्स कौंसिल) के विक्रय का कोई सुविहित दायित्व न था। (३) रक्षित कोषों का झमेला यह था कि कई ऐसे कोष थे, अर्थात् स्वर्ण-मान रक्षित कोष, कागजी चलाय कोष अधिकोषण कोष आदि। साथ ही उधार और चलाय नीति का उत्तरदायित्व भिन्न भिन्न अधिकारियों पर था और यही खतरे की बात थी। (४) इस पद्धति मे चलाय के स्वत प्रसार एवं संकोच की व्यवस्था न थी। सरकार के विवेक पर बहुत-कुछ छोड दिया गया था। रक्षित कोष कम होने पर चलाय के स्वत कम होने की कोई व्यवस्था न थी। यदि प्रति-परिपद् हुण्डियों (रिवर्स कौंसिल) के लिए कागजी चलाय कोष से स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ प्राप्त की जाती तो चलाय निश्चय ही कम हो जाता। किन्तु यदि इसके लिए स्वर्ण मान कोष से उधार लिया जाता, जैसा कि बहुधा होता था, तो इस प्रकार चलाय कम न होता था। जहाँ तक प्रसार का प्रश्न है, यदि सरकार अपने स्टर्लिंग क्रय के उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए राजकोष के आधार पर क्रय करती थी तो तात्कालिक कोई मुद्रा प्रसार नहीं होता था।[1] (५) यह पद्धति अनम्य थी। चलार्थ नियन्त्रक को १९२० के भारतीय कागजी चलाय संशोधन अधिनियम के अन्तर्गत अल्पकालीन हुण्डियो के आधार पर एक निश्चित सीमा तक नोट जारी करने का अधिकार मिला था। लेकिन इस धारा की व्यावहारिक उपयोगिता अधिक नहीं थी क्योंकि भारत में वास्तविक व्यापारिक हुण्डियों की कमी थी।

§२३ स्वर्ण पिण्ड मान—आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वर्तमान दोषों के निरा

---

१ प्रो० विकमन ने चैम्बरलेन आयोग रिपोर्ट की आलोचना करते हुए कहा है कि चूँकि रुपये की परिवर्तनीयता आंशिक पर स्वर्णिम थी, यह अनिवार्य था कि बाजार में यदि नवीन नोट भरते रहे, तो प्रभाव अवश्य पड़ेगा और मूल्यों में वृद्धि होगी।

करण एव जन विश्वास को पुष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि देश के सांकेतिक चलाथ की स्वर्ण मे न केवल देश से बाहर बल्कि अन्दर भी परिवर्तनीयता की व्यवस्था हो। उसने स्वर्ण-मान एव स्वर्ण मुद्रा की योजना को अस्वीकार किया जिसका सुझाव वित्त विभाग के अधिकारियों ने रखा था। इसके लिए आयोग ने निम्नलिखित मुख्य कारण बताए—(१) भारत के स्वर्ण चलाथ के लिए आवश्यक स्वर्ण की अतिरिक्त माँग से स्वर्ण का मूल्य बढ जायगा, विश्व में मूल्यों में कमी और प्रत्यय (क्रेडिट) का संकुचन होगा। विश्व-व्यापार व्यवस्था की एक इकाई के रूप मे भारत पर इसका प्रभाव प्रतिकूल ही होगा। (२) अत्यन्त ही मूल्यवान स्वर्ण मुद्रा के प्रचलन से नोटो के स्थान पर बहुत से सोने के सिक्के चलाने पड़ेंगे और इससे कागजी चलाथ के प्रोत्साहन के प्रयत्न बेकार हो जायँगे। (३) यदि, योजना के अंग के रूप में रजत वैध मुद्रा (लीगल टेंडर) न रहेगी तो इसका विश्व के रजत मूल्य पर यह प्रभाव पड़ेगा कि वह काफी घट जायगा। इसके और भी बुरे प्रभाव होंगे। उदाहरणार्थ इससे रजत-मान वाले एकमात्र महान् देश चीन से विनिमय-सम्बन्ध में गड़बड़ हो जायगी और भारत चीन का वर्धमान व्यापार विस्थापित हो जायगा। रजत के अमुद्रीकरण एव स्वर्ण के प्रचलन की योजना से यूरोप के 'मुद्रा-पुनर्निर्माण में बाधा पहुँचेगी, विश्व मूल्य अस्त व्यस्त हो जायँगे और भारत तथा शेष विश्व को हानि पहुँचेगी।' इसका घोर प्रतिरोध संयुक्त राज्य अमरीका से होगा क्योंकि रजत मे उसका परम्परागत हित निहित है। स्वर्ण चलाथ के लिए स्वर्ण प्राप्त करने के लिए भारत को अमरीका की सहायता की आवश्यकता होगी जो ऐसी दशा में अप्राप्य होगी। (४) योजना का व्यय ही उसके सफल होने में सबसे बड़ी बाधा है।

अतः आयोग ने एक स्वर्ण पिण्ड मान अर्थात् बिना स्वर्ण चलाथ के स्वर्ण मान का प्रस्ताव रखा। इसका अर्थ था कि प्रचलन का सामान्य माध्यम नोट एव चाँदी के रुपये ही रहें। हर काम के लिए चलाथ स्वर्ण में परिवर्तनीय हो किन्तु स्वर्ण चलाथ के रूप में प्रचलित न हो। "प्रारम्भ में इसका प्रचलन हरगिज नही होना चाहिए और बाद में इसके कभी प्रचलित होने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"[1] आयोग की योजना के अन्तर्गत चलाथ अधिकारी का यह सविहित उत्तरदायित्व होगा कि वह बिना किसी सीमा, परन्तु रुपये के निश्चित विनिमय-दर[2] को ध्यान में रखते हुए और कम-से-कम ४०० औंस (१० ६५ तोले) की मात्रा म सोना बेचे (और खरीदे)। (१) रुपया का स्वर्ण-दण्डा म परिवर्तन हो किन्तु स्वर्ण मुद्रा में नही। (२) सावरेन का विमुद्रीकरण (संचित सावरेनो को प्रचलन म रोकने के लिए यह सिफारिश की गई थी) और

1 हिल्टन यंग आयोग रिपोर्ट पैरा ३३ ५४।

2 रुपये का स्वर्ण मूल्य (पार वैल्यू), जिसकी कि आयोग ने सिफारिश की थी १ शि० ६ पेंस = ८ ४७ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण, अर्थात् १ पौंड = १३ ३७ रुपये था। वास्तविक [illegible] विनिमय-दर का इस समय [illegible] सम्भव तो होता था [illegible], (१) [illegible] (२) रुपये के विनिमय-दर में होने वाले परिवर्तन से भी [illegible] सम्भव था। [illegible]

(३) स्वर्ण बचत प्रमाण-पत्र पद्धति (प्रमाण-पत्र वैध मुद्रा या स्वर्ण में ग्राहक की इच्छा पर तीन से पाँच वर्षों में विमोचनीय हो) की सिफ़ारिश कमीशन ने बचत को प्रोत्साहित करने के लिए की थी। ऐसी आशा थी कि इन तीन उपायों द्वारा अनुचित लाभ के लिए संचय करने वालों की मूल्य स्तर एवं ब्याज-दर को आघात पहुँचाने की शक्ति नष्ट हो जायगी। उस समय प्रचलित नोटों को परिवर्तित करने की प्रतिज्ञा का पालन तो किया जाना था, किन्तु आयोग की सिफारिशों के अनुसार नये नोटों को रुपयों में परिवर्तित करने की कोई जिम्मेदारी न होनी चाहिए। इसका उद्देश्य रजत के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि को रोकना था। अधिक मूल्य के नोट चलार्थ अधिकारी के विवेक पर कम मूल्य के नोटों में बदले जा सकते थे, यद्यपि वाञ्छनीय तो यह था कि धातु मुद्रा के लिए जनता की सभी उचित माँगें पूरी की जातीं।

§२४ रक्षित कोषों की पद्धति—जैसा कि बताया जा चुका है, चलार्थ का एक भाग लन्दन में रहता था और इसका औचित्य सिद्ध करने के निम्नलिखित कारण बताए जाते थे—(१) लन्दन सारे संसार की प्रत्यय विपणि (लोन मार्किट) और निकास-गृह (क्लीयरिंग हाउस) है। (२) लन्दन में धन की आवश्यकता रहती है। (क) एक तो व्यावसायिक उत्तरदायित्वों के भुगतान के लिए, जो कि विशेष रूप से इंगलण्ड के ही होते थे और थोड़े-से अन्य देशों के, और (ख) दूसरे भारत मंत्री द्वारा व्यय के लिए। (३) भारत में रक्षित कोष के रहने से अनुचित दर तथा लन्दन ले जाने में आवश्यक व्यय होगा। (४) भारत में अल्पकालीन ऋण बाजार का अभाव होने के कारण भारत में स्थित कोष पर ब्याज नहीं मिल सकता। (५) विनिमय को दृढ़ रखने के लिए लन्दन में स्वर्ण का रहना आवश्यक था। (६) लन्दन में रक्षित कोष रखने की भारतीय प्रथा कुछ यूरोपीय देशों के केन्द्रीय बैंक द्वारा विदेशी हुण्डियों के संग्रह की प्रथा के समान है।[1]

ये तर्क ग्राह्य करने वाले नहीं थे। उदाहरणार्थ, आवश्यकतानुसार शीघ्रता तथा प्रभावपूर्ण ढंग से लन्दन को धन भेजने के उपाय निकाले जा सकते थे जिनमें लन्दन में रक्षित-कोष रखना आवश्यक न होता। जहाँ तक वाणिज्यिक भुगतानों का प्रश्न है, यह प्रश्न किया जा सकता है कि अन्य देश भारत को भुगतान करने के लिए भारत में रक्षित कोष क्यों नहीं रखते थे। जहाँ तक विनिमय की दुर्बलता का प्रश्न है, इसकी सरलता से उपेक्षा की जा सकती थी, क्योंकि भारत का व्यापारिक सन्तुलन साधारणतः उसके अनुकूल रहता था। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यदि रक्षित कोष का धन पूँजी के रूप में लगाया जाता तो अल्पकालीन *विनियोग* से ब्याज कमाया जा सकता था। किन्तु यह तो बड़ी मामूली बात थी। इसके अतिरिक्त, भारत में भी एक अल्पकालीन ऋण बाजार का विकास किया जा सकता था। इसी प्रकार इस तर्क का भी उत्तर दिया जा सकता है कि रजत-क्रय के लिए लन्दन ही सर्वो-पयुक्त बाजार था। कागजी चलार्थ कोष का मूल उद्देश्य कागजी चलार्थ की परिवर्त

१ हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी रिज़र्व बैंक अपने कुछ परिसम्पद् स्टर्लिंग हुण्डियों में

नीयता और जनता में विश्वास कायम रखना है। अत यह कहना युक्तिसगत ही है कि इस उद्देश्य की पूर्ति रक्षित-कोष को देश में रखने से समुचित प्रकार से होती, न कि ६००० मील दूर लन्दन मे रखने से।

§२५ विप्रेषण प्रबन्ध—कौंसिल बिलों के विक्रय द्वारा भारत के कोष से रुपये निकालने की प्रणाली ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से ही जारी थी। १८६३ के पूर्व इन बिलो का विक्रय गृह प्रभार एवं लन्दन मे किये जाने वाले अन्य व्ययों के लिए आवश्यक निश्चित राशि तक ही सीमित था। यह एक सरल एवं सुविधाजनक व्यवस्था थी क्योंकि इससे भारत मन्त्री जब कौंसिल बिलों की माँग अधिक देखता तो उन्हें बेच देता था, यद्यपि कभी-कभी यह भी देखा गया कि वह अधिक माँग के न होते हुए भी प्रतिकूल मूल्य पर उनका विक्रय करता था। यह भी कह देना असंगत न होगा कि इससे भारतीय वस्तुओं के विदेशी आयातकों को ये हुण्डियाँ खरीदकर भुगतान का एक सुविधाजनक माध्यम प्राप्त हो जाता था। लेकिन कौंसिल बिलों का उपयोग इन सीमित कार्यों से कहीं अधिक किया जाता था। वस्तुत यह प्रथा भारतीय चलार्थ-विनिमय एवं वित्त-रूपी यन्त्र का आधार बन गई थी। इसका परिणाम यह होता था कि बहुत अधिक मात्रा में लन्दन को धन भेज दिया जाता था, इसलिए नहीं कि उसकी वहाँ तुरन्त आवश्यकता होती थी, वरन् इसलिए कि शायद भविष्य मे उनकी आवश्यकता पड जाय और विशेष परिस्थितियों में उनका उपयोग हो। इस प्रकार लन्दन म एकत्र कोष से ब्याज की अत्यन्त ही नीची दर पर ऋण दिया जाता था। यह 'स्वीकृत ऋणकर्ताओं' को दिया जाता था, जिनकी सूची राज्य सचिव के पास रहती थी। यह भी सन्देह था कि ऋण देने में काफी पक्षपात भी होता था। भारतीय व्यापारियों को यह शिकायत थी कि भारतीय धन ब्रिटिश व्यापारियों के हित मे व्यय होता है जब कि भारत मे ऋण-योग्य राशि की स्वयं अत्यन्त आवश्यकता है। जैसा सर स्टेनले रीड ने अपने ज्ञापन (मेमोरेण्डम) में जो उन्होंने बबिंग्टन स्मिथ समिति को भेजा था, ठीक ही कहा था कि भारतीय वित्तीय केन्द्रों से ६००० मील की दूरी से भारत मन्त्री के नियन्त्रण पर अधिकांश भारतीय जनता का सन्देह होना स्वाभाविक ही है। उनके शब्दों में "उस (भारत मन्त्री) के आसपास ऐसे लोग हैं जिनके विचार और उद्देश्य भारतीय नहीं और वे उस पर प्रभाव डालते हैं।" वह गुप्त ढंग से काम करता था और उसके कामों के बारे मे भारत में पता चलना असम्भव था और उसकी कार्यवाहियाँ अपने मे कितनी ही आवश्यक और बुद्धिमत्तापूर्ण क्यों न हों, किन्तु भारत मे उनका उलटा मतलब निकाला जाना सम्भव था। इन कार्यों से मुख्यत प्रभावित जनता से इतनी दूर और पूर्ण अधिकारों के गुप्त प्रयोग से बहुत राजनीतिक हानि हो सकती है।

चलार्थ एवं विनिमय पर कार्याङ्ग का नियन्त्रण सैद्धान्तिक रूप से आपत्तिजनक है। इस प्रकार के नियन्त्रण से उत्पन्न होने वाली जटिल समस्याओं का सामना करने की सामर्थ्य सरकार में नहीं होती। अतएव यह काम सभी विकसित देशों में केन्द्रीय बैंक के रूप मे एक विशेष एजेंसी को सौंपा जाता है। भारत-सरकार

का प्रबन्ध त्रुटिपूर्ण था[1] किन्तु भारत मंत्री के अनवरत हस्तक्षेप ने, जो भारत सरकार की तुलना में परिस्थिति से काफी अनभिज्ञ था और जिसे जनता से कोई सहानुभूति न थी स्थिति और भी बिगाड़ दी।

§२६ रक्षित कोषों से सम्बन्धित सिफारिशें—आयोग ने कागजी चलार्थ कोष एवं स्वर्ण मान कोष को निम्न ढंग से मिलाकर एक करने की सिफारिश की—(१) संयुक्त रक्षित-कोष की संरचना कानून द्वारा निर्धारित हो, यह ऐसा हो कि स्वतः संकुचित एवं प्रसारित हो सके और देश की आवश्यकताओं के अनुसार विनिमय को सुरक्षित रखे। (२) रक्षित कोष का कम से कम ४० प्रतिशत स्वर्ण और स्वर्ण प्रतिभूतियों के रूप में रहे, और अधिकाधिक ५० और ६० प्रतिशत हो। स्वर्ण की मात्रा, जो १३ प्रतिशत है, ५ वर्ष में बढ़ाकर २० प्रतिशत कर दी जाय तथा दस वर्ष के अन्दर २५ प्रतिशत। इस अवधि में स्वर्ण को सुरक्षित करने के यथासम्भव प्रयास करने चाहिएँ। स्वर्ण का कम से-कम आधा भाग भारत में रखा जाय। (३) १० वर्ष के संक्रमण-काल में कोष के रजत-अंश को क्रमशः घटाकर २५ करोड़ रुपये कर देना चाहिए। (४) कोष का बाकी भाग स्वतः परिशोधित व्यापारिक हुण्डियों (सेल्फ लिक्वीडेटिंग ट्रेड बिल्स) तथा भारत सरकार की प्रतिभूतियों के रूप में रहे। निर्मित प्रतिभूतियों' (क्रीएटेड सिक्युरिटीज़) का स्थान दस वर्ष में विक्रयशील प्रतिभूतियाँ ले लेंगी। (५) चालू रुपयों की संकुचनशीलता के उत्तरदायित्व के लिए प्रारम्भ में ५० करोड़ की धनराशि पर्याप्त होगी और रुपये के अंकित मूल्य की वृद्धि या कमी के ⅕ भाग को इस उत्तरदायित्व में जोड़ा या घटाया जा सकता है। आयोग के विचार में इस प्रकार से सुदृढ़ किये गए स्वर्ण रक्षित कोष से चलार्थ प्राधिकारी, चलार्थ के लिए स्वर्ण की माँग की पूर्ति करने में समर्थ होगा और स्वर्ण प्रमाण-पत्रों को स्वर्ण में परिवर्तित कर सकेगा, और यदि स्वर्ण चलार्थ का प्रचलन वाञ्छनीय हुआ तो इससे उसमें भी सहायता मिलेगी। स्वर्ण-मान-पद्धति में रजत का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन इसकी पूरी उपेक्षा इसलिए नहीं की जा सकती थी क्योंकि यह चलार्थ का बहुत बड़ा अंश था और इसके सामयिक उतार चढ़ाव के कारण यह आवश्यक था कि रक्षित कोष का एक अंश रजत के रूप में रखा जाय। आयोग के मतानुसार रक्षित-कोष में रुपये की प्रतिभूतियों का मूल्य उतना ही होना चाहिए जितने चलार्थ या प्रचलन से

---

१ यहाँ भारत में सरकार बहुत अधिक करने का प्रयास करती रही है और समस्त आवश्यक चलार्थ की पूर्ति तथा आवश्यकताओं के अनुसार चलार्थ की व्यवस्था करने का काम अपने ऊपर ले लिया है। यह ऐसा काम है जो विकसित देशों में अधिकोषण संस्थाओं को नहीं सौंपा गया है तथा जो सरकार की योग्यता और कार्यक्षमता से परे है और उस पर अनुचित दबाव डालने का गुबारा छोड़ देता है। वस्तुतः भारतीय टकसालों के बन्द होने के समय से ही भारतीय चलार्थ-पद्धति विलायत से आने वाले हर नये अफसर की इच्छा पर निर्भर रही है। एक कर्मचारी आकर देश को चलार्थ से भर देता था, दूसरा उसे खाली कर देता था। कोई योजना ही न थी। हम कोई-न-कोई नया प्रयोग करते रहे हैं। अभी सोने की टकसाल तो कभी रजत-निधि पर बहुत अधिक कर, कभी कुछ और कभी कुछ किया जाता था—मोरटन फ्रीवन का चैम्बरलेन आयोग के सामने साक्ष्य।

वापस लिया जाना सम्भव नही और साथ ही ऐसी राशि, जोकि सरकार की साख के हानि पहुँचाए बिना वसूल की जा सकती हो।

§२७ **स्वर्ण पिण्ड मान की आलोचना**—यद्यपि आयोग ने स्वर्ण विनिमय मान को बुरा बताया और चलाथ के सरकारी प्रबन्ध की निन्दा की, जिससे जनता को सन्तोष मिला तथापि स्वर्ण पिण्ड मान की सिफारिश का स्वागत नही हुआ।[1] आयोग ने इस बात को स्वीकार किया कि जनता का विश्वास पाने के लिए चलाय को वास्तविक एव स्पष्ट रूप से स्वर्ण से सम्बद्ध होना चाहिए। लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति इस तरह नहीं हो सकती कि जो ४०० औंस से अधिक स्वर्ण-मूल्य का चलाथ प्रस्तुत करेंगे वे ही चलाथ को स्वर्ण में परिवर्तित करा सकेंगे। सामान्यतया बक और बकर ही इतनी मात्रा मे चलाथ प्रस्तुत कर सकते हैं। अत जन-साधारण के लिए इस परिवर्तनीयता को किसी भी प्रकार वास्तविक एव स्पष्ट नही कहा जा सकता। भारत के लिए एक स्वर्ण पिण्ड मान की सिफारिश करते हुए आयोग इगलण्ड के उदाहरण से प्रभावित था जहा इसे १९२५ मे लागू किया गया था। इसके समर्थक इसे १९२२ के जनेवा सम्मेलन में प्रस्तावित व्यवस्था की ओर एक कदम समझते थे, जिसमे यह कहा गया था कि आन्तरिक चलाथ केवल अपरिवर्तनीय नोटो का होगा और स्वर्ण का उपयोग विदेशी ऋणो के भुगतान में किया जायगा। भारत मे प्रचलित दृष्टिकोण, जिसके समर्थक देश के प्रमुख अर्थशास्त्री डॉ० कनन और डॉ० गेगरी थे, यह था कि भारत के लिए स्वर्ण चलार्थसहित स्वर्ण-मान ही सरल और उपयुक्त है। और फिर यह जनेवा सम्मेलन के आदर्श की ओर एक प्रारम्भिक चरण के रूप में आवश्यक था। इस दृष्टिकोण से सावरेन के विमुद्रीकरण को प्रतिगामी कार्यवाही माना गया। इसके अतिरिक्त इसका जनता के उस बडे भाग पर बुरा प्रभाव पडता, जिसके पास बडी मात्रा मे सावरेन रखे थे।

§२८ **स्थायित्व का अनुपात**—स्वर्ण के सम्बन्ध में रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पेंस स्थिर करने की सिफारिश करने मे आयोग ने निम्न तर्क दिए—दिसम्बर, १९२२ से जून, १९२४ तक रुपये का स्वर्ण मूल्य १ शि० ३ पेंस के आसपास स्थायी रहा। इसी काल में रुपये का मूल्य-स्तर १७६ के आसपास स्थिर रहा। जुलाई १९२४ से जनवरी, १९२५ तक रुपये का मूल्य शीघ्रता से बढ़कर १ शि० ६ पेंस हो गया और तब से वही है। जुलाई, १९२४ से जून, १९२५ तक रुपये का मूल्य-स्तर घटकर १७६ से १५८ हो गया। (१) अठारह महीना में जब रुपये का मूल्य १ शि० ३ पेंस था मूल्य-स्तर १७६ के लगभग रहा। (२) आगामी वर्ष में जब रुपये का मूल्य बढ़कर १ शि० ६ पेंस हो गया तो रुपये का मूल्य स्तर घटकर १६० से भी कम हो गया। (३) तदनन्तर रुपया १ शि० ६ पेंस पर कायम रहा या रखा गया जब कि रुपये का मूल्य स्तर १५८ के लगभग रहा। विश्व में स्वर्ण-मूल्य का स्तर प्रथम काल के प्रारम्भ में

[1] चलार्थ एवं उधार के नियन्त्रण नीति की एकरूपता व महत्व की दृष्टि से हिल्टन यग आयोग ने भारत के लिए एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सिफारिश की थी। देश में अधिकतर लोगों ने इस राय दही को लेकिन देर तक तर्क वितर्क और लगातार स्थगन से ये सिफारिशें १९३५ तक कार्यान्वित नहीं हुई।

वही था जो तृतीय के अन्त में। अतएव परिवर्तन काल में विनिमय एवं मूल्य में पारस्परिक सतुलन अवश्य होता रहा होगा, क्योंकि १९२५ के मध्य तक स्थायी सतुलन स्थापित हो गया जो उसके बाद बना रहा है। आयोग ने अपने तर्क का आधार विदेशी व्यापार तथा जूट उद्योग के कुछ आकड़ों को बनाया था। जो यह कहते थे कि सबसे उपयुक्त अनुपात १ शि० ४ पेंस है उनके विरुद्ध आयोग ने ठीक ही कहा कि सबसे उपयुक्त अनुपात तो वह है, जिस पर मूल्य, चलाय की मात्रा एव बाह्य मूल्यों से सन्तुलन में हों। और उनके मत में १ शि० ६ पेंस की दर ही इस कसौटी पर खरी उतरती थी। इसके अतिरिक्त यह प्रमाणित करने का कि १ शि० ६ पेंस की दर पर पर्याप्त सतुलन नहीं हो सका है अवश्य ही यह अर्थ न था कि १ शि० ४ पेंस की दर पर सन्तुलन हो गया है।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने अपनी विमति टिप्पणी में यह शिकायत की कि सरकार ने जान-बूझकर सितम्बर अक्तूबर १९२५ में रुपये को स्थायित्व प्रदान करने वाले अवसर को हाथ से जाने दिया अन्यथा विनिमय-दर को १ शि० ४ पेंस के युद्ध पूर्व-स्तर पर स्थिर किया जा सकता था। सरकार लगातार १ शि० ६ पेंस के अनुपात को प्राप्त करने की चेष्टा करती रही है। हम पहले कह चुके हैं कि वास्तविकता यही थी, किन्तु यह इस प्रश्न से सगत नहीं है कि आयोग की नियुक्ति के समय कौनसा अनुपात सर्वोपयुक्त था।

निर्विकार भाव तथा तटस्थता से इस प्रश्न पर विचार करने से पक्ष एव विपक्ष के कितने ही तर्क सन्दिग्ध प्रतीत होंगे। उदाहरण के लिए, बहुमत यह था कि १ शि० ४ पेंस की दर को पुन लागू करने से साढे बारह प्रतिशत की मूल्य-वृद्धि होगी, जिससे कम वेतन पाने वाले साक्षर-वर्ग तथा मजदूरों पर बोझ पड़ेगा और वित्त-व्यवस्था पर भी उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार सर पुरुषोत्तमदास का तर्क था कि (१) भारत में बेचने वाले विदेशी निर्माता को १ शि० ६ पेंस के अनुपात से साढ़े बारह प्रतिशत अनायास ही लाभ प्राप्त होगा, (२) और नये अनुपात से मूल्यों में साढ़े बारह प्रतिशत की कमी होगी, जिससे उसी हद तक ऋणी-वर्ग का भार बढ़ जायगा।[1] प्रत्येक पक्ष अनुपात विशेष से होने वाली गड़बड़ी की माप के रूप में साढ़े बारह प्रतिशत की बात करता था। लेकिन ऐसा करने में दोनों पक्ष उस बात को स्वीकार करके चलते थे, जिसे उन्हें प्रमाणित करना था। बहुमत के अनुसार १ शि० ४ पेंस के अनुपात के अपनाने से मूल्यों में साढ़े बारह प्रतिशत वृद्धि होगी यह स्वीकार करने का अर्थ था कि १ शि० ६ पेंस पर पूर्ण सतुलन हो चुका है। यही बात सर पुरुषोत्तमदास की साढ़े बारह प्रतिशत की कमी के बारे में कही जा सकती है। सर पुरुषोत्तमदास के मत में १ शि० ४ पेंस के अनुपात से होने वाली वृद्धि का अभिप्राय पर कुछ

१ १६ पेंस से १८ पेंस होने का अर्थ है कि १६ पर २ का; अर्थात् १०० पर साढ़े बारह। १८ पेंस से घटकर १६ पेंस होने का अर्थ १८ पर दो कम होगा और १०० पर ११ से कुछ अधिक पाने के बराबर था, लेकिन दोनों पक्षों ने मान लिया था कि पूर्ण सन्तुलन में दोनों ओर ला॰, बारह प्रतिशत का परिवर्तन होगा।

प्रभाव न पडेगा क्योकि बढते मूल्यो के साथ रोजी भी बढ़ेगी और चूँकि पारिश्रमिक काफी ऊँचे रहेंगे अत कीमतो मे कुछ वृद्धि बुरा प्रभाव न डाल सकेगी। लेकिन मूल्य वृद्धि की सभावना का निहित स्वीकरण साढे बारह प्रतिशत के तक से मेल नही खाता, क्योकि उसमे यह मान लिया जाता था कि १ शि० ४ पेंस पर पूरा समायोजन हो गया है। मूल्यों के ऊँचे उठने की सम्भावना तो तभी हो सकती है जब पूरा समायोजन मे कोई गुञ्जाइश न हो।

जिन देशनांको (इण्डिसीज) का दोनो पक्षो ने आश्रय लिया था वे नि सन्देह ही अपूर्ण थे और उन पर निष्कर्ष आधारित नही किये जा सकते थे। उपलब्ध आकडो की अप्राप्यता एव अपूर्णता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि एक ही प्रकार के आँकड़ो से परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले गए।

ऐसी परिस्थितियो मे सूक्ष्म सांख्यिकीय तर्क की अपेक्षा, मोटे निष्कर्षो एव विचारो पर अधिक जोर देना उचित ही था। इस दृष्टि से बहुमत का सबसे प्रबल तर्क यह था कि उच्च अनुपात एक वर्ष से अधिक समय से है। अत मूल्यो का समायोजन सम्भवत हो ही गया है।[1] सम्भवत १ शि० ४ पेंस के पक्ष में सर्वोत्तम तर्क यह था कि इसका अपनाना लोकप्रियता की दृष्टि से उत्तम है। स्वतन्त्रता से पहले के काल मे चलाय का इतिहास यही बताता है कि ब्रिटिश सरकार एव व्यापारी-वर्ग की कोशिश यह रही है कि रुपये के बदले अधिक शिलिंग और पेंस मिलें। दूसरे शब्दों में उनका हित इस बात मे था कि भारत मे अर्जित रुपयो के बदले इंगलैण्ड में अधिक-से अधिक पौंड मिल सकें। भारत सरकार के आलोचको के मन मे यह सन्देह था कि हर अवसर पर रुपये के मूल्य को बढाने के पीछे यही भावना काम कर रही है। यदि निर्णय १ शि० ४ पेंस के पक्ष म हुआ होता तो सरकार की नीति पर सन्देह कुछ कम हो जाता। प्राप्य प्रमाण ऐसे नही थे कि उनके आधार पर ऊची विनिमय-दर उचित जँचती, जिसका समर्थन कि आयोग ने किया। सरकार ने लोकमत के विरुद्ध ऊँचे अनुपात को अपनाया। इस प्रकार विनिमय एव चलाय-सम्बन्धी किसी भी कठिनाई के समय यह कटु आलोचना का भाजन बनी। परिणाम यह हुआ कि १९२९ में संयुक्त राज्य अमरीका में आर्थिक सकट आया तो उसका प्रभाव यहाँ भी पडा, भारत में भीषण मन्दी आई और कीमतें, विशेषत कृषि-पदार्थों की कीमतें, तीव्र गति से नीचे गिरीं। देश की अस्थिर राजनीतिक दशाओं से उत्पन्न सामान्य विश्वास के अभाव के कारण पूँजी बाहर जाने लगी। इससे विनिमय शक्तिहीन होने लगा और सरकार को विवश होकर मुद्रा सकोच करना पड़ा। इम्पीरियल बैंक की ब्याज-दर बढ़ानी पड़ी तथा लड़खड़ाती हुई विनिमय-दर को सँभालने के लिए अन्य अत्यन्त असाधारण उपाय करने पडे। सरकार के आलोचक ऐसे अवसर का लाभ उठाने तथा अनुपात सम्बन्धी वाद को पुन प्रारम्भ करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते थे। उनका कहना था कि जब

---

१ इसके विपरीत सर पुरुषोत्तमदास का यह तर्क था कि यदि ब्रिटेन जैसे देश में विनिमय के १० प्रतिशत परिवर्तन को सन्तुलित करने के लिए दो वर्ष का समय लगता है, तो भारत को, जिसका भ गी व्यापार विदेशों के साथ व्यापार की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, कहीं अधिक समय चाहिए।

अनुपात को कायम रखने में इतनी कठिनाइयों का अनुभव हो रहा है और अभी नये अनुपात को सविहित रूप दिये तीन चार वर्ष भी नहीं बीते हैं तो इससे स्पष्ट है कि परिस्थितियों का इससे पूर्ण सामजस्य नहीं हुआ है और पुराने अनुपात को अपनाना ही बुद्धिमानी है।

सितम्बर, १९३१ से सोने के बहुत बड़ी मात्रा में निर्यात से विनिमय के स्थिर रखने मे सहायता मिली है।[1] इससे आलोचकों को यह कहने का अवसर मिला कि यदि कई पीढ़ियों की संचित स्वर्ण राशि के निर्यात से ही अनुपात को कायम रखा जा सकता है तो यह इस बात का परिचायक है कि यह अनुपात अनुपयुक्त और हानिकारक है। अब हम यह विचार करेंगे कि हिल्टन यंग आयोग की रिपोर्ट पर क्या कार्यवाही की गई।

§२९ १९२७ का चलार्थ अधिनियम—सरकार ने आयोग की रिपोर्ट स्वीकार की और इसके निर्णयों को तीन विधेयकों का रूप दिया। एक विधेयक में स्वर्ण मान चलार्थ को प्रचलित करने तथा रिजर्व बैंक की स्थापना की व्यवस्था थी। दूसरी व्यवस्था १९२० के इम्पीरियल बैंक अधिनियम के संशोधन के लिए थी। तीसरे अधिनियम का अभिप्राय कुछ उद्देश्यों के लिए १९०६ के टंकन अधिनियम तथा १९२३ के कागजी चलार्थ अधिनियम का संशोधन करना था। यहाँ हमारा सम्बन्ध तीसरे विधेयक से है, जो मार्च, १९२७ में पास किया गया। अधिनियम के मुख्य उपबन्ध निम्न थे—(१) अनुपात १ रुपया=१ शि० ६ पेंस स्वर्ण, निर्धारित किया गया, जिसका शुद्ध स्वर्ण में वजन ८.४७ ग्राम था। इसे प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यह व्यवस्था की गई कि सरकार बम्बई की टकसाल में २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला के हिसाब से ४० तोला (१५ औंस) के स्वर्ण-दण्डों के रूप में सोने का असीमित क्रय करे। (२) रुपये तथा नोट स्वर्ण दण्ड या स्टर्लिंग में (सरकार की इच्छा पर) लन्दन में भुगतान के लिए परिवर्तनीय थे। शर्त यह थी कि मांगा गया सोना १०६५ तोला या ४०० औंस से कम नहीं हो और इसकी कीमत २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला होगी। (३) सावरेन और अर्ध-सावरेन अब वैध मुद्रा न होंगे। लेकिन चलार्थ कार्यालयों और खजानों में पूर्ण भार वाले सावरेन को १३ रुपया ५ आना ४ पाई की दर पर स्वीकार किया जायगा। इस प्रकार से स्थापित मान को स्वर्ण पिण्ड एवं स्टर्लिंग विनिमय मान के नाम से पुकारा जा सकता है, और चूँकि २० सितम्बर १९३१ तक स्टर्लिंग का मूल्य स्वर्ण के बराबर था, व्यवहार में यह स्वर्ण विनिमय मान के ही सदृश था। नया मान स्वर्ण विनिमय मान से इस बात में भिन्न था कि इसमें सरकार पर निश्चित दर से स्वर्ण तथा स्टर्लिंग के क्रय विक्रय का सविहित उत्तरदायित्व था।

§३० १९२७ के चलार्थ अधिनियम को कार्यान्वित करने में असफलता—कितने ही कारणों से एक वास्तविक स्वर्ण पिण्ड मान की स्थापना न हो सकी। २१ सितम्बर,

---

[1] देखिए §३१।

१९३१ से इगलण्ड ने स्वरण मान का परित्याग कर दिया। इस प्रकार स्टर्लिग एव सोने का सम्बन्ध टूट गया। इसी समय भारत के गवनर-जनरल ने एक अध्यादेश जारी किया, जिससे स्वर्ण या स्टर्लिग के विक्रय के सम्बन्ध में सरकारी दायित्व समाप्त कर दिया गया। किन्तु फिर भी भारत मन्त्री की घोषणा थी कि रुपये की दर १ शि० ६ पेंस (स्टर्लिग) पर स्थायी रखी जायगी। गवनर-जनरल ने २४ सितम्बर को एक नया अध्यादेश (स्वरण स्टर्लिग विनियम अध्यादेश) जारी किया, जिसके अनुसार एक नियन्त्रित विनिमय मान लागू किया गया। यह घोषित किया गया कि अब से स्टर्लिग ५१⁵⁄₁₆ पेंस पर विक्रय किया जायगा और केवल मान्यता प्राप्त बको, सामान्य व्यापारिक आवश्यकताओ तथा २१ सितम्बर, १९३१ तक पूर्ण हुए सविदाओ एव उचित घरेलू एव वयक्तिक उपयोगो के लिए ही इसका विक्रय होगा। यह सोने चाँदी के आयात या विनिमय के सटटे से सम्बद्ध सौदो के लिए प्राप्य न होगा। यह नियन्त्रण इम्पीरियल बक द्वारा होगा, जिसका प्रमुख उद्देश्य सरकार के स्वर्ण-साधनो पर अधिक भार न पडने देना और भारत से पूँजी के बाहर जाने को रोकना था।

स्टर्लिग मे स्वरण का मूल्य बढ जाने से रुपयो मे भी इसके मूल्य में उतनी ही वृद्धि हुई। इसका भाव अगस्त, १९३१ में २१ रुपया १३ आना ३ पाई था और दिसम्बर, १९३१ में २९ रुपया २ आना हो गया। स्वर्ण के इस उच्च बाजार मूल्य का सामान्य मन्दी से सयोग होने से परिणाम यह हुआ कि लोग अपना स्वर्ण बेचने लगे जिसका बडे पमाने पर निर्यात होने लगा। फरवरी १९३२ में समाप्त होने वाले ५ महीनों में ५० करोड रुपये का सोना बाहर भेजा गया। स्वर्ण-निर्यात का व्यापारिक सन्तुलन पर अच्छा प्रभाव पडा और स्टर्लिग की पूर्ति माँग से अधिक हो गई। अतएव जनवरी, १९३२ मे स्टर्लिग के विक्रय को नियन्त्रित करने वाले अध्यादेश को रद्द कर दिया गया। इस प्रकार वस्तुत भारत में अनियन्त्रित स्टर्लिग विनिमय-मान स्थापित हो गया यद्यपि प्राविधिक रूप से १९२७ का चलाथ अधिनियम पूरे तौर से लागू था। इस प्रकार देश के चलाथ इतिहास में यह पहली बार नही था कि सरकार का उद्देश्य कुछ था और उसे मिला कुछ और ही।[2] यह तर्क दिया गया कि स्टर्लिग से निश्चित सम्बन्ध अधिक वाछनीय है, बजाय इसके कि रुपये का विनिमय-मूल्य जब चाहे बढ जाय क्योंकि उसमें पूर्ण अस्थिरता का भय भी है। भारत को प्रतिवर्ष ३ करोड २० लाख पौण्ड स्टर्लिग देना पडता था और १९३२ में ड८ करोड पौण्ड ऋण का भुगतान आवश्यक था। इस दायित्व के लिए कितने रुपये की आवश्यकता है, यह मालूम न होने पर बजट बन ही नहीं सकता था। स्टर्लिग से सम्बन्ध रखना भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए लाभदायक था, क्योंकि बहुत-सा व्यापार इगलण्ड और अन्य स्टर्लिग-देशो के साथ ही होता था।

दूसरे पक्ष का प्रमुख तर्क यह था कि स्टर्लिग से बधे रहने पर रुपये के मूल्य

१ भारतीय विधान-मण्डल की सम्मति लिये बिना भारत मन्त्री ने जो कदम उठाया उस पर देश में भारी असन्तोष रहा।
२ देखिए ३८।

में स्टर्लिंग के उतार चढ़ाव के अनुसार ही हेर-फेर होता रहेगा जो कि इंगलैण्ड की—न कि भारत की—दशाओं से उत्पन्न होगा। इसके विपरीत यदि रुपये को अपना विनिमय-स्तर स्वयं पाना है तो यह निश्चय ही अस्थायी होगा, किन्तु यह अस्थिरता कम से-कम भारतीय दशाओं को तो प्रकट करेगी। सरकारी नीति के विरुद्ध दूसरा आरोप यह था कि १ शि० ६ पेंस स्टर्लिंग का अनुपात अत्यधिक ऊँचा है और इससे भारतीय निर्यात को हानि पहुँचेगी। जापान जैसे देश, जिन्होंने स्टर्लिंग की तुलना में अपने चलार्थों का अवमूल्यन कर दिया था, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता में भारत से अधिक लाभ में रहेंगे।

§३१ स्वर्ण निर्यात और उसका महत्त्व—सितम्बर, १९३१ के अन्त से फरवरी, १९३२ के अन्त तक बड़ी मात्रा में स्वर्ण का निर्यात हुआ। बाद के वर्षों में इस प्रक्रिया के आर्थिक परिणामों पर विवाद जारी रहा, क्योंकि स्वर्ण का निर्यात जारी रहा था। जनवरी, १९४० के अन्त तक होने वाली कुल हानि ३५१.४ करोड़ रुपये तक जा पहुँची।[1] जिस प्रश्न पर बड़ी सरगर्मी से बहस हुई, वह यह था कि क्या इस धातु का निर्यात हानिकारक और आतंक उत्पन्न करने वाला है या इसके निराकरण के विशेष उपचार करने चाहिए? जो इसे भयंकर घटना मानते थे उनका यह कहना ठीक ही था कि बाजार में जो सोना बिक रहा है उसमें से अधिकतर उन व्यक्तियों का है जो कि कष्टपूर्ण परिस्थितियों के कारण इसे बेचने के लिए विवश हुए हैं ताकि वे भीषण मन्दी का सामना कर सकें जो अमरीका से उत्पन्न होकर समस्त विश्व पर छा गई है। फिर भी यह मानना होगा कि सोने के ऊँचे मूल्य ने उस समय व्याप्त दुःखद परिस्थिति को दूर करने में सहायता मिली। जिन लोगों ने अपना सोना इसलिए बेचा कि अच्छी कीमत मिल रही थी, उनके सामने आर्थिक मन्दी की पृष्ठभूमि नहीं थी बल्कि उन्हें उज्ज्वल भविष्य दिखाई पड़ रहा था। इतनी मात्रा में अकर्मण्य स्वर्ण का चलार्थ में परिवर्तन होने के कारण व्यापार एवं उद्योग को प्रेरणा और मन्दी के प्रभाव से ऊपर उठने में सहायता मिली। इस प्रकार के विक्रय से प्राप्त राशि में से कुछ रुपये को जनता ने डाकघर के नकदी प्रमाण पत्र (पोस्टल कैश सर्टीफिकेट) खरीदने में लगाया या डाक बचत बैंकों (पोस्टल सेविंग्स बैंक) में या बैंकों में जमा किया। स्वर्ण निर्यात का व्यापारिक सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा तथा स्टर्लिंग रक्षित-कोष पुष्ट हुआ। इस प्रकार भारत मन्त्री को धन राशि भेजने की समस्या को सुलझाने में सहायता मिली। यह तर्क कि बड़ी मात्रा में स्वर्ण के निर्यात से स्वर्णमान की स्थापना की सम्भावना और भी कम हो गई, युक्तिसंगत न था, क्योंकि यह सोना वाणिज्यिक सोना था न कि चलार्थ-स्वर्ण। यह लोगों के संचित-कोष में से आया था न कि चलार्थ-रक्षित कोष से। यह सम्भव है कि इससे देशी बैंकों के व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ा हो, क्योंकि भावी ऋण-कर्ता अपना स्वर्ण बेचकर उस प्रतिभूति को तो चुका के जिसके

---

१ निरपेक्ष रूप में यह राशि बहुत बड़ी है, लेकिन कुछ लोगों ने यह तर्क रखा कि देश के सम्पूर्ण स्वर्ण भण्डार के अनुपात में, जोकि अनुमानतः ७५ करोड़ पौंड (१००० [illegible]) था, यह अपेक्षाकृत थोड़ा था।

आधार पर वे साहूकार से ऋण ले सकते थे। इसके साथ ही यह बात भी थी कि सोना बेच देने से नकद रुपया हासिल होने पर लोगों की ऋण लेने की आवश्यकता भी कम हो गई थी। देश में इस बात के लिए काफी आन्दोलन हुआ कि स्वर्ण-निर्यात का निषेध कर दिया जाय, उस पर निर्यात शुल्क लगाया जाय और सरकार या रिजर्व बैंक सोना खरीदे। किन्तु सरकार ने इनमें से किसी भी सुझाव पर कार्यवाही करने से इनकार कर दिया।

§१२ रिजर्व बैंक और अनुपात—भारत मे सुधारों-सम्बन्धी श्वेत-पत्र में, जो १९३३ मे प्रकाशित हुआ, यह कहा गया था कि केन्द्र में उत्तरदायी सरकार स्थापित होने के पूर्व एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाय, जिस पर वित्तीय मामलो मे कोई राजनीतिक प्रभाव न हो। इस प्रस्ताव की छानबीन करते समय रिजर्व बैंक विधान सम्बन्धी लन्दन समिति ने सिफारिश की कि भारत को स्टर्लिंग-मान पर रहना चाहिए और इस आधार पर प्रस्तावित रिजर्व बैंक के विनिमय-सम्बन्धी उत्तरदायित्व (जिन्हें रिजर्व बैंक विधेयक में शामिल कर लिया गया था) निश्चित ही प्रचलित रुपया स्टर्लिंग अनुपात के अनुरूप होने चाहिएँ। दूसरे शब्दों में, रिजर्व बैंक अधिनियम के लागू होने से विनिमय की वास्तविक स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा था। भारतीय चलाथ संघ (करेन्सी लीग) ने विनिमय अनुपात को कम करने तथा रिजर्व बैंक विधेयक में यह प्रबन्ध रखने के पक्ष में एक देशव्यापी आन्दोलन चलाया कि बैंक पर इस कम अनुपात को बनाए रखने की जिम्मेदारी हो। परन्तु यही बात अधिक अच्छी समझी गई कि विश्व की मुद्रा-सम्बन्धी गड़बड़ी को देखते हुए भारत के चलाथ का पूरी तरह निरीक्षण तब तक के लिए स्थगित कर देना चाहिए, जब तक कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति अधिक स्थिर न हो जाय और इस बीच विधेयक मे विनिमय सम्बन्धी आभार वही रखे जायें जो उस समय रुपया-पौण्ड अनुपात के अनुरूप हों। इसलिए रिजर्व बैंक अधिनियम (१९३४) में यह व्यवस्था थी कि बैंक को १ रुपया=१ शि० ६ पेंस का निर्धारित उच्चतम एवं निम्नतम (सीमा के बीच) अनुपात कायम रखना पड़ेगा। बैंक को तुरन्त लन्दन में देने के लिए कम-से कम १ शि० ५$\frac{४९}{६४}$ पेंस प्रति रुपया की दर से ही स्टर्लिंग बेचने और अधिकाधिक १ शि० ६$\frac{३}{१६}$ पेंस पर स्टर्लिंग खरीदने का अधिकार था। ये न्यूनतम एवं उच्चतम सीमाएँ परिवहन-व्यय को दृष्टि मे रखकर निर्धारित की गई थी।[1] दोनो अलग अलग चलाथ-कोष समाप्त कर दिये गए और रिजर्व बैंक सरकार के स्थान पर नोट जारी करने रक्षित-कोष रखने और चलाथ-पद्धति को चलाने की एकमात्र संस्था बन गया।

§१३ अवमूल्यन की समस्या—रिजर्व बैंक अधिनियम के पास होने मे अनुपात-सम्बन्धी विवाद कम नहीं हुआ। अवमूल्यन का आन्दोलन जारी रहा और सितम्बर १९३६ में इसने और जोर पकड़ा। जब फ्रांस तथा अन्य देशों ने अपने स्वर्ण मान के चलार्थों का अवमूल्यन किया, यह कहा गया कि अवमूल्यन से प्राथमिक पदार्थों की कीमतें बढ़ेंगी, निर्यात व्यापार को प्रश्रय मिलेगा और स्वर्ण का बहिःप्रवाह रुकेगा। यह भी

[1] १९४७ में उन शर्तों को रद्द कर दिया गया जिनके द्वारा यह भार लगाया गया था।

भेजा जाय तो उससे प्राप्त डालर को इंगलैण्ड के बैंक की ओर से फेडरल रिज़र्व बैंक को बेचा जाय। इन विनिमयों का मूल उद्देश्य यह था कि जहाँ तक सम्भव हो सभी स्वर्ण-साधनों का उपयोग भारत और ब्रिटेन के लिए किया जाय।

§३५ द्वितीय विश्वयुद्ध में सिक्के और नोट—मई और जून, १९४० में जब मित्र राष्ट्रों के लिए युद्ध परिस्थिति बहुत भयावह हो गई थी, रिज़र्व बैंक से नोटों के परिवर्तन की बड़ी माँग हुई। इससे निर्गम विभाग (इशू डिपार्टमेंट) में रुपयों की मुद्रा की भारी कमी होने लगी। इसे रोकने के लिए सरकार ने २५ जून, १९४० को एक अधिसूचना प्रकाशित की, जिसके अनुसार वैयक्तिक एवं व्यापारिक आवश्यकताओं से अधिक मात्रा में रुपये प्राप्त करना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। रुपयों के संचय और गायब होने की प्रवृत्ति को देखते हुए सरकार ने एक रुपये के नोट रिज़र्व बैंक द्वारा जारी कराये जो संग्रह के लिए अनुपयुक्त थे। इसने विनिमय माध्यम की कमी को पूरा किया जो अब तक सबसे निम्न मूल्य—५ रुपये के नोट से पूरी की जाती थी। एक रुपये का नोट असीमित विधिमान्य मुद्रा थी जिसे अधिकार-स्वरूप रुपये की मुद्रा में परिवर्तित नहीं किया जा सकता था। रजत की मितव्ययता का एक और उपाय यह निकाला गया कि चवन्नी अठन्नी और रुपये की रजत मात्रा १९४० में घटा दी गई। १९४७ में चाँदी के रुपया का स्थान निकल के रुपये ने ले लिया। इस प्रकार २६ करोड़ ६० लाख औंस रजत बचाकर संयुक्त राज्य अमरीका को रजत धातु के ऋण के भुगतान में दी गई जो कि अमरीका ने उधार पट्टा योजना के अन्तर्गत भारत को दी थी।

§३६ साम्राज्य डालर संचय एवं युद्धोत्तर डालर कोष—युद्ध के पूर्व अनेक देश जो तथाकथित स्टर्लिंग-क्षेत्र में थे, अपने विदेशी विनिमय को स्टर्लिंग के रूप में रखते थे, जहाँ से वे आवश्यक मुद्राओं में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किया करते थे। यह योजना इस बात पर आधारित थी कि पौण्ड सरलतापूर्वक परिवर्तनीय था। परन्तु युद्ध-काल में यह परिस्थिति न रही और विदेशी विनिमय के प्राप्य स्रोतों के व्यय में बचत की आवश्यकता पड़ी। स्टर्लिंग समूह को स्टर्लिंग क्षेत्र कहा जाने लगा और इस क्षेत्र के सदस्य देश इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐसी व्यवस्था अपनाई जाय जिसमें हरेक अपने विदेशी विनिमय को एक सामान्य संचय-कोष में रखे जो बैंक ऑफ इंगलैंड और ब्रिटिश राजकोष के संरक्षण में रहे। चूँकि इस संचित कोष की सबसे प्रमुख मुद्रा डालर थी इसलिए इसे साम्राज्य डालर संचय (अम्पायर डालर पूल) कहा गया। यह निहित था कि हर देश इस कोष से अपनी सारभूत आवश्यकताओं के लिए ही विदेशी विनिमय माँगेगा बशर्ते कि उन माँगों की पूर्ति स्टर्लिंग क्षेत्र में हो सकती हो। साथ ही हर सदस्य-देश यह स्वयं निर्णय करेगा कि उसकी माँग इस कसौटी पर खरी उतरती है या नहीं।

१९४५-४६ तक इस संचय में भारत का अंशदान १२४ करोड़ रुपये हो गया परन्तु युद्धोत्तर काल में भारत की संयुक्त राज्य अमरीका से आयात की आवश्यकताएँ बहुत बढ़ी। उसे विवश होकर बड़ी मात्रा में खाद्यान्न का आयात करना पड़ा।

सरकारी खाते से अन्य भुगतान भी बाकी थे। परिणाम यह हुआ कि भारत ने इस कोष से काफी धन वापस लिया।

१९४३ ४४ मे एक और कोष, युद्धोत्तर डालर कोष के नाम से खोला गया। इसमे साम्राज्य डालर सचय ने २ करोड डालर १९४४ मे भारत की ओर से दिये। इसका उपयोग भारत द्वारा माल के सग्रह एव अमरीका मे होने वाले पूँजी-व्यय के लिए किया जाना था। इतना ही डालर १९४५ में दिया गया। ऐसी आशा की जाती थी कि भारत साम्राज्य डालर सचय से माँग करने के पूर्व इस कोष का उपयोग करेगा।

बाद की सरकारी नीति का उद्देश्य व्यापार एव विकास की सुविधाएँ उत्पन्न करना था, जिसके लिए नियन्त्रण पद्धति को सरल तथा उदार बनाने का विचार था। आयात की कुछ मदो पर से नियन्त्रण बिलकुल हटा दिया गया। किसी भी देश से आयात किया जा सकता था। कुछ अन्य वस्तुओ के स्टर्लिंग क्षेत्र से बिना किसी रोक के मगाने की अनुमति दी गई।

विनिमय नियन्त्रण को भी ढीला कर दिया गया और इसके पश्चात् देश के सर्वाङ्गीण विकास का ही आयात की अनुज्ञप्तियाँ देने की कसौटी माना गया। प्राप्यता के आधार पर सभी विदेशी चलार्थों का वर्गीकरण किया गया और जब भी कोई चलाथ सुलभ होता था नियन्त्रण मे ढील दी जाती थी। अब अप्राप्यता को अन्य बातो से सम्बद्ध कर दिया गया, जैसे माल का प्रकार, मूल्य समय पर प्राप्यता, और यह मापदण्ड कि आयात की वस्तुए आवश्यक हैं या स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्तगत प्राप्य हैं, इसे साबित करने का काम व्यापारियो से हटकर सरकार के जिम्मे पड गया।

§३७ **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एव रुपये का सम मूल्य**—१९४५ में राष्ट्रो के बीच वित्तीय मामलो म अधिक निकट सहयोग का युग प्रारम्भ हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (इण्टरनेशनल मॉनिटरी फण्ड) तथा पुनर्निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बक (इण्टरनेशनल बक ऑफ रिकन्स्ट्रक्शन एण्ड डेवलपमेंट) जसी सस्थाओ के उद्घाटन मे हुई। भारत मूल सदस्य के रूप म इन दोनों मे सम्मिलित हुआ। ज्ञात शर्तों एव ज्ञात कोटा के साथ भारत को कायकारिणी का सचालक भी बनाया गया। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को सूचित किया कि रुपये का मूल्य ०.०००८६३५७ औंस शुद्ध स्वण के बराबर होगा जिसका आधार तत्कालीन विनिमय-दर १ रुपया= १ शि० ६ पेंस १ पौण्ड=४.०३ डालर और एक शुद्ध औंस स्वण=३५ डालर थी। वर्तमान अनुपात पर डटे रहने का समथन अनेक तर्कों द्वारा किया गया। यह कहा गया कि अभी कम अनुपात का प्रयोग करने का समय नहीं क्योंकि परिस्थितियाँ बहुत अस्थिर हैं। मूल्यों की विषमता को ध्यान में रखते हुए रुपये का अवमूल्यन करना आवश्यक नहीं था क्योंकि भारत के मूल्य अमरीका तथा ब्रिटेन की तुलना में काफी ऊचे थे। विदेशी मूल्यो के बढ़ने तथा भारतीय मूल्यो के गिरने से शीघ्र ही यह विषमता दूर होने की सम्भावना है इसलिए अवमूल्यन से भारतीय मूल्य बढ जायग तथा अत्यन्त आवश्यक पूँजीगत माल और यन्त्रो का आयात महगा पड़ने लगेगा।

१९३९-५१ (अप्रैल) सामान्यतया बढ़ते हुए मूल्य
१९५३-५५ (दिसम्बर) सामान्यतया गिरते हुए मूल्य

§२ मूल्यों के उतार चढ़ाव के कारण—(१) १८६१-६६ तक बढ़ते हुए मूल्यों का मुख्य कारण अमरीकी गृह युद्ध के दौरान कपास का अभाव था। भारतीय कपास के निर्यात में सहसा वृद्धि होने के कारण भारत मे सोने का आयात बढ़ा जिसके परिणाम स्वरूप मूल्यों म काफी वृद्धि हुई। इस घटना से पहली बार यह स्पष्ट हुआ कि भारतीय मूल्यों पर विदेशी प्रभाव कितना पड़ सकता है। (२) १८६६ से १८८३ तक गिरते हुए मूल्य भी विश्व की गिरती कीमतों के कारण ही थे। विश्व मूल्यों के गिरने का कारण बढ़ते हुए व्यापार एव उत्पादन के क्रियाकलाप मे अनुपात में स्वर्ण का अभाव था। (३) १८८३ से १८९३ तक मूल्यों के बढ़ने का मुख्य कारण रुपये का मूल्य ह्रास था। (४) १८९३ से १८९९ तक मूल्यों के गिरने का कारण टकसालों का बन्द होना और उसके फलस्वरूप हुआ मुद्रा-सकोच था। (५) १८९९ के पश्चात् बढ़ते मूल्यों के युग का प्रारम्भ हुआ। १८९९ से १९१० तक मूल्य लगातार बढ़ते गए। दत्त समिति के मतानुसार भारत में मूल्यों के बढने के विशिष्ट कारण निम्नलिखित थे—(क) असमय वृष्टि के कारण खाद्य एव कच्चे माल के उत्पादन में कमी हुई। खाद्य फसलों के स्थान पर अखाद्य-फ़सलो का उत्पादन प्रारम्भ किया गया और जिस नई भूमि पर खेती प्रारम्भ की गई वह घटिया किस्म की थी। (ख) बढ़ती जनसंख्या के कारण माँग में वृद्धि और साथ ही कृषि उत्पादन में ह्रास। (ग) देश के अन्दर तथा विदेशों से परिवहन सुविधाओं में सुधार और उसके परिणामस्वरूप आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे वृद्धि। (घ) मुद्रा सम्बन्धी और अधिकोषण-सुविधाओं की वृद्धि। समिति ने बताया कि मूल्यों के बढ़ने के विश्वव्यापी कारण निम्नलिखित थे—(क) विश्व व्यापार की प्रमुख वस्तुओं की माँग में वृद्धि और पूर्ति में सकोच। (ख) स्वर्ण पूर्ति में वृद्धि। (ग) प्रत्यय का विकास। (घ) संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिमी देशों में सैन्य-व्यय मे वृद्धि। समिति ने स्थिति का विश्लेषण करते हुए सबसे प्रमुख कारण अर्थात् रुपयों के अत्यधिक टंकण के कारण उत्पन्न मुद्रा-स्फीति, की चर्चा ही नहीं की। (६) १९१४-१८ के विश्वयुद्ध के कारण मूल्यों में अन्य देशों की अपेक्षा भारत म कम वृद्धि हुई। इसका कारण यह था कि सरकार ने मूल्यों पर नियन्त्रण रखा और वस्तुओं और सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया। (७) दो महायुद्धों के बीच के काल १९२१-३९ में मूल्य सामान्यतया घटे। १९२० म रिवर्स कौंसिल बिलों का विक्रय और अपस्फीति भी इसके लिए उत्तरदायी थे। पिछले अध्याय म बताया जा चुका है कि १ शिलिंग ६ पेंस के अनुपात का मूल्यों पर क्या प्रभाव पड़ा। अक्तूबर १९२९ में अमरीका में व्यापार की भयानक मन्दी से जो विश्वव्यापी मन्दी प्रारम्भ हुई, उसका दुष्परिणाम औद्योगिक देशों की तुलना में भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए अधिक भयावह रहा। १९२९ में मूल्य अधिक थे किन्तु मन्दी के मूल्यों में भारत में ४४.३ प्रतिशत कमी हुई जबकि अन्य देशों में, उदाहरण के लिए ब्रिटेन में ३०.४ प्रतिशत, संयुक्त राज्य अमरीका में ३८ प्रतिशत आस्ट्रेलिया में २८.५ प्रतिशत और जापान में

३५ ८ प्रतिशत कमी हुई। निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा कच्चे माल के मूल्य अधिक शीघ्रता से गिरे। कलकत्ता-देशनांक के अनुसार दिसम्बर, १९२९ से मार्च, १९३३ तक निर्यात की वस्तुओं (जिनमें मुख्तया कच्चा माल था) के मूल्यों मे ५१ प्रतिशत कमी हुई, जब कि आयात की वस्तुओं (जिनमे मुख्तया निर्मित वस्तुएँ थी) के मूल्यों में २७ प्रतिशत कमी हुई। कृषि मूल्यो में ह्रास के कारण किसानों की आय मे बडी कमी हुई, जब कि लगान, किराया, ब्याज, नमक-कर जैसे सरकारी करो का बोझ उन पर अधिक महसूस होने लगा क्योंकि इनमें कोई कमी नहीं हुई थी। अपनी आय को बढ़ाने के लिए किसानो ने अपने उत्पादन को और भी बढाया, जिसका फल यह हुआ कि मूल्य और भी गिरने लगे। अप्रैल, १९३३ से अगस्त, १९३७ तक मूल्यों में क्रमश सुधार होने लगा। इसका एक कारण यह था कि सारे विश्व मे हथियारबन्दी होने लगी थी। *लेकिन सयुक्त राज्य अमरीका और अन्य देशों में व्यापार मे मन्दी आने से स्थिति फिर* कुछ बिगडी। कलकत्ता का देशनांक (जुलाई १९१४=१००) १ अगस्त, १९३७ में १०५ था और जनवरी, १९३९ में घटकर ९५ रह गया।

§३ द्वितीय विश्व युद्ध में मूल्य—द्वितीय विश्व युद्ध के कारण मूल्य बढ़ने प्रारम्भ हो गए। निम्न तालिका से युद्ध-काल में थोक मूल्यो की गतिविधि स्पष्ट हो जायगी। देशनांक का आधार वर्ष अगस्त १९३९=१००[1] है।

वर्ष	कृषि वस्तुएँ	कच्चा माल	प्राथमिक वस्तुएँ	निर्मित वस्तुएँ	सामान्य देशनांक
१९३९ ४०	१२७ ५	११८ ८	१२४ २	१३१ ५	१२५ ६
१९४० ४१	१०८ ६	१२१ ५	११३ ४	११९ ८	११४ ८
१९४१ ४२	१२४ २	१४६ ९	१३२ ५	१५४ ५	१३७ ०
१९४२ ४३	१६६ २	१६५ ९	१६६ ०	१९० ४	१७१ ०
१९४३ ४४	२६८ ७	१८५ ०	२३२ ५	२५१ ७	२३६ ५
१९४४ ४५	२६५ ४	२०६ ०	२४० ५	२५८ ३	२४४ २
१९४५ ४६	२७२ ६	२१० ०	२४६ २	२४० ०	२४४ ९

१९४० ४१ के अतिरिक्त कीमतें लगातार और तेजी से बढ़ी। १९४५ ४६ मे मूल्यो का सामान्य देशनांक १९३९ ४० की तुलना में लगभग दूना हो गया। युद्ध प्रारम्भ होने के ठीक बाद सट्टेबाजी और भविष्य में कीमतो के बढने की आशा के परिणामस्वरूप कच्चे माल और निर्मित माल दोनों की कीमतें बढ़ने लगीं। जनवरी १९४० स जून १९४० तक कीमतें घटीं। इसका कारण केवल यह था कि पहले की मूल्य वृद्धि की प्रतिक्रिया हो रही थी। अन्य कारण थे—निर्यात पर प्रतिबन्ध, विनिमय नियन्त्रण तथा प्रचलन से ४० करोड रुपये की मुद्रा का वापस लिया जाना। १९४१ में ब्रिटन ने भारतीय वस्तुएँ खरीदना प्रारम्भ कर दिया। दिसम्बर १९४१ में युद्ध भारत के समीप आ गया, १९४२ मे मूल्य एकदम बढ़ गए और १९४३ में वे बहुत ही बढ़ गए। प्रारम्भ म भारत-सरकार ने इस वृद्धि को रोकने का कोई प्रयास नहीं किया। १९४३ के अन्तिम महीनों में सरकार ने वितरण एव मूल्यों के विनियम का यत्न किया। किन्तु समाहार

१ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया—रिपोर्ट आन करेंसी एण्ड फाइनेन्स १९५०-५१, पृष्ठ १४७।

अन्दर मूल्य स्थिर रखने के लिए सरकार द्वारा उठाये गए कदमों का, जैसेकि नियन्त्रित वस्तुओं का उच्च स्तर पर मूल्य निर्धारण। थोक मूल्यों का सामान्य देशनांक, जो अप्रैल, १९५१ में ४६२ था, मार्च, १९५२ में ३७८.२ हो गया। १९५१-२ में सामान्य मूल्य स्तर १५.६ प्रतिशत घटा। मार्च, १९५१ में संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने माल जमा करने के कार्यक्रम में परिवर्तन किया, जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं के मूल्यों की वृद्धि एकदम रुक गई। साथ ही विश्व की कितनी ही उपभोक्ता और आधार वस्तुओं, जैसे कोयला, कच्चा इस्पात, पेट्रोल, रबड़, कपास और ऊन इत्यादि, की पूर्ति में सुधार हुआ। पश्चिमी जर्मनी और जापान की प्रतिस्पर्धा भी मूल्य रोकने में काफी सहायक सिद्ध हुई।

देश में मुद्रास्फीति कम करने के लिए निम्नलिखित कार्यवाही की गई—(१) आयात के सम्बन्ध में उदार नीति, ताकि उद्योगों को चालू आवश्यकता और भण्डार के लिए पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल प्राप्त हो सके। (२) निर्यात पर प्रतिबन्ध, ताकि बढ़ी हुई आन्तरिक मांग की पूर्ति की जा सके। तिलहन, मोटे और मध्यम प्रकार के कपड़े पर निर्यात शुल्क या तो बढ़ाये गए और या नये सिरे से लगाए गए। (३) जिन वस्तुओं की पूर्ति में कमी थी, उन पर नियन्त्रण और कठोर कर दिया गया। इनमें खाद्यान्न, लोहा, इस्पात, कपास और कपास से निर्मित वस्तुएं, कच्ची रबड़, कोयला और चीनी थी। (४) राजस्व-लेखे में काफी अतिरेक और (५) नवम्बर, १९५१ से अन्य मुद्रा नियन्त्रण के माध्यमों को अपनाया गया जिनमें बैंक दर में २ से ३½ प्रतिशत वृद्धि भी थी जिससे कि प्रत्यय अधिक न बढ़ पाए। मुद्रास्फीति रोकने का एक कदम यह भी था।

ये उपाय बहुत पर्याप्त सिद्ध हुए। इनसे न केवल मूल्यों का बढ़ना रुका वरन् १९५२ में मूल्य गिरते दिखाई पड़ने लगे और इस प्रकार मूल्यों का सामान्य देशनांक ११ प्रतिशत नीचे आया। दिसम्बर, १९५१ के अन्त में यह ४३२ था और दिसम्बर, १९५२ में ३७४.५ हो गया। फरवरी और मार्च, १९५२ में मूल्य काफी गिरे। लेकिन बाद में सरकार ने मूल्य स्थिर रखने के जो उपाय किये उनके परिणामस्वरूप यह प्रवृत्ति रुक गई। जूट के निर्यात शुल्क को कम करके तथा कपास, कपड़ा, ऊन, तिलहन, वनस्पति तेल तथा नमक के निर्यात पर लगे प्रतिबन्धों को कम करके निर्यात को बढ़ाने का भी उपाय किया गया। औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि तथा उनके उत्पादन में सुधार के कारण निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में स्थिरता आ गई। १९५३-५४ में मूल्य स्थिर रहे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के एक शिष्ट मण्डल ने यह राय प्रकट की थी कि यद्यपि भारत की कीमतें १९४८ की अपेक्षा १९५३ में १० प्रतिशत अधिक थीं फिर भी विश्व के अन्य देशों की तुलना में यह वृद्धि कम थी।[1] रिज़र्व बैंक ने संग्रह

---

१ यह शिष्ट मण्डल १९५३ में भारत आया था। उसने भारत-सरकार को जो रिपोर्ट दी उसका नाम 'इकानामिक डवेलपमेन्ट विद स्टेबिलिटी' था। यह रिपोर्ट शिष्टमण्डल के अध्यक्ष काल्डोर के नाम पर 'काल्डोर रिपोर्ट' के नाम से विख्यात हुई।

लर्कों की रिपोर्ट[1] मे भी यही कहा गया कि 'गत वर्षों की तुलना मे १९५३-५४ क वस्तु बाजार और मुद्रा-बाजार दोनों मे ही अन्य वर्षों की तुलना में कुल पूर्ति और कुल माँग में काफी सन्तुलन था।' इसका परिणाम यह हुआ कि वर्ष के अधिकाश समय में कीमतें स्थिर रहीं।

निम्न तालिका से यह बात स्पष्ट हो जायगी[2] कि १९५३ ५४ के बीच कीमतो मे कसी स्थिरता रही। जो थोडी सी वृद्धि दिखाई पड रही है उसका कारण फुटकर

	मार्च १९५३	मार्च १९५४	प्रतिशत परिवतन
खाद्य सामग्री	३६५ ०	३७१ ४	+ १ ८
औद्योगिक कच्चा माल	४५३ १	४६२ ५	+ २ १
अर्द्ध निर्मित वस्तुएँ	३४९ ८	३५५ ८	+ १ ७
निर्मित वस्तुएँ	३६९ ०	३७३ ९	+ १ ३
फुटकर	५८५ ५	६८६ ९	+१७ ३
सामान्य देशनाक	३८५ २	३९४·०	+ २ ३

वग की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि है, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुएँ, जैसे काली मिच, काजू और तम्बाकू की पत्ती आदि, भी शामिल हैं। तम्बाकू पर निर्यात शुल्क हटा देने के सरकारी निणय के कारण तम्बाकू की पत्ती की कीमत तेजी से बढ़ी। इसी कारण इस वग म मूल्य-वृद्धि दिखाई पड रही है।

१९५४ ५५ में स्थिति दूसरी ही थी। प्राय सभी वस्तुओं की कीमतें काफी घटी। यह प्रवृत्ति फसलो की अच्छी उपज औद्योगिक उत्पादन तथा आयात की वृद्धि और गोदामो से माल निकालने का परिणाम थी। १९५३ ५४ में खाद्यान्नो का जितना उत्पादन हुआ उतना पहले कभी न हुआ था और जुलाई १९५४ मे नियन्त्रण के हट जाने से गोदामो में भरा (हार्डिड) माल भी बाजार म आ गया। खाद्यान्नो की कीमतें इतनी घटी कि कितने ही राज्यो को मूल्य-सहायता कायक्रम (प्राइस स्पोर्ट स) शुरू करने पडे। निम्न तालिका से मूल्यो के कम होने का पता अच्छी तरह से लग जायगा।[3] निर्मित वस्तुओं के वग के मूल्यों को छोडकर, जो प्राय स्थिर रहे, शेष सब

	मार्च १९५४	मार्च १९५५	प्रतिशत परिवर्तन
खाद्य सामग्री	३७१ ४	२९७ ०	—२० ०
औद्योगिक कच्चा माल	४६२ ५	४१२ ७	—१० ८
अर्ध निर्मित वस्तुएँ	३५५ ८	३३३ ५	— ६ ३
निर्मित वस्तुएँ	३७३ ९	३७६ ३	+ ० ६
फुटकर वस्तुएँ	६८६ ९	५५५ ३	—१९ ४
सामान्य देशनांक	३९४ ०	३५३ ८	—१० २

१ पृ० ११।

२ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, करेंसी एवं वित्त सम्बन्धी रिपोर्ट, पृ० ११२, १९५३-५४।

३ उपयुक्त रिपो , १९५४-५५, पृष्ठ ३२।

तेजी से हुआ और इसी काल में कोरियाई युद्ध के कारण व्यापारिक समृद्धि भी हुई। इस काल में जनता के पास मुद्रा की राशि में ३० प्रतिशत के लगभग वृद्धि हुई और बैंकों द्वारा उधार १० प्रतिशत अधिक हुआ, किन्तु फिर भी सामान्य-मूल्य-दशनांक ७ प्रतिशत घट गया। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अधिक पूर्ति आवश्यक प्रसार में लगाई गई, जिसके फलस्वरूप पूर्ति माँग के अनुरूप रही। मई से दिसम्बर, १९५५ तक मुद्रा की पूर्ति में २०० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। फिर भी इसका मूल्यों पर मामूली प्रभाव पड़ा।

§६ मूल्य-नीति—मूल्यों में भारी उतार-चढ़ाव देश की अर्थ-व्यवस्था के लिए हितकर नहीं होता। बढ़ते मूल्यों से यद्यपि व्यापारी-वर्ग एवं उत्पादकों को लाभ होता है, किन्तु निश्चित आय वालों और वेतन भोगी लोगों का रहन-सहन का स्तर नीचा हो जाता है। इसके अतिरिक्त उत्पादन-लागत में वृद्धि होती है और इस प्रकार उद्यमकर्त्ताओं (एंट्राप्रेन्युर्स) का लाभ भी घटने लगता है। परिणाम यह होता है कि उत्पादन-सम्बन्धी क्रियाकलाप कम हो जाता है और रोजगार कम होने लगता है। १९४८ से १९५३ के बीच, जब कि भारत में कीमतें १० प्रतिशत चढ़ीं बम्बई में श्रमिक-वर्ग का जीवन-यापन-व्यय २२ प्रतिशत बढ़ा। मुद्रास्फीति एवं अपस्फीति दोनों से औरों की अपेक्षा मध्य-वर्ग और श्रमिक-वर्ग को अधिक कष्ट पहुँचता है। जब कीमतें गिरने लगती हैं तो व्यापारियों को बड़ा घाटा उठाना पड़ता है। वे उत्पादन घटाने या बन्द करने पर मजबूर हो जाते हैं। कीमतों के घटने से निश्चित आय वाले वर्ग के लोगों को निश्चय ही लाभ होता है किन्तु उनकी नौकरी खतरे में पड़ जाती है। सामान्य किसान भी अपने उत्पादों के मूल्य घटने पर यही करता है। वह मूल्यों के घटने पर उत्पादन बढ़ाकर लगान और ऋण के ब्याज जैसे अपरिवर्तनशील व्ययों की पूर्ति करने की चेष्टा करता है किन्तु उत्पादन बढ़ने से मूल्य और भी गिर जाते हैं। समाज में विभिन्न वर्ग हैं और उनके हित भी भिन्न भिन्न हैं जैसे ऋणकर्ता और ऋणदाता, निर्यातक और आयातक, विक्रेता और क्रेता, कृषक और निर्माता, मजदूर और मालिक इत्यादि। मूल्य-परिवर्तनों का प्रत्येक वर्ग पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ मूल्य-स्तर में वृद्धि होने पर ऋणकर्ता का वास्तविक भार कम हो जाता है लेकिन ऋणदाताओं पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे निर्यातकों को लाभ होता है किन्तु आयातकों को नहीं। विक्रेता इसका स्वागत करते हैं किन्तु क्रेता इसे पसन्द नहीं करते। यह श्रमिकों को परेशानी में डालता है किन्तु मालिक इससे प्रोत्साहित होते हैं इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार से समाज के वर्गों पर इसके अलग अलग प्रभाव का पता लगाना कभी भी न समाप्त होने वाला काम है और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ऐसा कोई सन्तुलन [illegible] नहीं जा सकता। किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि मूल्यों में आकस्मिक [illegible] को हानि पहुँचती है। अतएव एक ऐसी नीति होनी [illegible] मूल्य स्थिर भी रहें और विनियोग तथा [illegible] [illegible] भी [illegible] के क्रियाकलाप में हस्तक्षेप [illegible] नहीं है [illegible] हानि होने की सम्भावना भी [illegible]

उसका समाधान एक हल से नहीं हो सकता। मूल्य परिवर्तन सदैव सभी वस्तुओं में नहीं होते। इनका कुछ वस्तुओं पर प्रभाव पड़ता है और कुछ पर नहीं, या इनका प्रभाव विभिन्न वस्तुओं पर विभिन्न मात्रा में पड़ता है। यह भी सम्भव है कि जबकि कुछ वस्तुओं की कीमतें बढ़ रही हों, अन्य वस्तुओं की कीमतें घट रही हों। भारत में हमारे सामने शीघ्र ही घाटे की अर्थ-व्यवस्था तथा विकास कार्यक्रमों पर बढ़ते हुए व्यय से उत्पन्न मुद्रास्फीति की समस्या आयेगी, जिसे हल करने के लिए हमें अपने दिमाग पर अत्यधिक जोर डालना पड़ेगा।

§१० कृषि मूल्यों का स्थिरीकरण—चूँकि कृषि देश का प्रधान उद्योग है अतएव कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण पर भारत में अधिक जोर दिया जाता है। जीवन-यापन-व्यय के निर्धारण में खाद्य-पदार्थों के मूल्यों का मुख्य स्थान है और इसीलिए उन्हीं के आधार पर मजूरी का स्तर भी निर्धारित होता है। कृषि-मूल्यों में स्थिरता आने से औद्योगिक-क्षेत्र में भी स्थिरता आती है। कृषि-वस्तुओं में सबसे प्रमुख गेहूँ और चावल हैं, क्योंकि देश की भूमि का बहुत-सा भाग इन्हीं के उत्पादन में लगा है। इसके अतिरिक्त अन्य फसलों की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। ग्रामीण उधार सर्वेक्षण समिति ने यह राय प्रकट की है कि ग्रामीण उधार की स्थिरता के लिए यह अनिवार्य है कि कृषि उत्पादन के मूल्यों को स्थिर किया जाय। उसने व्यापक नीति के अंग के रूप में देश भर के गोदामों और भाण्डार गृहों (वेयर हाउसिज) के निर्माण का सुझाव रखा है जिसके साथ सहकारी ढंग पर माल की तैयारी और विक्रय का भी संगठन किया जाय। अर्थशास्त्रियों के मण्डल ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना के सम्बन्ध में एक ज्ञापन में यह सिफारिश की है कि राज्य द्वारा इस प्रकार के भाण्डार-गृहों को केवल मौसमी मूल्य परिवर्तनों को रोकने के लिए ही प्रयुक्त न किया जाय बल्कि व्यापक उद्देश्यों—जैसे कि मूल्यों में अधिक उतार चढ़ाव रोकना—की पूर्ति के लिए प्रयुक्त किया जाय।[1] अपने विमति टिप्पण में प्रो० बी० आर० शिनाय ने राज्य द्वारा हस्तक्षेप का विरोध किया, न केवल मूल्यों के मौसमी परिवर्तनों में स्थिरता लाने के सीमित उद्देश्यों के लिए (क्योंकि उन्हें डर था कि यह मौसमी हस्तक्षेप दीर्घकालीन हस्तक्षेप बन जायगा) बल्कि कीमतों के घटने या बढ़ने की निश्चित प्रवृत्तियों को रोकने के लिए भी। उनके मत में भारत में कृषि-पदार्थों के मूल्यों या सहायता देना जोखिमपूर्ण है क्योंकि वस्तुतः यह शेष समुदाय द्वारा किसानों को सहायता होगी जिसका भार अपेक्षाकृत छोटे गैर-कृषक-वर्ग पर अत्यधिक होगा, जबकि कृषकों को इससे होने वाला लाभ नगण्य होगा क्योंकि उनकी जनसंख्या इतनी अधिक है कि उसमें वितरित होने पर यह लाभ नहीं के बराबर हो जायगा। सहायता से अधिक उत्पादन में सहायता मिलेगी और उस हद तक कीमतें और घटेंगी। परिणाम यह होगा कि और अधिक सहायता की आवश्यकता होगी। इस प्रकार यह सहायता बढ़ती ही जायगी और एक समय ऐसा आयेगा जबकि बजट के साधन इस प्रकार बाजार में कृषि उत्पादों के क्रय और संग्रह के लिए पर्याप्त न होंगे। इसमें या तो मूल्य सहायता या

१ ज्ञापन, देखो ३८।

परित्याग करना पड़ेगा और या मुद्रास्फीति होगी। संयुक्त राज्य अमरीका में भी, जहाँ कृषि क्षेत्र अपेक्षाकृत इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, 'सहायता' के कारण बहुत सा माल जमा रखा गया जो पड़ा पड़ा खराब हो गया। चुनी हुई वस्तुओं को सहायता देने से भी समस्या हल नहीं होगी। फसलों में भेद भाव करना हानिकारक एवं अन्यायपूर्ण होगा। इससे उत्पादन का ढाँचा बिगड़ जायगा और अस्थिरता बढ़ेगी।[1]

प्रो० शिनाय के तर्क काफी सबल हैं, किन्तु हमारा मत यह है कि यदि मूल्यों के स्थिरीकरण की नीति का उपयोग यदा-कदा तथा विवेकपूर्ण ढंग से किया जाय तो यह लाभप्रद सिद्ध होगी। अब तो भारत में लगभग समाजवादी सरकार है जिसके लिए हस्तक्षेप की नीति से बिलकुल दूर रहना सम्भव नहीं है और न ही जनता मूल्यों के काबू से बाहर होने पर सरकार के उदासीनता और अकर्मण्यता के रवये का स्वागत करेगी। सरकार अच्छी तरह सोच विचारकर हस्तक्षेप करेगी या नहीं और उसका परिणाम कहाँ तक लाभप्रद होगा यह तो एक अलग बात है।

1. शिनाय लिखित, पेज ३७-३८।

Banking & Credit

अध्याय २१

अधिकोषण और उधार

§१ भारतीय अधिकोषण पद्धति—भारत अधिकोषण पद्धति के मुख्य सघटक अग निम्न हैं—(१) देशी साहूकार (बकर), जैसे बम्बई में शराफ और मारवाडी, मद्रास में चेट्टी, पजाब और उत्तर प्रदेश में साहूकार, महाजन और खत्री, तथा बगाल में सेठ और बनिये, (२) सहकारी उधार समितियाँ, (३) भूमि-बन्धक बक[1], (४) सयुक्त स्कध बक, जिनम इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया भी सम्मिलित है, (५) विदेशी विनिमय बक, और (६) डाकघर बचत बैंक। रिजव बक, केन्द्रीय बक का काम करता है तथा देश के अधिकोषण एव उधार पद्धति का नियत्रण करता है। बचत का प्रयोग करने वाली अय सस्थाएँ, बीमा कम्पनियाँ तथा शेयर तथा सोना-चाँदी के बाजार हैं।

§२ देशी बकर—देशी बकरो से हमारा अथ इम्पीरियल बक, विनिमय बक सयुक्त-स्कध बक तथा सहकारी समितियो के अतिरिक्त सब बैकरो से है जिनमें व्यक्ति एव फर्में भी शामिल हैं जो धन जमा करते हैं या हुण्डियों का व्यापार करते तथा उधार देते हैं। गाँव का साहूकार इन सस्थाओं में से है जो रुपया जमा नही करती। देशी बकर मे भिन्न, ऋणदाता मे अभिप्राय उससे है जिसका मुख्य काम ऋण देना है किन्तु बक का काम करना नहीं। देशी बकर उपभोग के लिए धन नही देता वरन् व्यापार एव उद्योग के लिए आवश्यक धन की पूर्ति करता है। ऋणदाता के समक्ष इस प्रकार की प्राथमिकता नहीं रहती और बैंकों के विपरीत वह प्राय बिना प्रतिभूतियों के ऋण देता है और इसलिए उनकी ब्याज-दर अधिक होती है।[2]

भारतीय बकर हर गाँव, कस्बे और नगर मे पाया जाता है। 'इस प्रकार के बकरो में गाँव के छोटे पूँजीपति से लेकर धनाढ्य सुस्थित व्यापारी बकरों की साझेदारी भी सम्मिलित है जिनकी शाखाएँ देश के अन्दर तथा बाहर पाई जाती हैं। एक विशिष्ट प्रकार मद्रास की चेट्टी जाति का है जहाँ पूर समुदाय पर सयुक्त उत्तरदायित्व से मिलती-जुलती बात पाई जाती है।[3] देशी अधिकोषण सयुक्त स्कध के आधार पर सगठित नही है। हिस्सा पूँजी (शेयर कपिटल) नहीं होती और दायित्व, जहाँ साझेदारी होती है वहाँ सयुक्त अथवा वयक्तिक और असीमित होता है। देशी बकर किसान, छोटे

१ सहकारी उधार समितियाँ एव भूमि-बन्धक बैंकों का वणन अध्याय ११ में किया गया है।

२ केन्द्रीय अधिकोषण जाच समिति रिपोर्ट, पैरा १०७।

३ एम० एम० एम गुप्त 'इण्डिजिनस बैंकिंग इन इण्डिया, पृष्ठ ११ १२।

कारीगर एवं व्यापारी को धन देता है तथा फसलों को उपभोग क्षेत्रों या बन्दरगाहों की ओर भेजने में सहायता पहुँचाता है। वह व्यापार भी करता है और वस्तुओं के वितरण में बिचौलिये का काम भी करता है। वह हुण्डियाँ भुनाता है तथा सोना, वस्तुएँ या व्यक्तिगत प्रतिभूति के बल पर रुपया उधार देता है। वह सरकारी खजाने की हुण्डियाँ खरीदता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें नगर के व्यापारिक बैंकों से भुना लेता है। वह प्राप्त जमा पर बैंकों से अधिक ब्याज देता है।[१] ग्राहकों से वैयक्तिक और प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण प्रतिभूति (जमानत) के मामले में वह बैंकों से अधिक उदार हो सकता है तथा औपचारिकता के झमेले के बिना भी ऋण दे सकता है।

देश की वित्तीय प्रणाली में अब भी शराफ या साहूकार काफी महत्त्वपूर्ण योग दे रहा है। वह भारतीय मुद्रा बाजार तथा विशाल व्यापारी वर्ग के बीच अनिवार्य शृंखला का काम करता है। १९३३ में रिजर्व बैंक विधेयक पर भाषण देते हुए सर जार्ज शूस्टर ने विधान-सभा में कहा था—'भारत के सम्पूर्ण अधिकोषण एवं उधार प्रणाली में भारतीय देशी बैंकर का महत्त्व जितना अधिक कहा जाय उतना ही कम है। यदि यह कहा जाय कि वह इस प्रणाली का ९० प्रतिशत या ९० प्रतिशत से भी अधिक भाग है तो अतिशयोक्ति न होगी।"

यह सर्वमान्य है कि देश के पूँजी स्रोतों का भली प्रकार से प्रयोग करने तथा उधार-संस्थाओं पर एकात्मक नियन्त्रण स्थापित करने के लिए यह अनिवार्य है कि देशी अधिकोषण प्रणाली को वर्तमान संयुक्त स्कन्ध अधिकोषण का अंग बनाकर उसे आज के मुद्रा-बाजार से सम्बद्ध किया जाय। इस प्रकार के एकीकरण के बिना देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक के लिए चलार्थ एवं उधार पर उचित नियन्त्रण रखना असम्भव है। ऐसी स्थिति में यह भी असम्भव है कि देश की ग्रामीण कृषक जनता को उधार और अधिकोषण सुविधाओं का पूरा-पूरा लाभ मिल सके। केन्द्रीय अधिकोषण जाँच समिति ने इस सम्बन्ध में कई सिफारिशें की हैं। उसने देशी अधिकोषण का प्रत्यक्ष रूप से रिजर्व बैंक से सम्बद्ध करने का समर्थन किया है और कहा है कि कुछ शर्तों पर—जैसे कि व्यापार को उचित अधिकोषण तक सीमित रखना, अपनी पूँजी का न्यूनतम मान (जो संयुक्त स्कन्ध बैंकों के लिए और भी कम हो), ठीक ढंग से हिसाब किताब रखना, जिसकी परीक्षा अधिकृत लेखा-परीक्षक करें, और रिजर्व बैंक भी उनका हिसाब देख सके आदि पर—देशी अधिकोषकों को स्वीकृत सूची में स्थान दिया जाय। समिति की सिफारिश थी कि रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित देशी बैंकरों को कुछ विशेष सुविधाएँ दी जायें जिनमें मुख्य यह है कि बैंक उनकी हुण्डियाँ आदि को फिर से उसी दर पर भुनाएगा, जिस पर अनुसूचित बैंकों को और उन्हें उसी दर पर धन भेजने की सुविधाएँ देगा। साथ ही बैंकर खाता साक्ष्य अधिनियम के लाभ भी उन्हें प्राप्त होंगे।

---

१ देखिए, फिंडले शिरास, 'इण्डियन फिनान्स एण्ड बैंकिंग', पृष्ठ ३४१।

१९३७ म रिजव बक ने एक योजना प्रस्तुत की, जिसकी मुख्य बातें ये थीं—(१) रिजव बक की पुस्तक म नाम लिखाने वाले बकरो के पास कम से-कम दो लाख की पूँजी होनी चाहिए। (२) वे उचित समय के भीतर अपना ग़ैर अधिकोषण-व्यापार बन्द कर दें। (३) वे सयुक्त स्कन्ध बैंको की भाँति अपने व्यापार को औपचारिक बनायें, और विशेषतया अधिकोषण में जमा अथवा निक्षेप को विकसित करें। (४) वे उचित लेखा रखें और रजिस्टड लेखा परीक्षको द्वारा उनकी जाँच करायें। वे अपना सन्तुलन पत्र प्रकाशित करायें जो कि जमा करने वालों के हितो में होगा और अपनी आय और व्यापार आदि का सामयिक विवरण रिजव बक को दें। लेकिन देशी बकर अपने व्यापार को अधिकोषण तक ही सीमित नही करना चाहते थे। उन्होंने कुछ परिवर्तनो की माँग की जो रिजव बैंक की मुख्य योजना से मेल नही खाते थे।

१९४१ में रिजव बक ने फिर इस मामले पर बम्बई की सराफ सस्था से बातचीत की, किन्तु कोई निणय नहीं हो सका। मतभेद मुख्यतया देशी बकरो द्वारा ग़ैर-अधिकोषण व्यापार के परित्याग और अलग अनुसूची की माँग के प्रश्न पर ही था। ग़ैर अधिकोषण व्यापार की समाप्ति की अवधि भी विवाद का विषय था। देशी बैंकरो की ओर से यह कहा गया कि यह अवधि ५ वष कर दी जाय, जब कि रिजव बक किसी फम के मिश्रित व्यापार को अस्थायी काल के लिए स्वीकार करने के लिए भी तैयार नही था। अत प्राचीन अधिकोषण के नई अधिकोषण-व्यवस्था से एकीकरण की समस्या हल नहीं हो सकी। इसके लिए कौशल की आवश्यकता है। इसे हल करते समय इस बात को समझना होगा कि दोषो के बावजूद भी देश के आर्थिक क्रिया-कलाप में देशी अधिकोषण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूण है। अत यह ध्यान म रखना होगा कि उसके अभिनवीकरण के प्रयास में कही उसे कम उपयोगी और कम प्रभावपूण तथा अधिकोषण-काय से विरत न कर दिया जाय।

§३ सयुक्त स्कन्ध बक—भारत में बकिंग कम्पनी[१] की परिभाषा इस प्रकार है—वह कम्पनी जो चालू खाते पर या अन्यथा धनराशि जमा करने का व्यापार करती है, जिसे चक, ड्राफ्ट या आडर से वापस लिया जा सकता है, इस बात के होत हुए भी कि वह कुछ या सभी प्रकार के कुछ विशिष्ट व्यापार करती है जसे कि ऋण देना, हुण्डियाँ भुनाना, विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय प्रत्यय पत्र दना सोने-चाँदी का व्यापार करना बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए प्राप्त करना हामीदारी (अण्डर राइटिंग) शेयरो, स्कन्ध और बाण्डों का व्यापार करना, न्यासो का काम करना और प्रबन्धकर्ता के अतिरिक्त किसी प्रकार की एजेंसी का काम करना। अधिकोषण-व्यापार करने वाली कम्पनी के लिए अपने नाम मे बक 'बैंकर' 'बैंकिंग' जसे शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक है। सयुक्त स्कन्ध बकों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण §८ में दिया गया है।

§४ इम्पीरियल बक—अन्य सयुक्त स्कन्ध-बकों की तुलना में इम्पीरियल बक का विशेष स्थान है। यह लेन देन के सरकारी काम करता है और जहाँ रिजव बक की

१ 'बैंकिंग कम्पनी' और 'बैंक' शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है।

शाखाएँ नहीं होतीं वहाँ यह रिजर्व बैंक के एजेण्ट के रूप में भी कार्य करता है।[1]

इम्पीरियल बैंक की स्थापना १९२१ मे बगाल, बम्बई और मद्रास के तीनों प्रेसीडेंसी बैंको को मिलाकर की गई। बगाल बैंक की स्थापना १८०६ में ५० लाख रुपये की पूँजी के साथ हुई थी, जिसमें से १० लाख रुपया ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने दिया था। मद्रास बैंक का १८४३ में ३० लाख रुपये की पूँजी से प्रारम्भ किया गया था जिसमें से ३ लाख रुपया ईस्ट इण्डिया कम्पनी का था। बम्बई का दूसरा बैंक[2] १ करोड की पूँजी से १८६८ में स्थापित किया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार कुछ सचालकों को नियुक्त करती थी। १८५७ के पूर्व सचिव और खजांची का पद सामान्य रूप से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का कोई अधिकारी ही ग्रहण करता था। प्रेसीडेंसी बैंकों को नोट जारी करने का अधिकार था, परन्तु इस अधिकार पर इतने प्रतिबन्ध थे कि यह प्राय बेकार था। यह अधिकार १८६२ में वापस ले लिया गया और मुआवजे के रूप में सरकार ने प्रेसीडेंसी नगरों मे अपनी धन राशि को रखना स्वीकार किया। बाद में १८७६ का प्रेसीडेंसी बैंक अधिनियम इन प्रेसीडेंसी बैंकों पर लागू किया गया। इनके व्यापार का अधिकांश निक्षेप (जमा) लेना और मितीकाटा (डिस्काउट) था। ये सरकारी बैंकर का भी काम करते थे। परन्तु इन्हें विदेशी विनिमय (सिवा लका के साथ, जिसके सम्बन्ध मे मद्रास बैंकों को अधिकार प्राप्त था) के व्यापार की अनुमति न थी और न वे विदेशों से ऋण के रूप में रुपया ही प्राप्त कर सकते थे। साथ ही ऋण की राशि, अवधि तथा इसके लिए अपेक्षित प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में उन पर प्रतिबन्ध थे। किन्तु इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी इन बैंकों ने बड़ी प्रगति की।

प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व ही इस बात का अनुभव हो रहा था कि एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाय जो ठोस उधार-पद्धति का विकास करे और वित्तीय स्थायित्व लाये। १९२० में ब्रसेल्स अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास किया गया कि जिन देशों में नोट जारी करने वाला केन्द्रीय बैंक नहीं, वहाँ इसकी स्थापना की जाय। इसी आधार पर तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को मिलाकर इम्पीरियल बैंक की स्थापना की गई।

१९५५ मे राष्ट्रीयकरण के पूर्व इम्पीरियल बैंक एक गैर सरकारी निगम था, जिसका नियन्त्रण एक केन्द्रीय सचालक-मण्डल करता था। इसमें अधिकाधिक दो सदस्य सरकार द्वारा नाम निर्दिष्ट होते थे। इसकी सरचना और कार्यों पर १९३४ का इम्पीरियल बैंक (सशोधन) अधिनियम लागू होता था। १९३४ में रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इम्पीरियल बैंक किसी हद तक राज्य-बैंक भी था, लेकिन इसके कार्य बहुत ही सीमित थे। एक गैरसरकारी संस्था के रूप में यह सरकार का सामान्य धन-सम्बन्धी

---

१ जुलाई, १९५५ में राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का नाम स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया हो गया।

२ बम्बई का पहला बैंक १८४० में स्थापित किया गया जो अत्यधिक सट्टेबाजी के परिणामस्वरूप १८६८ में समाप्त कर दिया गया।

काय करता था, सरकारी धनराशि को जमा करता था और सरकार की ओर से उसे वितरित भी करता था। गर सरकारी क्षेत्र में इसके कार्यों पर कुछ प्रतिबन्ध थे। यह ६ मास से अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे सकता था। यह अचल सम्पत्ति, अपने हिस्सों या व्यक्तिगत प्रतिभूति के आधार पर ऋण नहीं दे सकता था। विदेशी विनिमय में भी अपने ग्राहकों की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति ही कर सकता था।

१९३४ में भारत के केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक की स्थापना के कारण इम्पीरियल बैंक की सरचना मे कुछ परिवर्तन आवश्यक हो गए। ये परिवर्तन १९३४ के इम्पीरियल बैंक सशोधन अधिनियम द्वारा किये गए, जिससे १९२० के इम्पीरियल बैंक अधिनियम के सब प्रतिबन्ध रद्द कर दिये गए। विदेशी विनिमय के व्यापार और भारत से बाहर ऋणों द्वारा धन प्राप्त करने पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गए। मौसमी ऋणों आदि की अवधि ६ मास से बढ़ाकर ९ मास कर दी गई। इसे यह अधिकार भी दिया गया कि यह अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण दे और, जहाँ ठीक समझे, अपनी शाखाएँ खोले।

रिजर्व बैंक के साथ एक समझौते के अनुसार १५ वर्ष के लिए और बाद में अनिश्चित काल के लिए इम्पीरियल बैंक उस का एजेण्ट हो गया। किसी भी पक्ष से ५ वर्ष का नोटिस देकर इसे समाप्त किया जा सकता था। यह भी व्यवस्था थी कि इम्पीरियल बैंक द्वारा सरकार की ओर से वर्ष भर में किये गए लेन-देन पर रिजर्व बैंक उसे कमीशन देगा। १९३५-४० तक इम्पीरियल बैंक को ९ लाख रुपये का निश्चित वार्षिक कमीशन मिलता रहा, जो १९४०-४४ में ६ लाख रुपया और १९४५-५० में ४ लाख रुपया रहा। इम्पीरियल बैंक की इस विशेष स्थिति की बड़ी आलोचना की गई। यह कहा गया कि सरकारी लेन-देन के विशेषाधिकार से इम्पीरियल बैंक का रूप एक सशक्त गैर सरकारी एकाधिकार का हो गया है और वह निर्भय होकर जनता के हित की उपेक्षा कर सकता है तथा अन्य बैंकों को हानि पहुँचा सकता है। यह भी कहा गया कि चलार्थ-कोष का सरक्षक और रिजर्व बैंक का एकमात्र एजेण्ट होने के कारण इम्पीरियल बैंक अन्य बैंक-सस्थाओं से अनुचित प्रतिस्पर्धा करता है। इसकी विशेष स्थिति के कारण प्रतिष्ठा एव विश्वास के अतिरिक्त, जो स्वय अधिकोषण की एक महान् सम्पत्ति है, अन्य बैंकों की तुलना मे इसकी प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बहुत दृढ़ है, क्योंकि इसकी शाखाओं में बहुत थोड़े-से धन से काम चल सकता है और यह राशि के भेजने के व्यय में काफी बचत कर लेता है। इस सम्बन्ध में ग्रामीण उधार सर्वेक्षण समिति ने निम्न सुझाव रखे—(१) देश के भावी अधिकोषण एव राजकोष व्यवस्था मे इम्पीरियल बैंक का स्थान रिजर्व बैंक के सहायक का हो। (२) इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध की गई शिकायतों को दूर करने के लिए, १९२० के इम्पीरियल बैंक अधिनियम के अन्तर्गत सरकार को प्राप्त शक्तियों को, जिन्हें १९३४ में व्ययगत होने दिया गया था, सरकार को पुन प्राप्त करना चाहिए। इस बैंक के प्रबन्ध सचालय की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार की अनुमति से होनी चाहिए

और सरकार को यह अधिकार भी होना चाहिए कि इन पर सरकार का विश्वास न रहे तो वह उन्हें हटाने की माँग करे। केन्द्रीय बोर्ड में सरकार का प्रतिनिधित्व और प्रभाव हो, किन्तु सरकार को बैंक के दैनिक कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। (३) व्यावसायिक बैंकों को भी स्वतन्त्र विप्रेषण-सुविधाएँ दी जानी चाहिएँ। इम्पीरियल बैंक को यह अनुमति नहीं होनी चाहिए कि वह राष्ट्रीय चलार्थ कोष रखने के विशेषाधिकार का दुरुपयोग करके अनुचित लाभ उठाए या अन्य व्यावसायिक बैंकों से अनुचित प्रतिद्वन्द्विता करे। (४) स्थानीय एवं केन्द्रीय मण्डलों में प्रादेशिक हितों का सम्यक् प्रतिनिधित्व करने के लिए बैंक के लिए जरूरी होना चाहिए कि वह अपनी शाखाओं की संख्या बढ़ाए और एक या दो और स्थानीय प्रधान कार्यालय स्थापित करे।

जुलाई, १९५५ में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया बनने पर इम्पीरियल बैंक का अस्तित्व समाप्त हो गया।

§५. भारत का राज्य बैंक (स्टेट बैंक ऑफ इंडिया)—अखिल भारतीय ग्रामीण उधार सर्वेक्षण रिपोर्ट में सिफारिश की गई थी कि एक सुसंगठित राज्य साझेदारी-युक्त वाणिज्यिक अधिकोषण-संस्था के रूप में स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया की स्थापना की जाय, जिसकी शाखाएँ देश भर में फैली हों और जो सरकारी और अन्य बैंकों को धनराशि-विप्रेषण की सुविधा प्रदान करे और स्थिर आधार पर देश में बैंकों की व्यवस्था का विकास करे। इन सुझावों को स्वीकार कर सरकार ने राज्य-बैंक की स्थापना के लिए अधिनियम पास किया जिससे कि इम्पीरियल बैंक के स्थान पर राज्य बैंक स्थापित किया जा सके। इम्पीरियल बैंक की कुल हिस्सा पूँजी जो ५६.२५ करोड़ रुपया थी, रिजर्व बैंक को हस्तान्तरित कर दी गई। हिस्सेदारों को यह विकल्प दिया गया कि वे हर पूर्ण भुगतान किये गए हिस्से को १७६५ रुपया १० आना ० पाई के हिसाब से और हर आंशिक भुगतान किये गए हिस्से को ४३१ रुपया १२ आना ४ पाई की दर से बेच दें या नये बैंक के हिस्से खरीद लें। नवीन बैंक की अधिकृत पूँजी २० करोड़ रुपया थी, जिसमें से ४५ प्रतिशत हिस्से इम्पीरियल बैंक के हिस्सेदारों तथा अन्य विनियोजकों के लिए निर्गमित किये जाने थे। इसका प्रबन्ध एक केन्द्रीय मण्डल द्वारा होना था। इसका एक सभापति, एक उप-सभापति दो प्रबन्ध संचालक, हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचित ६ संचालक तथा रिजर्व बैंक की सलाह से केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत ८ संचालक (इनमें से दो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था एवं सहकारिता के विशेषज्ञ होंगे), केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त एक संचालक और रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त एक संचालक होगा।

इस समय यह जो राज्य बैंक बना है एक व्यावसायिक संस्था के रूप में काम करता है और सरकार ने केवल यह अधिकार सुरक्षित रखा है कि वह जनहित की दृष्टि से नीति सम्बन्धी विषयों में निदेश दे सकती है।

अधिनियम में यह व्यवस्था है कि बैंक ५ वर्ष के अन्दर सरकार द्वारा स्वीकृत स्थानों पर ४०० नवीन शाखाएँ खोलेगा। इस प्रकार बैंक ग्रामीण उधार-व्यवस्था में

समुचित योगदान कर सकेगा। अलाभकर शाखाएँ खोलने से होने वाली हानि की पूर्ति रिज़र्व बैंक विशिष्ट कोष से करेगा जिसका नाम एकीकरण एवं विकास कोष होगा। यह कोष रिज़र्व बैंक के ५५ प्रतिशत हिस्से के लाभांश तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गए योगदान से बनेगा।

राज्य बैंक को बिलकुल उस प्रकार काम करने की अनुमति है जैसे कि पहले इम्पीरियल बैंक करता था। केवल ग्रामीण वित्त के क्षेत्र में थोड़े से संशोधन होंगे। इसे अन्य बैंक संस्थाओं में हिस्सा खरीदने की अनुमति है तथा उन्हें बनाने और सहायक के रूप में चलाने का अधिकार भी है। अधिनियम में यह व्यवस्था विशेष रूप से इसलिए की गई थी ताकि राज्य बैंक राज्य सरकारों के ऐसे बैंकों का प्रबन्ध संभाल सके जो स्वतन्त्र रूप में जीवित रहने योग्य न हों, किन्तु राज्य सरकारों से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हों। जहाँ-जहाँ राज्य बैंक की शाखाएँ हैं और जहाँ रिज़र्व बैंक का बैंक विभाग नहीं है वहाँ राज्य बैंक रिज़र्व बैंक के एकमात्र एजेण्ट का काम करता है।

१९५५ के स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (संशोधन) अध्यादेश का वर्णन करने से इस नये बैंक के जन्म की कहानी पूरी हो जाती है। इस अध्यादेश द्वारा इम्पीरियल बैंक को ३० जून, १९५५ के बाद भी चालू रहने दिया गया ताकि यह सरलतापूर्वक अपने विदेशी व्यापार सम्पत्ति एवं देनदारी को हस्तान्तरित कर सके।

१९४९ का बैंकिंग कम्पनी अधिनियम—जमा करने वालों के हितों के संरक्षण के लिए विशेष विधान गत कई वर्षों से विवाद का विषय रहा है। १९४९ का बैंकिंग कम्पनी अधिनियम इसी आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास है। इसके प्रमुख उपबन्ध निम्न हैं—(१) प्रत्येक बैंक कम्पनी आवश्यक रूप से अपनी माँग-देय और सावधि-देयता का ७५ प्रतिशत भारत में सम्पत्ति के रूप में रखेगी। (यह १९३८ में ट्रावनकोर नेशनल एण्ड क्विलोन बैंक लि० की असफलता का परिणाम था। इस बैंक ने जमा धनराशि का अधिक अंश भारत से प्राप्त किया और इसे भारत के बाहर रखा।) (२) केन्द्रीय बैंक प्राधिकार (रिज़र्व बैंक) सब बैंक कम्पनियों की जाँच करेगा। (३) अधिनियम की धारा २१ द्वारा रिज़र्व बैंक को यह अधिकार है कि वह सामान्य रूप से सभी बैंक कम्पनियों या किसी विशेष कम्पनी को, अग्रिम देने की नीति के सम्बन्ध में, निदेश दे सकता है, यदि वह यह समझे कि ऐसा करना जनहित के लिए आवश्यक होगा। (४) अधिकोषण कम्पनी को (क) अपने हिस्सों की प्रतिभूति पर ऋण देने की मनाही है। (ख) किसी भी संचालक को किसी ऐसी फ़र्म या निजी कम्पनी को, जिसमें बैंक या उसका कोई भी संचालक प्रबन्धक एजेण्ट या साझेदार हो, या अन्य किसी भी व्यक्ति, फर्म या कम्पनी को, जहाँ कोई भी संचालक जामिन (गारंटी देने वाला) हो अरक्षित ऋण या अग्रिम देने की मनाही है। (५) जहाँ तक भारत के बाहर बनाई गई बैंक कम्पनियों का सम्बन्ध है उन्हें धारा ११ के अनुसार धारा में अपेक्षित न्यूनतम पूँजी रिज़र्व बैंक में जमा करनी होगी। यह नकद या भारमुक्त प्रतिभूतियों या अंशतः नकद और अंशतः पूँजी प्रतिभूतियों के रूप में हो सकती है।

§७ नकद रक्षित कोष एवं विनियोग—समुचित नकद रक्षित कोष रखने की आवश्यकता का महत्त्व स्पष्ट है। १९१३-१४ में अनेक भारतीय बैंकों के फेल होने का कारण नकद रक्षित-कोष की अपर्याप्तता थी। आवश्यक रक्षित धनराशि अनुभव से ही जानी जा सकती है। १९५१ में बैंकों और रिज़र्व बैंक के पास औसत नकदी कुल माँग और समय जमा (टाइम डिपाजिट्स) का १०.७ प्रतिशत थी। १९५२ और १९५३ का औसत क्रमशः ९.५ प्रतिशत और ९.१ प्रतिशत था। इस ह्रास का आंशिक कारण केन्द्रीय बैंक से व्यावसायिक बैंकों को ऋण लेने की सुविधा है। गैर-अनुसूचित बैंकों के नकद अनुपात का औसत ७ और ८ प्रतिशत के बीच है।

संकट काल में बैंकों का दूसरा सहारा माँग राशि (काल मनी) और अल्प सूचना पर देय राशि है। यह राशि मुद्रा-बाजार, हुण्डियों के दलालों, हुण्डी भुनाने वाले लोगों तथा स्टॉक एक्सचेंज के सदस्यों को दिये गए ऋण हैं। माँग ऋण और अल्पसूचना पर देय ऋण को नकद के ही समान समझना चाहिए। एक अर्थ में वे वास्तविक नकदी से भी अच्छे हैं क्योंकि उन पर ब्याज प्राप्त होता है। भारत में संगठित मुद्रा बाजार का अभाव होने के कारण इसका उतना महत्त्व नहीं है। इस प्रकार के ऋण की राशि १९५१ में ११.२ करोड़ रुपये, १९५२ में १६.८ करोड़ रुपये तथा १९५३ में १३.४ करोड़ रुपये थी। यह बैंकों की कुल जमा धनराशि के लगभग ०.१ प्रतिशत के बराबर है।[1] बम्बई में माँग राशि बाजार काफी क्रियाशील है, कलकत्ता में यह अपेक्षाकृत अकर्मण्य है और मद्रास में इसका अस्तित्व नहीं के बराबर है।

भारत में बैंक हुण्डियों के भुनाने का काम करते हैं, किन्तु इस प्रकार विनियुक्त धनराशि हुण्डी-बाजार के अभाव के कारण सीमित है। १९५१ में ३९८ बैंकों द्वारा दिये गए ५८१.१ करोड़ रुपये के ऋण में से हुण्डियों में लगी धनराशि कुल ३९.३ करोड़ रुपये थी। १९५३ में भुनाई गई हुण्डियाँ ५१.८ करोड़ रुपये की थीं, जब कि ५०४ बैंकिंग कम्पनियों द्वारा दिया गया कुल ऋण ५१७.३ करोड़ रुपये था।[2]

व्यापारियों एवं उद्योगपतियों की पूँजी आवश्यकताओं के लिए दिये गए ऋण या नकद या अधिकर्ष (ओवरड्राफ्ट) के रूप में दिए जाते हैं। ३१ दिसम्बर, १९५४ को अनुसूचित बैंकों द्वारा दिये गए ऋण ५५७ करोड़ रुपये और गैर अनुसूचित बैंकों द्वारा दिये गए ऋण ३८.४५ करोड़ रुपये थे। निम्नलिखित विश्लेषण से प्रकट हो जायगा कि ३१ दिसम्बर, १९५४ को दिये गए ऋणों की क्या स्थिति थी और वे किस उद्देश्य के लिए दिये गए थे।

अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से पता चलता है कि दिये गए ऋण का सर्वोच्च प्रतिशत वाणिज्य को और सबसे निम्न प्रतिशत कृषि को मिला है। अनुसूचित बैंकों द्वारा उद्योगों को काफी धनराशि दी गई है और गैर अनुसूचित बैंकों के वैयक्तिक एवं पेशों को दिये ऋण का प्रतिशत उद्योगों को दिये गए ऋण के प्रतिशत से अधिक है। अतः हम यह सकते हैं कि भारतीय बैंक सामान्यतया उद्योग एवं कृषि को आसानी से

१ ब्रिटिश बैंकों का यह प्रतिशत २५ से ३९ के बीच है।
२ 'ट्रेंड एण्ड प्रोग्रेस आफ बैंकिंग इन इण्डिया', १९५३, पृष्ठ ४१।

	८३ अनुसूचित बैंक		३५३ गैर अनुसूचित बैंक	
	धनराशि (करोड़ रुपये में)	कुल दिये गए ऋण का प्रतिशत	धनराशि (करोड़ रुपये में)	कुल दिये गए ऋण का प्रतिशत
उद्योग	१९० ६	३४ ३	७ ०६	१८ ४
वाणिज्य	२७७ ६	४६ ६	१७ ०८	४४ ४
कृषि	४ ५	० ८	२ ४०	६ २
व्यक्तिगत एवं वृत्तियों के लिए	४७ ६	८ ५	६ ८७	२५ १
अन्य सब	३६ १	६ ५	२ २१	५ ६
	५५७ ०	१०० ०	३८ ४५	१०० ०

ऋण आदि नही देते। बकों के परिसम्पतों का अधिकाश सरकारी प्रतिसम्पतो के रूप म रहता है। १९५१ में ३९८ १९५२ मे ५१७ और १९५३ मे ५०४ बको ने सरकारी प्रतिभूतिया के रूप मे क्रमश ३१५ ० करोड रुपये ३४३ ९ करोड रुपये तथा ३५४ ८ करोड रुपये लगा रखा था। १९५४ के अन्त में इस मद में ३७८ ०३ करोड़ रुपया लगा हुआ था। बक आवश्यक्ता पड़ने पर सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर या उनके विक्रय द्वारा रिजव बक या इम्पीरियल बक (अब स्टेट बक) से धनराशि प्राप्त कर सकते हैं।

§८ भारत में आधुनिक अधिकोषण का विकास—अब तक हमन वतमान अधिकोषण-प्रणाली की सरचना का सक्षिप्त विवरण दिया है। अब हम भारत मे आधुनिक अधिकोषण प्रणाली के विकास को लेत हैं। कलकत्ता और बम्बई के यूरोपीय एजेंसी-गृह अधिकोषण के अग्रदूत थे किन्तु उनका मुख्य काय व्यापार था। १९२९ और १९३२ मे सट्टा व्यापार में भाग लेने के कारण इन्हें बडी हानि पहुँची। इनके अतिरिक्त कुछ और फर्में थीं जिनके व्यापार का अग अधिकोषण होता था, जसे ग्रिण्डलेज की फम। सयुक्त स्कन्ध अधिकोषण प्रणाली की युग प्रवत्तक घटना यह थी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बढ़ते हुए व्यापार को चलाने के लिए तीन प्रेसीडेंसी बकों की स्थापना की गई।

यूरोपीय ढग की सबसे पहली शुद्ध अधिकोषण-सस्था बक ऑफ़ हिन्दुस्तान थी[1] जो १८२९ ३२ के सकट-काल में समाप्त हो गई। १८६० तक अधिकोषण का विकास शिथिल था। इसका एक कारण यह था कि हिस्सेदारों का दायित्व असीमित होता था। भारत में सीमित दायित्व का सिद्धान्त १८६० मे स्वीकार किया गया और १८६३ में बक ऑफ़ अपर इण्डिया तथा १८६५ में इलाहाबाद बक की स्थापना हुई। १८९४ में भारत में १४ बक थे, जिनमें से अधिकतर का प्रबन्ध यूरोपीय लोगों

१ मुकर्जी की पुस्तक 'राइज, प्रोग्रेस एण्ड प्रजेंट पोजीशन ऑफ बैंकिंग इन इण्डिया' में ऐसा कहा गया है लेकिन अधिकोषण जाँच समिति के अनुसार यह कथन पूर्णतया सत्य नहीं है। स्पष्ट है कि १७७० में बैंक ऑफ हिन्दुस्तान की स्थापना के पूर्व भी भारत में दो-एक बैंक बने, लेकिन वे जल्दी ही समाप्त हो गए (रिपोर्ट, पृ० १५)।

के हाथो में था। १९०५ मे प्रारम्भ होने वाले स्वदेशी आन्दोलन से अधिकोषण के विकास को बडी प्रेरणा मिली। इस काल मे बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ बर्मा, इण्डियन स्पीसी बैंक, सेण्ट्रल बैंक आफ इण्डिया, बैंक ऑफ बडौदा, बैंक ऑफ मसूर और अनेक बैंकिंग सस्थाएँ बनी। उनमें से कई सट्टे के व्यापार में लग गए और उनकी देनदारी के अनुपात में उनकी रक्षित नकद धनराशि इतनी कम थी कि सकट अनिवार्य प्रतीत होने लगा। १९१३ १४ में ५५ बैंक दिवालिया हो गए। १९२३ २४ का काल भी भारत के सयुक्त स्कन्ध अधिकोषण के लिए सकट का काल था, इसमें १६१ बैंक फेल हो गए। १९२३ का वर्ष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस वर्ष में टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक, जो १९१८ में बना था, सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया मे मिल गया। यह एक अभूतपूर्व घटना थी, क्योंकि भारतीय अधिकोषण की सामान्य प्रवृत्ति विलयन तथा समोजन के विरुद्ध थी। इसी वर्ष अलाएन्स बैंक ऑफ शिमला बुरी तरह फेल हुआ। इस परिस्थिति मे उत्पन्न आतक को रोकने के लिए सरकार ने इम्पीरियल बैंक को निर्देश दिया कि वह अलाएन्स बैंक में जमा रखने वालों को उनकी जमा का ५० प्रतिशत दे और सरकार ने असफलता द्वारा हुई हानि को पूरा करने का वचन दिया। १९२९ में प्रारम्भ हुई विश्वव्यापी मन्दी के परिणामस्वरूप बैंकों के फेल होने की भरमार हो गई। १९३१ से १९३६ के बीच ३३८ से अधिक बैंकों के दरवाजे बन्द हो गए। लेकिन इनमे से अधिकतर के पास १ लाख रुपये से अधिक पूँजी नहीं थी। बाद में १९३८ में एक महत्त्वपूर्ण अनुसूचित बैंक फेल हुआ। यह ट्रावनकोर नेशनल एण्ड क्विलोन बैंक था। इससे दक्षिण भारत मे लोग बैंको से रुपया निकलवाने लगे और ६४ बैंक फेल हो गए। इन असफलताओ का परिणाम यह हुआ कि यह अनुभव होने लगा कि भारतीय बैंको को समुचित रूप से विनियमित करने के लिए एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय। द्वितीय विश्वयुद्ध से भारतीय बैंको को बडी प्रेरणा मिली, यद्यपि युद्ध के प्रारम्भ मे और १९४१ में जापान के युद्ध मे शामिल होने पर, कुछ काल के लिए बैंकों से बडी मात्रा मे रुपया निकलवाया गया। किन्तु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारतीय बैंको ने युद्ध के धक्के को सफलतापूर्वक सहन किया। उसके बाद से मुद्रास्फीति के कारण बैंकों का अभूतपूर्व विकास होने लगा। बैंकों के साधनो, विनियोग के लिए दिये ऋणों की राशि तथा शाखाओं मे काफी प्रसार हुआ है। अगस्त, १९३९ म अनुसूचित बैंको की जमा देनदारी २४९ ४५ करोड रुपया थी। किन्तु जुलाई, १९४४ के अन्त में यह बढकर ७५६ २८ करोड रुपया हो गई तथा दिसम्बर, १९४६ में ८०४ करोड रुपया हो गई। शाखाओं की सख्या १९३८ में १४७१ थी। यह १९४७ में बढकर ५१३२ हो गई। यह वृद्धि १९४३, १९४४ और १९४५ मे बहुत अधिक हुई। युद्ध द्वारा उत्पन्न सस्ती मुद्रा के कारण तथा जनता द्वारा फालतू क्रय-शक्ति के बैंकों में जमा कराने मे युद्ध-काल में कितने ही बैंकों ने अपना कार्य-क्षेत्र काफी बढा लिया। काफी पूँजी वाले कितने ही नये बैंक स्थापित हुए जो बिना सोचे-समझे वर्ष प्रतिवर्ष नई-नई शाखाएँ खोलने लगे। नगरों और कस्बों में शाखाओ के खुलने का परिणाम यह हुआ कि व्यापार एक बैंकिंग कम्पनी से दूसरी की

और प्रवाहित होने लगा और इस प्रकार कठोर प्रतिद्वन्द्विता ने जन्म लिया।

पहला धक्का १९४७ मे देश के विभाजन के परिणामस्वरूप लगा। विभाजन से पूर्व और बाद के काल में हुई गड़बड़ के कारण पंजाब और बंगाल में कई बैंक संस्थाओं का कार्य अव्यवस्थित हो गया और कितने ही बैंक निष्क्रिय हो गए। कई बैंक संस्थाओं को भुगतान स्थगित करना पड़ा और बाद में उन्होंने पुनर्संगठन की योजनाएँ अपनाईं।

१९४८ में बैंकों की शाखाओं में ८५२ की कमी हो गई। आगामी वर्षों मे भी यह कमी जारी रही और कार्यालयों की कुल संख्या, जो १९४८ में ४४४१ थी, १९५३ में घटकर ४०३६ रह गई।[1] इसका अर्थ यह है कि बैंकों का अविवेकपूर्ण प्रसार कम हो गया। कितने ही ग़ैर अनुसूचित बैंकों की शाखाओं के कम होने का अभिप्राय यह है कि वे अपने व्यापार कार्य को अधिकोषण तक ही सीमित नहीं रखते थे, अतएव वे बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार बैंक संस्था नहीं रह गए थे। तीसरे, इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि किसी हद तक बैंकों का विलयन हो गया। अनार्थिक इकाइयों का उन्मूलन अधिकोषण-पद्धति की स्थिरता के लिए अत्यन्त ही आवश्यक था। १९५१ में भारत में वाणिज्यिक बैंकों को बड़े कष्ट का सामना करना पड़ा। कोरिया में युद्ध से उत्पन्न मुद्रास्फीति की प्रवृत्तियों के कारण (जो माल जमा करने के कारण हुई) मूल्यों मे जो वृद्धि हुई उससे बैंकों से उधार की माँग में काफी वृद्धि हुई। इस धन राशि की माँग के परिणामस्वरूप बैंकों के जमा या निक्षेप मे कमी होने लगी और इस प्रकार सरकारी प्रतिभूतियों में बैंकों का विनियोग कम हो गया जिससे उनकी नकद राशि की स्थिति कमजोर हो गई। मुद्रास्फीति को रोकने और उसे दूर करने के लिए अन्य अनेक देशों की भाँति भारत को भी मुद्रा-सम्बन्धी उपाय करने पड़े। नवम्बर १९५१ में बैंक-दर ३ से बढ़ाकर साढ़े तीन प्रतिशत कर दी गई।[2] मुद्रा नियन्त्रण में परिवर्तन से अधिकोषण प्रणाली में भी परिवर्तन आवश्यक हो गया जो सन्तोषपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुआ।

३१ दिसम्बर, १९५४ को सम्पूर्ण भारत में ५३३ अधिकोषण कम्पनियाँ काम कर रही थीं जिनके कार्यालयों की संख्या ४०४१ थी।[3] ये कार्यालय बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश इन तीन राज्यों मे ही केन्द्रित हैं। अधिकांश कार्यालय १० हजार से अधिक जनसंख्या वाले स्थानों मे हैं। हरेक बैंक का पूँजी-संगठन एवं रक्षित कोष भिन्न भिन्न है तथा परिदत्त पूँजी का रक्षित कोष और जमा की राशि कुछ बड़े-बड़े बैंकों में ही केन्द्रित हैं। अनुसूचित एवं ग़ैर अनुसूचित बैंकों को मिलाकर देखा जाय तो उनमे से ७२ प्रतिशत (जिनकी पूँजी और रक्षित-कोष ५ लाख से कम है) के पास कुल पूँजी

---

1 ये आँकड़े विभाजन के बाद के हैं। 'ट्रेंड एण्ड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग इन इण्डिया', पृष्ठ ७१।

2 रिजर्व बैंक की इस नवीन नीति का विवेचन § ९ में किया गया है।

3 ट्रेंड एण्ड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग इन इण्डिया', १९५४। ये आँकड़े रिजर्व बैंक अधिनियम, १९३४ एवं बैंकिंग कम्पनी अधिनियम, १९४९ के अन्तर्गत प्राप्त विवरणों पर आधारित हैं। जिन बैंकों को रिजर्व बैंक को सूचना प्रस्तुत नहीं करना पड़ता, वे नहीं शामिल किए गए हैं।

के हाथों मे था। १९०५ मे प्रारम्भ होने वाले स्वदेशी आन्दोलन से अधिकोषण के विकास को बडी प्रेरणा मिली। इस काल म बैंक आफ इण्डिया, बैंक ऑफ़ बर्मा, इण्डियन स्पीसी बैंक, सेण्ट्रल बैंक ऑफ़ इण्डिया, बैंक ऑफ बडोदा, बैंक ऑफ़ मसूर और अनेक बैंकिंग सस्थाएँ बनी। उनमें से कई सट्टे के व्यापार में लग गए और उनकी देनदारी के अनुपात में उनकी रक्षित नकद धनराशि इतनी कम थी कि सकट अनिवार्य प्रतीत होने लगा। १९१३ १४ में ५५ बैंक दिवालिया हो गए। १९२३ २८ का काल भी भारत के सयुक्त स्कन्ध अधिकोषण के लिए सकट का काल था, इसमें १६१ बैंक फेल हो गए। १९२३ का वर्ष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस वर्ष में टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक, जो १९१८ में बना था, सेण्ट्रल बैंक ऑफ़ इण्डिया मे मिल गया। यह एक अभूतपूर्व घटना थी, क्योंकि भारतीय अधिकोषण की सामान्य प्रवृत्ति विलयन तथा सयोजन के विरुद्ध थी। इसी वर्ष अलाएस बैंक ऑफ़ शिमला बुरी तरह फेल हुआ। इस परिस्थिति से उत्पन्न आतक को रोकने के लिए सरकार ने इम्पीरियल बैंक को निर्देश दिया कि वह अलाएस बैंक में जमा रखने वालों को उनकी जमा का ५० प्रतिशत दे और सरकार ने असफलता द्वारा हुई हानि को पूरा करने का वचन दिया। १९२९ में प्रारम्भ हुई विश्वव्यापी मन्दी के परिणामस्वरूप बैंकों के फेल होने की भरमार हो गई। १९३१ से १९३६ के बीच ३३८ से अधिक बैंकों के दरवाजे बन्द हो गए। लेकिन इनम से अधिकतर के पास १ लाख रुपये से अधिक पूँजी नहीं थी। बाद में १९३८ में एक महत्त्वपूर्ण अनुसूचित बैंक फेल हुआ। यह ट्रावनकोर नेशनल एण्ड क्विलोन बैंक था। इससे दक्षिण भारत मे लोग बैंकों से रुपया निकलवाने लगे और ६४ बैंक फेल हो गए। इन असफलताओं का परिणाम यह हुआ कि यह अनुभव होने लगा कि भारतीय बैंकों को समुचित रूप से विनियमित करने के लिए एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की जाय। द्वितीय विश्वयुद्ध स भारतीय बैंकों को बडी प्रेरणा मिली, यद्यपि युद्ध के प्रारम्भ में और १९४१ में जापान के युद्ध में शामिल होने पर, कुछ काल के लिए बैंकों से बडी मात्रा म रुपया निकलवाया गया। किन्तु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारतीय बैंकों ने युद्ध के धक्के को सफलतापूर्वक सहन किया। उसके बाद से मुद्रास्फीति के कारण बैंकों का अभूतपूर्व विकास होने लगा। बैंकों के साधनों, विनियोग के लिए दिये ऋणों की राशि तथा शाखाओं म काफी प्रसार हुआ है। अगस्त, १९३९ में अनुसूचित बैंकों की जमा-देनदारी २४९ ४५ करोड रुपया थी। किन्तु जुलाई, १९४४ के अन्त में यह बढ़कर ७५६ २९ करोड रुपया हो गई तथा दिसम्बर १९४६ में ८०४ करोड रुपया हो गई। शाखाओं की सख्या १९३८ में १४७१ थी। यह १९४७ में बढ़कर ५८३२ हो गई। यह वृद्धि १९४३ १९४४ और १९४५ मे बहुत अधिक हुई। युद्ध द्वारा उत्पन्न सस्ती मुद्रा के कारण तथा जनता द्वारा फालतू क्रय शक्ति के बैंकों में जमा कराने मे युद्ध-काल में कितने ही बैंकों ने अपना कार्य-क्षेत्र काफी बढ़ा लिया। काफी पूँजी वाले कितने ही नये बैंक स्थापित हुए जो बिना सोचे-समझे प्रति वर्ष प्रतिवर्ष नई-नई शाखाएँ खोलने लगे। नगरों और कस्बों में शाखाओं के खुलने का परिणाम यह हुआ कि व्यापार एक बैंकिंग कम्पनी से दूसरी की

और प्रवाहित होने लगा और इस प्रकार कठोर प्रतिद्वन्द्विता ने जन्म लिया।

पहला धक्का १९४७ मे देश के विभाजन के परिणामस्वरूप लगा। विभाजन से पूर्व और बाद के काल में हुई गड़बड़ के कारण पंजाब और बंगाल में कई बैंक संस्थाओं का कार्य अव्यवस्थित हो गया और कितने ही बैंक निष्क्रिय हो गए। कई बैंक संस्थाओं को भुगतान स्थगित करना पड़ा और बाद में उन्होंने पुनर्संगठन की योजनाएँ अपनाई।

१९४८ मे बैंकों की शाखाओं में ८५२ की कमी हो गई। आगामी वर्षों मे भी यह कमी जारी रही और कार्यालयों की कुल संख्या, जो १९४८ मे ४४४१ थी, १९५३ में घटकर ४०३६ रह गई।[1] इसका अर्थ यह है कि बैंकों का अविवेकपूर्ण प्रसार कम हो गया। कितने ही ग़ैर अनुसूचित बैंकों की शाखाओं के कम होने का अभिप्राय यह है कि वे अपने व्यापार कार्य को अधिकोषण तक ही सीमित नहीं रखते थे अतएव वे बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार बैंक संस्था नहीं रह गए थे। तीसरे, इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि किसी हद तक बैंकों का विलयन हो गया। अनार्थिक इकाइयों का उन्मूलन अधिकोषण-पद्धति की स्थिरता के लिए अत्यन्त ही आवश्यक था। १९५१ में भारत में वाणिज्यिक बैंकों को बड़े कष्ट का सामना करना पड़ा। कोरिया में युद्ध से उत्पन्न मुद्रास्फीति की प्रवृत्तियों के कारण (जो माल जमा करने के कारण हुई) मूल्यों में जो वृद्धि हुई, उससे बैंकों से उधार की माँग में काफ़ी वृद्धि हुई। इस धन राशि की माँग के परिणामस्वरूप बैंकों के जमा या निक्षेप में कमी होने लगी और इस प्रकार सरकारी प्रतिभूतियों में बैंकों का विनियोग कम हो गया जिससे उनकी नकद राशि की स्थिति कमज़ोर हो गई। मुद्रास्फीति को रोकने और उसे दूर करने के लिए अन्य अनेक देशों की भाँति भारत को भी मुद्रा-सम्बन्धी उपाय करने पड़े। नवम्बर, १९५१ में बैंक-दर ३ से बढ़ाकर साढ़े तीन प्रतिशत कर दी गई।[2] मुद्रा नियन्त्रण में परिवर्तन से अधिकोषण प्रणाली में भी परिवर्तन आवश्यक हो गया जो सन्तोषपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुआ।

३१ दिसम्बर १९५४ को सम्पूर्ण भारत में ५३३ अधिकोषण कम्पनियाँ काम कर रही थीं जिनके कार्यालयों की संख्या ४०४१ थी।[3] ये कार्यालय बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश इन तीन राज्यों में ही केन्द्रित हैं। अधिकांश कार्यालय १० हज़ार से अधिक जनसंख्या वाले स्थानों में हैं। हरेक बैंक का पूँजी-संगठन एवं रक्षित कोष भिन्न भिन्न है तथा परिदत्त पूँजी का रक्षित कोष और जमा की राशि कुछ बड़े-बड़े बैंकों में ही केन्द्रित हैं। अनुसूचित एवं ग़ैर अनुसूचित बैंकों को मिलाकर देखा जाय तो उनमें से ७२ प्रतिशत (जिनकी पूँजी और रक्षित-कोष ५ लाख से कम है) के पास कुल पूँजी

[1] ये आँकड़े विभाजन के बाद के हैं। 'ट्रेंड एण्ड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग इन इण्डिया', पृष्ठ ७१।
[2] रिज़र्व बैंक की इस नवीन नीति का विवेचन § ६ में किया गया है।
[3] 'ट्रेंड एण्ड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग इन इण्डिया', १९५४। ये आँकड़े रिज़र्व बैंक अधिनियम, १९३४ एवं बैंकिंग कम्पनीज़ ऐक्ट १९४९ के अन्तर्गत प्राप्त विवरणों पर आधारित हैं। जिन बैंकों को रिज़र्व बैंक को लेखा प्रस्तुत नहीं करना पड़ता, वे नहीं शामिल किये गए हैं।

कोई बैंकिंग कम्पनी अपने हिस्सा की प्रतिभूति पर ऋण न देगी। बैंक अपने किसी भी संचालक तथा ऐसी फर्म या कम्पनी को, जिसमें उसका कोई संचालक, साझेदार या प्रबन्धकर्ता हो, या ऐसे व्यक्ति फर्म या व्यक्तिगत कम्पनियों को, जिसमे इसका कोई संचालक जामिन हो, बिना प्रतिभूति के ऋण न देगा। (८) *अधिकोषण कम्पनियों पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण*—(क) रिजर्व बैंक अग्रिम के सम्बन्ध में अन्य अधिकोषणों द्वारा अनुसरण की जाने वाली नीति का निर्धारण करेगा। वह उन उद्देश्यों के सम्बन्ध में भी निर्देश दे सकेगा, जिनके लिए ऋण दिया जाना चाहिए (धारा २१)। (ख) कोई भी कम्पनी रिजर्व बैंक से अनुज्ञप्ति (लाइसेंस) प्राप्त किये बिना भारतीय-संघ मे बैंकिंग-व्यापार नहीं करेगी। रिजर्व बैंक यह कह सकता है कि वह लेखे की जाँच करके इस विषय में सन्तुष्ट हो जाय कि जमा करने वालो का हित सुरक्षित है तभी लाइसेंस मिलेगा (धारा २२)। (ग) पूर्व-स्वीकृति के बिना कोई भी अधिकोषण कम्पनी नवीन शाखाएँ नहीं खोल सकती। उसी नगर और स्थान को छोडकर, जिसमें वह पहले से ही विद्यमान है, वह अपने व्यापार का स्थान भी बिना स्वीकृति के नहीं बदल सकती (धारा २३)। (घ) हर अधिकोषण कम्पनी रिजर्व बैंक को भारतीय संघ मे अपने परिसम्पत्तों और देयता का सामयिक विवरण प्रस्तुत करती रहेगी (धारा २७)। यह रिजर्व बैंक को परीक्षित लेखे और स्थिति विवरण भी प्रस्तुत करेगी (धारा ३१)। (ङ) रिजर्व बैंक स्वयं या केन्द्रीय सरकार के निर्देश पर किसीभी समय किसी भी बैंकिंग कम्पनी की जाँच कर सकता है (धारा ३५)। (च) रिजर्व बैंक किसी भी अधिकोषण कम्पनी को परामर्श दे सकता है, विलयन चाहने वाली कम्पनियों की इस काम में सहायता कर सकता है और रिजर्व बैंक अधिनियम, १९३४ की धारा १८ की उपधारा १ के खण्ड ३ के अन्तर्गत ऋण और अग्रिम धन देकर किसी बैंक की सहायता भी कर सकता है।[1]

मार्च, १९५० में इस अधिनियम में और संशोधन किये गए जिससे यह जम्मू और काश्मीर के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में लागू हो गया। (प्रारम्भ में इसका क्षेत्र भारतीय संघ मे उन क्षेत्रों तक सीमित था जो कि ब्रिटिश भारत के भाग थे।) संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार मिला कि (क) वह भारतीय कम्पनियों द्वारा विदेश में शाखाएं खोलने का विनियमन करे। (ख) वह इस बात की भी स्वीकृति दे कि कौनसी प्रतिभूतियाँ सदस्य-बैंकों की माँग और सावधि-देयता के प्रति परिसम्पत समझी जा सकती हैं। (ग) बैंकिंग कम्पनियों के विलयन की प्रक्रिया को सरल और सुविधाजनक बनाये।

§१० **अधिकोषण सुविधाओं की अपर्याप्तता**—कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत की बैंक-पद्धति कृषि एवं उद्योग को समुचित वित्त प्रदान करने में असफल रही है। कृषक की उपभोग की आवश्यकताओं के अतिरिक्त, न केवल बीज

१ रिजर्व बैंक की विधि में निर्दिष्ट शक्तियाँ बैंक-पद्धति के नियामक एवं अन्तिम शरणदाता के रूप में रिजर्व बैंक की मूल शक्तियों से कहीं अधिक हैं। यह बात अन्य देशों में अधिकोषण-विकास से मेल खाती है। आर० एस० सेयर्स (सं०) 'बैंकिंग इन ब्रिटिश कामनवेल्थ, (१९५२), पृष्ठ १५६।

और खाद खरीदने तथा उत्पाद के विक्रय के लिए धनराशि (अल्पकालीन पूँजी) की आवश्यकता पडती है, वरन् भूमि के सुधार या क्रय के लिए भी आवश्यकता होती है, जिसमे बडी मात्रा मे धनराशि बहुत समय के लिए फँस जाती है। अल्पकालीन ऋण देने में दो प्रमुख बाधाएँ हैं—(१) कृपको की निरक्षरता एव सामान्य अज्ञान के कारण वे हुण्डियो का प्रयोग नही कर सकते, जिनके आधार पर बक उन्हें ऋण दें। (२) ग्रामीण क्षेत्रो मे भाण्डागार नही हैं जहाँ कृपि उत्पाद का सग्रह किया जा सके, और ऋण लेने के लिए उसे बन्धक रखा जा सके। कृपक की दीर्घकालीन ऋण आवश्यकताओ की पूर्ति सम्पत्ति को रहन रखकर नही की जा सकती, क्योकि साधारण बैंको के पास न तो इतना धन है और न इस आधार पर ऋण देने के लिए आवश्यक व्यवस्था ही है। विभिन्न राज्यो मे ऋण सहायता ऋण तथा भूधृति सम्बन्धी अधिनियम भी बन्धक के आधार पर बको द्वारा ऋण देने म कठिनाई उपस्थित करते हैं। और न स्वस्थ अधिकोषण का यह सिद्धान्त ही है कि व्यावसायिक या वाणिज्यिक बक सम्पत्ति को बन्धक रखकर ऋण दें।

कृपि-कार्यों के लिए दीर्घकालीन ऋण केवल विशेष बन्धक-बक ही दे सकते हैं। एक प्रस्ताव रखा गया है कि १९४५ की गाडगिल समिति की सिफारिश के अनुसार हर एक राज्य मे एक कृपि उधार निगम की स्थापना की जाय। विभिन्न राज्या के भूधृति और कृपि सम्बन्धी विधानो में अत्यधिक विविधता होने के कारण, इसमें सन्देह है कि इस प्रकार की केन्द्रीय सस्था मध्यम एव दीर्घकालीन ऋणो द्वारा कृपि विकास के लिए वित्त दने का काय सन्तोषपूर्ण ढग से कर सकेगी। अतएव प्रान्तीय भूमि-बन्धक बको की स्थापना आवश्यक प्रतीत होती है किन्तु उनका सगठन और रूप विभिन्न राज्यो में स्थानीय परिस्थितिया परम्पराओ एव विचारो के अनुरूप होगा।

§११ औद्योगिक वित्त—भारतीय अर्थ-व्यवस्था या सबसे बडा दोष तो यह है कि यहां सुसगठित औद्योगिक वित्त का अभाव है। पश्चिम के विकसित देशो मे विनियोग-सस्थाएँ तथा निगम गृह (इशू हाउस) हैं जो औद्योगिक सस्थाओ के हिस्सो की हामीदारी करते हैं। जर्मनी में प्रारम्भ में औद्योगिक पूँजी के अधिकाश की व्यवस्था बक ही करते हैं। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि औद्योगिक वित्त उनके कुल विनियोग का एक अश मात्र ही है और उनका मुख्य काम सामान्य अधिकोषण है। केन्द्रीय अधिकोषण जाच समिति ने समुचित परिवतनो के साथ जमन पद्धति को अपनाने पर जोर दिया है, किन्तु देश की औद्योगिक विकास की आवश्यकताओ की पर्याप्त पूर्ति इस प्रकार होती दिखाई नही देती। जुलाई १९४८ में एक औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य भारतीय सघ में रजिस्टर हुई सीमित दायित्व वाली सार्वजनिक कम्पनियों एव सहकारी समितियों के लिए मध्यम और दीर्घकालीन ऋण दना है, जो वस्तुओं के विधायन और निर्माण, खनन तथा बिजली या अन्य चालक शक्ति उत्पन्न या वितरित करने में लगी हो। यह निगम मशीनी औजारो और रसायन जैसे आधार उद्योगों को सहायता दे रहा है।

इसकी हिस्सों की पूँजी (शेयर कैपिटल) १० करोड़ रुपये है, जिसमें से ५ करो
रुपया प्रदत्त पूँजी है। इसमें से १ करोड़ रुपया केन्द्रीय सरकार ने, १ करोड़ रुप
रिज़र्व बैंक ने, तथा साढ़े तीन करोड़ रुपये अनुसूचित बैंकों, बीमा कम्पनियों औ
विनियोग ट्रस्टों आदि ने और आधा करोड़ रुपया सहकारी बैंकों ने दिया है। केन्द्री
सरकार ने आय-कर के सिवा दो प्रतिशत का न्यूनतम लाभांश और पूँजी वापस कर
की गारण्टी दी है। इस निगम का प्रबन्ध १२ सदस्यों के एक संचालक मण्डल
हाथ में है, जिनमें से ४ रिज़र्व बैंक द्वारा मनोनीत होते हैं तथा शेष हिस्सेदारों द्वारा
सरकार, रिज़र्व बैंक और स्टेट बैंक के हिस्से मिलाकर ५२ प्रतिशत हैं। इस प्रका
सरकार निगम पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखेगी। यह निगम आवश्यक धन का कु
प्रतिशत ही देगा, (शेष धन फ़र्म या संस्था को स्वयं जुटाना होगा)। इसके लि
निगम (१) औद्योगिक संस्थाओं से २५ वर्ष में चुकाये जाने वाले ऋण-पत्र खरी
सकता है या उन्हें ऋण दे सकता है। (२) स्टॉक, हिस्से और ऋणपत्रों की हामी
दारी कर सकता है। (३) बाजार से लिये गए ऋण की, जिसका २५ वर्ष
भुगतान करना होगा गारण्टी दे सकता है। निगम द्वारा दिये गए ऋण की राशि
१९४९ में २९ लाख रुपये थी। यह मार्च, १९५३ के अन्त तक बढ़कर ८.६१ करो
रुपये हो गई। निगम द्वारा ली जाने वाली ब्याज दर प्रारम्भ से फरवरी, १९५
तक साढ़े पाँच प्रतिशत थी (जिस पर समय पर भुगतान करने पर आधे प्रतिशत की
छूट मिलती थी)। इसके पश्चात् यह बढ़ाकर ६ प्रतिशत कर दी गई। (इस पर पहले
की भाँति आधे प्रतिशत की छूट मिलती है।) यह निगम ऋण लेने वाले उद्योगों की
प्रगति का ध्यान रखने के लिए कभी-कभी उनका निरीक्षण करता है और प्रगति की
रिपोर्ट माँगता है। १९५२-५३ में १९४८ के औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम का
संशोधन किया गया, जिससे कि इसका कार्य क्षेत्र एवं साधन बढ़ सकें। इस संशोधन
से भारत सरकार को उस विदेशी ऋण की गारण्टी देने की शक्ति मिल गई है जो कि
यह निगम भारत सरकार की पूर्व-सहमति से अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक
से भारतीय औद्योगिक संस्थाओं को ऋण देने के लिए प्राप्त करे। निगम को सरकारी
प्रतिभूतियों के आधार पर रिज़र्व बैंक से ऋण लेने का अधिकार प्राप्त है लेकिन यह
ऋण ९० दिन के अल्पकाल के लिए ही होगा। रिज़र्व बैंक द्वारा अपेक्षित प्रतिभूतियों
या निगम द्वारा जारी किये गए बन्ध-पत्र और ऋण पत्रों के आधार पर निगम रिज़र्व
बैंक से अधिक-से अधिक ३ करोड़ रुपये तक का ऋण १८ महीने के लिए ले
सकता है।

औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना के अनन्तर विभिन्न राज्यों में भी वित्त
निगमों की स्थापना हो रही है। मार्च, १९४९ में मद्रास में २ करोड़ की पूँजी के
साथ औद्योगिक विनियोग निगम प्रारम्भ किया गया जिसमें राज्य सरकार का योग-
दान १.०२ करोड़ रुपये था। इसके अतिरिक्त सरकार ने हिस्सा-पूँजी के मूल्य तथा
१० वर्ष के लिए ३ प्रतिशत के कर-देय न्यूनतम लाभांश की गारण्टी दी है। जनवरी,
१९५० में सौराष्ट्र ने इसी प्रकार का एक औद्योगिक वित्त निगम स्थापित किया। बम्बई

बिहार, उत्तर प्रदेश ने भी इसी प्रकार के निगम स्थापित किये तथा अन्य राज्यो मे भी ऐसा करने पर विचार हो रहा है। राज्य निगम उन मध्यम और छोटे पैमाने के उद्योगों को ऋण देंगे जो कि अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम के क्षेत्र में नही आते। ग़ैर-सरकारी उद्योगो के लिए वित्त के सम्बन्ध में नियुक्त की गई श्राफ़ समिति (१९५४) ने यह मत प्रकट किया है कि व्यावसायिक बकों का यह प्रयास होना चाहिए कि वे अप्रत्यक्ष रूप स ग़ैर-सरकारी औद्योगिक क्षेत्र को अधिक पूँजी देने का प्रयास करें। इसके लिए व (१) ऋणपत्रा एव हिस्सों में अपने विनियोग को बढायें, परन्तु ऐसा करन से पूव उन्हे यह देख लेना चाहिए कि वे उत्तम कोटि की औद्योगिक सस्थाओ के हिस्से एवं ऋणपत्र हैं या नही तथा जिनकी विक्रयशीलता और हस्तान्तरण पर भरोसा किया जा सके। (२) हिस्सा एव ऋणपत्रो के आधार पर स्वीकृत पक्षों को अधिक ऋण दें। (३) भारतीय तथा राज्यीय औद्योगिक वित्त निगमो मे हिस्से तथा ऋणपत्र खरीदें। इस सम्बन्ध मे समिति का मत है कि यदि भारत के प्रमुख बक बीमा कम्पनिया के सहयोग से स्टेट बक ऑफ इण्डिया के नेतृत्व में एक कन्सोर्टियम (व्यवसाय-सघ) या सिण्डीकेट (अभिपद्) बना लें जो वित्त के प्रयोग की योजनाओ के बारे मे सन्तुष्ट होने पर औद्योगिक कम्पनिया के नये निगमित हिस्सो तथा ऋणपत्रों की हामीदारी (अण्डरराइटिंग) करे, तो इससे दीघकालीन औद्योगिक वित्त में काफी सुविधा होगी। इस उद्देश्य के लिए इम्पीरियल बक अधिनियम में आवश्यक सशोधन करना होगा। रिजव बक को भारतीय औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्यीय-औद्योगिक वित्त निगम के ऋणपत्रा एव बन्ध-पत्रो के आधार पर उसी प्रकार ऋण देना चाहिए जिस प्रकार कि वह बको को सरकारी प्रतिभूतियो के आधार पर रिजव बक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा १७ (४) (क) के अन्तगत ऋण देता है।

§१२ बचत का ससज्जन—वतमान बकिंग पद्धति देश की बचत का भली प्रकार ससज्जन करने म सफल नहीं हो सकी। यह विशाल ग्रामीण क्षेत्रो तक नही पहुँच सकी। आजकल तो कृषक समय पडने पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी बचत अपने पास रखता है। यद्यपि वह बहुत सोच-समझकर उसे अच्छे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रखता है किन्तु बहुधा उन उद्देश्या के लिए उपयोग नही होता। उस बचत-बैंक मे जमा करने के लिए प्रोत्साहन देने के हेतु उसमें यह विश्वास उत्पन्न करना होगा कि सब बध कामो के लिए उस यथासमय तुरन्त रुपया वापस मिल जायगा। आजकल तो यह होता है कि अधिकतर किसान बक के सम्पक में तब आते हैं जब उन्हे रुपया कज लेना हो न कि जमा करने वाला के रूप म।

यह सुझाव रखा गया है कि बको को उन क्षेत्रा में शाखाएँ खोलनी चाहिएँ जो अभी तक अछूते हैं। १९५१ की जनगणना से स्पष्ट है कि भारत के कुल ३०१८ नगरों एव कस्बो मे से अभी तक १४६३ अर्थात् लगभग आधे ऐसे हैं जिनमें कोई बक या उसकी शाखा नहीं है। सच तो यह है कि इधर हाल में शाखा-कार्यालयों की सख्या घट रही है।[1] श्राफ़ समिति का मत है कि केन्द्रीय सरकार के परामश पर

१ देखिए § ८।

रिजर्व बैंक को चाहिए कि वह अनुज्ञा प्राप्त अनुसूचित बैंकों को आर्थिक सहायता देने की योजना प्रस्तुत करे। यह सहायता उन बैंकों के लिए होगी जो रिजर्व बैंक द्वारा स्वीकृत प्रसार-योजना के अनुसार शाखाएँ खोल रहे हों। यह सहायता शाखा खोलने के प्रारम्भिक व्यय को वहन करने के लिए इकट्ठी धनराशि के रूप में हो सकती है या एक न्यूनतम निर्धारित धनराशि से अधिक निक्षेप एकत्रित करने पर कमीशन के रूप में हो सकती है।[1] अच्छा तो यह है कि नियत काल तक (उदाहरणार्थ ५ वर्ष तक) रिजर्व बैंक को अविकसित क्षेत्र में एक से अधिक बैंक-कार्यालय खोलने की अनुमति न देनी चाहिए। देश के अधिकोषण विकास में बाधा डालने वाली एक बात यह है—विशेषकर अर्ध-नागरिक क्षेत्रों में—कि औद्योगिक न्यायालयों के निर्णयों के फलस्वरूप बैंकों का संचालन व्यय बढ़ता गया है। १९४९ और १९५२ के बीच अनुसूचित बैंकों की जमा धनराशि ६४७ ७ करोड़ रुपये से बढ़कर ६५० ८ करोड़ रुपये हो गई, लेकिन उनके कार्यालयों की संख्या २८५२ से घटकर २६६२ हो गई और उनका संस्थापन-व्यय साढ़े नौ करोड़ रुपये से बढ़कर १२ ८४ करोड़ रुपये हो गया। जमा-राशि और संस्थापन (एस्टेब्लिशमेण्ट) व्यय का परस्पर अनुपात १९४८ में १ ०९ प्रतिशत था और १९५२ में बढ़कर १ ८० प्रतिशत हो गया, अर्थात् ६५ प्रतिशत[2] बढ़ गया और प्रति कार्यालय संस्थापन-लागत ३० हजार रुपये से बढ़कर ४८ हजार रुपये हो गई अर्थात् ६० प्रतिशत[3] बढ़ी। यदि संस्थापन व्यय इसी तरह से बढ़ते रहे तो अधिकोषण-पद्धति को खतरा हो सकता है। श्राफ समिति ने केन्द्रीय सरकार से यह सिफ़ारिश की है कि वह अधिकोषण-क्षेत्र के वेतन एवं पारिश्रमिक के बुद्धानिकरण (रेशनलाइजेशन) तथा आय-व्यय के घटाने के उपाय निकालने के लिए एक विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति करे। समिति ने अमेरिका के ढंग की जमा बीमा पद्धति का अनुसरण करने की सिफ़ारिश की ताकि जनता में विश्वास पैदा हो सके और बैंकिंग पद्धति दृढ़ हो सके।

अब तक कृषि की पैदावार से प्राप्त आय का अधिकांश पुराने ऋण के भुगतान में साहूकार को चला जाता है। इससे बचने वाला धन चाँदी, सोने या गहनों के रूप में जमा कर लिया जाता है। ये छोटे-छोटे संग्रह करोड़ों विभिन्न व्यक्तियों के पास देश भर में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं और इनका उपयोग उत्पादक कार्यों में नहीं होता। धनसंचयन की आदत को दूर करने के कई उपायों का सुझाव दिया गया है। हिल्टन यंग आयोग ने स्वर्ण प्रमाण पत्र का प्रस्ताव रखा था। बिहार और उड़ीसा बैंकिंग समिति ने स्त्री धन-नकदी प्रमाणपत्र नाम के प्रमाण-पत्र जारी करने की सिफ़ारिश की थी जो स्त्रियों को सामान्य ब्याज-दर से थोड़ी अधिक ब्याज-दर पर दिये जायँगे। भारत सरकार ने २४ मई, १९५४ को एक विज्ञप्ति में स्वर्ण और आभूषणों को प्रचलित बाजार दर पर राष्ट्रीय योजना ऋण के लिए स्वीकार करने के लिए कहा है

१ गैर सरकारी क्षेत्र के व्यय से सम्बन्धित समिति की रिपोर्ट पैरा १११।
२ संयुक्त राज्य अमेरिका में १९५२ में व्यय का अनुपात केवल ० ८४ प्रतिशत था।
३ गैर सरकारी क्षेत्र के व्यय से सम्बन्धित समिति की रिपोर्ट, पैरा १०८।

और कुछ बैंकों को यह निर्देश दिया है कि वे स्वर्ण और आभूषणों को बंध-पत्रों में विनियोजित करने के लिए उनके बदले में नकद रुपये दें। इस प्रकार सोने और चांदी की संचित राशि राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत उत्पादक कार्यों में प्रयुक्त हो सकेगी।

ग्रामीण बचत का प्रयोग अधिकतर बड़े भूमिपति, साहूकार, व्यापारी, मिल-मालिक तथा छोटे पैमाने के ग्रामीण उद्योग करते हैं। यह भी सम्भव है कि पिछले कुछ वर्षों में कृषि की पैदावार के अधिक मूल्यों और अधिक मजूरी के कारण अपनी बढ़ी हुई आय से कुछ काश्तकार और श्रमिक भी थोड़ी-सी बचत कर लेते हों।

१८८२ और १८८३ में डाकघर बचत बैंक खोले गए और तब से उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है। १९३७-३८ में भूतपूर्व ब्रिटिश भारत के ५ लाख गाँवों में ऐसे १२,६३१ बचत-बैंक थे। इन बैंकों की जमा धनराशि १९१३-१४ में १० करोड़ ९९ लाख रुपये थी जो १९३७-३८ में बढ़कर ४३ करोड़ २७ लाख रुपये हो गई। १९५१-५२ में यह राशि बढ़कर ६७ करोड़ ८८ लाख रुपये हो गई। इन बैंकों को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए निम्न सुझाव रखे गए हैं—(१) वार्षिक जमा की जाने वाली धनराशि से सीमा हटा लेना, (२) अधिक ब्याज-दर और (३) चैक द्वारा रुपया निकलवाने की सुविधा। हर जमा करने वाले की वार्षिक जमा करने की सीमा १९४३ से ७५० रुपये वार्षिक से बढ़ाकर १५०० रुपये कर दी गई है। १ अप्रैल, १९५२ से प्रत्येक व्यक्ति के लिए रुपया जमा करने की कुल अधिकतम सीमा १० हजार रुपये से बढ़ाकर १५ हजार रुपये तथा साझे खाते के लिए यह सीमा २० हजार रुपये से बढ़ाकर ३० हजार रुपये कर दी गई। इसी तिथि से सामान्य बचत खाते पर १० हजार रुपये से कम राशि पर २ प्रतिशत प्रतिवर्ष तथा १० हजार रुपये से अधिक होने पर डेढ़ प्रतिशत[1] प्रतिवर्ष के हिसाब से ब्याज दिया जाता है। छोटे डाकखानों से चैक से रुपया निकालना अव्यवहार्य दीखता है क्योंकि इसमें हिसाब रखने के लिए अधिक कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ेगी। जमा-खाते के अतिरिक्त डाकघर नकद प्रमाणपत्र, दस-वर्षीय प्रतिरक्षा प्रमाण पत्र और बारह वर्षीय राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र भी बेचते हैं।

ग्रामीण अधिकोषण जाँच समिति के दृष्टिकोण में केवल डाकघर ही मित-व्ययी ढंग से बचत बैंक का काम कर सकते हैं क्योंकि यह उनके अनेक कामों में से एक है। अतः उसका सुझाव है कि ग्रामीण क्षेत्रों में बचत-बैंक का काम करने वाले डाकखानों की संख्या बढ़ा दी जाय। नये डाकखाने वहीं खोले जायें जहाँ ग्रामीण बचत की अधिक आशा हो। बचत-बैंक में काम करने वाले व्यक्तियों को इस बात की ओर भी कोशिश करनी चाहिए और जमा करने वालों से सहायतापूर्ण बर्ताव रखना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में बचत-बैंक तथा अन्य बचत योजनाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए अधिक प्रचार की आवश्यकता है।[2]

---

१ इससे पहले २०० रुपये से कम राशि पर डेढ़ प्रतिशत और इससे अधिक राशि पर २ प्रतिशत के हिसाब से ब्याज दिया जाता था।

२ ग्रामीण अधिकोषण जाँच समिति रिपोर्ट, पैरा ५०।

§१ भारत का रिजर्व बैंक—देश में उधार, चलाथ एवं अधिकोषण पद्धति के समुचित विनियमन के लिए एक केन्द्रीय अधिकोषण संस्था की आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं। किन्तु भारत में १९३५ तक इसके लिए प्रतीक्षा करनी पड़ी, जब रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। इसकी स्थापना के आर्थिक आधारों के अतिरिक्त बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना भी इसका कारण थी जो कि स्वतन्त्र राष्ट्रीय प्रतीकों की खोज में सजग हो उठी थी, । केन्द्रीय बैंक भी एक ऐसा प्रतीक था।[1] इसकी स्थापना के तात्कालिक कारण थे केन्द्रीय सरकार में होने वाले वे परिवर्तन, जिनमें वित्त विभाग को एक ऐसे मन्त्री को सौंपना शामिल था, जो संघीय धारा सभा के प्रति उत्तरदायी हो।[2] प्रारम्भ से अभी हाल तक यह हिस्सेदारों का बैंक था, जिसकी ५ करोड़ रुपये की प्रदत्त पूँजी सौ-सौ रुपये के हिस्सों में विभाजित थी। इसमें केन्द्रीय सरकार के हिस्सों का मूल्य २ लाख २० हजार रुपये था। जब १९४८ के रिजर्व बैंक (सार्वजनिक स्वामित्व हस्तान्तरण) अधिनियम द्वारा इस बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ तो केन्द्रीय सरकार ने १ जनवरी १९४९ से इसके हर १०० रुपये के हिस्से को ११८ रुपया १० आना ० पाई के दर से खरीद लिया। यही १९४७-४८ के बीच इनका औसत मूल्य था। इनका मूल्य सरकार ने कुछ तो नकद और कुछ ३ प्रतिशत के वचन-पत्रों (प्रामिसरी नोट) के रूप में चुकाया।

अधिकोष का १४ संचालकों का एक संचालक मण्डल है, जिसमें सरकार द्वारा मनोनीत १ गवर्नर, २ उप-गवर्नर, १० संचालक (डायरक्टर्स) तथा १ सरकारी अधिकारी हैं। इनमें से ४ कलकत्ता, बम्बई दिल्ली और मद्रास में बैंक कार्यालयों के स्थानीय मण्डलों का प्रतिनिधित्व करते हैं और ६ अन्य हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास का प्रत्येक कार्यालय ५ संचालकों के स्थानीय मण्डल के अन्तर्गत है। इन संचालकों को भी सरकार मनोनीत करती है। रिजर्व बैंक की संरचना बैंक आफ इंगलैंड जैसी है। यह दो अलग अलग भागों में विभाजित है—(१) निर्गम विभाग, (२) अधिकोषण विभाग। इनके अतिरिक्त कृषि उधार विभाग है जिसके पास कृषि उधार के हर पहलू के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ कर्मचारी हैं। रिजर्व बैंक (संशोधन) अधिनियम १९५६ के पास होने के पूर्व (जिसकी चर्चा नीचे की गई है) निगम-विभाग के परिसम्पत, जो मूल्य में देयता के बराबर थे, सोने के सिक्के, सोने के पिण्ड, स्टर्लिंग प्रतिभूतियों, रुपये, रुपये की प्रतिभूतियों के रूप में थे। कुल परिसम्पतों का कम से कम ४० प्रतिशत भाग स्वर्ण पिण्ड और सिक्के में रहता था जो कि किसी समय ४० करोड़ रुपये के मूल्य (दर ८.४७५१२ ग्रेन स्वर्ण = १ रुपया, अर्थात् २१ रुपया ३ आना प्रति तोला) से कम का नहीं होता था। शेष ६० प्रतिशत परिसम्पत रुपये के सिक्के रुपये की प्रतिभूतियों और भारत में भुगतान-योग्य हुण्डियों के रूप में थे। प्रारम्भ में रुपये की प्रतिभूतियों की मात्रा की अधिकतम सीमा ५० करोड़ अर्थात् कुल परिसम्पतों का १/४ थी। किन्तु

---

१ प्रो० लोकेट की पुस्तक 'दि मिरर ऑफ इन्वेस्टमेन्ट', पृ० १९।

२ एम० के० मुंशन, 'मॉडर्न बैंकिंग', पृष्ठ २४७।

१९४१ मे एक अध्यादेश द्वारा यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया ।

निगम विभाग के परिसम्पत भी स्टर्लिंग प्रतिभूतियो, प्रथम कोटि की हुण्डियो तथा ५ वर्ष में परिपक्व होने वाली ब्रिटेन की प्रतिभूतिया के रूप मे रखे जा सकते हैं। बैंक के राष्ट्रीयकरण के बाद निगम विभाग को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के किसी भी सदस्य के चलार्थ मे भुगतान-योग्य प्रतिभूतियाँ रख सकता है। इसके अतिरिक्त यह (१) दो या इससे अधिक हस्ताक्षर वाली तथा सम्बद्ध देश के किसी भी भाग में भुनाए जाने योग्य हुण्डियाँ भी रख सकता है जिनका परिपक्व काल ९० दिन से अधिक न हो, और (२) पाँच वर्ष म परिपक्व होने वाली किसी भी देश की सरकारी प्रतिभूतियाँ भी रख सकता है। इन परिसम्पतो के आधार पर निगम विभाग नोट और सिक्के जारी कर सकता है। नोट जारी करने का अधिकार केवल रिजर्व बैंक को है। *अगले पृष्ठ की तालिका से रिजर्व बैंक के निगम एवं अधिकोषण विभाग* के परिसम्पता और देयता की स्थिति स्पष्ट है।

१९५६ के रिजर्व बैंक (संशोधन) अधिनियम में रक्षित कोष का परिवर्तनशील अनुपात स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इससे अनुसूचित अधिकोषो के रिजर्व बैंक के रखे रक्षित धन में माँग-देयता का अनुपात ५ प्रतिशत से २० प्रतिशत तथा सावधि देयता का अनुपात २ से ८ प्रतिशत के बीच निश्चित करने का अधिकार प्राप्त है, जबकि पहले यह अनुपात क्रमश ५ और २ प्रतिशत निर्धारित था।

इस अधिनियम द्वारा चलार्थ रक्षित कोष सम्बन्धी धाराओं (धारा ३३ और ३७) को संशोधित किया गया है। इसमें कम-से-कम ४०० करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ एवं ११५ करोड़ रुपये का सोना निगम विभाग म रखने की व्यवस्था है। यह भी व्यवस्था की गई है कि अस्थायी काल के लिए विदेशी प्रतिभूतिया सम्बन्धी उपबन्ध को स्थगित किया जा सकता है लेकिन शर्त यह है कि निगम विभाग में विदेशी प्रतिभूतियों की राशि किसी भी दशा में ३०० करोड़ रुपये से कम न हो। अधिनियम म यह भी व्यवस्था है कि रिजर्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा स्वीकृत दर पर (अर्थात् ६२ रुपया ८ आना ० पाई प्रति तोला या ३५ डालर प्रति औंस) अपनी स्वर्ण राशि का पुनर्मूल्यन कर सकता है।

अधिकोषण विभाग काफी अधिक अधिकोषण-व्यापार करता है। यह सरकार तथा स्थानीय प्राधिकारी बैंको तथा व्यक्तियो से बिना ब्याज के जमा स्वीकार कर सकता है। यह उन हुण्डिया और वचन पत्रों (प्रामिसरी नोटो) का क्रय विक्रय तथा फिर भुनाने या काम कर सकता है (१) जो भारत म वास्तविक वाणिज्य के भुगतान के सम्बन्ध में जारी की गई हैं और भारत म ही देय हैं, (२) जिन पर दो या दो से अधिक हस्ताक्षर हैं जिनमें से एक किसी अनुसूचित बैंक का है, और (३) जो अनुग्रह (ग्रेस) के दिनो को छोड़कर क्रय या पुन भुनाने की तिथि से ९० दिन में परिपक्व होंगे। रिजर्व बैंक स्टर्लिंग या अन्य विदेशी चलार्थ का भी क्रय विक्रय कर सकता है। यह न्यास प्रतिभूतियों, स्वर्ण या रजत प्रतिभूतियों आदि तथा अनुसूचित एवं सहकारी बैंकों के वचन-पत्रों (जो कि सावधि यान पत्रों पर आधारित हो) के आधार

रिज़र्व बैंक की देयता और परिसम्पत
(आँकड़े करोड़ रुपयों में हैं)

देयता	१९४९	१९५१	१९५३	१९५४	परिसम्पत	१९४९	१९५१	१९५३	१९५४
पूँजी एवं रक्षित-कोष	१००	१००	१००	१००	स्वर्ण पिण्ड एवं सिक्के[1]	४० १	४० ०	४० ०	४० ०
चालू नोट	१,१३७ ७	१,२०५ ७	१,१२१ ८	१ १७८ ८	विदेशी परिसम्पत	८५६ ३	८३८ ५	७१२ ४	७३८ २
जमा					रुपये के सिक्के[2]	४८ ९	६१ १	९० २	१०० ३
केन्द्रीय सरकार	१५० ८	१७३ ४	१२१ ०	९७ ७	नोट	२४ २	२४ ७	२३ ६	२३ २
अन्य सरकारें	२०.३	१६ २	१८ ७	२१ ७	रुपया प्रतिभूतियाँ	५०० ८	५८३ १	५२५ ८	५०२ ८
बैंक	९७ ४	६० ५	४७ ५	५२ १	सरकारों को दिये गए ऋण	३ ७	५ २	२ ४	१ २
					अन्य ऋण	७ ९	९ ५	१९ ४	२७ १
अन्य	९५ ५	६८ ६	५६ ७	४२ २	क्रीत एवं भुनी हुण्डियाँ	४ ९	६ ७	९ ३	८ २
अन्य देयता	३९ ७	४२ ७	४८ ९	४६ १	अन्य परिसम्पत	४ १	८ ४	७ ३	८ २
	१,४९३ ५	१ ५७७ १	१,४२७ ६	१ ४४८ ८		१,४९३ ५	१,५७७ १	१,४२७ ६	१,४४८ ८

१ 'ट्रेंड एण्ड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग इन इण्डिया', १९५३-५४ प्रति तोला २१ रु० ३ आ० १० पाई के हिसाब से।

२ इसमें १ रुपये के नोट और छोटे सिक्के भी शामिल हैं।

पर एक निश्चित काल के लिए, जो किसी भी दशा मे ९० दिन से अधिक न होगा, भारतीय राज्यो स्थानीय प्राधिकारों, अनुसूचित बको तथा राज्यीय (प्रान्तीय) सहकारी बको को ऋण दे सकता है। इस ऋण का भुगतान माँग पर भी हो सकता है। बक केन्द्रीय और राज्य सरकारो को ९० दिन के लिए अर्थोपाय (वेज एण्ड मीज) अग्रिम भी दे सकता है, अपने कार्यालयो तथा एजेंसियो को माँग ड्राफ्ट जारी कर सकता है और सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय कर सकता है या भारत स्थित किसी अनुसूचित बक या किसी अन्य देश के केन्द्रीय बक से अधिक-से अधिक ३० दिन के लिए ऋण ले सकता है।

§१४ केन्द्रीय बक के रूप में रिजव बक के काय—रिजव बक सरकार के बकर का काम भी करता है। यह जमा स्वीकार करता और भुगतान करता है, विनिमय-काय सम्पन्न करता और सरकार के धन विप्रेषण एव अन्य बक सम्बन्धी काय करता है जिनमे सावजनिक ऋण का प्रबन्ध भी शामिल है। यह मुद्रा की स्थिरता को दृष्टि में रखकर बकों के रक्षित-कोष कायम रखने का निरीक्षण भी करता है। यह देश के चलाथ और उधार व्यवस्था की भी निगरानी करता है। रुपये के बाह्य मूल्य को कायम रखना भी इसके कार्यों मे से एक है।

उधार पर नियन्त्रण रखने के लिए विवृत विपणि पणन (ओपन मार्किट आपरेशन्स) और बक-दर जसे कार्यों के अतिरिक्त रिजव बक अपने पास रखी जाने वाली न्यूनतम रक्षित धनराशि की सीमा निर्धारण द्वारा भी व्यावसायिक बैंकों की नीति को प्रभावित कर सकता है और साथ ही नतिक प्रभाव एव प्रचार द्वारा भी उन पर असर डाल सकता है।

इस समय प्रत्येक अनुसूचित बक को रिजव बैंक म व्यापार बन्द होने पर किसी भी दिन भारत मे अपनी माँग देयता का ५ प्रतिशत और सावधि देयता का २ प्रतिशत रखना पडता है। इस बात को न पूरा करने वाले अनुसूचित बक को अनुसूची से अलग किया जा सकता है या अन्य प्रकार से दण्ड दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अनुसूचित बक को रिजव बक को विवरण भेजना पडता है जिसमें बताया गया हो कि उसकी माँग एव सावधि-देयता कितनी है, उसके पास कितनी नकदी है और उसने भारत में कितना ऋण दिया और कितनी हुण्डियाँ भुनाइं। रिजव बक को स्वण पिण्ड, स्वण के सिक्के एव सरकारी प्रतिभूतिया के क्रय विक्रय द्वारा विवृत विपणि पणन का भी अधिकार है। भारत मे इस कायवाही के अन्तगत विदेशी विनिमय एवं स्टलिंग का क्रय विक्रय भी आ जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूव बक द्वारा प्रति भूतियो के क्रय विक्रय के विशेष लक्षण दिखाई नहीं पडते थे और ऐसे सौदों का एक-मात्र उद्देश्य स्वण प्रतिभूतियों के मूल्यो को स्थिर रखना या नये ऋण की प्राप्ति के लिए बाजार तयार करना था। १९५० ५१ में बक द्वारा बाजार में सरकारी प्रति भूतियो का क्रय मौसमी कठिनाइयों को दूर करने के लिए किया गया था। विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय रिजव बक के विनिमय नियन्त्रण विभाग के अधीन है और आवश्यकतानुसार किया जाता है।

यह कार्यवाही उन प्रतिभूतियो के सम्बन्ध म की जाती है, जिन्हे रिजर्व बैंक चाहता है कि बैंक अपने पास रखें। रिजर्व बैंक का उद्देश्य यह होता है कि व्यावसायिक या वाणिज्यिक बकों में प्रतिभूतियों की परिपक्वता का सन्तुलित वितरण हो ताकि कहीं बक अल्पकालीन प्रतिभूतिया की अपेक्षा दीघकालीन प्रतिभूतियो में अपने अधिकाश कोप को न लगा दें। इस प्रकार १६५१ में अनुसूचित बैंकों की दशा निश्चित रूप से सुधरने लगी और दीर्घकालीन प्रतिभूतियो का अनुपात जो १६५० में १५ प्रतिशत था, १६५१ में घटकर ११ प्रतिशत हो गया। यह प्रक्रिया आगामी वर्षों में भी रही जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जायगा।[1]

	दिसम्बर १६४५	दिसम्बर १६४८	दिसम्बर १६५०	दिसम्बर १६५१	दिसम्बर १६५२	दिसम्बर १६५३	दिसम्बर १६५४
राजकोष हुण्डिया	४ ६६	०.६८	११	०७	५ ३	२८	११
५ वर्ष में परिपक्व होने वाली प्रतिभूतियाँ	२५ ०१	२८ ७६	३१ ५	२५ ६	३३ ४	३० ३	२४ ०
५ १० वष के भीतर परिपक्व होने वाली	२५ २२	२० ६७	२२ ७	४७ ३	४२ ६	४७ ६	५८.६
१० १५ वर्ष के भीतर परिपक्व होने वाली	१६ ०६	३१ ६२	२६ ७	१६ ३	८ ५	१५ १	११ ५
१५ वष के पश्चात् परिपक्व होने वाली प्रतिभूतियाँ	२५ ६४	१७ ६६	१५ ०	१० ८	६ ८	३ ८	३ ६

रिजर्व बैंक के विवृत विपणि पणन कार्य प्राय बम्बई और कलकत्ता तथा बहुत छोटे पमाने पर मद्रास में सम्पन्न होते हैं।

रिजर्व बक ने अपनी प्रथम सरकारी बैंक-दर ४ जुलाई, १६३५ को साढे तीन प्रतिशत घोषित की, जिसे मुद्रा की स्थिति अच्छी होने के कारण २८ नवम्बर १६३५ को घटाकर ३ प्रतिशत कर दिया गया। यह दर मध्य नवम्बर, १६५१ तक कायम रही, जब कि मुद्रास्फीति प्रवृत्तिया को रोकने के लिए इसे फिर साढे तीन प्रतिशत कर दिया गया।

कोरियाई युद्ध के प्रारम्भ, उसके बाद अमेरिका मे सामग्री इकट्ठी किये जाने और सट्टेबाजी बढ़ जाने के परिणामस्वरूप १६५१ में उधार प्रसार होने लगा। बकों द्वारा उधार के प्रसार में रिजर्व बक की बाजारी प्रक्रियाओं से भी सुविधा हुई, जिससे कि बकों द्वारा भुनाई गई प्रतिभूतियाँ भी खप गईं। १६५० की अपेक्षा १६५१ में रिजर्व बैंक द्वारा दिया गया उधार २१ करोड़ रुपये से अधिक था। १६५१ म बैंक उधार के प्रसार की नीति केवल भारत तक सीमित न थी। यह अन्यत्र होने वाली घटनाओं जैसी ही थी और उससे उत्पन्न मुद्रास्फीति विश्वव्यापी थी। मुद्रास्फीति के

१ १६४६ और १६५१ की 'ट्रेण्ड एण्ड प्रोग्रेस ऑफ बैंकिंग' सम्बन्धी रिपोर्ट। चूँकि दशमलव के बिन्दुओं से आगे प्रतिशत नहीं दिया गया है अतएव योग सर्वत्र १०० नहीं होता।

निरोध तथा अनस्फीति के प्रारम्भ के लिए भारत को भी अनेक अन्य देशों की भाँति बैंक दर को ऊँचा करने के उपाय का आश्रय लेना पडा।

भारत की समस्या यह थी कि उचित उपचारों द्वारा उधार के अत्यधिक प्रसार को रोका जाय, लेकिन साथ ही यह भी थी कि देश के व्यापार एव उद्योग की आवश्यकताओं की उपेक्षा न हो और देश में उत्पादन में कमी भी न हो। साथ ही मुद्रा-बाजार में उधार म आवश्यक मात्रा में नम्यता भी कायम रखनी आवश्यक थी। रिजर्व बैंक द्वारा बैंक-दर ऊँची करने का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि उधार मँहगा हो गया। रिजर्व बैंक ने यह भी तय किया कि मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधारणतया बैंकों से जो प्रतिभूतियाँ खरीदी जाती थी, वे भी बन्द कर दी जायँ। लेकिन मुद्रा विस्फीति नीति के अनुसरण के साथ ही उधार की मौसमी आवश्यकताओं की पूर्ति भी आवश्यक है। इसकी पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक ने हुण्डी-बाजार के विकास की योजना बनाई है।

भारतीय अधिकोषण पद्धति में इस समय रिजर्व बैंक की स्थिति अन्तिम ऋणदाता की है। इसके पूर्व बैंक ऋण के लिए इम्पीरियल बैंक पर निर्भर थे। किन्तु बैंक दर की वृद्धि के साथ इम्पीरियल बैंक ने ५ लाख रुपये और इससे अधिक राशि के ऋण पर अपनी दर २$\frac{3}{4}$ प्रतिशत से बढाकर ३ प्रतिशत और फिर दो बार $\frac{1}{4}$ प्रतिशत की वृद्धि करके साढे तीन प्रतिशत कर दी जिसका परिणाम यह हुआ कि बैंक रिजर्व बैंक से ऋण की याचना करने लगे। १९३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम की धारा १७ (४) (क) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक द्वारा, अधिकतर, बैंक-दर पर दिये गए ऋणों की राशि जो १९५० में १३ करोड रुपये थी, १९५१ में बढ़कर ७७ करोड रुपये हो गई। ये ऋण प्रतिभूतियों के आधार पर दिये गए थे। इस सम्बन्ध मे राज्यो के सहकारी बैंकों को बैंक-दर में रिआयत मिली। बैंक दर बढने पर भी उनको डेढ़ प्रतिशत पर ही ऋण मिलता रहा। सहकारी बैंकों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता १९४८ मे एक करोड रुपये थी, जो बढ़कर १९५० म ८ करोड रुपये और १९५१ में ९ करोड रुपये हो गई। अर्थ-व्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में उत्पन्न कठिनाइयों का सामना करने के लिए रिजर्व बैंक ने कुछ कदम उठाए। अप्रैल, १९५१ में आयात की गई कपास, विशेषतया सयुक्त राज्य अमेरिका को दिये गए कपास के आर्डरों से उत्पन्न परिस्थिति का सामना करने के लिए वित्तीय सहायता की योजना कार्यान्वित की गई। रिजर्व बैंक ने सरकार द्वारा की गई इस घोषणा का अनुसरण किया कि यदि आवश्यकता पड़ी तो वह निश्चित मूल्य पर बैंकों के पास रखी गई कपास खरीदेगी। इस घोषणा में बैंकों को भारतीय एव विदेशी कपास के क्रय के लिए समुचित आर्थिक सुविधा देने का भी वादा किया गया था। इसी प्रकार उसने उत्तर प्रदेश और बिहार के कुछ बड़े बैंकों को चीनी के आधार पर ऋण देने की सीमा को घटाने का परामर्श दिया। इसके अतिरिक्त चाय के बगीचों की उचित आर्थिक सहायता कायम रखने के लिए रिजर्व बैंक एव सरकार ने यह वादा किया कि वह १९५३ ५४ के चाय मौसम मे अनुसूचित एव शीर्ष सहकारी बैंकों द्वारा दिये गए ऋण

के कुछ प्रतिशत (१५ से २०) के चुकाने की गारण्टी देने को तयार है। १९५३ ५४ के चाय मौसम में इस योजना के अन्तगत कुल २ ६१ लाख की धनराशि का उपयोग किया गया। चाय की कीमतों म सुधार होने के कारण इस योजना के अन्तगत दी जाने वाली सहायता की अधिक मात्रा अनावश्यक हो गई। जहां तक कपास के लिए वित्त की व्यवस्था की योजना का प्रश्न है, इसका उद्देश्य पूरा हो जान पर सरकार ने अपने २९ दिसम्बर, १९५३ के सकल्प द्वारा अपनी गारण्टी वापस ले ली।

अब तक हम इस पर विचार कर रहे थे कि रिजर्व बक ने उधार नियन्त्रण की विधियों का किस प्रकार उपयोग किया और अन्तिम ऋणदाता के रूप मे देश की अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को किस प्रकार आर्थिक सहायता दी। बक ने भारत की अधिकोषण-व्यवस्था को विनियमित करने के भी उपाय किये हैं, जिससे कि यह १९४९ के बकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार सुदृढ आधार पर विकसित हो सके। १९४० मे सीमित स्तर पर प्रारम्भ की गई निरीक्षण की प्रथा को माच, १९५० से व्यापक स्तर पर लागू किया गया है। निरीक्षण का उद्देश्य पहले बकों की प्रदत्त-पूंजी और रक्षित-कोषो क वास्तविक या विनिमय मूल्य की मात्रा का पता लगाना था। यह क्रमश उनकी वित्तीय स्थिति, प्रबन्ध एव प्रक्रिया-पद्धति के गुणो का निरीक्षण बन गया। उन निरीक्षणों से कितनी ही अधिकोषण-कम्पनियों के कार्यों में अनेक दुगुण दिखाई पडे हैं, जैसे अधिक मूल्यो पर गर-बैंकिंग कम्पनियो के हिस्से खरीदकर उन पर नियन्त्रण प्राप्त करन की प्रवृत्ति कोषो और सचालकालयो की गुटबन्दी (इण्टर लॉकिंग), प्रबन्ध स सम्बद्ध व्यक्तियो को बिना जमानत ऋण देना, शाखाओं का विवेक हीन विस्तार और सामान्य रूप से जमा करने वाले के अहित मे धन का उपयोग। जैसा हम देख चुके हैं, १९४९ के बकिंग कम्पनी अधिनियम में इन दोषों एव दुगुणों को दूर करने का प्रयास किया गया है।

इस समय अधिकोषण कम्पनिया को विलयन या दूसरी कम्पनियो के साथ सम्मेलन के पूव, या अपने ऋणदाताओ से किसी प्रकार का प्रबन्ध करने के पूव रिजव बैंक की स्वीकृति लेनी पड़ती है। जब कभी रिजव बंक यह देखता है कि ऐसा करने से सस्था अधिक ठोस ढग से काम करेगी, तो वह स्वय विभिन्न अधिकोषण-कम्पनियो के विलयन को प्रोत्साहित करता है। इसकी प्रशासकीय व्यवस्था काफी विकसित है, जिससे यह विभिन्न बैंकों की गतिविधि से अवगत होता रहता है और उनके सुसगठन का प्रयास करता है।

§१५ हुण्डी-बाजार का विकास—विनिमय-पत्रक या हुण्डियाँ बकों के अल्पकालीन विनियोग का स्रोत ह। व अल्पकालीन सूचना पर ही नकद म बदली जा सकती हैं। वे उतनी ही प्रभावपूण और उत्तम हैं जितनी कि नकदी। रुपये से वे इस बात मे अच्छी हैं कि उन पर कुछ ब्याज भी मिलता है। यद आवश्यकता पडने पर इन हुण्डियो को केन्द्रीय बैंक से फिर भुना सकते हैं। अन्तिम ऋणदाता के रूप में रिजर्व बैंक इन हुण्डियो को भुनाने की दर को नियन्त्रित करके देश म उधार की मात्रा को नियन्त्रित कर सकता है। इस प्रकार हुण्डी-बाजार विभिन्न उधार

माध्यमो को रिजर्व बैंक से सम्बद्ध करके उधार बाजार के अपरिहार्य सहायक का काम करता है।

भारत मे हुण्डी बाजार के विकास में बाधा होने का प्रथम कारण है हुण्डियो पर ऊँची स्टाम्प ड्यूटी और दूसरा कारण स्थानीय व्यवहार एवं रीतियो के कारण उसकी सीमित परिवर्तनीयता है। तीसरा कारण यह है कि हुण्डी को देखते ही यह नही जाना जा सकता है कि यह वास्तविक व्यापार विपत्र है या वस्तुओं के विक्रय के आधार पर बनाई गई हुण्डी है या वित्तीय अनुग्रह विपत्र है। जब तक कि हुण्डी वाले व्यक्ति का नाम उनकी स्वीकृत-सूची में नही होता, बैंक हुण्डियो के आधार पर ऋण देने की आनाकानी करते हैं। रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इम्पीरियल बैंक कुछ अंशो तक केन्द्रीय बैंक का काय करता था, लेकिन अन्य बैंक इम्पीरियल बैंक के यहाँ अपनी हुण्डियाँ भुनाने में अनिच्छा प्रकट करते थे, क्योंकि इस प्रकार उनकी विपत्र स्थिति एक प्रतिद्वन्द्वी बैंक को मालूम हो जाती थी। आखिर इम्पीरियल बैंक उनका प्रतिद्वन्द्वी ही था। इसके बजाय वे इम्पीरियल बैंक से सरकारी प्रतिभूतियो के आधार पर ऋण लेना अधिक पसन्द करते थे। इसके अतिरिक्त इम्पीरियल बैंक स्वेच्छाचारिता से हुण्डियाँ भुनाने का काम करता था। इसलिए संयुक्त स्कन्ध अधिकोष अपने ग्राहको द्वारा लाई गई हुण्डियों एवं विनिमय विपत्रो को रोकड परिसम्पत नही मानते थे।

जहाँ तक भारत के विदेशी व्यापार का प्रश्न है आयात एवं निर्यात सम्बन्धी हुण्डियाँ प्राय पौण्ड में होती हैं और इसलिए वे भारत के हुण्डी-बाजार में बिक नही सकतीं। निर्यात हुण्डियो के सम्बन्ध म एक अन्य कठिनाई यह है कि चूँकि वे भारत की सीमाओं के बाहर देय हैं उन्हें भारत में नही भुनाया जा सकता। आयात विपत्र अक्सर छोटी रकमों के होते हैं अतएव उनको फिर से भुनाना सुविधाजनक प्रतीत नही होता।

इधर हाल में भारतीय हुण्डी बाजार को विकसित करने के लिए कुछ उपाय किये गए हैं। रिजर्व बैंक आफ़ इण्डिया अधिनियम की धारा १७ (४) (ग) द्वारा रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उन विपत्रो या सावधि वचन-पत्रो की प्रतिभूति पर अनुसूचित बैंकों को ऋण दे (१) जो भारतीयो के नाम हों और भारत मे देय हों, (२) जो भारत के वास्तविक व्यावसायिक सौदो से उत्पन्न हों, (३) जिन पर दो या अधिक हस्ताक्षर हों, जिनमें कम-से कम एक किसी अनुसूचित बैंक का हो, और (४) ९० दिन के भीतर परिपक्व होने वाले हो। इस उपखण्ड के अन्तर्गत रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को माँगदेय ऋण के रूप में अग्रिम दे सकता है बशर्ते कि वे सावधि वचन-पत्र भर दें जिसके साथ उनके ग्राहकों के सावधि वचन पत्र भी हों। इसके लिए आवश्यक है कि अनुसूचित बैंक अपने माँग वचन पत्रों या एक भाग जो उन्होंने ऋण, अधिविकर्ष तथा नकद के रूप में दिये गए ऋण के बदले म अपने ग्राहकों से लिखाए हों, ९० दिन में परिपक्व होने वाले सावधि वचन-पत्रों में परिवर्तित कर लें। अनुसूचित बैंकों को ऋण देने में रिजर्व बैंक न केवल दी गई प्रतिभूति के

प्रकार को दृष्टि में रखता है, बल्कि उस पद्धति पर भी विचार करता है जिस पर उस बैंक का व्यापार चल रहा है। रिजर्व बैंक बिना कारण बताये ही किसी अनुसूचित बैंक की हुण्डियों को अस्वीकार कर सकता है।

भारत में हुण्डी बाजार के तेजी से विकास के लिए रिजर्व बैंक दर से आधा प्रतिशत नीची दर पर ऋण देगा, यद्यपि यह इच्छानुसार बैंक-दर को बढ़ा सकता है। बैंकों को हुण्डी-बाजार के विकास की प्रेरणा देने के लिए रिजर्व बैंक दर्शनी हुण्डियों को सावधि-हुण्डियों में परिवर्तित करने की स्टाम्प ड्यूटी का आधा व्यय स्वयं वहन करेगा।

चूँकि धारा १७ (४) (ग) के अन्तर्गत दिये गए ऋण का प्रमुख उद्देश्य मौसमी कठिनाइयों का सामना करना है अतः किसी समय अल्पकाल के लिए, किसी बैंक द्वारा रिजर्व बैंक से लिये जाने वाले ऋण की सीमा २५ लाख रुपये निर्धारित की गई है। अनुसूचित बैंक द्वारा इस धारा के अन्तर्गत ऋण के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक को प्रस्तुत हरएक हुण्डी की रकम एक लाख रुपये से कम न होनी चाहिए।

प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस खण्ड के अन्तर्गत दिये जाने वाले ऋण की स्वीकृति में कुछ देर सम्भव है, क्योंकि रिजर्व बैंक समुचित जाँच करेगा और हर प्रकार की सतर्कता रखेगा ताकि उसकी अपनी स्थिति सुरक्षित रहे। यदि किसी अनुसूचित बैंक को तुरन्त ऋण की आवश्यकता है, तो वह जाँच पूरी होने तक बैंक दर पर सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण ले सकता है। यह योजना जो १६ फरवरी, १९५२ को लागू की गई, अनुभव के आधार पर संशोधित की जा सकती है।

§१६ समाशोधन संस्थाएँ—समाशोधन संस्था (क्लियरिंग हाउस) एक ऐसी संस्था है जो उन पारस्परिक दावों को तय करती है जो एक बैंक का दूसरे बैंक पर होता है। यह निबटारा इस प्रकार करती है जिसमें कम-से-कम नकद भुगतान करना पड़े। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि हरेक बैंक का खाता समाशोधन संस्था के पास हो जो इस प्रकार से बैंकों के बैंक का कार्य करती है। यह भी आवश्यक है कि लेन देन में चैक का सामान्य रूप से व्यवहार हो।

भारत की प्रमुख समाशोधन संस्थाएँ कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली और कानपुर में हैं। जहाँ ऐसी कोई संस्था नहीं है, वहाँ पर समाशोधन के लिए एक दूसरे बैंक को इम्पीरियल (स्टेट) बैंक का चैक देकर भुगतान करता है। रिजर्व बैंक, इम्पीरियल बैंक, विनिमय बैंक, ब्रिटिश बैंक और एजेंसी फर्म तथा प्रमुख भारतीय संयुक्त स्कन्ध बैंक प्रायः सभी समाशोधन संस्थाओं के सदस्य हैं। रिजर्व बैंक बैंकों के बैंक का कार्य करता है।

§१७ विनिमय बैंक—भारत में दिसम्बर, १९५४ में १४ विनिमय बैंक थे जिनकी ६५ शाखाएँ थीं। ये प्रमुखतया बन्दरगाहों तथा दिल्ली में हैं। ये सभी विदेशी बैंक हैं। इनमें से दो—टामस कुक एण्ड सन तथा अमरीकन एक्सप्रेस कम्पनी—प्रमुख रूप से पर्यटकों के आने-जाने से सम्बन्ध रखते हैं। तीन का अधिकांश व्यापार भारत में है।

शेष बडी कम्पनियो की एजेंसियाँ मात्र हैं जिनका प्रमुख हित भारत के बाहर है। विनिमय बकों में पाँच प्रमुख बैंक हैं—लायड्स बैंक, चार्टड बैंक ऑफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया एण्ड चाइना बैंक, दि नेशनल बैंक ऑफ इण्डिया, दि मर्केण्टाइल बैंक ऑफ इण्डिया तथा दि नेशनल सिटी बक आफ न्यूयार्क।

विनिमय बैंक देश के बन्दरगाहो से वस्तुओ के आयात निर्यात के लिए वित्त का प्रबन्ध करते हैं तथा बन्दरगाहो से देश के अन्य भागो में वस्तुओ के आवागमन में सहायता करते हैं। वस्तुओ के विदेश भेजने के पूर्व ही भारतीय निर्यातक अपने पक्ष में अपनी इच्छा के किसी भी विनिमय अधिकोष में उधार-खाता चाहता है जो कि क्रेता, लन्दन स्थित बैंक के माध्यम से खोलता है। ऐसा किये जाने पर वस्तुएँ जहाज से रवाना की जाती हैं। इसके पश्चात् भारतीय निर्यातक हुण्डी के साथ अन्य आवश्यक कागज—जसे वहन पत्र (बिल आफ लेडिंग), बीमा प्रमाण-पत्र आदि—उस विनिमय बैंक को दे देता है, जिसमे उसने खाता खोला है। यह हुण्डी तीन मास से अधिक काल के लिए नही होती। यह प्राय स्टर्लिंग मे होती है किन्तु जापान और चीन को प्रेषित वस्तुओ के लिए क्रमश येन और रुपये में होती है। जब विदेशी आयातक द्वारा हुण्डी स्वीकार कर ली जाती है तो उसे वस्तु ग्रहण के अधिकार देने वाले कागज, जसे वहन पत्र, लन्दन या अन्य विदेशी केन्द्र में विनिमय बैंक द्वारा दिये जाते हैं। विनिमय बैंक द्वारा पृष्ठांकित और स्वीकृत हुण्डिया लन्दन की हुण्डी भुनाने वाली सस्थाओ मे भुनाई जा सकती हैं। इसे डी/ए बिल कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि कागज हुण्डी के स्वीकार किये जाने पर दिये जाते हैं।

भारत में किया गया आयात-सम्बन्धी (डी/पी) पत्र विदेशी निर्यातक द्वारा भारतीय आयातक को प्रस्तुत किया जाता है, जिसका अभिप्राय होता है कि आयातक को भुगतान पर ही न कि स्वीकृति पर, वस्तुओ को लेने के अधिकार-पत्र मिलेंगे। यह हुण्डी प्राय स्टर्लिंग में होती है और ६० दिन की दर्शनी हुण्डी होती है। औपचारिक रूप से जब डी/पी हुण्डियाँ प्रस्तुत की जाती हैं तो भारतीय आयातक बिना भुगतान किये वस्तुओ पर अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए आयातक को एक न्यास रसीद (ट्रस्ट) लिखनी पडती है, जिसके अनुसार वह वस्तुओ या उनके विक्रय से होने वाली आय को भुगतान होने तक उस बैंक के न्यास के रूप में रखेगा।

भारतीय व्यापारी के लिए ये दोनो ही ढग असुविधाजनक हैं। डी/पी हुण्डी के लिए भारतीय निर्यातक को उसमें लिखी अवधि तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् रुपया मिलता है। लन्दन म विनिमय बक लदन में हुण्डी भुनाकर रकम ले लेते हैं और हुण्डी मे लिखी गई अवधि तक उसका विनियोग करते और उस पर ब्याज प्राप्त करते हैं। ये हुण्डियाँ बहुत ही निम्न दर पर भुनाई जाती ह लेकिन इसका लाभ भारतीय व्यापारी निर्यातक तक नही पहुँचता।

भारत म भुगतान क लिए भेजी गई हुण्डियों में ब्याज की व्यवस्था होती है जिसके अन्तगत भारतीय आयातक को निश्चित ब्याज-दर देनी होती है, जो कि

प्रस्तुत करने की तिथि से भारत से लन्दन में धन के पहुँचने की अनुमानित तिथि तक, प्राय ६ प्रतिशत होती है। बिल की भुगतानी देयता के अतिरिक्त न्यास रसीद मिलने पर उस पर एक और उत्तरदायित्व आ जाता है।

भारत के विदेशी विनिमय-व्यापार का एकाधिकार प्राय विदेशी बैंकों को प्राप्त है। केवल १५ प्रतिशत व्यापार भारतीय बैंकों के हिस्से आता है। इस प्रकार विदेशों को बीमा, दलाली और कमीशन के रूप में काफी धन चला जाता है। विनिमय-बैंकों ने भारत के आन्तरिक व्यापार को भी धनराशि दी है और इस हद तक वे भारत के संयुक्त स्कन्ध अधिकोषों से प्रतिद्वन्द्विता करते हैं। यह भी कहा जाता है कि वे भारतीयों की अपेक्षा अपने देश के नागरिकों को अधिक सुविधा प्रदान करते हैं।

§१८ भारतीय विनिमय बैंक का प्रस्ताव—केन्द्रीय अधिकोषण जाँच समिति ने भारत को विदेशी बैंकिंग और व्यापार में समुचित भाग लेने योग्य बनाने के लिए निम्न सुझाव रखे हैं[1]—(१) भारतीय संयुक्त स्कन्ध अधिकोषों को विदेशी बैंकों में अपने ग्राहकों के लिए लाभदायक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। (२) इम्पीरियल बैंक को इस बात के लिए राजी करना चाहिए कि वह भारत के विदेशी व्यापार को धन देने में सक्रिय भाग ले। (३) यदि इम्पीरियल बैंक भारत के विदेशी व्यापार को धन देने में सक्रिय भाग लेने मे असमर्थ हो, तो एक भारतीय विनिमय बैंक की स्थापना की जाय जिसकी हिस्से की पूँजी ३ करोड रुपये हो। यदि निर्धारित अवधि के अन्तर्गत हिस्से की पूँजी प्राप्त नही होती तो भारत सरकार को चाहिए कि वह इस कमी को पूरा करे। भारतीय एवं और भारतीयो द्वारा संयुक्त रूप से बराबर की साझेदारी की हैसियत से बैंक खोले जायें।

अब तक एक भारतीय विनिमय बैंक स्थापित करने के प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं। विकल्प के रूप में प्राधिकारियो ने भारतीय बैंकों को अपने विदेशी हुण्डियों के व्यापार को बढाने तथा विदेशों में शाखाएँ खोलने के लिए प्रोत्साहित किया है ताकि वे इस प्रकार के व्यापार का अनुभव प्राप्त करें और इसकी जटिलताओं से अवगत हों।[2]

अभी हाल तक भारत की सीमा के बाहर बनाये गए विनिमय बैंकों पर रिजर्व बैंक का कोई नियन्त्रण नहीं था, किन्तु १९४९ के भारतीय बैंकिंग कम्पनीज अधिनियम द्वारा इसे उन पर नियन्त्रण करने का भी अधिकार प्राप्त हो गया है। इस अधिनियम में यह व्यवस्था है कि यदि भारत की सीमाओं के बाहर बना कोई बैंक भारत के कलकत्ता या बम्बई नगरों में काम करेगा तो उसे रिजर्व बैंक के पास कम-से कम १५ लाख रुपये की रकम जमा करनी होगी। इन बैंकों को अपनी सावधि एवं माँग-देयता के मूल्य का २० प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास रखना होगा और अपने परिसम्पत्तों का कम-से कम ७५ प्रतिशत सावधि और माँग-देयता के रूप में रखना होगा। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने भारत के अधिकोषण व्यापार का लेखा रिजर्व बैंक को दिखाना होगा तथा अपने सन्तुलन-पत्र प्रकाशित करने होंगे।

---

१ केन्द्रीय अधिकोषण जाँच समिति का रिपोर्ट, पृष्ठ ४८१।

२ देखिए, आर० एस० सयम (सम्पादक) 'बैंकिंग इन ब्रिटिश कामनवेल्थ', पृष्ठ ११२।

अध्याय २२

वित्त और कराधान

१ केन्द्र एव राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों का विकास चार काल—प्रारम्भ मे भारत की वित्तीय पद्धति केन्द्रीकृत थी और सारी शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार के हाथ में थी। क्रमश इसका विकास सघीय ढग पर हुआ है। १६५२ के वित्त आयोग की रिपोर्ट में इस विकास के इतिहास को चार कालो में विभाजित किया गया है—[१] (१) १६१६ के भारत सरकार अधिनियम के कार्यान्वित होने के पूव के ६० वष, (२) १ अप्रल, १६२१ से ३१ माच, १६३७ तक का समय जिसमे भारत सरकार अधिनियम १६१६ लागू रहा, (३) १६३५ के भारत सरकार अधिनियम का काल अर्थात् १ अप्रैल १६३७ स १६५० के प्रारम्भ में भारत के सविधान के लागू होने तक, और (४) सविधान के प्रारम्भ के बाद का काल।

§२ प्रथम काल वित्तीय प्रक्रामण (डीवोल्यूशन) और 'विभाजित मदें'(१८६० १६२१)-१८७१ के पूव प्रान्तीय आय-व्यय पर केन्द्रीय सरकार का सम्पूर्ण नियन्त्रण था। देश का सम्पूर्ण राजस्व पहले केन्द्रीय सरकार के हिसाब में डाल दिया जाता था। प्रारम्भ में प्रान्तो को अपना खच चलाने के लिए निश्चित अनुदान मिलता था। इसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय वित्त में अस्थिरता आ गई, प्रान्त गर जिम्मदारी से खच करने लगे और उनमे पारस्परिक सघष उत्पन्न हो गया। सर जॉन स्ट्रेची के शब्दा म 'सरकारी आय के विभाजन में झगडा-फसाद होता था जिसमें अधिक झगडालू ही फायदे में रहता था और अक्ल की बात कोई नहीं सुनता था। चूँकि स्थानीय मित व्ययता से कोई लाभ नही था, अपव्यय दूर करने की प्रेरणा भी नही रहती थी और चूँकि स्थानीय आय की वृद्धि से कोई स्थानीय सुधार नही हो सकता था अतएव आय को बढाने में कोई रुचि भी नही थी।" इस पद्धति को 'निस्सार एकरूपता एव दुराग्रह पूर्ण केन्द्रीयकरण' कहा जाता था, जो स्थानीय विविधताओ और देश के महान् आकार के कारण भारत के लिए अत्यन्त अनुपयुक्त थी। लार्ड म्यो ने १८७१ में प्रान्तीय बन्दोबस्त द्वारा इन दोषो को दूर करने की चेष्टा की। इस पद्धति के अन्तगत स्थानीय व्यय की कुछ मदें, जसे पुलिस, शिक्षा सडकें, नागरिक काय, रजिस्ट्री, औषधि, जेल इत्यादि, प्रान्तों को दे दी गइ। इन विभागों क प्रबन्ध के लिए इनसे होन वाली आय के अतिरिक्त निश्चित वार्षिक अनुदान मिलता था। यदि कमी पडती थी तो उसकी

१ वित्त आयोग की रिपोर्ट १६५२, अध्याय २।

पूर्ति स्थानीय करों द्वारा की जा सकती थी। किन्तु इस परिवर्तन से प्रान्तों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव न थी और न इस प्रकार प्रान्तों में मितव्ययता से प्रशासन ही चलाया जा सकता था। १८७७ में, लार्ड लिट्टन के कार्यकाल में विकेन्द्रीकरण की ओर दूसरा कदम उठाया गया और व्यय की प्रायः प्रान्तीय स्वभाव की बाकी सभी मदें जैसे लगान, उत्पादन शुल्क (एक्साइज) स्टाम्प, सामान्य प्रशासन, कानून एवं न्याय प्रान्तों को हस्तान्तरित कर दी गई। विभागों से होने वाली आय और इकट्ठी राशि के पुराने अनुदानों के अतिरिक्त आय के कुछ स्रोत, जैसे उत्पादन शुल्क, कानून एवं न्याय, प्रान्तीय सरकारों को हस्तांरित कर दिये गए। किन्तु इस व्यवस्था से वार्षिक अनुदान की वह पुरानी प्रथा बन्द नहीं हुई, जिससे प्रान्तों की आय की कमी पूरी की जाती थी और वितरण में अधिक हिस्सा पाने का पुराना संघर्ष जारी रहा। १८७६ में आसाम को लगान में कुछ हिस्सा दिया गया। १८८२ में राजस्व में हिस्सा देने अर्थात् *'विभाजित मदों' का सिद्धान्त सभी प्रान्तों के लिए लागू किया गया।* इकट्ठी राशि के निश्चित वार्षिक अनुदान हटा दिये गए। राजस्व की विभाजन-पद्धति में संशोधन किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि तीन मुख्य मदें बन गई—(१) साम्राज्यीय मदें—वाणिज्यिक विभागों के लाभ और अफीम, नमक, सीमा शुल्क इत्यादि से होने वाली आय, जिनका एक स्थान विशेष पर लिया जाना इस बात का द्योतक न था कि उनका बोझा वहीं के लोगों पर पड़ता है। (२) प्रान्तीय मदें—नागरिक विभाग एवं प्रान्तीय कार्य। (३) विभाजित मदें—उत्पादन शुल्क, निर्धारित कर, स्टाम्प, वन, रजिस्ट्री।

प्रान्तों के अपने घाटे पूरे करने के लिए लगान के कुछ प्रतिशत के साथ ही उसी मद में कुछ निश्चित नकद धन राशि दी जाने लगी। हर पाँचवें साल स्थिति का पुनर्वीक्षण करके इसी आधार पर नई व्यवस्था १८८७, १८९२ और १८९७ में की गई। अस्थिरता को दूर करने तथा इसी व्यवस्था को जारी रखने की दृष्टि से इसे १९०४ में अर्द्ध स्थायी घोषित कर दिया गया। १९१२ में इसे स्थायी कर दिया गया जब कि निम्न आवंटन (एलोकेशन) निर्धारित किया गया। राजस्व के सम्बन्ध में *केन्द्रीय सरकार ने उस सारी आय को अपने अधिकार में रखा, जिसके सम्बन्ध में यह* पता नहीं लगाया जा सकता था कि वह किस प्रान्त से हुई। उन्हें साम्राज्यीय राजस्व मदें कहा गया, जैसे अफीम, रेलवे, सीमा शुल्क, नमक, टकसाल, और विनिमय, डाक व तार, सैन्य-सम्बन्धी आय तथा भारतीय राज्यों से प्राप्त नजराना। बाकी मदों में कुछ तो बिलकुल प्रान्तीय थीं, जैसे वन, उत्पादन शुल्क (बम्बई और बंगाल में) रजिस्ट्री तथा प्रान्तीय विभागों द्वारा जैसे शिक्षा एवं कानून तथा न्याय की आय। अन्त में विभाजित मदों का एक महत्वपूर्ण वर्ग था, जैसे लगान, आयकर, उत्पादन-शुल्क (बम्बई और *बंगाल को छोड़कर*), सिंचाई और अदालती स्टाम्प। इनसे होने वाली आय को निश्चित अनुपात में बाँटा गया जो प्रायः समान था, किन्तु हर प्रान्त के लिए अलग अलग निर्धारित किया जाता था। *इन्हें साम्राज्यीय मदों तथा प्रान्तीय मदों* में विभाजित कर दिया जाता था। व्यय के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी, किन्तु दुर्भिक्ष के

लिए एक विशिष्ट व्यवस्था के अनुसार विभाजन किया जाता था। क्योंकि विभाजित मदो से होने वाली आय से प्रान्तो का खर्च नही चल पाता था, इसलिए उनकी पूर्ति के लिए नकद आवर्तक एव अनावर्तक अनुदान देने पडते थे, जो कि इस पद्धति की विशेषता थी।

§३ द्वितीय काल (१६२१ १६३७)—(१) आय के स्रोतो का पृथक्करण—वित्तीय स्वायत्तता की ओर अगला कदम यह था कि विभाजित मदों को समाप्त कर दिया गया और १६१६ के भारत सरकार अधिनियम द्वारा प्रान्तीय एव केन्द्रीय मदो को पूर्ण रूप से अलग कर दिया गया। विभाजित मदों मे से आय कर तथा सामान्य (या व्यावसायिक) स्टाम्प केन्द्र को दे दिये गए तथा उत्पादन शुल्क अदालती टिकट, लगान और सिंचाई की आय प्रान्तों को हस्तान्तरित की गई। इससे केन्द्र को अनुमानत ६ करोड ६३ लाख रुपये का घाटा हुआ। इसके फलस्वरूप यह प्रस्ताव किया गया कि प्रान्त केन्द्र को कुछ अशदान दिया करें।

(२) मेस्टन पचाट—१६२० में लार्ड मेस्टन के सभापतित्व मे एक समिति नियुक्त की गई, जिसका उद्देश्य प्रान्तीय अशदान के प्रश्न पर परामर्श देना था। समिति के सुझाव मेस्टन पचाट के नाम से विख्यात है। इस पचाट में समिति ने प्रस्ताव किया कि सामान्य स्टाम्प को वित्तीय और प्रशासकीय कारणों से प्रान्तो को हस्तान्तरित कर दिया जाय। समिति ने यह भी प्रस्ताव किया कि (क) प्रारम्भिक अशदान एव आदर्श अशदान की योजना बनाई जाय—प्रारम्भिक अशदान १६२१ २२ के लिए विभाजित मदों के उन्मूलन के फलस्वरूप प्रान्तो की बढ़ी हुई व्यय शक्ति के आधार पर निश्चित किया जाय और आदर्श अशदान (जो ७ वर्षों मे निश्चित होगा) हर प्रान्त की सामर्थ्य के आधार पर होगा। इसके निर्धारक-तत्त्व जनसख्या आय कर से हुई आय, नमक और वस्त्र का उपभोग और कृषि तथा औद्योगिक सम्पत्ति होगी और यह कि (ख) आय-कर से होने वाली आमदनी में वृद्धि का वह भाग प्रान्तो को दिया जाय, जो प्रान्तो मे निर्धारित अधिक आय कर के कारण हो।

कुछ सशोधनों के साथ इन सिफ़ारिशों को १६१६ के भारत सरकार अधिनियम के प्रक्रमण नियमो म शामिल कर लिया गया। प्रक्रमण नियम १५ में यह व्यवस्था थी कि हर प्रान्त को १६२१ २२ की निर्धारित आय म होने वाली वृद्धि के हर रुपये पर ३ पाई मिलेगी। इस बात को दृष्टि में रखकर कुछ तदर्थ समायोजन भी किये गए कि कुछ उद्योग उस प्रान्त से भिन्न प्रान्त मे स्थापित हो सकते है, जिसमें उन पर आय कर निर्धारित किया गया हो। यहाँ से आय कर को सतुलन का साधन बनाने का युग आरम्भ होता है।

(३) अशदान का उन्मूलन—विभिन्न प्रान्तों म प्रक्रमण नियम १५ का विषम परिणाम हुआ। मेस्टन-समिति की आशाओं के विपरीत प्रान्तों में प्रतिवर्ष घाटे होने लगे। ऐसी परिस्थिति में अशदान विशेष रूप से भारी प्रतीत होने लगे। अतएव प्रारम्भ में कुछ दिनो तक अशदान दिये गए, बाद म १६२७ २८ मे उन्हें स्थगित कर दिया गया और अन्त में १६२८ १६२६ में बन्द कर दिया गया। मेस्टन-व्यवस्था

की आलोचना प्रमुखतया दो आधारों पर की गई। एक तो यह कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रान्तों के आय-स्रोत लोचहीन और अनम्य थे, जब कि उनकी आवश्यकताएँ तेजी से बढ़ रही थीं और दूसरी ओर केन्द्र की आवश्यकता अपेक्षाकृत स्थायी थी और उसके आय के स्रोत लोचपूर्ण थे और बढ़ रहे थे। दूसरे, इस व्यवस्था में कुछ प्रान्तों का पक्षपात और कुछ के साथ अन्याय भी किया गया था। सच तो यह है कि इससे अधिकतर प्रान्त असन्तुष्ट हो गए। उनमें से कुछ ने आदर्श अंशदान को पसन्द नहीं किया तो कुछ ने प्रारम्भिक अंशदान को। उस समय लगान आय का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत था। इससे कृषि प्रधान प्रान्तों को विशेष लाभ होता था, क्योंकि उनको सारा लगान मिल जाता था, जबकि बम्बई, बंगाल जैसे औद्योगिक प्रान्तों को हानि होती थी क्योंकि आय-कर के केन्द्रीय विषय बनने से वे इससे होने वाली आय से वंचित रहते थे और इस प्रकार उनके क्षेत्र में सफल व्यापार उद्यमों का लाभ केन्द्र को चला जाता था, अतएव वे इस योजना के सम्पूर्ण आधार के ही विरोधी थे।

§४ भारत सरकार अधिनियम, १९३५—१९३५ के भारत सरकार अधिनियम से १९१९ में स्थापित ढाँचा ही बदल गया। कृषि आय के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की आय पर लगाये गए कर की वसूली अब केन्द्र द्वारा होने लगी और वास्तविक आय का कुछ प्रतिशत ही प्रान्तों में बाँटा जाता था। इसके अतिरिक्त अधिनियम की धारा १४० में यह व्यवस्था थी कि नमक शुल्क, एवं संघ द्वारा लगाये गए तथा वसूल किये जाने वाले संघानीय उत्पाद एवं निर्यात शुल्क—यदि संघ विधान सभा के किसी भी अधिनियम में ऐसी व्यवस्था की गई हो तो—पूर्णतः या अंशतः प्रान्तों को दिये जायेंगे और उनका वितरण उन्हीं राज्यों एवं प्रान्तों में उसी अधिनियम द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार होगा।

पटसन तथा उससे बने पदार्थों पर निर्यात शुल्क से होने वाली वास्तविक आय का पटसन उत्पन्न करने वाले प्रान्तों या राज्यों में उनके उत्पादन की मात्रा के अनुसार वितरण किया जाना था। यदि ऐसे प्रान्तों को सहायता की आवश्यकता हो तो अनुदान के रूप में सहायता देने की व्यवस्था थी।

§५ तृतीय काल (१९३७ १९५०) नेमियर जाँच—१९३६ में सर ओटो नेमियर को भारत सरकार अधिनियम, १९३५ की धारा १३८ और १४० ४२ के अन्तर्गत प्रान्त एवं केन्द्र के वित्तीय सम्बन्धों की जाँच करने के लिए कहा गया और एक निर्देश पद बढ़ाकर जाँच के क्षेत्र को और भी व्यापक कर दिया गया। सर ओटो ने सुझाव रखा कि निम्नलिखित निश्चित प्रतिशत के आधार पर आय-कर से होने वाली आय का ५० प्रतिशत प्रान्तों को हस्तान्तरित किया जाय—मद्रास १५, बम्बई २०, बंगाल २०, संयुक्त प्रान्त १५, पंजाब ८, बिहार १० मध्यप्रान्त ५, आसाम २, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त १, उड़ीसा २ सिन्ध २। उन्होंने यह भी सुझाव रखा कि प्रान्तों के भाग में से केन्द्र को पहले ५ वर्षों तक इतना धन अपने पास रखना चाहिए जिसे मिलाकर केन्द्र का आय-कर का भाग तथा रेलवे का अंशदान १३ करोड़ रुपये हो जाय। इस प्रकार सरकार द्वारा अपने पास रखे गए धन को अगले ५ वर्षों में प्रान्तों को दे दिया जाय।

सर ओटो नेमियर ने सिफ़ारिश की कि पटसन उगाने वाले प्रान्तो को इसके निर्यात शुल्क की आय में मिलने वाला भाग साढे बारह प्रतिशत से बढ़ाकर साढे बासठ प्रतिशत कर दिया जाय। प्रान्तो को निम्न वार्षिक अनुदानों की सिफ़ारिश भी की गई—सयुक्त प्रान्त २५ लाख रुपया पाँच वर्ष के निश्चित काल के लिए आसाम ३० लाख रुपये, उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त १ करोड रुपया जिस पर ५ वर्ष के बाद पुन विचार किया जायगा, उडीसा ४० लाख रुपया, पहले वर्ष में ७ लाख रुपया अधिक मिलेगा तथा शेष चार वर्षों मे ३ लाख रुपया अधिक, सिन्ध को एक करोड पाँच लाख रुपया दस वर्षों तक, पहले वर्ष में ५ लाख रुपया अधिक और फिर क्रमश घटाते हुए ४५ वर्ष मे अनुदान बिलकुल बन्द कर दिया जायगा। इस योजना के अग के रूप में सर ओटो नेमियर ने यह भी सिफ़ारिश की कि बिहार बगाल, उडीसा, उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त एव आसाम के द्वारा १९३६ के पूर्व केन्द्र से लिये गए और न लौटाये गए ऋण रद्द किये जायें और मध्य प्रान्त के बकाया ऋण को कम कर दिया जाय। इन सिफारिशो को १९३६ के भारत सरकार (राजस्व वितरण) आदेश द्वारा लागू किया गया। १९४० म इसमें कुछ परिवर्तन किया गया और यह १९४७ मे देश के विभाजन तक लागू रहा। केन्द्र ने युद्ध-काल में १९४०-४१ से १९४५-४६ तक, प्रान्तो के आय कर के हिस्से में से ४ ५ करोड रुपया अपने पास रखा। आगामी चार वर्ष म प्रतिवर्ष केन्द्र द्वारा प्रान्तीय आय-कर की धनराशि को क्रमश पिछले साल की अपेक्षा ७५ लाख रुपया कम कर दिया गया तथा १९५०-५१ मे उनका पूरा हिस्सा उन्हें मिलने लगा।

प्रान्तो ने आय-कर के विभाजन के नेमियर पचाट का स्वागत नही किया। हर प्रान्त अपने अलग अलग कारणो से इससे असतुष्ट था। बम्बई ने आय-कर के अधिक हिस्से का दावा किया, क्योकि २५ प्रतिशत से अधिक आय कर इसी के क्षेत्र से प्राप्त होता था, साथ ही इसे अपनी औद्योगिक जनता के लिए ही ऐसी सेवाओ की व्यवस्था करनी पडती थी जिन पर बहुत खर्च होता था। मद्रास ने जनसख्या के आधार पर अधिक भाग का दावा किया। प्रान्तो के हिस्सो की अपेक्षा आय-कर एव निगम कर से केन्द्र को होने वाली आय काफी अधिक थी। १९३९-४६ के बीच आय-कर तथा निगम-कर से होने वाली आय में औसत केन्द्रीय आय ८५ प्रतिशत थी और प्रान्तीय आय १५ प्रतिशत से भी कम थी।[1] यह विषमता कुछ हद तक न्यायोचित भी थी क्योकि युद्ध-काल में केन्द्र का व्यय काफी बढ गया था और इस काल में प्रान्तो में काफ़ी बचत हो रही थी। इस बचत का मुख्य कारण तो विकास-कार्यक्रमो का स्थगन एव समाज सेवाओ शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर कम व्यय था। अत यह कहना सर्वसम्मत है कि केन्द्र प्रान्तो की अपेक्षा आय-कर से काफ़ी अधिक भाग ले रहा था, जिसे साधारण समय में न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

§६ चतुर्थ काल (विभाजन के बाद)—अगस्त, १९४७ में देश के विभाजन के कारण

[1] 'इण्डियन इकनामिक जनल' के सम्मेलन विशेषाक, दिसम्बर १९५१ में श्री डा० मार्टिन का लेख 'दी इन्कम टैक्स एड कारपोरेशन टैक्स इन इण्डियन फैडरल फिनान्स'।

नेमियर पचाट में परिवर्तन आवश्यक हो गया। १९५० में नवीन संविधान में इस समूचे प्रश्न पर विचार करने के लिए एक वित्त आयोग की नियुक्ति होनी थी।[1] चूँकि तुरन्त आयोग की स्थापना सम्भव न थी, अतः राष्ट्रपति की आज्ञा से अस्थायी कार्यवाही की गई, जिससे कि कुछ राज्यों को आय-कर के वितरण और अनुदानों का विनियमन किया जा सके। बंगाल और पंजाब के विभाजित प्रान्तों का भाग उनकी घटी हुई जनसंख्या के अनुपात मे घटा दिया गया। इससे और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त एवं सिन्ध से बची आय को पुनर्वितरण के लिए संचित किया गया। १५ अगस्त, १९४७ से मार्च, १९५० तक प्रान्तों में वितरित किये जाने वाले भाग का प्रतिशत इस प्रकार था—बम्बई २१, मद्रास १८, पश्चिमी बंगाल १२, उत्तर प्रदेश १९, मध्यप्रदेश ६, पूर्वी पंजाब ५, बिहार १३, उड़ीसा ३, आसाम ३।

जहाँ तक पटसन शुल्क का प्रश्न है प्रान्तीय भाग साढ़े बासठ प्रतिशत से घटा कर २० प्रतिशत कर दिया गया, क्योंकि पटसन उगाने वाला अधिकतर क्षेत्र पाकिस्तान के हिस्से आया, किन्तु प्रान्तों में इस आय के वितरण का आधार पूर्ववत् रहा। इस व्यवस्था से प्रभावित होने वाले राज्यों मे काफी असन्तोष उत्पन्न हुआ। अतः श्री सी० डी० देशमुख को निम्न दो प्रश्नों की जाँच करके निर्णय देने के लिए नियुक्त किया गया—(१) आसाम, बंगाल और पंजाब के कुछ भाग पाकिस्तान में चले जाने से कम क्षेत्र के अनुसार हिस्सा कम कर दिया जाय तथा (२) भाग 'क' राज्यों मे इस प्रकार बची आय तथा सिन्ध तथा उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त को मिलने वाली आय का पुनर्विभाजन किस प्रकार किया जाय। देशमुख पचाट के अन्तर्गत आय का प्रतिशत, जोकि १ अप्रैल, १९५० को लागू हुआ, निम्न प्रकार है—मद्रास १७.५, बम्बई २१, पश्चिमी बंगाल १३.५, उत्तर प्रदेश १८, पूर्वी पंजाब ५.५, बिहार १२.५ मध्य प्रदेश ६, आसाम ३ और उड़ीसा ३। निर्णय में पटसन निर्यात शुल्क की आय के भाग के बदले मिलने वाला सहायता अनुदान निम्न प्रकार था—पश्चिमी बंगाल १.०५ करोड़ रुपया, आसाम ४० लाख रुपया, बिहार ३५ लाख रुपया और उड़ीसा ५ लाख रुपया। यह योजना अपनाई गई कि उन प्रतिशतों का भी अनुमान लगाया जाय जो उन भागों के लिए सर ओटो नेमियर निश्चित करते—यदि वे स्वतन्त्र प्रान्त होते—जो अब पाकिस्तान में हैं।

§७ वित्त आयोग, १९५२—श्री देशमुख का पचाट अस्थायी था और केवल उस समय तक के लिए था जब तक कि वित्त आयोग की नियुक्ति न हो, जिसे (१) विभाजित किये जाने वाले विभिन्न करों से होने वाली आय का वितरण तथा ऐसी राशि का विभिन्न प्रान्तों के लिए आवंटन, (२) भारत की संचित निधि से विभिन्न प्रान्तों को दिये जाने वाले सहायता अनुदान के सिद्धान्तों तथा (३) समुचित वित्त-व्यवस्था के

---

[1] संविधान के अनुच्छेद २८० (१) के अन्तर्गत संविधान के प्रारम्भ से दो वर्ष के भीतर और तत्पश्चात् हर ५ वर्ष की समाप्ति पर राष्ट्रपति को या यदि वह आवश्यक समझे तो इससे पूर्व, एक वित्त-आयोग की नियुक्ति करनी पड़ती है, जिसमें उसके द्वारा नियुक्त एक सभापति और ४ सदस्य होंगे। २ अप्रैल, १९५६ को द्वितीय वित्त आयोग की घोषणा की गई है।

हित म राष्ट्रपति द्वारा निर्दिष्ट अन्य विषयो की जाँच के लिए नियुक्त किया जाय। राष्ट्रपति के २२ नवम्बर, १९५१ के आदेश द्वारा श्री के० सी० नियोगी के सभापतित्व में एक वित्त आयोग की नियुक्ति की गई, जिसने अपनी रिपोर्ट १९५२ में प्रस्तुत की। इसने सिफारिश की कि (१) राज्यो को आय-कर से मिलने वाला भाग ५० प्रतिशत से बढाकर ५५ कर दिया जाय, (२) तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति उत्पादो पर लगाये गए उत्पादन शुल्क की आय का ४० प्रतिशत जनसख्या के आधार पर विभिन्न प्रान्तो में वितरित किया जाय, (३) पटसन एव पटसन-उत्पादों पर लगाये गए निर्यात शुल्क के बदले में आसाम, बिहार उडीसा और पश्चिमी बगाल को दिये जाने वाले सहायता अनुदान को बढा दिया जाय, और (४) कुछ प्रान्तों को, जिन्हें आवश्यकता हो, विशेष अनुदान दिया जाय तथा कुछ अपेक्षाकृत अविकसित प्रान्तों को भी प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार के लिए विशिष्ट अनुदान दिया जाय।

§८ वितरण का आधार—आय-कर का वितरण ऐसी विभिन्न कसौटियो के आधार पर हो सकता है, जस (१) विभिन्न राज्या मे वसूल की गई आय कर की धनराशि, (२) विभिन्न राज्यो में रहने वाले व्यक्तियो की आय (चाहे जहाँ भी प्राप्त की गई हो) पर वसूल हुआ कर (३) आय के स्रोतो के अनुसार व्यवस्थित विभिन्न राज्यो मे अर्जित आय कर (४) हर राज्य की सापेक्ष जनसख्या (५) हर प्रान्त के औद्योगिक श्रम का सापेक्ष आकार, (६) सापेक्ष प्रतिव्यक्ति आय और (७) विभिन्न राज्यों की विभिन्न मानदण्डों के आधार पर निर्धारित आवश्यकताएँ जसे क्षेत्रफल, जनसख्या, आर्थिक पिछडापन या प्रत्येक राज्य की सापेक्ष प्रतिव्यक्ति आय इत्यादि[1]।

इन कारकों को सक्षेप में तीन विभिन्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। आय का वितरण (१) अशदान, (२) जनसख्या और (३) आवश्यकता के आधार पर हो सकता है। नेमियर पचाट का आधार कभी प्रकाशित नही हुआ, किन्तु व्यापक रूप से यह विश्वास किया जाता था कि यह दो आधारो पर था—जनसख्या तथा आवास। इस प्रकार का आधार अनुचित था। यह पृष्ठ ४०६ की तालिका स स्पष्ट है जो १९४५ ४६ के बारे में है।[2]

स्पष्ट है कि प्रान्तों की आवश्यकताओ का ध्यान नहीं रखा गया। १९४७ का तदर्थ पचाट तथा देशमुख पचाट, नेमियर पचाट के अस्थायी समायोजन मात्र थे, और उनका आधार भी लगभग नेमियर पचाट जैसा ही था, यद्यपि शरणार्थियों के लिए जिम्मेदारी और विभाजन के अन्य खर्चों से राज्यों की जो आवश्यकताएँ बढ गईं थीं उनका भी कुछ ध्यान रखा गया था। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, १९५२ के वित्त आयोग ने आय-कर म राज्यों का भाग १९५२ ५३ से १९५६ ५७ तक के लिए ५५ प्रतिशत निर्धारित किया था और हर राज्य का भाग इस प्रकार स निश्चित किया—आसाम २ २५ प्रतिशत, बिहार ९ ७५ प्रतिशत, बम्बई १७ ५० प्रतिशत, हैदराबाद ४ ५० प्रतिशत मध्यभारत १ ७५ प्रतिशत, मध्यप्रदेश ५ २५ प्रतिशत,

१ वित्त आयोग की रिपोर्ट १९५२, पृष्ठ ७१।
२ 'इण्डियन इकॉनामिक जनरल', सम्मेलन अक, दिसम्बर १९५३, पृष्ठ १४५।

प्रान्त	प्रति व्यक्ति से प्राप्त आय-कर		
	रुपया	आना	पाई
मद्रास	०	१५	११
बगाल	२	१२	१
संयुक्तप्रान्त	०	१५	१
पंजाब	०	१२	६
मध्यप्रान्त व बरार	०	१३	८
आसाम	०	६	०
उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त	०	१५	२
उड़ीसा	०	१०	६
सिन्ध	१	४	३
बिहार	०	१२	८

मद्रास १५ २५ प्रतिशत मसूर २ २५ प्रतिशत, उडीसा ३ ५० प्रतिशत, पप्सू ० ७५ प्रतिशत, पजाब ३ २५ प्रतिशत, राजस्थान ३ ५० प्रतिशत, सौराष्ट्र १ ०० प्रतिशत ट्रावनकोर-कोचीन २ ५० प्रतिशत, उत्तर प्रदेश १५ ७५ प्रतिशत और पश्चिमी बगाल ११ २५ प्रतिशत। ये प्रतिशत (१) ८० प्रतिशत तक जनसख्या के आधार पर और (२) २० प्रतिशत तक विभिन्न राज्यो द्वारा सग्रहीत आय-कर के आधार पर निर्धारित किये गए। वसूल होने वाले करों का तीन-चौथाई भाग बम्बई और पश्चिमी बंगाल में और उसका भी अधिकाश बम्बई और कलकत्ता के मुख्य बन्दरगाहों पर वसूल किया जाता है। यह सग्रह आय-सृष्टि के विविध साधनो द्वारा किया जाता है जो देश भर मे फले हुए हैं। अतएव हरेक प्रदेश का वास्तविक अशदान निर्धारित करना और उसके आधार पर आय कर को वितरित करना बड़ा ही कठिन काम है।

आयोग ने यह राय प्रकट की है कि जनसख्या को विभिन्न राज्यो की आव श्यकताओ को आंकने के लिए एक कसौटी माना जा सकता है। उसका विचार है कि अन्य मानदण्ड, जसे आर्थिक पिछड़ापन एव आर्थिक कठिनाइयाँ, अनुदान के निर्धारण के लिए अधिक संगत हैं। जहाँ तक औद्योगिक श्रम का सम्बन्ध है यह आवश्यकताओं एव अशदान का आंशिक रूप मे ही द्योतक है। चूँकि हर राज्य की प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय के आँकडे नहीं मिलते, अतएव इन्हें आय-कर के वितरण का आधार नहीं बनाया जा सकता।

§६ सघीय उत्पादन शुल्क की आय का वितरण—उत्पादन शुल्क से होने वाली आय को पहले प्रान्तों एव केन्द्र में विभाजित किया जाता था। प्रान्त मादक द्रव्यों जैसे शराब अफ़ीम आदि, पर उत्पादन शुल्क लगा सकते थे और केन्द्रीय सरकार पट्रोलियम, नमक हवा भरे जाने वाले रबड के टायर और ट्यूबों पर उत्पादन-शुल्क लगा सकती

थी। कुछ वस्तुओं, जैसे दियासलाई, चीनी, तम्बाकू, वनस्पति उत्पाद आदि, पर उत्पादन शुल्कों में भूतपूर्व देशी रियासतों के साथ बाँटने की व्यवस्था थी। देशी रियासतों के भारत-संघ में विलयन के उपरान्त यह व्यवस्था समाप्त हो गई। १९५२ के वित्त आयोग ने संघीय उत्पादन शुल्क की आय के वितरण के प्रश्न पर विचार किया और तम्बाकू, दियासलाई तथा वनस्पति पदार्थों से उत्पादन शुल्क की आय को इस आधार पर विभाजन के लिए चुना, कि ये वस्तुएँ सामान्य एवं व्यापक उपभोग की हैं और इनसे एक पर्याप्त मात्रा में और वितरण-योग्य आय स्थायी रूप से प्राप्त होती है। इन शुल्कों से होने वाली आय में राज्यों का हिस्सा ४० प्रतिशत है जिसका वितरण इस प्रकार है।[1]

भाग 'क' राज्य	प्रतिशत	भाग 'ख' राज्य	प्रतिशत
आसाम	२ ६१	हैदराबाद	५ ३६
बिहार	११ ६०	मध्य भारत	२ २६
बम्बई	१० ३७	मैसूर	२ ६२
मद्रास	१६ ४४	पैप्सू	१ ००
मध्य प्रदेश	६ १३	राजस्थान	४·४१
उड़ीसा	४ २२	सौराष्ट्र	१ १६
पंजाब	३ ६६	ट्रावनकोर	२ ६८
उत्तर प्रदेश	१८ २३		
पश्चिमी बंगाल	७ १६		

जब १९४३ ४४ में तम्बाकू पर पहले-पहल उत्पादन शुल्क लगाया गया तो केन्द्रीय सरकार ने यह वांछनीय समझा कि इस पर केन्द्र और प्रान्तों द्वारा शुल्क न लगाया जाय। अतएव प्रान्तों ने इस पर कर लगाने के अधिकार का परित्याग कर दिया। केन्द्र इसके बदले क्षति-पूर्ति के रूप में उन्हें एक निश्चित धनराशि देता था। संघीय उत्पादन शुल्कों में राज्यों के हिस्से को ध्यान में रखते हुए इस वार्षिक क्षति-पूर्ति के रूप में प्रान्तों को मिलने वाली धनराशि (बम्बई को ५४ लाख रुपये, मद्रास को ५६ लाख रुपये और मध्य प्रदेश को १५ लाख रुपये) को बन्द कर दिया गया है। मैसूर, ट्रावनकोर-कोचीन तथा सौराष्ट्र को केन्द्रीय करों की आय में हिस्से की बजाय आय की कमी पूरी करने के लिए सहायता बराबर मिलती रही, क्योंकि यह अनुदान से कम था।

वित्त आयोग ने संविधान के अनुच्छेद २७३ के अन्तर्गत जूट और जूट-पदार्थों के निर्यात कर में मिलने वाले भाग के बदले में ४ प्रान्तों में निम्न सहायता अनुदान स्वीकृत किये—आसाम ७५ लाख रुपये, उड़ीसा १५ लाख रुपये, बिहार ७५ लाख रुपये और पश्चिमी बंगाल १ करोड़ ५० लाख रुपये।[2]

---

१ इस तालिका में दिये गए और आगे के दो पैराग्राफों में दिये गए आँकड़े १९५६ के राज्य पुनर्गठन अधिनियम के लागू होने से पूर्व के काल १९५३-५६ के हैं।

२ वित्त-आयोग की रिपोर्ट १९५२, पृष्ठ १०६।

§१० सामान्य अनुदान—अनुदान-पद्धति का एक लम्बा इतिहास है। किन्तु सविहित रूप से इसकी व्यवस्था १९३५ में अधिनियम में ही की गई। सर ओटो नेमियर ने जिन अनुदानों की सिफारिश की थी वे बिना शर्त के थे। बाद में, १९४७-४८ में १ करोड़ रुपये के अनुदान तथा आगामी दो वर्षों में डेढ़ करोड़ रुपये तथा १९५०-५१ में ७५ लाख रुपये भारत सरकार अधिनियम की धारा १४२ के अन्तर्गत पंजाब को दिये गए।

इन सामान्य बिना शर्तों के अनुदानों के अलावा अन्य विशिष्ट प्रकार के अनुदान भी थे। १९४२ से १९४६ तक केन्द्र ने बंगाल को कुल १८ करोड़ रुपया अर्थात् दुर्भिक्ष सहायता तथा बाद के पुनर्वास उपायों के लिए दिया। १९४४-४५ से 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अन्तर्गत प्रान्तों को काफी सहायता मिलती रही है। १५ अगस्त, १९४७ से ३१ मार्च, १९५२ के बीच इन अनुदानों की राशि १३·७१ करोड़ रुपये थी। अनुदान की अन्य महत्त्वपूर्ण श्रेणियाँ निम्न हैं—(१) युद्धोत्तर विकास अनुदान जिसकी राशि १५ अगस्त, १९४७ से ३१ मार्च, १९५० तक ३८·३२ करोड़ रुपये थी। (२) विशेष विकास अनुदान, जो सौराष्ट्र, मध्य भारत एवं राजस्थान और पैप्सू आदि जैसे पिछड़े प्रदेशों के विकास की विशिष्ट योजनाओं के लिए दिए गए थे। (यह राशि १९५१-५२ और १९५२-५३ में ३ करोड़ रुपये थी)। (३) सामुदायिक विकास योजनाओं के लिए दिये गए अनुदान।

§११ अनुदानों के आधार—केन्द्रीय सरकार को विशिष्ट कार्यों के लिए हर वर्ष राज्यों को अनुदान देना पड़ता है। १९५२ के वित्त आयोग ने इस सम्बन्ध में निम्न सिद्धान्त निश्चित किये थे—(१) आय-व्ययक (बजट) सम्बन्धी आवश्यकताएँ—राज्यों की आय-व्ययक सम्बन्धी आवश्यकताओं का आँकने के लिए कुछ समायोजन करने पड़ेंगे। असामान्य खर्चों को छोड़कर अनुमान लगाया जाय, तभी राज्यों की सामान्य आय-व्ययक सम्बन्धी आवश्यकताओं का अनुमान लग सकता है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य में कर राजस्व और खर्च में हो सकने वाली मितव्ययिता का भी अनुमान लगाना पड़ेगा। (२) चूँकि राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानों का एक उद्देश्य समाज-सेवाओं के स्तरों में समता स्थापित करना भी हो सकता है, अतः इन समाज-सेवाओं के स्तर को भी एक मानदण्ड माना जा सकता है। (३) विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न विशेष जिम्मेदारियाँ पूरी करने के लिए और दैवी प्रकोपों, जैसे बाढ़ आदि, से पीड़ित क्षेत्रों को सहायता देने के लिए विशिष्ट अनुदान। (४) राष्ट्रीय हित में प्राथमिक महत्व की किसी भी राष्ट्रीय लाभकारी सेवा के लिए भी अनुदान दिया जा सकता है।

इन सिद्धान्तों के प्रकाश में वित्त आयोग ने सिफारिश की कि संविधान के अनुच्छेद २७५ (१) के अन्तर्गत निम्न प्रान्तों को इस प्रकार अनुदान दिया जाय—आसाम १ करोड़ रुपया, मसूर ४० लाख रुपया, उड़ीसा ७५ लाख रुपया, पंजाब एक करोड़ २५ लाख रुपया, पश्चिमी बंगाल ८० लाख रुपया। आयोग ने यह भी सुझाव रखा कि ८ राज्यों को आगे की तालिका[१] में प्रदर्शित ढंग से प्रारम्भिक शिक्षा की

१ रिज़र्व बैंक की करेन्सी और वित्त-सम्बन्धी रिपोर्ट, १९५२-५३, पृ० ६१, आँकड़े लाख रुपए में हैं।

सुविधाओं के प्रसार के लिए अनुदान दिया जाय। (ये अनुदान स्कूल जाने वाली उम्र के किन्तु स्कूल न जाने वाले बच्चों की सख्या के आधार पर दिये गए हैं।)

राज्य	१९५३-५४	१९५४ ५५	१९५५ ५६	१९५६-५७
बिहार	४१	५५	६६	८३
मध्य प्रदेश	२५	३३	४२	५०
हैदराबाद	२०	२७	३३	४०
राजस्थान	२०	२६	३३	४०
उड़ीसा	१६	२२	२७	३२
पजाब	१४	१९	२३	२८
मध्य भारत	६	१२	१५	१८
पैप्सू	५	६	८	९
योग	१५०	२००	२५०	३००

आजकल अनुदान और कर राजस्व के रूप मे प्रान्तो को दी जाने वाली धन राशि सामान्य वर्ष में १९४९ ५० से १९५१ ५२ के तीन वर्षों के ६५ करोड़ की वार्षिक औसत से २१ करोड़ रुपये अधिक होगी।

§१२ केन्द्रीय राजस्व में राज्यों का भाग—सविधान के विभिन्न उपबन्धो के अन्तगत भाग 'क' और 'ख' राज्यो[1] को केन्द्रीय सरकार द्वारा १९५१ ५२ से १९५४ ५५ के काल में दिये गए आय-स्रोत निम्न हैं—[2]

	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३ ५४	१९५४ ५५
कर राजस्व का भाग				
आय-कर	५२ ८६	५६ ८२	५४ ४८	५५ ९८
सघ-उत्पादन शुल्क	—	१६ ४२	१६ ४९	१६ २९
अनु० एव अर्थसाहाय्य (सववेशन)	३३ ३४	३६ ६६	४७ १०	८७ ३८
ऋण	७५ ७१	१११ ७९	१६० २०	२१४ ४१
	१६१ ९१	२२१ ६९	२७८ २७	३७४ ०६

§१३ भाग 'ख' राज्यों के साथ वित्तीय सम्बन्ध—देशी रियासतों के विलयन के परिणामस्वरूप नई वित्तीय समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और सरकार ने श्री वी० टी० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता मे एक विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति की। इसका नाम राज्य वित्तीय जाँच समिति था। इस समिति ने यह मत प्रकट किया कि प्रशासकीय

१ १ नवम्बर, ५६ तक, जबकि राज्य पुनर्गठन अधिनियम लागू हुआ, तीन प्रकार के राज्य थे—(१) भाग 'क' राज्यों में ब्रिटिश भारत के पुराने प्रान्त, (२) भाग 'ख' राज्यों में पुरानी देशी रियासतें, जिनका भारतीय सघ में विलयन हो चुका था, जो यथावत् थीं या जो राज्य-सघों के रूप में थीं, और (३) भाग 'ग' में दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, अजमेर, भूपाल इत्यादि शामिल थे। भाग 'ग' राज्य केन्द्र के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में थे। सविधान के अन्तर्गत सभी राज्यों के अधिकार और कर्तव्य समान थे और सब भारतीय संघ के समांग क्षेत्र थे।

२ वित्त और सामर्थ्य पर रिपोर्ट, १९५२-५३ और १९५३-५४ तथा १९५४-५५ के बजट पर व्याख्यात्मक ज्ञापन। आंकड़े करोड़ रुपयों में हैं।

कुशलता के लिए यह उचित होगा कि केन्द्रीय सरकार का भाग 'ख' राज्यों से सम्बन्ध उसी आधार पर रहे, जिस पर भाग 'क' राज्यों के साथ है और केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह केन्द्रीय आय के स्रोतों—जैसे आय कर, निगम-कर सीमा शुल्क केन्द्रीय उत्पादन शुल्क, तार और डाक, टेलीफोन, अफीम (खेती, निर्माण एवं निर्यात के लिए विक्रय), विनिमय सौदों पर लगाये गए कर, सम्पत्तियों के पूँजी मूल्य पर कर और कम्पनियों की पूँजी पर कर तथा नमक इत्यादि—का वित्तीय नियन्त्रण एवं उत्तरदायित्व ग्रहण करे। समिति ने सभी राज्यों में आय-कर लगाने की सिफ़ारिश की और यह भी सुझाव रखा कि तीन अवस्थाओं में इसकी दर उतनी ही कर दी जाय जितनी कि बाकी भारत में है और सभी आन्तरिक सीमा शुल्क हटा दिये जायें। सीमा शुल्कों से जो हानि हो, उसे विक्रय-कर एवं अन्य प्रान्तीय करों द्वारा पूरा किया जाय। यद्यपि राज्यीय रेलवे को ले लेने से राज्यों को होने वाली हानि के लिए उन्हें क्षति-पूर्ति देने की व्यवस्था नहीं थी, फिर भी प्रारम्भ के पाँच वर्षों तक आय की सम्पूर्ण हानि की पूर्ति केन्द्रीय सरकार करेगी। उसके पश्चात् केन्द्रीय सरकार का अंशदान घटता रहेगा, परन्तु ११वें वर्ष तक जारी रहेगा।

१ अप्रैल, १९५० को राज्यों का विलय हो गया और केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय विषयों एवं सेवाओं को सम्भाल लिया। संघीय विषयों से होने वाली आय की हानि के बदले में मुआवज़े के अतिरिक्त राज्य अब से केन्द्रीय राजस्व की विभाजित मदों में पुराने ढंग से हिस्सा पाने के अधिकारी हो गए। राज्य विलय से होने वाले अतिरेक (सर्प्लस) को अपने अपने पास रख सकते थे, किन्तु राजाओं का व्यक्तिगत व्यय इसी अतिरेक में से किया जाना था। इसी प्रकार आय में घाटे को पूरा करने के लिए केन्द्र की ओर से मिलने वाले अनुदान का समायोजन विभाज्य मदों से किया जाना था। उदाहरणार्थ मैसूर, हैदराबाद, ट्रावनकोर-कोचीन एवं सौराष्ट्र को आय कर में कोई हिस्सा नहीं मिला, क्योंकि उनको मिलने वाला अनुदान (जो आय का घाटा पूरा करने के लिए था) उनके मिलने वाले आय-कर के हिस्से से अधिक था। इसके विपरीत मध्य भारत, राजस्थान और पैप्सू को आय-कर में हिस्सा मिला।

§१४ भारतीय वित्त-व्यवस्था का एकीकरण—जैसा कि हम कह चुके हैं, युद्ध के पूर्व स्थिति यह थी कि केन्द्रीय सरकार के पास आय के लोचपूर्ण स्रोत थे, जैसे सीमा-शुल्क, उत्पादन शुल्क, आय-कर, और प्रान्तों के प्रमुख स्रोत लगान, शराब इत्यादि पर लगाये गए उत्पादन शुल्क थे जो कि अपेक्षाकृत लोचहीन थे। प्रान्त इस व्यवस्था से असन्तुष्ट एवं अप्रसन्न थे क्योंकि उनके अन्दर ही राष्ट्र निर्माण के विभाग थे, जैसे शिक्षा, जन-स्वास्थ्य आदि, जिन पर व्यय दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। अब स्थिति बहुत-कुछ सुधर चुकी है और अब राज्यों के पास न केवल बढ़ने वाला विक्रय-कर से होने वाली आय है बल्कि उनके आय स्रोत लोचपूर्ण भी हैं। उन्हें केन्द्रीय सरकार के आय-कर तथा उत्पादन-शुल्क में भी भाग मिलता है और सामान्य एवं विशिष्ट कार्यों के लिए पर्याप्त अनुदान भी मिलता है। इस प्रकार केन्द्रीय एवं प्रान्तीय राजस्व संयुक्त रूप से राज्यों की वित्त व्यवस्था की कमी की पूर्ति करता है

और प्रान्तो तथा केन्द्र की पुरानी दुश्मनी प्राय समाप्त हो गई है। वस्तुत राज्य सरकारो का अब केन्द्रीय सरकार के राजस्व में पहले की अपेक्षा अधिक हित है और इस अश तक भारतीय राजस्व की अलग अलग व्याख्या के बजाय एकीकृत व्याख्या अधिक समुचित हो गई है।"[1]

१९५३ के कर-जाँच आयोग ने सिफारिश की कि कर-नीति के समायोजनार्थ एक अखिल भारतीय कर समिति की स्थापना की जाय, जिससे कि विभिन्न राज्यो के बीच और राज्यों तथा केन्द्र के बीच कर-नीति और कर प्रशासन का समायोजन हो सके।

राज्यीय आय के प्रमुख स्रोत वस्तुओ एव उपभोग पर कर, आय कर में भाग तथा केन्द्रीय उत्पादन शुल्क में भाग हैं। लगान यद्यपि नगण्य नही है, फिर भी इसका सापेक्ष महत्त्व कम हो रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व यह आय का प्रमुख स्रोत था और ९ बडे प्रान्तो की कर आय का ४५ प्रतिशत और कुल आय का ३३ प्रतिशत इससे प्राप्त होता था। एक प्रमुख बात सामान्य विक्रय कर का विकास है जो इस समय राज्य सरकारो की आय का प्रमुख लोचपूर्ण स्रोत है। इधर हाल में राज्य कर-पद्धति की प्रवृत्ति विविधता की ओर है। यह 'फुटकर करो और शुल्कों' की आय की वृद्धि से स्पष्ट है। यह ऐसी श्रेणी है, जिसमें लगभग १२ मदें आती हैं, जसे मोटर गाडियों पर कर, विनोद-कर, तम्बाकू शुल्क इत्यादि। मद्य निषेध के परिणाम स्वरूप राज्यीय आबकारी का महत्त्व अब कम हो गया है। १९५४ मे भाग 'क' राज्यो की कुल आय का १० प्रतिशत आबकारी से हुआ, जब कि ३० वर्ष पहले आबकारी से आय का २५ प्रतिशत भाग प्राप्त होता था। (कम विकसित राज्यो में अब भी इससे २८ प्रतिशत आय होती है, क्योंकि अभी वहाँ विक्रय-कर का पर्याप्त विकास नही हो सका है।) आय के स्रोत के रूप में सिंचाई केवल कुछ ही बडे प्रान्तों में, जसे उत्तर प्रदेश और पजाब में, महत्त्वपूर्ण है। जहाँ तक राज्यों के औद्योगिक उद्यमो का प्रश्न है, केवल मैसूर और ट्रावनकोर-कोचीन राज्य ही इनसे कुछ लाभ प्राप्त कर सके है। राज्यो के कुल राजस्व में केन्द्रीय सहायता अनुदान का अनुपात काफ़ी अधिक है।

§१५ राज्यों एव सघ की कर शक्तियाँ—भारतीय सविधान में भारत सरकार अधिनियम, १९३५ के अन्तगत केन्द्र एव प्रान्तों के बीच करो के विभाजन के ढाँचे का बहुत-कुछ अनुसरण किया गया है। इसका स्वरूप अर्द्ध सघीय है, जिससे कि राज्यो मे काफी शक्तियाँ निहित हैं और अवशिष्ट शक्तियाँ सघ में निहित हैं।

सघ के क्षेत्राधिकार में निम्न कर हैं—कृषीय आय के अतिरिक्त बाकी आय पर कर, निगम कर, सीमा शुल्क शराब आदि एव अन्य नशीली वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य उत्पादन शुल्क, कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर सम्पदा शुल्क और उत्तराधिकार-कर (कृषि भूमि के अतिरिक्त), व्यक्तियों और कम्पनियों की सम्पत्तियो के पूँजी मूल्य पर लगाये गए कर कुछ वित्तीय कागजों के सम्बन्ध मे अदालती टिकट की दर हिस्सा-बाजार और वायदा बाजार के सौदे पर लगाये गए स्टाम्पों के

१ कराधान जाँच आयोग की रिपोर्ट, खण्ड १, अध्याय २, पृ० ३३।

अतिरिक्त अन्य कर, अखबारों के क्रय विक्रय एवं उनके विज्ञापनों पर लगाये गए कर, रेलवे के भाड़े और किराये पर लगाये गए कर, रेल, समुद्र या विमान द्वारा ले जाई गई वस्तुओं एवं सामग्रियों पर लगाये गए चुंगी-कर (टर्मिनल टैक्स) और व विषय जिनका उल्लेख राज्य-सूची या समवर्ती-सूची में नहीं है।

राज्यों के क्षेत्राधिकार में निम्न कर हैं—लगान, अखबारों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के क्रय विक्रय पर कर[1], कृषि आय कर, भूमि एवं भवनों पर कर, कृषि भूमि पर उत्तराधिकार और सम्पदा शुल्क, नशीली वस्तुओं एवं शराब पर उत्पादन-शुल्क, स्थानीय क्षेत्रों में वस्तुओं के आगमन पर कर, संसद द्वारा लगाये गए किसी बन्धन के अन्तर्गत खनिज अधिकारों पर कर, विद्युत्-उपभोग एवं विक्रय पर कर, गाड़ियों, पशुओं एवं नावों पर कर, संघीय सूची में उल्लिखित टिकटों के अतिरिक्त टिकट-कर, सड़कों और आन्तरिक जल पथों द्वारा ले जाई गई वस्तुओं और यात्रियों पर लगाये गए कर, विलास-वस्तुओं, विनोद और जुआ पर कर, चुंगी और पेशे पर कर, व्यापार और नौकरी पर कर, अखबारी विज्ञापन के अतिरिक्त अन्य विज्ञापनों पर कर।

§१६ राज्यों एवं संघ के बीच वितरित होने वाली कुछ आय—संविधान में कुछ ऐसे उपबन्ध हैं जिनके अन्तर्गत कुछ आय का राज्यों एवं संघ में वितरण होगा। ये उपबन्ध विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत हैं—(१) पहले तो कुछ ऐसे कर हैं जो संघ द्वारा लगाए जाते हैं किन्तु उनकी वसूली राज्यों द्वारा होती है। इनमें टिकट (अदालती) शुल्क एवं प्रसाधन-सामग्री और औषधियों पर, जिनमें अल्कोहल भी है, लगाये गए उत्पादन शुल्क आते हैं, जिनका उल्लेख संघ सूची में है। (२) करों की द्वितीय श्रेणी ऐसी है, जिसमें कुछ कर लगाए और वसूल तो संघ-सरकार द्वारा होते हैं किन्तु जो संविधान के अनुच्छेद २६९ के अनुसार उन्हीं प्रान्तों को दिये जाते हैं जहाँ ये लगाये जाते हैं। इनके अन्तर्गत कृषि-सम्पत्ति के अतिरिक्त उत्तराधिकार और सम्पदा-शुल्क आते हैं। रेलवे के भाड़े व किराये पर लगाये गए सीमान्त कर, हिस्सा बाजार और वायदा बाजार के सौदों पर लगाये गए स्टाम्पों के अतिरिक्त अन्य कर, तथा अखबारों के विक्रय एवं उनमें छपे विज्ञापनों पर लगाये गए कर। इनमें से केवल सम्पदा-कर ही १९५३ के एक अधिनियम के अन्तर्गत लगाया जा रहा है, किन्तु इससे होने वाली आय के वितरण सिद्धान्तों का अभी निश्चय नहीं हो पाया है। (३) तीसरी महत्त्वपूर्ण श्रेणी उस आय (कृषि आय के अतिरिक्त) पर लगाये गए करों की है जो अनुच्छेद २७० के अन्तर्गत लगाये और वसूल तो संघ द्वारा जाते हैं किन्तु जिनका वितरण निश्चित पद्धति पर राज्यों एवं संघ के बीच होता है। (४) अन्तिम श्रेणी उन करों की है जो लगाए और वसूल तो केन्द्रीय सरकार द्वारा होते हैं किन्तु जिनका वितरण राज्यों और संघ के बीच हो सकता है, जैसे संघ द्वारा लगाये गए उत्पादन शुल्क। अतएव वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार इस समय तम्बाकू, वनस्पति

---

१ संविधान के अनुच्छेद २८६ में राज्यों द्वारा उन वस्तुओं के (१) क्रय पर व (२) विक्रय पर कर लगाना निषिद्ध है जो संसद द्वारा कानूनी तौर पर देश के जीवन के लिए अत्यावश्यक घोषित कर दी गई हों। संघ की सम्पत्ति एवं राज्य के करों से मुक्त है (इसके विपरीत भी)।

यनस्पति-उत्पादो और दियासलाई पर उत्पादन शुल्को से होने वाली आय में ४० प्रतिशत राज्यों को मिलता है और ६० प्रतिशत सघ-सरकार को। राज्यो का हिस्सा उनके बीच जनसख्या के आधार पर वितरित होता है। सघ सरकार केवल अपने प्रयोजन के लिए उन करो पर अधिकार लगा सकती है जिनसे वसूली वह स्वय करती है, किन्तु जो राज्यो को दिये जाते हैं उनमे से राज्यो को सविधान के अनुच्छेद २७० और २६६ के अन्तगत भाग दिया जाता है। अन्तिम सन्तुलन-तत्त्व के रूप मे सविधान के अनुच्छेद २७५ में सघ सरकार द्वारा राज्यो को अनुदान देने की व्यवस्था है।

इधर हाल में अनुदानो का विशेषत प्रादेशिक आय-स्रोतो की विषमता को दूर करने के लिए व्यापक प्रयोग होने लगा है। सहायता अनुदानो से सधीय नियन्त्रण में भी सुविधा होती है तथा राष्ट्रीय स्तर पर आवश्यक कल्याण-सेवाओं का समायोजन हो सकता है। राज्यों को विभाजित करों के अतिरिक्त केन्द्रीय सहायता देने में दोनो सामान्य (बिना शत के) एव विशिष्ट (शत के साथ) प्रकार के अनुदानो का उपयोग किया जाता है।

अब हम केन्द्रीय आय के कुछ प्रमुख स्रोतो का निकट से अवलोकन करेंगे और निम्न तालिका उस व्याख्या की भूमिका का काम देगी।[1]

	१९५१-५२ लेखा	१९५२ ५३ लेखा	१९५३ ५४ लेखा	१९५४ ५५ लेखा	१९५५-५६ सशोधित अनुमान	१९५६ ५७ बजट अनुमान
समुद्र सीमा शुल्क						
आयात	१,४१,९६	१,१८ ०७	१,१६,६०	१,४१ ०६	१,२७,५०	१ १७,००
निर्यात (वास्तविक)	२,३१,६६	१,७३,७५	१,५८,७१	१,८४,८६	१,६५,००	१,५०,००
सघीय उत्पादन शुल्क	८५,७८	८३,०३	९४,९८	१,०८,२२	१,४०,००	१,४५,४५
निगम कर	४१,४१	४३,८०	४१,५४	३७,३३	३९ ८४	४१,८४
निगम-कर के अतिरिक्त आय पर लगे आय कर	१,४६,१६	१,४१,४३	१,२२,४३	१ २२,२६	१,३३,८६	१,३८,१६

§१७ सीमा (आयात निर्यात) शुल्क—(१) आयात शुल्क—आयात शुल्क की सामान्य दर २५ प्रतिशत है किन्तु विलास-सामग्री पर १०० प्रतिशत तक आयात शुल्क लगाया जाता है। खनिज तल (मोटरों के पट्रोल को छोड़कर), कपड़े बुनने के यन्त्र और कच्ची फिल्मो की दर नीची है। अब तक केन्द्रीय आय का सबसे बड़ा साधन सीमा-शुल्क है तथा आयात निर्यात शुल्क की कुल आय का दो तिहाई आयात शुल्क से होता है और केन्द्रीय सरकार की कर आय का ३० प्रतिशत इससे आता है। आयात-कर स होने वाली अधिकांश आय राजस्व-कर से होती है न कि सरक्षण करा

१ ईस्टन इकानामिस्ट, बजट अंक, २ मार्च, १९५६, पृष्ठ ३३७-३८, आंकड़े लाख रुपयों में हैं।

स। निम्न तालिका में गत कुछ वर्षों में आयात-शुल्क से होने वाली आय का लेखा प्रस्तुत किया गया है।[1]

१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	१९५६-५७ आय-व्ययक अनुमान
११६ ६०	१४१ ०८	१२० ५०	११० ००

१९१४ तक भारतीय प्रशुल्क स्वतन्त्र व्यापार के आधार पर नियमित था और आयात पर मध्यम प्रकार के राजस्व शुल्क लगाये जाते थे। प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न आर्थिक संकट के कारण आयात निर्यात-नीति में परिवर्तन आवश्यक हो गए। कितने ही यन्त्र, सामान एवं विलासिता की वस्तुओं पर पहली बार कर लगा और कितनों पर कर बढ़ा दिया गया। १९३० ३१ में और आर्थिक मन्दी और भारी घाटे के कारण आयात शुल्कों में और भी वृद्धि हुई। १९३२ के ओटावा समझौते तथा १९३९ के ब्रिटिश भारतीय व्यापारिक समझौते द्वारा साम्राज्य अधिमान (इम्पीरियल प्रेफरेंस) पद्धति का प्रचलन हुआ। इसमें साम्राज्य के देशों से होने वाले आयात के साथ पक्षपातपूर्ण ढंग से व्यवहार किया जाता था, जिससे प्रमुख लाभ ब्रिटेन को होता था। द्वितीय विश्वयुद्ध में वर्तमान शुल्क के अतिरिक्त २० प्रतिशत का अधिभार (सरचार्ज) लगाया गया। १९४८ ४९ और १९४९ ५० में मोटरगाड़ियों एवं उनके पुर्जों पर शुल्क बढ़ाया गया जिसमें ब्रिटेन को साढ़े सात प्रतिशत अधिमान मिला। १९५४ ५५ में इस अधिमान को समाप्त कर दिया गया। १९४६ ४७ में पहली बार सुपारी पर लगाया गया शुल्क साढ़े पाँच आना प्रति पौण्ड बिना अधिभार के निश्चित किया गया, जिसमें से राष्ट्र मण्डल के देशों को ६ पाई प्रति पौण्ड का अधिमान मिला। १९५४ ५५ में यह शुल्क बढ़ाकर साढ़े छ आने प्रति पौण्ड कर दिया गया जिससे आय अनुमानतः ३ करोड़ रुपये बढ़ गई।

१९५४ ५५ में प्लास्टिक, रबड़, विद्युवाहक तार (इनसुलेटेड केबल), बिजली के पंखों, विद्युत् सजावट जैसी वस्तुओं पर शुल्क बढ़ा दिया गया और कागज, इस्पात की कुछ वस्तुओं जैसे इस्पात की चद्दरें रेल और प्लेट इत्यादि, पर लगाया गया आयात शुल्क समाप्त कर दिया गया।

सीमा-शुल्क के अन्तर्गत अनेक प्रकार की वस्तुएँ आती हैं। इस बात का हर समय पुनर्वीक्षण होता रहता है कि इनका बोझ किस पर और कितना पड़ता है और इनमें प्राय परिवर्तन हुआ करते हैं। आवश्यक नहीं कि परिवर्तन करने के लिए वार्षिक वित्त विधेयक प्रस्तुत होने तक रुका जाय। कई बार वित्तीय वर्ष में ही परिवर्तन कर दिये जाते हैं।

---

१ १९५५-५६ की करारोपण जांच सम्बन्धी रिपोर्ट, पृष्ठ १८६। आंकड़े करोड़ रुपयों में हैं।

(२) निर्यात शुल्क–निम्न तालिका में इधर हाल के कुछ वर्षों में निर्यात शुल्कों से होने वाली आय प्रदर्शित की गई है।[1]

१९५२-५३ लेखा	१९५३-५४ लेखा	१९५४-५५ लेखा	१९५५-५६ संशोधित अनुमान	१९५६-५७ बजट अनुमान
५५.६७	३८.५३	४१.३७	३७.००	३१.७०

सबसे महत्त्वपूर्ण निर्यात शुल्क पटसन और चाय के हैं। निर्यात शुल्क के विकास का सारांश इस प्रकार है—१८६० तक निर्यात शुल्क मूल्यानुसार ३ प्रतिशत के हिसाब से प्राय सभी वस्तुओं पर लगाया जाता था। १८६० से १८८० तक लगातार निर्यात शुल्क हटाने की नीति का अनुसरण किया गया, और १८८० में केवल चावल पर निर्यात शुल्क रह गया था। १९०३ में चाय पर निर्यात शुल्क लगाया गया। १९१६-१७ से बिन-कमाया चमड़ा और पटसन ऐसी वस्तुएँ हैं, जिन पर निर्यात-शुल्क लगा है। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व की प्रमुख विशेषताएँ थीं ऊँचा सामान्य कर, एकरूपता के सिद्धान्त का अतिक्रमण, बिना शुल्क की वस्तुओं में कमी, विलासिता की वस्तुओं के आयात पर विशेष शुल्क तथा नये निर्यात-शुल्कों का लगाया जाना आदि। इधर हाल में कुछ वर्षों में मुद्रास्फीति का सामना करने के लिए निर्यात शुल्कों का उपयोग किया गया है जिससे कि निर्यात होने वाले प्रमुख माल के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्यों की विषमता से होने वाला लाभ सरकार को पहुँचे। भारत सरकार इन शुल्कों के भारतीय निर्यात-व्यापार पर पड़ने वाले प्रभावों की बराबर समीक्षा किया करती है और समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन होते रहते हैं जिससे विश्व के बाजारों में भारतीय वस्तुओं का स्थान सुरक्षित रहे।

§१८ केन्द्रीय उत्पादन शुल्क—नमक शुल्क के अतिरिक्त अन्य शुल्क केन्द्रीय सरकार द्वारा १८९४ में २० काउण्ट से ऊपर सूत पर लगाया गया कर था। १८९६ में इसे मिल के कपड़े पर उत्पादन शुल्क में बदल दिया गया। यह कदम भारतीय बाजार पर अधिकार जमाए रखने के इच्छुक लंकाशायर के मिल-मालिकों के दबाव में अन्तगत उठाये गए जिनसे देशी उद्योग की प्रतिस्पर्धा थी। भारतीय जनता ने इस राष्ट्र घातक नीति का तीव्र विरोध किया और १९२६ में जनमत ने इतनी शक्ति प्राप्त कर ली थी कि इस शुल्क को हटाना पड़ा। वर्तमान उत्पादन-शुल्कों में सबसे पहले १९१७ में मोटर के पट्रोल तथा उसके पश्चात् १९२२ में मिट्टी के तेल पर उत्पादन शुल्क लगाया गया। १९३४ में चीनी, दियासलाई और इस्पात के लट्ठों पर उत्पादन शुल्क लगाया गया। १९४१ में टायरों पर और १९४३ में वनस्पति-उत्पादों पर उत्पादन शुल्क लगाया गया। इसी वर्ष तम्बाकू पर लगाया जाने वाला कर अधिक महत्त्वपूर्ण था। यह एक नया

१ १९५५-५६ की यथार्थ एवं वित्त सम्बन्धी रिपोर्ट, पृष्ठ १८६, आँकड़े करोड़ रुपयों में हैं।

कदम था क्योंकि इसके पहले केवल संगठित उद्योगों पर ही कर लगाया जाता था। आगामी वर्षों में तम्बाकू पर लगाये गए कर के क्षेत्र एवं दर दोनों में कई परिवर्तन किये गए। इससे आय में तेजी से वृद्धि हुई। १९४४-४५ में सुपारी, काफी और चाय पर भी उत्पादन-शुल्क लगा। अगली प्रमुख घटना १९४९ में उत्पादन-शुल्क के क्षेत्र का प्रसार था। १९५४ में नकली रेशम, सीमेण्ट, साबुन और जूता पर शुल्क लगाया गया। सीमा शुल्क से होने वाली आय अपेक्षाकृत अस्थिर है, क्योंकि यह व्यापार-नीति के साथ परिवर्तित होती रहती है और विदेशी विनिमय की प्राप्यता पर भी अवलम्बित रहती है। अतः अब यह आवश्यक होगा कि उन देशी उद्योगों पर अधिक मात्रा में कर लगाया जाय जो उपभोक्ता वस्तुएँ बनाते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि वित्त मन्त्री ने १९५४-५५ में अपने बजट भाषण में कहा था, 'यह भी उचित ही है कि वे उद्योग, जो पहले संरक्षण-नीति की सहायता से विकसित हुए हैं, जिनके लिए उपभोक्ता ने शुल्क के रूप में धन दिया, अपने पूर्ण विकास की स्थिति पर पहुँचकर देश के कोष में अंशदान दें।" केन्द्रीय उत्पादन शुल्क से १९३८-३९ में ८.६६ करोड़ रुपये की आय हुई जो १९४८-४९ में बढ़कर ५०.६३ करोड़ रुपये और १९५५-५६ में संशोधित अनुमान के अनुसार १४०.०० करोड़ रुपये तक पहुँच गई।

घरेलू उपभोग की वस्तुओं पर लगने वाले करों एवं वस्तु-करों का राजकोष पद्धति में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनसे होने वाली आय, कुल आय की ४५ प्रतिशत है।

§१९ आय-कर—अपने वर्तमान रूप में भारत में आय-कर पहले पहल १८६० में लगाया गया। यह सब प्रकार की आय जिसमें कृषि आय भी शामिल है, पर लागू होता था।[1] आय कर की दर संरचना में समय-समय पर वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन होते रहे हैं। इनमें से प्रमुख परिवर्तनों का सारांश इस प्रकार है—

१९०३ कर मुक्त आय की सीमा ५०० रुपये से बढ़ाकर २००० रुपये कर दी गई।

१९१६ : सामान्य आय-कर में आरोहिता (प्रोग्रेशन) की श्रेणी लागू हो गई (आठ विशिष्ट कोष्ठों की आय के लिए कर की आठ विभिन्न दरें निर्धारित की गई)।

१९१७-२० आय-कर के अतिरिक्त एक अधिकर (सुपर टैक्स) अर्थात् अतिरिक्त युद्ध-लाभ-कर लगाया गया जिसे युद्ध की समाप्ति पर बन्द कर दिया गया।

१९२१-३१ सामान्य कर तथा अधिकर दोनों के सम्बन्ध में आरोहिता श्रेणी में संशोधन करके उसे बढ़ाया गया। कर मुक्त आय की सीमा घटाकर १००० रुपया कर दी गई।

१९३३-३९ लघु आयों पर आय-कर-दर घटा दी गई और कर-मुक्त आय की सीमा २००० रुपये कर दी गई।

---

[1] १८८६ के बाद के आय कर अधिनियमों में कृषि से होने वाली आय को कर से मुक्त रखा गया है। भारत सरकार अधिनियम, १९३५ द्वारा कृषि-आय पर कर लगाने का अधिकार प्रान्तों को दिया। इसके पश्चात् कई राज्य 'क' और 'ख' राज्यों ने कृषि आय कर लगाया।

१९३६ में वाचा समिति की रिपोर्ट के उपरान्त अविभक्त हिन्दू परिवारो को जो "सामाजिक एव आर्थिक दोनो दृष्टिकोणों से आधारभूत महत्त्व की इकाई हैं", प्रभावपूर्ण ढग से आय कर के क्षेत्र के अन्तगत किया गया।

१९३९ मे क्रम पद्धति[1] के स्थान पर खण्ड पद्धति अपनाई गई। उसी वष से १५०० रुपये की कर मुक्त धनराशि के बाद वाले खण्डो पर क्रमश वधमान दर से प्रगामी कर लगाया गया। माच, १९४० मे अतिरिक्त लाभ कर लगाया गया, जिसके द्वारा सभी युद्धजनित असाधारण लाभो पर ५० प्रतिशत कर लगा। १९३९ म हटाया गया अधिभार १९४० मे आय-कर पर फिर लगा दिया गया। १९४४ में आय-कर की अग्रिम वसूली की व्यवस्था की गई। १९४३ मे अध्यादेश सख्या १६ से यह निर्धारित किया गया कि अतिरिक्त लाभ-कर का पाँचवाँ भाग सरकार के पास जमा रहेगा। १९४४ में इसे बढाकर १९/६४ वाँ भाग कर दिया गया। अग्रिम भुगतान एव अनिवाय जमा का उद्देश्य मुद्रा स्फीति को रोकना था। १९४५ ४६ मे अर्जित' एव 'अनर्जित' आय में भेद किया गया। युद्ध-काल में करो की दरें धीरे धीरे बढती गइ।

१९४६ ४७ में उद्योग एव उद्यमो को प्रोत्साहन देने के लिए कई रिआयतें की गइ। अतिरिक्त लाभ कर हटा दिया गया। इसके स्थान पर १९४७ ४८ मे व्यापार लाभ-कर' लगाया गया। (यह कर लाभ की राशि पर लाभाश बाँटने या रक्षित कोष म राशि डालने से पूव ही समदर (फ्लट) से लगाया जाता था।) १९४७ ४८ में पूँजी-लाभ कर (कैपिटल गेंस टक्स) लगाया गया। परन्तु यह कर अनुत्पादक था और लोकप्रिय न था, इसलिए १९४९ ५० मे इसे हटा दिया गया। १९५० ५१ में व्यापार-लाभ-कर भी हटा लिया गया और आय-कर की अधिकतम दर ५ आने से घटाकर ४ आने कर दी गई। अविभक्त परिवार के लिए कर विमुक्ति (एक्जेम्पशन) सीमा बढाकर ६००० रुपये कर दी गई। अधि-कर के लिए अर्जित एव अनर्जित आय में कोई भेद नही किया गया तथा अधि कर और व्यक्तिगत करो के लिए अधिक तम सीमाएँ घटा दी गई। इस समय (१९५६) व्यक्तियों, अविभक्त हिन्दू परिवारो, ग़र रजिस्ट्रीशुदा फ़र्मों और अन्य सस्थाओ के लिए आय कर की दरें निम्न प्रकार हैं—विवाहित व्यक्तियों एव अविभक्त हिन्दू परिवारों के लिए—कुल वार्षिक आय के पहले २००० रुपये पर कुछ नही वार्षिक आय के अगले ३००० रुपया पर ९ पाई प्रति रुपया, वार्षिक आय के अगले २५०० रुपया पर १ आना ९ पाई वार्षिक आय के अगले २५०० रुपये पर २ आना ३ पाई प्रति रुपया अगले ५००० रुपये पर ३ आना ३ पाई और इससे अधिक आय पर ४ आना प्रति रुपया। इन दरो का बीसवाँ भाग अधि भार के रूप में लिया जाता है। अधि भार २०,००० रुपयो से अधिक की आय पर लगाया जाता है। कुल आय का पाँचवाँ भाग अर्जित आय हो तो उस पर

१ क्रम एव खण्ड दोनों पद्धतियों में कर की दर की क्रमिक वृद्धि होती है। यह वृद्धि निम्न आय वग से उच्च आय-वर्ग पर अधिक होती है। क्रम पद्धति में प्रत्येक रुपये पर कर की दर एक ही है, लेकिन खण्ड पद्धति में आय के प्रत्येक खण्ड पर विभिन्न दर पर कर लिया जाता है।

पर नहीं लिया जाता। कम्पनियों के लिए—हर कम्पनी के लिए आय पर ४ आने प्रति रुपया तथा कुल आय पर ४ आने या बीसवाँ भाग अधि भार के रूप में लिया जाता है। जब कुल आय २५,००० रुपये से बढ़ जाती है तो उस पर अधि-कर तथा अधि भार भी निश्चित दर से लिया जाता है।

आय एवं लाभ करों का वर्गीकरण (१) निगम-कर और (२) निगम-करों के अतिरिक्त अन्य आय पर करों में किया गया है। इन श्रेणियों में से प्रत्येक का सामान्य वसूली, अधि भार, अतिरिक्त लाभ कर और व्यापार-लाभ-कर में विभाजित किया गया है। इस विभाजन का महत्त्व इस बात में है कि निगम-कर पूरा-का-पूरा केन्द्रीय सरकार को मिलता है जब कि अन्य आय करों में राज्यों को भी हिस्सा मिलता है। संघीय वित्त-व्यवस्था में आय-कर एक सन्तुलनकारी तत्त्व है, जिससे राज्यों एवं संघ को उनकी आवश्यकताओं के अनुसार आय मिलती रहती है।

§२० आय के अन्य साधन—अफ़ीम, नमक, टंकन, डाक तार एवं सम्पदा शुल्क केन्द्रीय सरकार की आय के अन्य स्रोत हैं। इनमें से कुछ का स्वरूप व्यापार-करों के समान है। उदाहरणार्थ अफीम से जो आय होती है उसे 'एकाधिकार लाभ' माना जा सकता है क्योंकि इसके उत्पादन एवं वितरण का एकाधिकार केन्द्रीय सरकार के पास है। पोस्त केवल अनुज्ञप्ति की प्राप्ति पर ही उगाया जा सकता है और सब उत्पादन सरकार को ही बेचना पड़ता है। अफीम सरकारी कारखानों में बनती है। पिछले कुछ वर्षों में केन्द्रीय सरकार को इस मद में कुछ हानि होती रही है। आन्तरिक उपभोग के लिए अफीम राज्य सरकारों को बेची जाती है तथा मुख्यतया दवाइयों में डालने के लिए बाहर भेजी जाती है—देश में मद्य निषेध को देखते हुए जो १९४९ से दस वर्ष में पूरा होने को है, देश में अफीम की बिक्री धीरे धीरे कम हो जायगी। पिछले अध्याय (देखिए अध्याय १६) में इस बात का विवेचन हो चुका है कि रेलवे-परिवहन से कितनी आय होती है। डाक व तार से केन्द्रीय सरकार को प्रतिवर्ष लगभग डेढ़ करोड़ रुपये की आय होती है।

§२१ सम्पदा-शुल्क—सम्पदा शुल्क अधिनियम १९५३ में पास किया गया और १५ अक्तूबर, १९५३ से लागू हो गया। यह उत्परिवर्तन (म्युटेशन) कर है जो सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार लगाया जाता है, जब वह एक आदमी की मृत्यु पर दूसरे के हाथ में जाती है। इसमें इस बात पर विचार नहीं किया जाता कि किस व्यक्ति या व्यक्तियों के हाथ में यह जा रही है। सम्पदा शुल्क के निर्धारण के लिए सम्पूर्ण सम्पत्ति को—कुछ अपवादों के साथ—जो कि किसी व्यक्ति की मृत्यु पर दूसरे के हाथ में जाती है या जाने योग्य समझी जाती है एकत्र करके एक सम्पदा मान लिया जाता है। सम्पत्ति की कुछ ऐसी भी मदें हैं जो यद्यपि कर-मुक्त हैं फिर भी सम्पदा का पूर्ण मूल्यांकन करते समय ध्यान में रखी जाती हैं जैसे गैर-अनुसूचित राज्यों में कृषि भूमि।

कर योग्य सम्पदा के मूल्य-निर्धारण में कुछ खर्च घटाए जा सकते हैं जैसे (१) १००० रुपये तक अन्त्येष्टि व्यय, (२) वास्तविक ऋण (जिसमें सम्पदा कर भी

शामिल हैं) और अन्य भार (एनकम्ब्रेंसिज) (३) ५००० रुपयो तक के दहेज ऋण और (४) विदेशी सम्पत्ति को प्राप्त करने या उसका प्रबन्ध करने का व्यय, जो कि सम्पत्ति के मूल्य के ५ प्रतिशत से अधिक नही होना चाहिए। सम्पत्ति के मूल्य के प्रत्येक खण्ड (स्लैब) पर वर्धमान दरें लागू होती हैं। संयुक्त हिन्दू-परिवार की सम्पत्ति के ५०,००० रुपयो के प्रथम खण्ड पर कोई कर नही लगाया जायगा। कुछ अन्य दशाओं मे सम्पत्ति के मूल्य के पहले १,००,००० रुपये पर यह शुल्क नहीं लगेगा। कुछ प्रकार की सम्पत्ति पर कर नही लगता, जैसे निरपेक्ष उपहार, यदि छ महीने के अन्दर किसी धर्मार्थ संस्था को दिया गया हो, या अन्य उपहारो के लिए दो वर्ष की कालावधि के अन्दर दिया गया हो, बशर्ते कि जिसको दान दिया गया हो, उसने दाता को अधिकार से तुरन्त अलग करके अधिकार ले लिया हो और दाता को उससे भविष्य में कोई लाभ होने की सम्भावना न हो और न ही इस सम्बन्ध मे कोई गुप्त समझौता हो। इस शुल्क की कुल आय को उन प्रान्तो के बीच वितरित किया जायगा जहाँ वे वसूल किये गए हो। वे सम्पदा शुल्क तथा उत्तराधिकार शुल्क राज्यो के क्षेत्राधिकार में हैं, जो कृषि भूमि पर लगाये जायेंगे।

कर जाँच आयोग ने सुझाव रखा था कि सरकार को विमुक्ति सीमा को घटाने की उपादेयता पर विचार करना चाहिए। साथ ही इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि उस काल को, जिसमें दिये गए उपहार पर सम्पदा शुल्क लगाया जा सकता हो, २ वर्ष से बढ़ाकर ५ वर्ष कर दिया जाय।

§२२ **नमक कर**—नमक कर बडा ही पुराना कर था, जिसे ब्रिटिश सरकार ने भारतीय वित्तीय पद्धति का अंग बना दिया था और जो १८८२ से १९४७ तक विभिन्न स्तर पर कायम रखा गया, यद्यपि जनता इसका तीव्र विरोध करती रही। विरोध का आधार यह था कि यह जीवन की एक आवश्यक वस्तु पर लगाए जाने के कारण प्रतिगामी (रिग्रेसिव) कर है। किन्तु ब्रिटिश सरकार इसका परित्याग करने के लिए तैयार न थी। उसका तर्क था कि इसका भार बहुत कम है और साथ ही जनता प्राचीन काल से इसकी आदी हो गई है। लेकिन इसके हटाने से आय मे बहुत कमी होगी।[1] इसका समर्थन इस सैद्धान्तिक आधार पर किया जाता था कि यही एकमात्र कर है जो दरिद्र से-दरिद्र व्यक्ति से भी लिया जा सकता है और उसे नागरिक के रूप में अपनी राजनीतिक जिम्मेदारी के प्रति सजग किया जा सकता है।

बहुत देर तक इस कर के विरुद्ध जन आन्दोलन चला लेकिन सरकार इस पर डटी रही। परिणाम यह हुआ कि नमक कर का प्रश्न प्रथम कोटि का राजनीतिक प्रश्न बन गया और यह कर विदेशी शासन का प्रतीक बन गया। अत इस पर आश्चर्य न होना चाहिए कि स्वतन्त्र भारत में पहला कदम यह उठाया गया कि नमक-कर हटा दिया गया।

अब चूँकि प्रश्न का राजनीतिक महत्त्व नही रहा, इसे आर्थिक प्रश्न समझ-

१ यह कर १९४७ में हटाया गया। इससे पहले के ६ वर्षों में इससे ८ करोड़ और ११ करोड़ रुपये के बीच आय होती थी।

कर इस पर विचार किया जा सकता है। मालूम होता है, कर जाँच आयोग ने यह सोचा कि अब चूँकि जनता के उपभोग की अनेक वस्तुओं पर कर लगाया गया है और कितने ही नवीन करों की भविष्य में लगाए जाने की सम्भावना है जिनसे अपेक्षाकृत अधिक आय होगी, इसलिए अब नमक कर की कोई आवश्यकता नहीं रही। साथ ही विक्रय कर या विकास किया गया है जिनका क्षेत्र व्यापक है और जिनका भार नमक-कर जैसा ही है। किन्तु यह विचार आयोग की इस विचारधारा से मेल नहीं खाता कि विभिन्न विकास-योजनाओं के लिए धन जुटाने की दृष्टि से जन साधारण के उपभोग की कुछ और वस्तुओं पर कर लगाना सम्भव और वांछनीय है।[1]

आयोग को यह डर था कि नमक कर के फिर लगाने से जनता इसका विरोध करेगी। लेकिन यह डर अतिरंजित भी हो सकता है। प्रत्येक नवीन कर की भाँति नमक-कर के फिर लगने से एक बार असन्तोष की ध्वनि तो उठेगी। लेकिन यदि, जैसा कि सभी मानते हैं, इसका बोझ बहुत कम पड़ेगा, तो सम्भावना यह है कि शीघ्र ही जनता इसे ग्रहण कर लेगी। जो भी हो, यदि पहले जनता को यह सिखाया गया था कि वह नमक-कर से घृणा करे तो अब उन्हें इसे फिर से पसन्द करने की शिक्षा दी जा सकती है या कम-से-कम इसे बरदाश्त करने के लिए कहा जा सकता है। एक लोकप्रिय सरकार का प्रचार-यन्त्र इस काम को पूरा करने में समर्थ हो सकता है और होना चाहिए। संक्षेप में, यदि विकास योजनाओं की पूर्ति के लिए कर भार बढ़ाना ही है तो नमक कर के फिर लगाने के विचार के परित्याग का कोई कारण नहीं दीखता—इसमें आय-वृद्धि के हर सम्भव साधन का उपयोग करना होगा।[2]

४२३ कॉलडर रिपोट—भारत की सांख्यिकी संस्था ने कैम्ब्रिज के प्रसिद्ध अर्थ शास्त्री प्रो० कॉलडर को भारत बुलाया और उनसे प्रार्थना की कि वे दूसरी पंचवर्षीय योजना की वित्तीय आवश्यकताओं के प्रकाश में कर-पद्धति की जाँच करें। प्रो० कॉलडर ने अपना ध्यान वैयक्तिक एवं व्यापारिक करों पर केन्द्रित करने का निर्णय किया। उन्होंने जनवरी १९५६ में कार्य प्रारम्भ किया और मार्च, १९५६ के अन्त तक काम में लगे रहे और तब उन्होंने भारत सरकार के वित्त मन्त्री को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

मिस्टर कॉलडर के मत में भारत की वर्तमान प्रत्यक्ष कर प्रणाली असमतापूर्ण एवं कुशलताहीन है। यह असमतापूर्ण इसलिए है कि वर्तमान कर प्रणाली के आधार —'आय' की वैधानिक परिभाषा दोषपूर्ण है और यह कर-क्षमता का त्रुटिपूर्ण

१ ध्यान रहे कि जन-साधारण [illegible] वस्तुओं पर 'प्रगतिशील कर' [illegible] सिद्धान्त में नहीं तो व्यवहार में, छोड़ दिया गया है।

२ [illegible] नवम्बर, १९५५ को एक प्रेस सम्मेलन में वित्त-मन्त्री श्री सी० डी० देशमुख ने कहा कि नमक कर पुनः [illegible] है, जिसे पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता [illegible] नहीं। यह भी सम्भव है कि श्री देशमुख का कोई उत्तराधिकारी, किसी [illegible] आवश्यकता पर, फिर से इस पुराने कर को प्रारम्भ करने के लिए तैयार हो जाय।

मानदण्ड है। यह अकुशल इस अर्थ में है कि इसमें बड़ी मात्रा में कर देने से बच जाना अपेक्षाकृत सरल है।[1] इस कर अपवञ्चन (टैक्स इवेजन) को रोकने के लिए उन्होंने चार नये करों के लगाने का सुझाव दिया है—पूँजी-लाभ कर, सम्पत्ति पर एक वार्षिक कर, वैयक्तिक व्यय कर (१०,००० रुपये प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष से अधिक व्यय पर) और एक सामान्य उपहार-कर। इनका निर्धारण आय कर के साथ ही, एक व्यापक ब्यौरे के आधार पर किया जाय। इसमें एक कर से बच निकलने का अभिप्राय होगा दूसरे कर में अधिक देना। एक कर देने वाले से प्राप्त सूचना अन्य व्यक्तियों के कर देय लाभों को प्रकाश में लायेगी। वैयक्तिक आय कर के सम्बन्ध में मि० कॉलडर का मत है कि इसकी न्यूनतम दर ४५ प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए (वर्तमान दर ९२ प्रतिशत है)। उनका कहना है कि योजना की लक्ष्य-पूर्ति के प्रयास में, भारत के थोड़े-से धनी लोगों पर प्रत्यक्ष और प्रगतिशील करों से अतिरिक्त भार की पूर्ति होगी और जनसाधारण पर बढ़े हुए करों या मुद्रास्फीति से बढ़े हुए मूल्यों के कारण पड़ने वाले भार में कमी होगी। यदि ऐसा न हुआ तो योजना पर किये गए वृहत् व्यय से धनिक वर्ग की आय में तो वृद्धि होगी और कठिनाइयों का अधिकाधिक सामना बहुसंख्यक दरिद्र वर्ग को करना होगा।

कर जाँच आयोग की भाँति श्री कॉलडर का भी यह मत है कि लगान की दरें बढ़ाई जायें (इस समय इसकी मात्रा कृषि उत्पादन का १ प्रतिशत है और इसमें वृद्धि होने की काफी दिनों से आवश्यकता है।) उनका यह भी सुझाव है कि यदि आवश्यकता पड़े तो जनसाधारण के व्यापक उपभोग की थोड़ी-सी वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क लगाया जाय।[2]

§२४ केन्द्रीय आय व्यय का लेखा (राजस्व लेखा)—केन्द्रीय सरकार के आय-खाते की आय-व्यय की मुख्य मदें पृष्ठ ४२२ की तालिका पर दी गई हैं।[3]

केन्द्रीय आय का लगभग आधा भाग राष्ट्रीय प्रतिरक्षा में व्यय होता है। राज्यों के खर्च को मिलाकर कुल सरकारी व्यय का २५ से २९ प्रतिशत प्रतिरक्षा पर खर्च होता है। यह भी ध्यान रखना होगा कि सामान्य बजट में सम्पूर्ण व्यय आ जाता है जिसमें वस्तुतः बहुत सा पूँजी-व्यय भी शामिल होता है। साथ ही प्रतिरक्षा व्यय में कितने ऐसे भी पद आते हैं जो कि सचमुच सैनिक पद नहीं हैं, जैसे राज्यपालों के गृह-कर्मचारी। पुराने देशी राज्यों में सैन्य-संगठन एवं प्रशासन के सम्बन्ध में बहुत-

---

१ श्री कॉलडर के मत में प्रतिवर्ष ३०० करोड़ रुपया आय कर वसूल नहीं हो पाता। केन्द्रीय राजस्व मण्डल का अनुमान इससे लगभग आधा है।

२ सरकार कॉलडर रिपोर्ट का अध्ययन कर रही है, लेकिन कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि वह उसके पक्ष में नहीं है। सरकार का मत है कि कॉलडर योजना से भ्रष्टाचार और कष्ट की वृद्धि होगी। वैयक्तिक आय-कर की मात्रा ४५ प्रतिशत निर्धारित करने का अर्थ होगा काफी आय का परित्याग, जो स्वीकार्य न होगी। यह भी सम्भव नहीं लगता कि सरकार लगान बढ़ाकर लोकप्रियता से हाथ धोने के लिए तैयार होगी।

३ 'जर्नल आफ इण्डस्ट्री एण्ड ट्रेड' विशेषांक मार्च, १९५६, पृष्ठ २८।

सा प्रारम्भिक व्यय किया जाता है। और फिर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की अशान्त दशा, कश्मीर की समस्या हैदराबाद मे पुलिस-कार्यवाही, इत्यादि में प्रतिरक्षा पर अवश्य अधिक व्यय करना पडा है। इसमें सन्देह नही कि इस प्रकार की परिस्थितियों का सामना करने के लिए जो व्यय करना पडा है वह अस्थायी व्यय है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की सशस्त्र सेना पर जो अधिक जिम्मेदारी आ पडी है उसके कारण निकट भविष्य मे प्रतिरक्षा-व्यय के कम होने की सम्भावना नही है।

आय व्ययक में असैनिक प्रशासन (सामान्य प्रशासन) पर होने वाले व्यय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। १९५४ ५५ मे सामान्य प्रशासन पर होने वाला अनुमानित व्यय ८६ ०८ करोड रुपये था जब कि सम्पूर्ण व्यय ४६७ ०६ करोड रुपये था। यह १९४८ ४९ में सघ के चालू व्यय का ७ प्रतिशत, १९५० ५१ मे १० प्रतिशत, १९५१-५२ में १४ प्रतिशत तथा १९५४ ५५ मे (अनुमानित) १८ प्रतिशत हो गया। इसका आशिक कारण मूल्य स्तर मे वृद्धि है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त प्रशासकीय सस्थापनों में बडा प्रसार हुआ है। सरकारी कर्मचारियों के महगाई भत्ते में वृद्धि हुई है, जिसका कारण जीवन यापन-व्यय में वृद्धि तथा प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली मे होने वाला अधिक व्यय है।[1] जनसख्या की वृद्धि तथा नागरिक क्षेत्रों में जनसख्या के केन्द्रित होने से शान्ति एव व्यवस्था, आवास और जन स्वास्थ्य के कारण भी व्यय में काफ़ी वृद्धि हुई है।

सरकारी कार्य के बढ जाने के कारण अनेक नये मन्त्रालयो की स्थापना हुई है और बहुत से नये व्यय हुए हैं जैसे कि सूचना एव प्रसार-सेवाओं के विकास पर व्यय, विभिन्न विनियामक उपचारो के, विशेषत श्रम एव उद्योग के सम्बन्ध मे, प्रशासकीय व्यय, विस्थापितो की सहायता एव पुनर्वासन का व्यय[2], आयात किये गए अन्नो से सम्बन्धित खाद्य-सहायता, जिसका कुल व्यय १९४७-४८ से १९५२ ५४ तक (जब तक कि सहायता दी जाती रही) ९८ करोड रुपये था, अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों तथा पिछडी हुई जातियो की दशा सुधारने के लिए किया गया व्यय, इस कार्य के लिए राज्यो को दिया गया सहायता अनुदान, समाज सेवा, सामुदायिक विकास परियोजनाए, राष्ट्रीय प्रसार सेवा और समाज कल्याण आदि के लिए राज्यों को दिया गया अनुदान, शिक्षा, जन स्वास्थ्य एव समाज सेवाओं की गति को तेज करने के लिए शुरू की गई योजनाओ पर किया गया व्यय, एव कुटीर उद्योग धन्धों को प्रोत्साहित करने के लिए किया गया व्यय। राजस्व आय-व्ययक (रवेन्यू बजट) में सम्मिलित की गई कुछ विकास योजनाएँ ये हैं—ग्रामोद्योगों और छोटे पमाने के उद्योगो को अनुदान, प्रसारण (ब्राडकास्टिंग) का विकास, भारतीय खान कार्यालय का प्रसार, भारतीय कृषि अनुसन्धान सस्था की विविध

१ यह बात राज्य सरकारों पर भी लागू होती है।

२ ३१ मार्च, १९५४ तक केन्द्रीय सरकार ने इस मद में १६१ करोड रुपया व्यय किया। इसमें ४० करोड रुपये के ऋण तथा राज्यों को दिये गए अनुदान, जो कि ८५ करोड रुपये थे, शामिल नहीं हैं (कर-जाँच आयोग की रिपोर्ट, खण्ड १, पृष्ठ ३८)।

केन्द्रीय सरकार की आय और व्यय (राजस्व लेखा)

(आँकड़े करोड़ रुपयों में हैं)

आय	१९५५ ५६ संशोधित अनुमान	१९५५ ५६ बजट अनुमान	व्यय	१९५५-५६ संशोधित अनुमान	१९५५-५६ बजट अनुमान
सीमा शुल्क	१६८ ००	१५० ००	आय पर प्रत्यक्ष भार	३३ ०८	३७ १५
संघीय उत्पादन शुल्क	१४० ००	१४५ ४५(+२८ ००)[1]	सिंचाई	० १२	० ०५
निगम कर	३६ ८४	४१ ४५(+६ ५०)	ऋण सेवाएँ	३७ ८५	२५ ५०
निगम कर के अतिरिक्त आय-कर	७८ ७०	८४ ८१(+१ ७०)	असैनिक प्रशासन	१०५ ४१	१३५ ६१
सम्पत्ति शुल्क	० १३	० १८	चलार्थ एवं टकन	३ ५१	३ ७६
अफीम	२ २७	२ १०	नागरिक कार्य एवं अकीर्ण जन सुधार कार्य	१४ ६५	१५ ६०
ब्याज	४ २२	५ ४६	राज्यों के अनुदान इत्यादि	३८ ७६	३८ ००
असैनिक प्रशासन	१४ २१	११ ०६	असाधारण मदें	१३ ३६	१४ ७०
चलार्थ एवं टकन	२१ १३	२३ ९७	प्रतिरक्षा सेवाएँ	१८५ ०७	२०३ ९७
नागरिक कार्य	२ २८	२ ३६	प्रकीर्ण	६० १२	६० ४८
आय के अन्य स्रोत	२३ ३५	१६ ३६			
डाक और तार, सामान्य आय में अंशदान	२ २७	० ६५(+० ६५)			
रेलवे, सामान्य आय में अंशदान	६ १७	६ ८७			
	५०१ ९७	४६३ ९०(+३४ १५)		४८६ ३७ बचत (+)२१ ३१	५४५ ४३ घाटा (+) १७ ६८

१ प्रकोष्ठों में दिये गए आँकड़ों से पता चलता है कि १९५६ के आय-व्ययक के प्रस्तावों का क्या प्रभाव पड़ा।

सा प्रारम्भिक व्यय किया जाता है। और फिर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की अशान्त दशा, कश्मीर की समस्या हैदराबाद मे पुलिस-कार्यवाही, इत्यादि में प्रतिरक्षा पर अवश्य अधिक व्यय करना पडा है। इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार की परिस्थितियो का सामना करने के लिए जो व्यय करना पडा है वह अस्थायी व्यय है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश की सशस्त्र सेना पर जो अधिक जिम्मेदारी आ पडी है उसके कारण निकट भविष्य मे प्रतिरक्षा-व्यय के कम होने की सम्भावना नहीं है।

आय-व्ययक में असैनिक प्रशासन (सामान्य प्रशासन) पर होने वाले व्यय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। १९५४ ५५ मे सामान्य प्रशासन पर होने वाला अनुमानित व्यय ८६ ०८ करोड रुपये था जब कि सम्पूर्ण व्यय ४६७ ०९ करोड रुपये था। यह १९४८ ४९ में सघ के चालू व्यय का ७ प्रतिशत, १९५० ५१ मे १० प्रतिशत, १९५१-५२ में १४ प्रतिशत तथा १९५४ ५५ मे (अनुमानित) १८ प्रतिशत हो गया। इसका आशिक कारण मूल्य स्तर मे वृद्धि है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त प्रशासकीय सस्थापनों में बडा प्रसार हुआ है। सरकारी कर्मचारियो के महगाई भत्ते में वृद्धि हुई है, जिसका कारण जीवन यापन-व्यय में वृद्धि तथा प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली मे होने वाला अधिक व्यय है।[1] जनसख्या की वृद्धि तथा नागरिक क्षेत्रों में जनसख्या के केन्द्रित होने से शान्ति एव व्यवस्था, आवास और जन स्वास्थ्य के कारण भी व्यय मे काफी वृद्धि हुई है।

सरकारी कार्य के बढ जाने के कारण अनेक नये मन्त्रालयो की स्थापना हुई है और बहुत से नये व्यय हुए हैं, जसे कि सूचना एव प्रसार-सेवाओ के विकास पर व्यय, विभिन्न विनियामक उपचारो के, विशेषत श्रम एव उद्योग के सम्बन्ध मे, प्रशासकीय व्यय, विस्थापितो की सहायता एव पुनर्वासन का व्यय[2], आयात किये गए अन्नो से सम्बन्धित खाद्य-सहायता, जिसका कुल व्यय १९४७ ४८ से १९५२ ५४ तक (जब तक कि सहायता दी जाती रही) ९८ करोड रुपये था, अनुसूचित जातियों, आदिम जातियो तथा पिछडी हुई जातियों की दशा सुधारने के लिए किया गया व्यय, इस कार्य के लिए राज्यो को दिया गया सहायता अनुदान, समाज सेवा, सामुदायिक विकास परियोजनाए, राष्ट्रीय प्रसार सेवा और समाज कल्याण आदि के लिए राज्यों को दिया गया अनुदान, शिक्षा जन स्वास्थ्य एव समाज सेवाओं की गति को तेज करने के लिए शुरू की गई योजनाओ पर किया गया व्यय, एव कुटीर उद्योग धन्धो को प्रोत्साहित करने के लिए किया गया व्यय। राजस्व आय व्ययक (रेवेन्यू बजट) में सम्मिलित की गई कुछ विकास योजनाएँ ये हैं—ग्रामोद्योगों और छोटे पैमाने के उद्योगो को अनुदान, प्रसारण (ब्राडकास्टिंग) का विकास, भारतीय खान कार्यालय का प्रसार, भारतीय कृषि अनुसन्धान-सस्था की विविध

१ यह बात राज्य सरकारों पर भी लागू होती है।

२ ३१ मार्च, १९५४ तक केन्द्रीय सरकार ने इस मद में १६१ करोड रुपया व्यय किया। इसमें ४० करोड रुपये के ऋण तथा राज्यो को दिये गए अनुदान, जो कि ८५ करोड रुपये थे, शामिल नहीं है (कर-जाँच आयोग की रिपोर्ट, खण्ड १, पृष्ठ ३८)।

केन्द्रीय सरकार की प्राप्ति और भुगतान (पूंजी लेखा)

(आंकड़े करोड़ रुपयों में)

प्राप्ति	१९५५-५६ संशोधित अनुमान	१९५६-५७ बजट अनुमान	भुगतान	१९५५-५६ संशोधित अनुमान	१९५६-५७ बजट अनुमान
नये ऋण	११३ ४१	१४० १०	पूंजीगत व्यय		
ऋणों का अन्तर्राष्ट्रीय निबटारा	० ९२	—	गैर विकास		
राजकोष हुण्डियां (शुद्ध)	२४० ००	३५६ २१[1]	प्रतिरक्षा	२० ४०	२६ ३०
निक्षेप प्राप्ति (शुद्ध)	—	—	पेंशनों के पूंजीकृत मूल्य का भुगतान	—९ ०६	—९ ०१
बचत प्रमाणपत्र (शुद्ध)	४ २८	५ ००	राज्य व्यापार-योजनाएँ	—११ ०३	९ ५१
छोटी बचत	६० ५५	६४ ९५	चलार्थ, टकसाल और सुरक्षा मुद्रण प्रेस	८ ९८	१ २१
दूसरे अनिश्चितकालीन ऋण (शुद्ध)	१७ ४७	१९ २३	अन्य[3]	० ९७	२६ २७
रेलवे कोष (शुद्ध)	—० ८९	८ ९९			
अन्य रक्षित कोष (शुद्ध)	० ३४	० ६८	कुल	१० २६	५४ २८
ऋण में कमी या उसे हटाने के लिए विनियोग	५ ००	५ ००	विकास		
अतिरिक्त लाभ-कर और आय-कर निक्षेप (शुद्ध)	—१ ४५	—० ९५	रेलवे	७२ ०८	११३ ४३
राज्यों द्वारा ऋणों का भुगतान	२६ ९१	२७ ०१	डाक व तार	१० ७३	९ ७५
विशेष विकास निधि	४८ २८	४६ २४	असैनिक उड्डयन	४ ९१	३ ३७
आकस्मिकता निधि	—	—	सिंचाई व बहुमुखी नदी योजनाएं	३ १६	२ ५५
अन्य मदें (शुद्ध)	४१ ००	३८ ९९	असैनिक कार्य	१९ १९	२८ ३०
कुल आय	५५६ २१	७०४ २६	औद्योगिक विकास	१५ ८८	७८ ९०
अतिरेक (+) या घाटा (—)	+५ ५२	+१८ ६३[1]	अन्य[4]	२३ ५२	२८ ४९

			कुल विकास व्यय	१८६ ४७	२६२ ४६
			कुल पूँजीगत व्यय	१६६ ७३	३१६ ७४
			स्थायी ऋण की समाप्ति	७३ १५	४ ५६
			ऋणों का अन्तर्राज्यिक निबटारा	० ६८	० ०६
			राज्यों को अग्रिम	२५४ २६	२७८ ०६
			विशेष विकास निधि से	७ ४४	५ ००
			अन्य ऋण और अग्रिम (शुद्ध)	४८ ४३	८१ २१
			कुल भुगतान	५५० ६६	६८५ ६३

१ कर सम्बन्धी रियायतों में समायोजित।

२ प्राप्तियों में (क) अमरीका से प्राप्त (ऋण के) गेहूँ और कोलम्बो योजना के अन्तर्गत प्राप्त गेहूँ की बिक्री से प्राप्त धन और (ख) कोलम्बो योजना और (ग) भारत अमरीका प्राविधिक सहायता करार के अन्तर्गत प्राप्त सहायता शामिल हैं।

३ इसमें आकस्मिकता निधि, अमरीका से (ऋण की) प्राप्त गेहूँ के मूल्य का स्थानान्तरण और विस्थापित व्यक्तियों को भुगतान शामिल है।

४ नगरपालिकाओं और राज्यों को विकास-कार्यों के लिए दिये गए अनुदानों आदि सहित।

वर्ष	कुल अर्जन	व्यय	वास्तविक आय
१६४७ ४८	१७६ ७०	१५६ ००	१७ ७०
१६४८ ४६	२२५ ७०	१७८ ००	४७ ७०
१६४६ ५०	२५० ६०	२०१ ४०	४६ २०
१६५० ५१	२६२ ६०	२१२ ७०	४६ ६०
१६५१-५२	२६७ १६	२२६ ४१	६१ ७५
१६५२ ५३	२७० ८७	२२३ ६६	४७ १८
१६५३ ५४	२७४ ६०	२३७ ६८	३६ ६२
१६५४ ५५	२८२ ७०	२४१ ३४	४१ ५३
१६५५-५६	२६२ ५५	२४६ ३४	४३ २१

सामान्य राजस्व एवं अन्य कोषों को दिये जाने वाला अंशदान निम्न तालिका में प्रदर्शित किया गया है।[1]

वर्ष	अवक्षयण	विकास कोष	राजस्व रक्षित कोष	सामान्य राजस्व को लाभांश
१६४८-४६	११ २६	—	—	७ ३४
१६४६ ५०	११ ५८	—	—	७ ००
१६५०-५१	३० ००	१० ००	५ ०५	३२ ५१
१६५१-५२	३० ००	१० ००	१८ ३४	३३ ३५
१६५२ ५३	३० ००	१२ ००	१ १६	३३ ६६
१६५३ ५४	३० ००	२ ५६	—	३४ ३६
१६५४ ५५	३० ००	६ १०	—	३४ ६६
१६५५ ५६ (संशोधित अनुमान)	४५ ००	२ ४४	७ १४	३६ १६

लगी हुई पूँजी, ३१ अगस्त, १६४७ में ६७८ करोड़ रुपये थी, १६५५ ५६ (बजट अनुमान) में बढ़कर ६६१ ०७ करोड़ रुपये हो गई थी। पहली पंचवर्षीय योजना के लिए रेलों ने १६५१-५६ तक १११ करोड़ रुपये का अंशदान दिया।[2]

एक रेलवे आय-व्ययक नीचे दिया जाता है, जिससे पता चलेगा कि इसमें आय और खर्च की क्या मुख्य मदें होती हैं।[3]

---

१ आँकड़े करोड़ रुपयों में हैं (यातायात एवं वित्त-सम्बन्धी रिपोर्ट, १६५०-५१ से १६५५-५६)।
२ इस्टर्न इकानोमिस्ट-बजट अंक, २ मार्च, १६५६, पृष्ठ ३४७।
३ यातायात और वित्त-सम्बन्धी रिपोर्ट, १६५५-५६, पृष्ठ १६४, आँकड़े करोड़ रुपयों में हैं।

	१९५५ ५६ सशोधित अनुमान	१९५६ ५७ बजट अनुमान		१९५५ ५६ सशोधित अनुमान	१९५६ ५७ बजट अनुमान
कुल पूँजी	९७३ ९६	१,०८७ ०८	अवक्षयण	४५ ००	४५ ००
कुल प्राप्ति	३१४ १८	३४५ ०५	चालू लाइनों को भुगतान	० २५	० २०
यात्री	१०८ ५०	१११ ४०	फुटकर आय	६ ०४	१३ ०९
अन्य यात्री	२० ५०	२१ ८०	चालू लाइनों के आय	६ ९९	१० ८२
माल	१८० ००	२०५ ५०	अन्य	२ ०५	२ ७७
अन्य आय	५ १०	६ ३०	शुद्ध आय	४५ ७४	६२ ६६
फुटकर	० ०८	० ०५	सामान्य राजस्व में अशदान	३६ १६	३९ ६७
कुल खर्च	२६८ ४४	२४२ ३९	अतिरेक	९ ५८	२२ ९९
प्रशासनीय	३१ ८९	३४ ५१	विकास कोष में डाली		
मरम्मत आदि	७९ ८१	८२ ७२	गई राशि	२ ४४	२२ ९९
संचालक वर्ग	४९ ८१	५२ ८७	राजस्व रक्षित कोष	७ १४	—
सचालन (ईंधन)	२३ ८९	२४ ९६			
संचालन (अन्य)	९ ३४	९ ३१			
फुटकर	१५ १३	१४ ६७			
श्रम कल्याण	५ २८	५ ६३			
उचन्ती खाना	—१ ००	—० ५९			

§२७ दो विश्वयुद्धों के बीच भारतीय वित्त—सामान्य रूप से यह सत्य है कि प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ से ही केन्द्रीय बजट में आय की तुलना में व्यय के बढ़ने की प्रवृत्ति रही है। कुल घाटा १९२० २१ के २६ करोड रुपये से १९३४ ३५ के ३६ करोड रुपये के बीच रहा है। व्यय के बढने और आय के कम होने का कारण युद्ध और व्यापार की मन्दी था। १९२९-३० म प्रारम्भ होने वाली आर्थिक मन्दी कुछ वर्षों तक एक प्रमुख कारण रही। व्यय की वृद्धि और आय की कमी के लिए प्रमुख रूप से क्रमश युद्ध एव आर्थिक मन्दी उत्तरदायी हैं जिनसे आय मे कमी हुई है। १९३०-३१ और १९३१ ३२ क बजट में क्रमश ११ ५८ और ११ ७५ करोड रुपये का घाटा रहा। सरकार को कठोर उपायो, जसे छटनी, वतन-कटौती कर म १० प्रतिशत व्यापक वृद्धि आदि को धारण लेनी पडी है, जिससे १९३० ३१ और १९३१-३२ क बीच ४२ करोड रुपये की आय हुई। बाद के वर्षों में पासा पलटा और १९३२ ३३ १९३३ ३४, १९३४ ३५ तथा १९३५ ३६ के बजट में कुछ थोडी सी बचत दिखाई पड़ी। इस अवधि में करो मे थाडी-सी छूट सम्भव हो सकी। १९३३ ३४ में आय-कर की दर में १००० रुपये स १४९९ रुपये के वग म काफी कमी (८ पाई से २ पाई) की गई। कच्चे चमडे पर स निर्यात कर हटा लिया गया और रजत-कर कम कर दिया गया। १९३५ ३६ में २ २९ करोड रुपये की बचत हुई क्योंकि सामान्य व्यापारिक स्थिति सुधर रही थी। चार आगामी वर्षों के आँकडे आगे दिये जा रहे हैं।

	आय	व्यय	घाटा या बचत
१९३६ ३७	११९ २१	१२१ ००	—१ ७९
१९३७-३८	१२२ ४८	१२२ ४८	—
१९३८ ३९	१२१ ०७	१२१ ७१	—० ६४
१९३९ ४०	१२३ ८७	१२३ ६७	—

§२८ १९३९ से आगे का काल—भारतीय वित्त पर मार्च, १९४० तक द्वितीय विश्व युद्ध का भार नही पड़ा । १९३९ ४० का बजट व्यापारिक मन्दी मे प्रस्तुत किया गया था, जिसमें ५० लाख के घाटे का अनुमान किया गया था और जिसकी पूर्ति कपास पर लगाये गए कर को ६ पाई से १ आना करके की गई थी । सितम्बर, १९३९ से मार्च, १९४० का काल बडी समृद्धि का समय सिद्ध हुआ और वर्ष के अन्त पर ७७७ लाख रुपये की बचत हुई । अधिक आयात निर्यात-कर, रेलवे आय और आय-कर से राजस्व में ६८१ लाख रुपये की वृद्धि हुई ।

युद्ध-जनित कठिनाइयो का प्रारम्भ १९४० ४१ के बजट से हुआ जिसमें ५२ ५२ करोड रुपये के प्रतिरक्षा-व्यय की व्यवस्था करनी पडी और इसमे ६२५ लाख रुपये का घाटा हुआ । इस घाटे की पूर्ति के लिए ५० प्रतिशत अतिरिक्त लाभ-कर, प्रति हड्रेडवट चीनी पर १ रुपया की दर से अतिरिक्त शुल्क लगाने और पट्रोल पर ७ आना और अधिक कर लगाने की योजना बनी । ज्यो-ज्यों वर्ष बीतता गया, ऐसा लगा कि व्यय अनुमान से कहीं अधिक होगा । प्रतिरक्षा-व्यय मे साढ़े चौदह करोड रुपये और अधिक व्यय की माँग हुई और असैनिक व्यय में ढाई करोड रुपये की । अत एव तत्कालीन वित्त मन्त्री सर जरेमी रेजमन को नवम्बर, १९४० में दूसरा वित्त विधेयक प्रस्तुत करना पडा आय के सभी करों पर २५ प्रतिशत सघीय अधिभार लगाना पड़ा और डाक-दरें बढा दनी पडी । ५ लाख की अनुमानित बचत के स्थान पर वर्ष की समाप्ति पर ८ ४२ करोड रुपये का घाटा हुआ । यह अन्तिम घाटा नवम्बर, १९४० मे अनुमानित १५ करोड रुपये से काफी कम था । इस कमी का कारण रेलवे द्वारा २ ८२ करोड रुपये बकाया की अदायगी तथा नये करो से होने वाली अधिक आय थी । ऋण से बचत या ऋण घटाने के लिए जो ३ करोड रुपये की व्यवस्था की गई थी, उसे उसी ८ ४२ करोड रुपये के घाटे से सन्तुलित कर दिया गया । इनसे सरकार का ऋण घटकर साढ़े ५ करोड रुपये रह गया ।

१९४१ ४२ के बजट में २० ४ करोड़ रुपये के घाटे और ८४ १३ करोड रुपये के प्रतिरक्षा-व्यय का अनुमान किया गया था । इस घाटे की पूर्ति के लिए निम्न उपाय किये गए थे—(१) अतिरिक्त लाभ कर को ५० प्रतिशत से बढाकर ६६⅔ प्रतिशत कर दिया गया (२) आय-कर पर आरोपित अधिभार २५ प्रतिशत से बढ़ाकर ३३⅓ प्रतिशत कर दिया गया (३) दियासलाई पर लगा उत्पादन शुल्क दुगना कर दिया गया और आयात शुल्क में वृद्धि की गई (४) कृत्रिम रेशमी धागे पर शुल्क ३ आना

प्रति पौण्ड से बढाकर ५ आना प्रति पौण्ड कर दिया गया और (५) भारत मे निर्मित टायरो और ट्यूबो पर मूल्यानुसार १० प्रतिशत शुल्क लगाया गया। अतएव वर्ष का अन्त १७ करोड रुपये के घाटे के साथ हुआ।

युद्ध-व्यय बढता रहा और १९४२ ४३ के बजट में इसके लिए १३३ करोड रुपये की व्यवस्था की गई। इस वर्ष ४७ करोड रुपये के घाटे का अनुमान किया था, जिसमें से १२ करोड रुपये की पूर्ति नये करो से और ३५ करोड रुपये की पूर्ति ऋण से की जानी थी। नये कर निम्न थे—आय कर पर अधिभार और अधिक अधि-कर, आयात निर्यात पर २० प्रतिशत अधिभार, तथा डाक और तार की दरो में वृद्धि। १९४३ ४४ में अनुमानित घाटा ६० २९ करोड रुपये था किन्तु वस्तुत यह ९२ ४३ करोड रुपये हुआ, जिसका प्रमुख कारण व्यय म ८७ ३४ करोड रुपये की वृद्धि थी। १९४४ ४५ मे यह घाटा ७८ २१ करोड रुपये रह गया। इसकी पूर्ति के लिए निम्न उपाय किये गए—(१) जिस आय स्रोत पर कर नहीं लिया जा सकता उस आय पर कर की अग्रिम अदायगी। (२) अतिरिक्त लाभ-कर के १९/६४वें भाग को अनिवार्य रूप से जमा करना। (३) आयकर की दर में वृद्धि की गई। (४) तम्बाकू और स्पिरिट पर अधिभार तथा तम्बाकू पर लगाया गया उत्पादन-कर बढा दिया गया। (५) सुपारी, काफ़ी और चाय भी केन्द्रीय उत्पादन शुल्क की परिभाषा में आ गए।

यद्यपि जून १९४५ मे जर्मनी से और अगले सितम्बर में जापान से भी युद्ध समाप्त हो गया, किन्तु फिर भी १९४५ ४६ का बजट नियमित युद्धकालीन बजट ही रहा जिसमें १९३ ८७ करोड रुपये का घाटा हुआ। इसमें से १५५ २ करोड रुपया तो ऋण से प्राप्त किया गया और शेष की पूर्ति तम्बाकू पर शुल्क बढ़ाकर पोस्ट-पार्सल-दर मे वृद्धि करके तथा तार, टेलीफोन तथा ट्रककाल पर अधिभार लगाकर की गई। इसी वर्ष में कराधान के लिए अर्जित एव अनर्जित आय मे भी भेद प्रारम्भ किया गया।

प्रथम शान्तिकालीन बजट में उद्योगो के कर दाताओ को थोडी सान्त्वना देने के प्रयास में आय में ४९ करोड रुपये का घाटा हुआ। अनुमानित घाटा ४४ ०६ करोड रुपये था क्योकि प्रतिरक्षा-व्यय अधिक अर्थात् २४३ ७७ करोड रुपये ही रहा।

१९४७ ४८ में भारत के सामने विभाजन की विकराल समस्या प्रस्तुत हुई। इस वर्ष का बजट दो भागों मे विभाजित हो जाता है अर्थात् १५ अगस्त, १९४७ तक और इसके बाद से ३१ मार्च, १९४८ तक। विभाजन-पूर्व बजट म आय २७९ २२ करोड रुपये थी, व्यय ३२७ ८८ करोड रुपये और अनुमानित घाटा ४८ १९ करोड रुपये था। नमक कर के हटाने के कारण घाटा बढ़कर ५६ ७ करोड रुपये हो गया। करों से आय को सन्तुलित करने पर भी २९ २५ करोड रुपये का घाटा हुआ, जिसकी पूर्ति की कोई व्यवस्था नही थी।

विभाजन के अनन्तर दूसर बजट मे सूती कपडे पर प्रति गज चार आना कर लगाने से प्राप्त १ ६ करोड रुपये की आय का घटान पर भी २४ ६ करोड़ रुपय का

यह एक आनुपातिक कर है, न कि प्रगतिगामी।[1] विक्रय कर से होने वाली आय निम्न तालिका में प्रदर्शित की गई है।[2]

राज्य	१९४६-४७	१९४८-४९	१९४९-५०
मद्रास	७ २२	१२ ३२	१२ ४५
बम्बई	१ ६०	६ ३५	६ ४५
बंगाल	३ ६०	४ ००	४ ००
संयुक्त प्रान्त	—	४ ००	६ ००
पंजाब	० १२	० २४	० ७४
बिहार	० ७८	२ २४	३ १४
केन्द्रीय प्रान्त व बरार	—	१ ४०	१ ७८
आसाम	—	० १५	० ७०
उड़ीसा	—	० २६	० ५७
	१३ ३२	३० ९८	३८ ३०

सब राज्यों की कुल ५०० करोड़ रुपये की आय में विक्रय कर का अंशदान ७५ करोड़ रुपये है। बम्बई, मद्रास और पश्चिमी बंगाल में विक्रय-कर से होने वाली आय लगान की आय से अधिक है।

कर जाँच आयोग ने सिफ़ारिश की कि यद्यपि मूलतः विक्रय कर राज्यों के हाथ में होना चाहिए किन्तु अन्तर्राज्यिक विक्रय पर संघ का अधिकार होना चाहिए। अन्तर्राज्यिक सौदों पर केन्द्रीय कर की दर नीची होनी चाहिए और प्राप्ति को संग्रह के आधार पर राज्यों में बाँट देना चाहिए। कोयला, लोहा, इस्पात, कपास, चमड़ा, तिलहन और जूट को *अन्तर्राज्यिक व्यापार के लिए विशेष महत्व की वस्तुओं* के रूप में प्रस्तावित किया गया है। इस सूची में किसी भी प्रकार की वृद्धि प्रस्तावित अन्तर्राज्यिक कराधान परिषद् के पूर्व-परामर्श के बिना नहीं करनी चाहिए। विक्रय-कर की आलोचना में इसे प्रतिगामी-कर बताया गया है, क्योंकि इसका भार उपभोक्ता पर पड़ता है। इससे अन्तर्राज्यिक व्यापार में भी बाधा पड़ती है। किन्तु इन आपत्तियों के बावजूद यह कर स्थिर हो गया है। इसका कारण इसकी परिवर्तनीयता, उत्पादन शक्ति एवं किसी व्यवहार्य विकल्प का अभाव है। विभिन्न राज्यों में इसकी दर में बड़ा अन्तर है। अधिक समता के लिए १९४९ में भारत सरकार ने सुझाव रखा कि विक्रय कर का संग्रह केन्द्र द्वारा हो और आय को राज्यों में बाँट दिया जाय। किन्तु राज्यों

१ इसका नाम विक्रय-कर इसलिए है कि यह विक्रेता से वसूल किया जाता है। इसका नाम क्रय कर तब होता है जब यह क्रेता से लिया जाता है। सामान्यतः वैयक्तिक क्रेता असंख्य होने के कारण उनका पता लगाना कठिन है, अतएव प्रशासकीय दृष्टि से विक्रेता एवं उत्पादकों पर कर लगाना और वसूल करना अपेक्षाकृत सरल है। विक्रय कर के दो प्रमुख प्रकार हैं—(१) एकमुखी कर, (२) बहुमुखी कर। पहले में यह एक ही स्थान पर लिया जाता है, दूसरे में यह अनेक स्थानों पर लिया जाता है, उस समय तक जब तक कि वस्तु निर्माताओं से अनेक विक्रेताओं की शृंखलाओं में होकर उपभोक्ता तक पहुँचती है।

२ ग्रुआरट नेरास, राजस्व सर्वेक्षण, भारत, पृष्ठ ७४, आँकड़े करोड़ रुपयों में हैं।

के विरोध के कारण इस विचार का परित्याग करना पड़ा। अब केवल समाचार-पत्रों पर विक्रय-कर ही संघीय सूची में है।

राज्य वित्त की दूसरी विशेषता है अनेक राज्यों द्वारा मद्य निषेध। अक्तूबर, १९४८ में मद्रास में मादक द्रव्यों का सम्पूर्ण निषेध हो गया और अप्रैल, १९५० में बम्बई ने उसका अनुसरण किया। आन्ध्र एवं सौराष्ट्र आदि में भी सम्पूर्ण निषेध लागू हो गया। पप्सू, हैदराबाद, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, अजमेर, भूपाल एवं विन्ध्य-प्रदेश ने मादक द्रव्यों का निषेध नहीं किया है क्योंकि वे अपने उत्पादन शुल्क की आय में इस समय कटौती करने में असमर्थ हैं। इन दोनों के बीच कुछ ऐसे राज्य हैं जो कि सम्पूर्ण निषेध की ओर गतिशील हैं। इन राज्यों के नाम हैं—उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, मैसूर, उड़ीसा, ट्रावनकोर-कोचीन और कुर्ग, जिन्होंने आंशिक निषेध अपनाया है। आसाम और पंजाब में भी निषेध के कुछ क्षेत्र हैं। बिहार, पश्चिमी बंगाल, मध्यभारत और दिल्ली ने भी मादक पदार्थों में कमी की नीति अपनाई है।

संविधान के निर्देश के अनुसार राज्यों को मद्य निषेध-नीति का अनुसरण करना चाहिए यद्यपि इन्हें इसको कार्यान्वित करने की गतिविधि के सम्बन्ध में अपना विवेक प्रयोग करने की स्वतन्त्रता है। कर जाँच आयोग अपने सदस्यों के मतभेद के कारण भावी मद्य निषेध नीति के सम्बन्ध में कोई सुझाव प्रस्तुत नहीं कर सका। तीन सदस्य इस पक्ष में थे कि सम्पूर्ण मद्य निषेध को शीघ्रातिशीघ्र लागू किया जाय और सम्पूर्ण भारत के लिए एक समय निर्धारित किया जाय, जिसके अन्दर सब राज्य इसे लागू करें। उनके मत में मद्य निषेध के कारण आय में हानि होने के भय से किसी प्रकार की हिचक नहीं होनी चाहिए। उनके मत में किसी प्रकार की आय-हानि न होगी क्योंकि अन्ततः इससे जनता की आर्थिक दशा सुधरेगी और इस प्रकार उनकी कर देने की शक्ति में वृद्धि होगी। इस प्रकार आबकारी राजस्व से होने वाली आय की पूर्ति अन्ततः अन्य करों द्वारा होगी। आयोग ने यह बताया कि गत अर्द्ध शताब्दी की संयम की नीति से शराब के उपभोग में कोई खास कमी नहीं हुई। आयोग ने यह भी कहा कि शराब की राशनिंग की नीति प्रशासकीय दृष्टि से अव्य-वहार्य है।

अन्य तीन सदस्यों का मत था कि (१) मद्य निषेध संविधान के निर्देशों में से केवल एक है जिसकी बारी अन्य समान महत्त्वपूर्ण निर्देशों के साथ आयेगी। (२) विभिन्न राज्यों को अपनी प्रशासकीय एवं वित्तीय सामर्थ्य के अनुसार निषेध नीति के अनुसरण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। अतएव हर राज्य में उद्देश्य प्राप्त करने की गति एक नहीं हो सकती। (३) कुल मिलाकर आयोग के पास पर्याप्त वास्तविक आँकड़े नहीं थे जिनके आधार पर यह लक्ष्य तिथि निर्धारित करना जिस तक देश-व्यापी मद्य निषेध योजना लागू की जाती।

आन्ध्र मद्य निषेध जाँच समिति (१९५४) इस निश्चय पर पहुँची कि आन्ध्र में मद्य निषेध असफल रहा है। शराब के उपभोग के नियमन के लिए शिक्षा, मद्य निषेध सम्बन्धी प्रचार तेजी से आर्थिक एवं सामाजिक विकास की नीति पर अधिक

जोर देना चाहिए क्योंकि यही उत्तम नीति है। उनके मत में मद्य निषेध से शराब खोरी का दुर्गुण कम नहीं हो सका है। इसके विपरीत इसके परिणामस्वरूप व्यापक रूप में गुप्त रूप से मदिरा बनाने को प्रोत्साहन मिला है अराजकता और अपराध की ओर प्रवृत्ति अधिक बढ़ी है पुलिस और सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टाचार की वृद्धि और संक्षेप में, अच्छे परिणामों के विपरीत इसका प्रभाव व्यक्ति, समाज, राज्य सभी के लिए अत्यन्त घातक और भयंकर सिद्ध हुआ है (रिपोर्ट पृष्ठ ८४)। ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं मिला जिससे यह सिद्ध हो सके कि अन्य राज्यों में मद्य निषेध के परिणाम अधिक प्रोत्साहन देने वाले सिद्ध हुए हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि निकट भविष्य में परिणामों पर बिना ध्यान दिए ही अखिल भारतीय स्तर पर मद्य निषेध को लागू किया जायगा। इस नीति का अनुसरण करने में होने वाली प्रत्यक्ष आर्थिक हानि ६० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष होगी। यदि कुछ वर्ष के कठोर अनुभव के पश्चात् देश अपना कदम फिर वापस ले और गति को धीमा करने की ओर मुड़े तो आश्चर्य न होगा। कोई बड़ी बात नहीं कि इस सम्बन्ध में सबसे उपयुक्त यह उपाय अपनाया जाय कि शराब के उत्पादन एवं उपभोग का कठोर विनियमन किया जाय, व्यापक तथा गहन प्रचार किया जाय, ईमानदारी और दृढ़ता के साथ इस नीति का अनुसरण किया जाय और केवल आय के विचार को कम महत्त्व दिया जाय।[1]

अन्त में कृषि आयों पर लगाये गए कर का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा जो कि धीरे धीरे प्रायः सभी राज्यों में लगाया जा रहा है। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम द्वारा हर राज्य को अपनी कृषि आय पर कर आरोपित करने का अधिकार मिल गया। सबसे पहले आसाम ने १९३९ में ऐसा कर लगाया। अब निम्न १२ राज्यों में यह कर लगाया जा चुका है—बिहार (२२)[2] आसाम (६६) पश्चिमी बंगाल (९८) उड़ीसा (८) उत्तर प्रदेश (३६) हैदराबाद (५) ट्रावनकोर-कोचीन (१०), मद्रास (७), राजस्थान (१५), कुर्ग (१०) भोपाल (२), विन्ध्यप्रदेश (३)।

§३१ राज्यीय व्यय—गत कुछ वर्षों में केन्द्रीय सरकार की अपेक्षा राज्य-सरकारों का व्यय अधिक बढ़ा है। १९३८-३९ के पहले की अपेक्षा अब राज्य-सरकारों के आय-स्रोत अधिक परिवर्तनीय एवं उत्पादक हैं। उनका कार्यक्षेत्र भी काफी व्यापक हो चुका है जिसके परिणामस्वरूप उनके व्यय में काफी वृद्धि हुई है। १९५०-५१ से ही, प्रान्तों की आय में लगातार वृद्धि होती रही है तथापि उनके बजट में घाटा होता रहा है। इसका कारण उनके व्यय में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि है।

व्यय-वृद्धि के कुछ कारण केन्द्र और राज्यों में एक-से हैं जैसे मूल्य-स्तर में वृद्धि प्रजातान्त्रिक प्रणाली का अधिक खर्च विभिन्न विनियामक उपचारों का शासकीय

---

१ सितम्बर, १९५४ में नियुक्त मद्य निषेध जाँच समिति ने सिफारिश की कि १ अप्रैल, १९५८ की तिथि निश्चित की जाय जब कि देश भर में निषेध लागू कर दिया जाय। योजना आयोग का मत यह है कि प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार क्रमबद्ध निषेध योजना बनाई जाय जो कि अधिक उपयुक्त होगा।

२ कोष्ठों में दिए गए आँकड़े कर द्वारा प्राप्त राशियाँ (लाख रुपये) के हैं। (१९५४-५५)

व्यय, उदाहरण के लिए श्रम एव उद्योग, जनसख्या वृद्धि इत्यादि। साथ ही स्थानीय निकायों को अधिकाधिक अनुदान देने मे भी राज्यो का व्यय बढा है।[1] प्रति-व्यक्ति व्यय भाग 'क' राज्यो की अपेक्षा भाग 'ख' राज्यो म अधिक था और सबसे अधिक भाग 'ग' राज्यों में था। इसका कारण कुछ तो यह है कि विभिन्न राज्यो में जनसख्या का घनत्व भिन्न भिन्न है। घनत्व भाग 'क' राज्यो मे सबसे अधिक था और भाग 'ग' राज्यो मे सबसे कम। जनसख्या घनत्व जितना ही अधिक होता है प्रतिव्यक्ति प्रशासन व्यय उतना ही कम होता है। प्रतिव्यक्ति व्यय मे विषमता का कारण विभिन्न सेवाओ, जैसे पुलिस सचार एव सिंचाई, की आवश्यकताओ की भिन्नता भी है।[2]

निम्न विषयो में राज्यो की महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ और कर्तव्य हैं—कानून और व्यवस्था, पुलिस और न्याय (उच्च एव उच्चतम न्यायालयो के अतिरिक्त), महत्त्वपूर्ण स्थानीय सरकारी प्रशासन (नगरपालिका निगम महत्त्वपूर्ण ट्रस्ट, जिला बोर्ड खनन बस्तियाँ, जनस्वास्थ्य एव स्वच्छता आदि), मादक द्रव्यों का उत्पादन, अधिकार और विक्रय, अशहीन और वृत्ति न पाने योग्य व्यक्तियो की सहायता, शिक्षा, पुस्तकालय, अजायबघर इत्यादि, स्थानीय सचार कृषि-कृमि नियन्त्रण, पशु चिकित्सा सेवाएँ, सिंचाई, गैस और गैस वर्क्स। इसके अतिरिक्त राज्यो के केन्द्र जसे अधिकार और कर्तव्य ह। इनम प्रमुख है—आर्थिक एव सामाजिक आयोजन, सामाजिक सुरक्षा एव सामाजिक बीमा, रोजी और बेरोजगारी, कल्याण एव श्रम, वृत्तियो की और प्राविधिक प्रशिक्षा विस्थापिता की सहायता एव पुनर्वास, यन्त्रचालित यान एव विद्युत्। यह स्पष्ट है कि सामाजिक सेवाएँ एव कृषि विकास का भार राज्यो पर है। अगली दो तालिकाओं में राज्य व्यय की मुख्य मदें और उनका सापेक्ष महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।[3]

---

१ वर्ग 'क' राज्यों के सरकारी व्यय की रूपरेखा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। विकास-व्यय अविकास-व्यय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढा है, यद्यपि अविकास-व्यय अब भी विकास-व्यय से काफी अधिक है।

२ कर जाँच आयोग रिपोर्ट, खण्ड १, पृष्ठ ३५ ४२।

३ संयुक्त राष्ट्र संघ, आर्थिक सर्वेक्षण, भारत पृष्ठ ८२, रिज़र्व बैंक की करेंसी एव वित्त रिपोर्ट (१९५३ ५४), विवरण ५२ ५४।

	भाग 'क' राज्य			भाग 'ख' राज्य			भाग 'ग' राज्य	
	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५३-५४	१९५४-५५
आय पर प्रत्यक्ष भार	२८ ४७	३३ ६४	४१ ३६	१० ६८	११ १५	१३ २६	१ ७१	२ ४१
ऋण सेवाएं*	४ ३८	६ २८	१२ ८०	४ ९०	५ ८४	६ ०१	—	—
असैनिक प्रशासन	८८ ३७	९० ४३	९१ १६	२३ ०७	२३ ३१	२३ ७३	२ ६८	२ ६२
असैनिक कार्य	३६ ४९	३५ ०५	४२ ६४	१० ०२	१३ ५५	१३ ९८	२ ३८	२ २८
असैनिक कार्यों के अतिरिक्त विकास व्यय	१२६ ९८	१५१ २७	१६२ ०८	४१ ४७	४८ २४	५६ ६१	७ ०२	८ ५७
कुल योग	३२६ ३६	३७१ ६४	४०० ८८	१०८ ८७	११५ ८४	१२७ ६४	१५ ५१	१७ ४८
अतिरेक (+) या घाटा (—)	—० १४	—१४ १५	—२४ ११	+३ २५	—३ ६३	—५ ८६	—० ३४	—० ७६

विषय	औसत प्रतिशत
नागरिक कार्य	२४ ६
सिचाइ	१६ २
विद्युत्	१४ ६
कृषि और अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन	१२ ३
शिक्षा	८ ०
चिकित्सा एव जनस्वास्थ्य	६ ८
उद्योग	३ ७
वन	१ १
पशु चिकित्सा	० ८
सहकारिता	१ ०
सामान्य शासन और प्रकीर्ण	१० ६
	१०० ०

धन के रूप मे समाज सेवाओ पर व्यय क्रमश बढ़ता जा रहा है। यह व्यय केवल राज्यो के क्षेत्र म पडता है।[1]

राज्यो की बढी हुई विकास योजनाएँ भी अधिक व्यय के लिए पर्याप्त मात्रा में उत्तरदायी हैं। १९४६ ४७ से १९४९ ५० के चार वर्षो मे 'क' वर्ग के राज्यो ने १२८ ७५ करोड रुपया व्यय किया। यदि सब राज्यो को साथ लिया जाय तो विकास का सबसे सामान्य रूप है—नागरिक कार्य जसे सडक एव सिंचाई का विकास (इसमें नलकूप ट्यूबवेल बहुद्देश्यीय नदी घाटी योजनाएँ शामिल हैं।)

३२ स्थानीय स्वायत्त शासन सस्थाएँ स्थानीय वित्त[2]—भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन सस्थाएँ चार मुख्य प्रकार की हैं—(१) ग्राम पचायतें, (२) स्थानीय जिला बोर्ड (३) नगरपालिकाएँ, और (४) नगरपालिका निगम।

(१) ग्राम पचायतें—अधिकाश राज्यो मे ग्राम पचायतो के आय का स्रोत कराधान है और जिला बोर्डों की अपेक्षा सरकारी अनुदान उनकी आय का नगण्य अश होते हं। पचायतो द्वारा लगाए जाने वाले करो में सामान्य सम्पत्ति कर, सेवा कर लगान पर कर पेशे और काम धन्धो पर कर, गाडियो और पशुओं पर कर चुगी, उन वस्तुओ के विक्रय पर कर जो सामान्य विक्रय कर मे अन्तगत नहीं आतीं, तीर्थयात्री कर रगमञ्च कर जन्म एव विवाह कर, मेला-त्यौहारों आदि पर कर और श्रम कर। कर लगाने के लिए राज्य-सरकार की स्वीकृति लेनी पडती है तथा दर बदलने या करो को रद्द करने के लिए भी सरकार की स्वीकृति आवश्यक है। वास्तव में ग्राम पचायतो ने ऊपर निर्दिष्ट कर-सूची में से अभी ३ या ४ करों का ही आश्रय लिया है। यह सामान्य सम्पत्ति कर, भूमि-कर पेशा या वृत्ति-कर तथा पशुओं और

[1] परन्तु यदि व्यय [illegible] में मूल्य-परिवर्तनों के अनुसार फेर-बदल कर दी जाय तो पता चलेगा कि समाज सेवाओं पर व्यय में बहुत कम वृद्धि हुई है।

[2] कर जाँच आयोग रिपोर्ट, खण्ड ३, पृष्ठ ३३३ ४१६।

उनके उपयोग के लिए निम्न करो को रक्षित किया जाय—(१) भूमि और मकानों पर कर (२) चुगी (३) गाडियो पर कर (इसमें यन्त्रचालित गाडियाँ शामिल नही हैं) (४) पशु एव नौका-कर, (५) पेशा, वृत्ति, व्यापार कर, (६) समाचार पत्रो में प्रकाशित विज्ञापनों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विज्ञापनो पर कर, (७) रगमच कर, और (८) सम्पत्ति के हस्तातरण पर कर। यह भी सिफारिश की गई कि भीतरी जलपथो और सडको द्वारा जाने वाले यात्रियो पर कर लगाने की अनुमति भी स्थानीय बोर्डों को मिलनी चाहिए। आयोग के मत में स्थानीय सस्थाओ की वित्त पूर्ति सहायता अनुदानों स होनी चाहिए न कि करो के भाग से। केवल मालगुजारी और मोटरगाडी-कर में उन्हे हिस्सा मिलना चाहिए। स्थानीय सस्थाओं को व्यापारिक सस्थापन एव अन्य अ-कर आय स्रोतो के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। राज्य सरकारो को एक आधारभूत 'सामान्य उद्देशीय अनुदान सभी स्थानीय सस्थाओं को देना चाहिए (इसमें बृहत्तर नगरपालिकाएँ और नगरपालिका निगम शामिल नहीं हैं) जो कि ३ से ५ वर्ष के काल तक निश्चित रूप से मिलता रहे। आधारभूत अनुदानो के अतिरिक्त उन्होने विशिष्ट शतपूर्ण अनुदानो की भी सिफ़ारिश की है और नगरपालिका ऋणो की सरकारी गारटी की पद्धति को अपनाने का सुझाव रखा है। आयोग के मत म भू उपकर तथा हस्तातरण कर ही दो ऐसे कर हैं जो कि ग्रामीण बोर्ड के लिए उचित हैं और सामान्य सम्पत्ति-कर और सेवा-कर, भू उपकर एव सम्पत्ति हस्तातरण-कर पचायतो के लिए सर्वोपयुक्त हैं।

आयोग की कुछ अन्य सिफ़ारिशें नीचे दी जाती हैं—(१) राज्य सरकारों को चाहिए कि वे छोटी नगरपालिकाओ के विकासार्थ एव सुधार योजनाओं के लिए प्रभावपूर्ण सहायता करें। (२) वर्तमान निम्न दर पर लगाये गए भू-उपकर को अधिक ठोस अधिभार द्वारा स्थानान्तरित करें जो कि लगान पर लिये जायें और जो कि स्थानीय सस्थाओ के क्षेत्राधिकार से बाहर हो। लगान पर लगाये गए इस अधिभार की दर कम से-कम ३ आना प्रति रुपया हो। अचल सम्पत्ति पर लगाये गए कर नागरिक सस्थाओ के लिए अधिक उपयुक्त हैं। सघ-सरकार को चाहिए कि वह नागरिक क्षेत्रों में रेलवे, समुद्र एव वायु वाहित वस्तुओं पर सीमान्त-कर आरोपित करने पर समुचित विचार करे। (३) उपयुक्त न्यूनतम दर पर वृत्ति और पेशा कर लगाए जायें (क) जो कि नगर निगमो और नगरपालिकाओ में अनिवार्य हों, (ख) पचायतों के लिए वैकल्पिक और (ग) साधारणतया जिला-बोर्डों के लिए अस्वीकार्य हो। (४) नगरपालिका निगमो को मोटरगाडियों पर एक पृथक चक्र-कर लगाना चाहिए तथा नगरपालिकाओं और स्थानीय जिला बोर्डों को राज्यीय मोटरगाडी कर में हिस्सा मिलना चाहिए। (५) नये पुलों पर, जिनकी निर्माण-लागत ५ लाख रुपया या अधिक हो, लागत वसूल होने तक टॉल टैक्स लगाए जा सकते है। शेष दशाओ म टॉल टैक्स को हटा देना चाहिए।

§ ३४ भारत में सरकारी ऋण का इतिहास—१७९२ में यह रकम ७० लाख रुपये थी और १८५८ मे यह बढ़कर १० करोड रुपये हो गई और जबकि भारत सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से प्रशासन सँभाला तो यह ऋण पूर्णतया अनुत्पादक था जो कि

ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा छेड़े गए युद्धो (जिसमे विद्रोह दमन भी शामिल है) का परिणाम था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी से सरकारी ऋण का भार लेने के साथ ही भारत सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को उसकी १ करोड २० लाख पौण्ड की पूँजी पर लाभाश भी देने का भार स्वीकार किया जिसका निष्क्रयण १८७४ में किया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हट जाने से शासन की रूपरेखा बदली और केवल व्यावसायिकता के स्थान पर देश के सुयोजित विकास पर जोर दिया जाने लगा। भारत सरकार ने बडे बडे सावजनिक काय हाथ में लिये रेलें खरीदी और सिंचाई योजनाएँ प्रारम्भ की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिया गया ऋण सावजनिक काय ऋण कहा गया जो कि सामान्य ऋण स भिन्न था। इसके लिए सामान्य ऋण शब्द का प्रयाग १८७९ मे किया गया। १८७८ के पश्चात् इस प्रकार के उत्पादक व्यय की आर्थिक पूर्ति सामान्य आय के लाभ के उपयोग तथा अनुत्पादक ऋण का उत्पादक ऋण द्वारा स्थानान्तरण करके की जाने लगी। इस प्रकार १९१७ तक सामान्य ऋण की समाप्ति हो जानी चाहिए थी, किन्तु प्रथम विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ और १९१६ में सामान्य ऋण बढकर ३ १ करोड रुपये हो गया और तभी से विशाल सरकारी ऋण भारतीय वित्त का एक महत्त्वपूर्ण और स्थायी अग हो गया। युद्ध के कारण बार-बार लिये ऋणो, युद्ध म भारत द्वारा दिये गए अनुदान, नई दिल्ली के निर्माण पर हुए खच, युद्धोत्तर-काल के निर्माण-कायक्रमो और बजट के घाटो के कारण १९२४ म साधारण ऋण की राशि २५७ ७ करोड रुपये हो गई। १९१४ १८ से पहले ऋण इगलण्ड में लिये जाते थे, युद्ध-काल में क्योकि यह साधन प्राप्त नही था इसलिए सरकार को देश मे ही उधार लेना पडा और ऐसा करने मे उसे पता चल गया कि बिना किसी विशेष कठिनाई के भारत से ही युद्ध सम्बन्धी ऋण पत्रो तथा नकदी प्रमाणपत्रो (कैश सर्टिफिकेट) क रूप मे पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त किया जा सकता है। १९२९ ३० म पहली बार राजकोष हुण्डियाँ जारी की गइ और तब से इनका निगमन भारतीय वित्त-व्यवस्था का एक स्थायी अग बन गया है।

दूसरे महायुद्ध में १९४० से १९४३ के बीच ५४७ करोड रुपये की राशि प्रतिरक्षा बन्धपत्रो, बचत प्रमाण पत्रो और ब्याजमुक्त बन्धपत्रो आदि के निगमन द्वारा एकत्रित की गई थी। १९४२ ४३ मे बजट में घाटे तथा युद्ध सम्बन्धी व्यय म वृद्धि के कारण सरकारी ऋण में निरन्तर तेजी से वृद्धि होती रही। भारत सरकार क ब्याज युक्त ऋण की मात्रा १९४२ ४३ म १३८९ १३ करोड रुपय थी और प्रथम पचवर्षीय योजना के आरम्भ करने के पहले यह बढ़कर २५६१ ८० करोड रुपये हो गई और १९५५ ५६ में ३५९८ ७९ करोड रुपये तक पहुँच गई। निम्न तालिका स सरकारी ऋण की सरचना के विकास और उसके परिवर्तन की विशेषताएँ प्रकट होती हैं।[1]

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि सरकारी ऋण म पौण्ड की मात्रा नगण्य हो गई है तथा राजकोष हुण्डियाँ और छोटी बचत पुन सरकारी ऋण का एक तिहाई

१ रिजर्व बैंक का चलाय और वित्त-सम्बन्धी रिपोर्ट, १९५१ ५२ (विवरण ७४) तथा १९५४ ५५ (विवरण ५८)। ये आँकड़े लाख रुपयों में दिये गए हैं।

	१९३९-४०	१९४२-४	१९४५-४६	१९५०-५१	१९५४-५५	१९५५-५६
रुपयों में ऋण	४५०,२३	७४८,७४	१,४६२,२०	१,४३८,४६	१,४७४,११	१,५११,११
पौण्ड में ऋण	३७३,४६	२६,६४	१३,२२	३१	७०	६७
छोटी बचत	१३५,३८	९२,७७	२२१,८२	३२६,२५	५०५,३६	५५६,११
राजकोष हुण्डियाँ मार्गोपाय अग्रिम तथा कोषागार प्रतिभूति	५४,७०	२६४,७०	८३,३३	३७३,२०	८५४,६५	८१४,१८
कुल (जिसमें अन्य स्रोत भी सम्मिलित हैं)	१,२०३,८७	१,३८९,१३	२,३०८,४८	२,५६१,८०	३,०३१,१५	३,५०८,७१

भाग हो गई हैं। रुपया मे ऋण ह्रास के वर्षों म, राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्र। दसवर्षीय योजना ऋण तथा पन्द्रहवर्षीय वार्षिकी प्रमाण पत्र और इनके अतिरिक्त अन्य पुराने साधना द्वारा लिया गया है।

§३५ सरकारी ऋण का निष्क्रयण—१९२४ तक भारत सरकार के पास सरकारी ऋण के निष्क्रयण की कोई भी निश्चित योजना नहीं थी। १९१४ १८ से पहले सरकारी ऋण, सिंचाई और रेलवे पर पूँजीगत व्यय के लिए जो अतिरेक (सर्प्लस) था उसे खर्च करके रेलवे वार्षिकी देकर और १९१७ में स्थापित रेलवे उपचयी खाते द्वारा सरकारी ऋण की राशि कम की जाया करती थी। १९२४ में सर बेसिल ब्लेकेट ने, जो उस समय वित्त-सदस्य थे, सारे सरकारी ऋण की नहीं वरन् उसके अनुत्पादक अंश के निष्क्रयण की एक क्रमबद्ध योजना उपस्थित की। उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि प्रतिवर्ष चालू आय मे से इस काम के लिए ४ करोड़ रुपये और प्रत्येक वर्ष जितना भी ऋण बाकी हो, उसकी मात्रा ३१ मार्च, १९२३ की मात्रा से जितनी अधिक हो, उसका १/८० वाँ भाग, चालू आय म से दिया जाय। १९३३ ३४ में ४ करोड़ की वार्षिक रकम घटाकर ३ करोड़ रुपये कर दी गई।

§३६ पौण्ड ऋण—१९३७ के पहले सरकारी ऋण की मात्रा म पौण्ड ऋण का अंश बहुत अधिक था, पर धीरे धीरे इसकी महत्ता भारतीय बाजार के ऋण लिये जाने और पौण्ड-चुकाने के भारत में स्थान क निश्चित कार्यक्रम के अनुसरण के कारण कम होती गई। १९३९ मे ब्रिटेन से भुगतान में मिली राशि और चाँदी की बिक्री के परिणामस्वरूप पौण्ड का बड़ी राशि प्राप्त हुई। इन साधनों का प्रयोग खुले बाजार में अनावधि भारत-पौण्ड प्रपत्र खरीदने में किया गया, जिन्हें भारत सरकार न बाद में रद्द कर दिया और उनके स्थान पर ३ और ३½ प्रतिशत के रुपये में अनावधि ऋणपत्र निर्गमित किये। १९४० म पौण्ड ऋण पत्रों के धारियों को इन पत्रों को रुपय के ऋण पत्रों में बदल लेने का अवसर दिया गया और १९४१ में २ करोड़ ८५ लाख पौण्ड क ऋण पत्र बदले गए। ब्रिटिश सरकार की सहायता से ६ करोड़ पौण्ड की राशि अनिवार्य रूप से भारतीय ऋण-पत्रों में बदल ली गई। भारत सरकार ने उन लोगों को,

जिनके पास पौण्ड ऋणपत्र थे, उन्हें रिजर्व बैंक के हाथ बेचने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार ७ करोड पौण्ड का लेखा जोखा हुआ। १९३७ ३८ और १९४८ ४९ के बीच लगभग ३२ करोड ७३ लाख २० हजार पौण्ड के ऋण का (जोकि ४३७ ३२ करोड रुपये के बराबर है) निष्क्रयण किया गया और २७४ ०५ करोड रुपयो के मूल्य के ऋण पत्र निर्गमित किये गए।

इस प्रकार पौण्ड ऋण की मात्रा में कमी से भारत की वित्तीय स्थिति काफी सुदृढ हो गई है। इसके परिणामस्वरूप न केवल बडी मात्रा में विदेशो परिसम्पत रखने की आवश्यकता का अन्त हो गया वरन् अब भारत को अपनी परम (गिल्ट एज्ड) प्रतिभूतियो के बाजार को विस्तृत करने का अवसर भी प्राप्त हुआ है।

§१७ पौण्ड पावना—पौण्ड पावने की राशि जो सितम्बर, १९३९ तक ५ करोड २० लाख पौण्ड थी, अगस्त १९४७ में बढकर १ अरब १३ करोड ७० लाख पौण्ड हो गई। यह वृद्धि मुख्यत भारत में ब्रिटेन द्वारा सामान तथा युद्ध सम्बन्धी अन्य सामग्री खरीदने के कारण हुई। इस सामान का मूल्य स्टर्लिंग में चुकाया जाता था, जो लन्दन में रिजर्व बैंक के खाने में जमा हो जाता था और रिजर्व बैंक उसी के बराबर मूल्य का चलार्थ भारत मे जारी कर देता था। इसके परिणामस्वरूप हुए मुद्रा प्रसार और वस्तुओ की कमी के कारण जनता को बहुत अधिक त्याग करना पडा।

अगस्त १९४७ में पौण्ड पावने के सम्बन्ध में एक अस्थायी समझौता किया गया जिसके अनुसार भारत सरकार के दो लेखे बनाये गए। लेखा नम्बर एक ६ करोड ५० लाख पौण्ड की राशि स आरम्भ किया गया। इसकी राशि का सभी देशो के चलार्थ में परिवर्तन किया जा सकता था। प्रचलित क्रय विक्रय से प्राप्त आय इसी हिसाब में जमा की जाती थी। जुलाई, १९४८ मे इस अस्थायी समझौने के स्थान पर एक नया समझौता किया गया। इन नये समझौते के अनुसार (१) भारत ने १० करोड पौण्ड (१३३ करोड रुपये) उस सामान तथा अधिष्ठापनो के लिए दिये जिनका प्रब ध उसन १ अप्रैल १९४७ को सँभाल लिया था। (२) भारत ने ब्रिटेन को १४ करोड ७५ लाख पौण्ड की धन राशि पौण्ड में पेन्शनो की अदायगी और ह्रासमान वार्षिकी (टेपरिंग एनुइटी) खरीदने के लिए दनी थी, यह वार्षिकी ६० वर्ष की अवधि मे समाप्त होती है। (३) भारत को प्रतिरक्षा सम्बन्धी व्यय के रूप में दी जाने वाली धन राशि ६ करोड ५० लाख पौण्ड नियत कर दी गई। (४) ब्रिटेन ने जुलाई, १९४८ से तीन वर्ष के भीतर ८ करोड पौण्ड दने का वायदा किया, जो कि इतनी ही मात्रा की शेष धन राशि को मिलाकर १६ करोड पौण्ड बन गई और यह भारत के लेखा नम्बर एक में डाल दी गई। (५) पहले वर्ष में, अर्थात् १९४८ में ब्रिटेन ने १ करोड ५० लाख पौण्ड देना था जिस राशि को सभी देशों के चलार्थों में परिवर्तित किया जा सकता था।

समझौते के िन पौण्ड-पावने की राशि सारी देय राशियाँ निकालकर ८० करोड पौण्ड थी। १९५४ ५५ में यह राशि घटकर ५८ करोड ६० लाख पौण्ड हो गई क्योंकि भारत को अपनी आर्थिक विकास-योजनाओं के लिए खरीद गए माल .

मूल्य इसमें से देना पड़ा।

§३८ कर जाँच आयोग (१९५३)—देश की कराधान प्रणाली की विशद जाँच करने के लिए सरकार के १ अप्रैल १९५३ के संकल्प द्वारा कर जाँच आयोग की नियुक्ति की गई। संकल्प में कहा गया था कि एक ऐसे जाँच आयोग की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि १९२५ से जब कर-जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट दी है, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में बड़े परिवर्तन हो चुके हैं। उस समय बर्मा, सम्पूर्ण बंगाल, पंजाब, उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान और सिन्ध आदि भारत में ही थे। देशी राज्यों के अपने अलग बजट थे और उनके आय के स्रोत भी अलग थे। उस समय न तो योजना का कोई विचार था और न जन कल्याण राज्य की स्थापना का ही कोई आदर्श था। सूती कपड़े और पटसन-उद्योगों के अतिरिक्त सुव्यवस्थित रूप से कोई उद्योग नहीं था और भारत तैयार माल का आयात तथा कच्चे माल का निर्यात बहुत अधिक मात्रा में करता था। जहाँ तक राजस्व का सम्बन्ध है केन्द्रीय सरकार की आय का मुख्य स्रोत सीमा शुल्क था और प्रान्तीय सरकारों का मुख्य आय स्रोत लगान था। नमक कर और मद्य पर उत्पादन शुल्क आय के अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत थे। मद्य निषेध की कोई चर्चा न थी और न बिक्री-कर ही लागू किये गए थे। यद्यपि आय कर लागू था पर उसकी दर आज की अपेक्षा बहुत कम थी। युद्ध काल में और उसके पश्चात् अनेक परिवर्तन हुए, जिनसे स्थिति बदल गई। भौगोलिक दृष्टि से भारत आज बर्मा के अलग किये जाने और पाकिस्तान बन जाने से बहुत छोटा हो गया है। आज देश में बहुत से कारखाने चालू हैं इसलिए विदेशी व्यापार की रूपरेखा पहले से बदल गई है। सीमा शुल्क का, जो आय का मुख्य और वर्द्धिमान् स्रोत था महत्त्व अब कम हो गया है। नमक-कर हटा दिया गया है। मद्य निषेध की नीति देश के विधान के अनुसार अपना ली गई है और अधिकतर राज्यों में अंशतः अथवा पूर्णतः कार्यान्वित भी हो गई है। बिक्री-कर राज्यों की आय का मुख्य स्रोत हो गया है। लगान की महत्ता घट गई है। जन-कल्याण राज्य की स्थापना के आदर्श को स्वीकार कर लेने से विकास-सम्बन्धी व्यय अधिक किया जा रहा है और जनता पर करों का बोझ बढ़ता जा रहा है। प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के करों में वृद्धि हुई है लेकिन प्रत्यक्ष कर, जो १९३८-३९ में कुल करों के अनुपात में १२% थे, अब बढ़कर २५% हो गए हैं।

३९. कर देय क्षमता[1]—करारोपण की आर्थिक सीमा के अतिरिक्त राजनीतिक मनोवैज्ञानिक तथा प्रशासन सम्बन्धी सीमाएँ भी हैं। ऐसे देशों में, जहाँ की राज्य-व्यवस्था प्रजातन्त्रात्मक है और जहाँ वयस्क मतदान प्रचलित है, किसी कर विशेष के लगाने के पहले जनता की अनुमति प्राप्त कर लेना स्वभावतः आवश्यक है। किसी कर के भार को वहन करने की तत्परता जनता द्वारा करारोपण के ध्येय के प्रति समझदारी और सहानुभूति पर तथा राज्य द्वारा सरकारी धन-कोष का कुशलता मितव्ययता तथा ईमानदारी से व्यय किये जाने पर निर्भर होती है।

[1] कर जाँच-आयोग की रिपोर्ट, खण्ड १, पृष्ठ १५०-१५२।

कर जांच आयोग के मतानुसार भारत मे करों से होने वाली आय, राष्ट्रीय आय की ७ और ८ प्रतिशत के लगभग है और यह प्रतिशतता दक्षिण-पूर्वी एशिया और ससार के कई अन्य देशो की अपेक्षा कम है। पिछले २० अथवा ३० वर्षों से देश के करो में राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कोई विशेष प्रयत्न नही किया गया है। सरकारी आय की राशि राष्ट्रीय आय के अनुपात मे बढती गई है पर दोनों में से किसी मे भी कोई वास्तविक वृद्धि नहीं हुई है। भारत मे उपयोग के स्तर को गिराये बिना अथवा उत्पादन के उद्दीपनो को कम किये बिना करारोप के विस्तार की अब भी सम्भावना है। आय-कर मे वृद्धि करके (जिसका भार निगम कर में कुछ कमी करके तथा बचत और विनियोग में वृद्धि के लिए छूट देकर कुछ कम किया जा सकता है) अन्य विविध प्रकार की वस्तुओ पर वतमान उत्पाद-करो में वृद्धि करके, उपयुक्त मूल्य-नीति के अनुसरण द्वारा करो से अतिरिक्त प्राप्त आय मे वृद्धि करके लगान पर साधारण अधिभार लागू करके कर की दरों को बढ़ाकर तथा कृषि आय कर अधिक क्षेत्र पर लगा कर, स्थानीय सस्थाओ के लाभ के लिएं सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर लगाकर तथा सम्पत्ति-कर की सीमा का विस्तृत करके और बिक्री कर की दरा में वृद्धि तथा अन्य वस्तुओ पर बिक्री कर लगाकर सरकारी आय म अब भी वृद्धि की जा सकती है। जसा कि ऊपर कहा जा चुका है कर भार के वहन करने की तत्परता इस बात पर निभर होगी कि सरकार कर से प्राप्त आय को किस प्रकार व्यय करती है। कयल यह आवश्यक नहीं है कि आय का व्यय राष्ट्रीय हित की सव सम्मत मदा पर हो बल्कि व्यय मे कुशलता तथा मितव्ययता का होना भी आवश्यक है और फिर सभी करापवचन को न्यूनतम करन के लिए सम्भव उपायो का प्रयोग किया जाना चाहिए। यदि कर अपवचन के प्रति उदासीनता दिखाई गई तो सच्चे कर देने वाला को इससे शिकायत होगी और वे भी बेईमानी करने लग जायगे।

§४० कर-वाह्यता (इन्सीडेन्स)—कर-वाह्यता के सम्बन्ध में अभी तक कोई विशद जांच नही की गई है। १६२४ की कर-जांच-समिति ने यह मत प्रकट किया था कि जनता के किसी भी वर्ग के व्यक्तियों के लिए कर का भार यद्यपि असह्य नही है, पर असमान रूप से वितरित है। कुछ वर्गों के लोग, जसे बडे बडे जमींदारो और गांव के महाजनों पर बहुत कम कर लगता है। लगान नमक-कर उत्पादन कर स्टाम्प ड्यूटी आदि करों का भार मुख्यत निर्धन जनता पर पडता है। १६१४ के पश्चात् क्रमिक आय-कर अधि कर और विलासिता की वस्तुओ पर विशेष आयात शुल्कों के लागू किये जाने से कर प्रणाली किसी सीमा तक न्याय्य बन गई है। इसके होते हुए भी असमानता कर प्रणाली की विशेषता रही है।

१६५३ के करारोप जांच आयोग ने कर वाह्यता का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया था पर उसने अपना विश्लेषण वाह्य भार[1] तक ही सीमित रखा। यह मान लिया गया था कि प्रत्यक्ष करो का भार उन्ही पर पडता है जिनसे वह वसूल किया जाता है। प्रभावी वाह्यता (जिसका अथ कर भार का विवर्तन पूर्ण होने

१ कर जांच आयोग की रिपोर्ट, खण्ड १, अध्याय ४ और ५।

पर जिस जिस पर भार वितरित हो) का पता लगाना बड़ा ही दुष्कर कार्य है और आयोग ने इसका प्रयास भी नहीं किया। आयोग ने समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़े कर-भार और विशेष शीर्षों पर व्यय से उन्हें प्राप्त लाभ के सम्बन्ध का भी कोई अनुमान नहीं लगाया है। हमारे देश में कर-वाह्यता में बहुत अन्तर आ जाता है, क्योंकि कर की दर के समान होने पर भी (जैसे कि केन्द्रीय कर हैं) बराबर आय वाले व्यक्तियों के उपभोग और व्यय के ढंग में अन्तर हो सकता है। दूसरे विभिन्न राज्यों द्वारा अपने क्षेत्र में आरोपित करों की दरों में भिन्नता के कारण भी अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार स्थानीय करों की दरों में भी किसी राज्य के अन्दर हो भिन्नता हो सकती है। करारोपण-जाँच आयोग ने इस बात पर जोर दिया है कि इन कठिनाइयों के कारण देश की कर पद्धति के भार के अनुमान से मोटे तौर पर ही पता चल सकता है कि करों का भार किस पर कितना पड़ता है। फिर भी भारत में करों की वाह्यता के विश्लेषण के सम्बन्ध में आयोग के विचार निम्नलिखित हैं—गाँवों की अपेक्षा नगरों में अधिक प्रतिव्यक्ति कर है। जहाँ तक परोक्ष करों का सम्बन्ध है नगरों में प्रतिव्यक्ति कर गाँवों की अपेक्षा पौने तीन गुना है, और प्रति व्यक्ति केन्द्रीय कर नगरों में गाँवों की अपेक्षा लगभग तिगुने हैं। ज्यों ज्यों नगर की ओर हम बढ़ते जाते हैं उतना प्रतिव्यक्ति कर बढ़ता जाता है। यह अन्तर मध्य अथवा निम्न-वर्ग की आय की अपेक्षा ऊँची आय के सम्बन्ध में विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। केन्द्रीय उत्पाद-करों के सम्बन्ध में गाँव और नगर का अन्तर न्यूनतम है, आयात शुल्क के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत अधिक है और बिक्री-कर के सम्बन्ध में अधिकतम है। परोक्ष करों का भार साधारण ढंग से प्रगामी है (न्यूनतम आय पर २.२ प्रतिशत से अधिकतम आय पर ८.४ प्रतिशत तक बढ़ता है)। यह उत्तरोत्तर वृद्धि विशेषकर केन्द्रीय करों के सम्बन्ध में दिखाई पड़ती है और राज्यों के करों के सम्बन्ध में बहुत कम है। नगरों में परोक्ष-कर गाँवों की अपेक्षा अधिक प्रगामी हैं।

मुख्य प्रत्यक्ष-कर, आय कर और लगान हैं। आय-कर का भार नगरों में लगभग पूरी तरह ३०० रुपये मासिक आय से अधिक पाने वाले वर्ग पर ही पड़ता है और लगान का भार मुख्यतः ग्रामवासियों द्वारा ही वहन किया जाता है। इसका भार बहुत कम है। राष्ट्रीय आय समिति की रिपोर्ट के अनुसार १९५०-५१ में भारत में कृषि उत्पाद की बिक्री द्वारा प्राप्त आय ४,८६६ करोड़ रुपये थी, जिसमें से वास्तविक आय ४११२ करोड़ रुपये थी। लेकिन लगान वसूली इस वर्ष केवल ४७ करोड़ रुपये ही हुई। गाँवों में करारोप की यह अपेक्षाकृत कमी कुछ हद तक उन राज्यों ने पूरी की है जहाँ कृषि आय-कर ऊँची दर पर लागू किया गया है। करों का कुल भार युद्ध के पूर्व-काल से ही गाँवों की अपेक्षा नगरों के क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक बढ़ गया है। लोगों की आय में गाँवों से नगरों में और नगरों से गाँवों में कोई विशेष स्थानान्तरण नहीं हुआ है, यद्यपि प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत विभिन्न वर्गों के बीच आय का कुछ स्थानान्तरण हुआ प्रतीत होता है।

अध्याय २३

आयोजन और बेकारी

§१ प्रथम पचवर्षीय योजना—भारत सरकार द्वारा मार्च १६५० मे योजना आयोग नियुक्त किया गया और उसे तुरन्त ही एक ऐसी योजना तयार करने का भार सौंपा गया जिसमे 'देश के साधनो का सबसे अधिक प्रभावशाली और सन्तुलित उपयोग हो सके।" जुलाई १६५० में आयोग को देश के आर्थिक विकास के लिए एक छ-वर्षीय योजना तुरन्त ही तयार करने के लिए कहा गया, जिसे राष्ट्रमण्डल मन्त्रणा समिति (कामनवेल्थ कन्सलटेटिव कमटी) के सम्मुख उपस्थित किया जा सके। यह योजना दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो के सहकारी आर्थिक विकास की कोलम्बो योजना म सम्मिलित कर ली गई। जुलाई १६५१ में योजना आयोग ने प्रथम पचवर्षीय योजना की एक रूपरेखा 'सवसाधारण के विशद विचाराथ' निकाली। योजना अन्तिम रूप में दिसम्बर १६५२ में ससद् के सम्मुख उपस्थित की गई। योजना में निम्नलिखित मुख्य मदो पर २,३५६ करोड रुपये के व्यय की व्यवस्था थी।[१]

	व्यय १६५१ ५६ (करोड रुपयों में)	कुल का प्रतिशत
कृषि तथा सामुदायिक विकास	३५७	१५ १
सिचाइ, बिजली तथा बाढ नियन्त्रण	६६१	२८ १
परिवहन और सचार	५५७	२३ ६
उद्योग तथा खानें	१७६	७ ६
सामाजिक सेवा, गृह निर्माण तथा पुनर्निवास	५३३	२२ ६
विविध	६६	३ ०
कुल	२,३५६	१०० ०

यह कहा गया था कि व्यय के लक्ष्य निश्चित करने मे निम्न बातें विचाराधीन रखी गइ—(१) विकास का एक ऐसा सिलसिला प्रारम्भ करने की आवश्यकता है

१ ये आँकड़े मूल योजना में छपे हुए आँकड़ों से भिन्न हैं (पृष्ठ ३ और ७०)। द्वितीय पचवर्षीय योजना, पृष्ठ ५१ ५२।

सुपर फ़ास्फ़ेट	५५ १	१८० ०
रेलवे इन्जन (संख्या)	२ ०	१५० ०
मशीनी औजार (हजारों में)	१ १	४६
पैट्रोलियम (करोड़ गैलनों में)	×	४० ३०
बिटुमन (हजार टनों में)	×	३७५
रुई की वस्तुएँ		
सूत (करोड़ पौण्डों में)	११७.९०	१६४ ००
मिल का कपड़ा (करोड़ गजों में)	३७१ ८०	४७० ००
करघे का बना कपड़ा (करोड़ गजों में)	८१ ००	१७० ००
पश्मन की वस्तुएँ (हजार टनों में)	८६२ ०	१२०० ०
कृषि मशीनें		
शक्ति-चालित पम्प (हजारों में)	३४ ३	८५ ०
डीजल इन्जन (हजारों में)	५ ५	५० ०
बाइसिकल (हजारों में)	१०१ ०	५३० ०
शक्ति मद्यसार (पावर अल्कोहल) (करोड़ गैलनों में)	४७	१ ८०
परिवहन		
जहाजों की धारिता—		
तटीय (हजार टनों में)	२११ ०१	३११ ०१
दूसरे देशों को जाने वाले (हजार टनों में)	१७३ ५	२८३ १
सड़कें		
राष्ट्रीय राजमार्ग (हजार मीलों में)	११ ६	१२ ५
राज्यों के मार्ग (हजार मीलों में)	१७ ६	२० ६
शिक्षा		
विद्यार्थियों की संख्या प्राइमरी स्कूलों में (लाखों की संख्या में)	१५१ १	१८७ ६
जूनियर बेसिक स्कूलों में	२६ ०	५२ ८
सेकेन्डरी स्कूलों में	४३ ८	५७ ८
औद्योगिक स्कूलों में (हजारों की संख्या में)	१४ ८	२१ ८
अन्य औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण स्कूलों में (हजारों की संख्या में)	२६ ७	४१ ९
स्वास्थ्य		
अस्पताल (मरीजों के लिए शय्याएँ हजारों में)	१०६ ५	११० २

* लेकिन देखिए ६१७।

औषधालय (संख्या)—		
गाँवों में	१,३५८	१,६१५
नगरों में	५,२२६	५,८४०
विकास संस्थाएँ		
पंचायतें (हजारों की संख्या में)	५५ १	६६ १
सहकारी समितियाँ		
ऋण देने वाली (हजारों की संख्या में)	८७ ८	११२ ५
बिक्री और विपणन समितियाँ (हजारों की संख्या में)	१४ ७	२० ७
बहुप्रयोजनीय समितियाँ (हजारों की संख्या में)	३१ ५	४० ५
लिफ्ट द्वारा सिंचाई की समितियाँ (संख्या)	११९२ ०	५१४ ०
सहकारी कृषि समितियाँ (संख्या)	३५२ ०	१०७८ ०
अन्य (हजारों की संख्या में)	२७ ३	३५ ८
कुल योग (हजारों की संख्या में)	१६१ ६	२११ १

यह आशा थी कि राष्ट्रीय आय जिसका अनुमान १९५० ५१ मे ९,००० करोड रुपये था १९५५ ५६ में (मूल्य-स्तर के समान रहने पर) बढ़कर १० ००० करोड रुपये हो जायगी, जिसका अर्थ ११% से कुछ अधिक वृद्धि होगी।

आशा थी कि योजना से आर्थिक विकास के फलस्वरूप गैर-सरकारी क्षेत्र में तथा व्यवसायों में रोजगार के नये अवसरों के अतिरिक्त लगभग ३३ लाख व्यक्तियों को काम मिल सकेगा।[1]

उद्योग	काम प्राप्त करने वाले अतिरिक्त व्यक्तियों की संख्या *(लाखों की संख्या में)*
उद्योग जिनमें छोटे पैमाने के उद्योग सम्मिलित हैं	४ ००
सिंचाई और बिजली की बड़ी योजनाएँ	७ ५०
कृषि	२३ ००
खानें	० ०४
गृह निर्माण (सरकारी तथा गैर-सरकारी)	१ ००
सड़कें	२ ००
कुल योग	३२ ५४

§४ विभिन्न नीतियों के अन्तर्गत कार्यक्रम—अब हम इस अध्याय के आरम्भ में दिये गए विभिन्न नीतियों के अन्तर्गत कार्यक्रमों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

१ प्रथम पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ६५४।

सुपर फास्फेट	८५.१	१८०.०
रेलवे इन्जन (संख्या)	३.०	१५०.०
मशीनी औज़ार (हज़ारों में)	११	४६
पेट्रोलियम (करोड़ गैलनों में)	×	४०.३०
बिटुमन (हज़ार टनों में)	×	३७.८
रुई की वस्तुएँ		
सूत (करोड़ पौण्डों में)	११७.६०	१६४.००
मिल का कपड़ा (करोड़ गज़ों में)	३७१.८०	४७०.००
करघे का बना कपड़ा (करोड़ गज़ों में)	८१.००	१७०.००
पश्मन की वस्तुएँ (हज़ार टनोंमें)	८६२.०	१२००.०
कृषि मशीनें		
शक्ति चालित पम्प (हज़ारों में)	३४.३	८५.०
डीज़ल इन्जन (हज़ारों में)	५.५	५०.०
बाइसिकल (हज़ारों में)	१०१.०	८३०.०
शक्ति मद्यसार (पावर अल्कोहल) (करोड़* गैलनों में)	४७	१.८०
परिवहन		
जहाजों की धारिता—		
तटीय (हज़ार टनों में)	२११.०१	३१५.०१
दूसरे देशों को जाने वाले (हज़ार टनों में)	१७३.५	२८३.५
सड़कें		
राष्ट्रीय राज मार्ग (हज़ार मीलों में)	११.६	१२.५
राज्यों का मार्ग (हज़ार मीलों में)	१७.६	२०.६
शिक्षा		
विद्यार्थियों की संख्या प्राइमरी स्कूलों में (लाखों की संख्या में)	१५१.१	१८७.६
जूनियर बेसिक स्कूलों में	२६.०	५२.८
सेकेन्डरी स्कूलों में	४३.८	५७.८
औद्योगिक स्कूलों में (हज़ारों की संख्या में)	१४.८	२१.८
अन्य औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण स्कूलों में (हज़ारों की संख्या में)	२६.७	४१.६
स्वास्थ्य		
अस्पताल (मरीज़ों के लिए जगहें हज़ारों में)	१०६.५	११७.२

* लेकिन देखिये ६१७।

औषधालय (संख्या)—		
गाँवों में	१,३५८	१,६१५
नगरों में	५,२२६	५,८४०
विकास संस्थाएं		
पंचायतें (हजारों की संख्या में)	५५ १	६६ १
सहकारी समितियाँ		
ऋण देने वाली (हजारों की संख्या में)	८७ ८	११२ ५
बिक्री और विपणन समितियाँ (हजारों की संख्या में)	१४ ७	२० ७
बहुप्रयोजनीय समितियाँ (हजारों की संख्या में)	३१ ५	४० ५
लिफ्ट द्वारा सिंचाई की समितियाँ (संख्या)	१६२ ०	५१४ ०
सहकारी कृषि समितियाँ (संख्या)	३५२ ०	६७८ ०
अन्य (हजारों की संख्या में)	२७ ३	३५ ८
कुल योग (हजारों की संख्या में)	१६१ ६	२११ १

यह आशा थी कि राष्ट्रीय आय जिसका अनुमान १९५०-५१ में ९,००० करोड़ रुपये था १९५५-५६ में (मूल्य-स्तर के समान रहने पर) बढ़कर १०,००० करोड़ रुपये हो जायगी, जिसका अर्थ ११% से कुछ अधिक वृद्धि होगी।

आशा थी कि योजना से आर्थिक विकास के फलस्वरूप गैर-सरकारी क्षेत्र में तथा व्यवसायों में रोजगार के नये अवसरों के अतिरिक्त लगभग ३३ लाख व्यक्तियों को काम मिल सकेगा।[1]

उद्योग	काम प्राप्त करने वाले अतिरिक्त व्यक्तियों की संख्या (लाखों की संख्या में)
उद्योग जिनमें छोटे पैमाने के उद्योग सम्मिलित हैं	४ ००
सिंचाई और बिजली की बड़ी योजनाएं	७ ५०
कृषि	२१ ००
खानें	० ०४
गृह निर्माण (सरकारी तथा गैर सरकारी)	१ ००
सड़कें	१ ००
कुल योग	३२ ५४

§४ विभिन्न क्षेत्रों के अन्तर्गत कार्यक्रम—अब हम इस अध्याय के आरम्भ में दिये गए विभिन्न क्षेत्रों के अन्तर्गत कार्यक्रमों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

[1] प्रथम पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ६५४।

सुपर फास्फेट	५५ १	१८० ०
रेलवे इन्जन (संख्या)	३०	१५० ०
मशीनी औजार (हजारों में)	१ १	४ ६
पेट्रोलियम (करोड़ गैलनों में)	×	४० ३०
बिटुमन (हजार टनों में)	×	३७ ८
रुई की वस्तुएँ		
सूत (करोड़ पौण्डों में)	११७ ९०	१६४ ००
मिल का कपड़ा (करोड़ गजों में)	३७१ ८०	४७० ००
करघे का बना कपड़ा (करोड़ गजों में)	८१ ००	१७० ००
पटसन की वस्तुएँ (हजार टनों में)	८९२ ०	१२०० ०
कृषि मशीनें		
शक्ति-चालित पम्प (हजारों में)	३४ ३	८५ ०
डीजल इन्जन (हजारों में)	५ ५	५० ०
बाईसिकल (हजारों में)	१०१ ०	५३० ०
शक्ति मद्यसार (पावर अल्कोहल) (करोड़ गैलनों में)	४७	१ ८०
परिवहन		
जहाजों की धारिता—		
तटीय (हजार टनों में)	२११ ०*	३१५ ०*
दूसरे देशों को जाने वाले (हजार टनों में)	१७३ ५	२८३ ५
सड़कें		
राष्ट्रीय राज मार्ग (हजार मीलों में)	११ ९	१२ ५
राज्यों का मार्ग (हजार मीलों में)	१७ ६	२० ६
शिक्षा		
विद्यार्थियों की संख्या प्राइमरी स्कूलों में (लाखों की संख्या में)	१५१ १	१८७ ६
जूनियर बेसिक स्कूलों में	२९ ०	५२ ८
सेकेण्डरी स्कूलों में	४३ ६	५७ ८
औद्योगिक स्कूलों में (हजारों की संख्या में)	१४ ८	२१ ८
अन्य औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण स्कूलों में (हजारों की संख्या में)	[illegible]६ ७	४२ १
स्वास्थ्य		
अस्पताल (मरीजों के लिए शय्याएँ हजारों में)	१०६ ५	११७ २

* [illegible] देखिये ६१०।

औषधालय (संख्या)—		
गाँवों में	१,३५८	१,६१५
नगरों में	५,२२६	५,८४०
विकास संस्थाएँ		
पंचायतें (हजारों की संख्या में)	५५ १	६६ १
सहकारी समितियाँ		
ऋण देने वाली (हजारों की संख्या में)	८७ ८	११२ ५
बिक्री और विपणन समितियाँ (हजारों की संख्या में)	१४ ७	२० ७
बहुप्रयोजनीय समितियाँ (हजारों की संख्या में)	३१ ५	४० ५
लिफ्ट द्वारा सिंचाई की समितियाँ (संख्या)	१६२ ०	५१४ ०
सहकारी कृषि समितियाँ (संख्या)	३५२ ०	६७८ ०
अन्य (हजारों की संख्या में)	२७ ३	३५ ८
कुल योग (हजारों की संख्या में)	१६१ ६	२११ १

यह आशा थी कि राष्ट्रीय आय जिसका अनुमान १९५०-५१ में ९,००० करोड़ रुपये था १९५५-५६ में (मूल्य स्तर के समान रहने पर) बढ़कर १०,००० करोड़ रुपये हो जायगी, जिसका अर्थ ११% से कुछ अधिक वृद्धि होगी।

आशा थी कि योजना से आर्थिक विकास के फलस्वरूप गैर-सरकारी क्षेत्र में तथा व्यवसायों में रोजगार के नये अवसरों के अतिरिक्त लगभग ३३ लाख व्यक्तियों को काम मिल सकेगा।[1]

उद्योग	काम प्राप्त करने वाले अतिरिक्त व्यक्तियों की संख्या (लाखों की संख्या में)
उद्योग जिनमें छोटे पैमाने के उद्योग सम्मिलित हैं	४ ००
सिंचाई और बिजली की बड़ी योजनाएँ	७ ८०
कृषि	२३ ००
खानें	० ०४
गृह निर्माण (सरकारी तथा गैर-सरकारी)	१ ००
सड़कें	२ ००
कुल योग	३२ ५४

§४ विभिन्न शीर्षों के अन्तर्गत कार्यक्रम—अब हम इस अध्याय के आरम्भ में दिये गए विभिन्न शीर्षों के अन्तर्गत कार्यक्रमों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

१ प्रथम पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ६५४।

कृषि तथा सामुदायिक विकास—३५७ करोड़ रुपये का नियत किया गया व्यय निम्न ढंग से होना था—

	करोड़ रुपये
कृषि	१६७ ८
पशु-पालन जिसमें डेरी और दूध व्यवसाय सम्मिलित हैं	२१ ६
वन	१० ४
सहकारिता	६ ८
मत्स्य पालन	४ ०
ग्राम-विकास	११ ४
सामुदायिक परियोजनाएँ	९० ०
स्थानीय निर्माण-कार्य	१५ ०
कुल योग	३५७ ८

इस तालिका से यह तो स्पष्ट है कि कृषि के बाद सबसे अधिक व्यय सामुदायिक परियोजनाओं पर किया जाना था, जिससे कि ग्रामीण जनता में सहकारिता और आत्म निर्भरता की भावना का विकास हो। कार्यक्रम का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश भूमि-सम्बन्धी सुधार करना था जिसमें किसानों की जोतों की न्यूनतम और अधिकतम सीमाएँ निर्धारित करना, और खेतों पर आसामियों के अधिकार की इस ध्येय से सुरक्षा भी शामिल थी कि धीरे धीरे उन्हें उस भूमि का स्वामी ही बना दिया जाय।

परिवहन और संचार—परिवहन और संचार के लिए नियत ५५७ करोड़ रुपये की राशि निम्न तालिका से स्पष्ट है।[1]

	करोड़ रुपये
रेलवे	२६७ ५
सड़कें	१३२ ५
सड़कों द्वारा परिवहन	८ १
बन्दरगाह आदि	४१ १
नौ-परिवहन	३१ १
असैनिक विमान परिवहन	२६ ९
डाक व तार	५० ०
प्रसारण	३ ३
विविध	१ ८
कुल योग	५५९ ६

अधिकांश व्यय रेलवे पर किया जाने वाला था। रेलवे की तात्कालिक समस्या यह थी कि पुराने सामान के स्थान पर नया लाया जाय और जो लाइनें उखाड़ दी

1 अध्याय १६ में दिये हुए आंकड़ों जो केवल अनुमान थे, और इन आंकड़ों में कुछ अन्तर है।

गई थी उन्हे फिर चालू किया जाय। पुराने सामान को बदलने के लिए जो बहुत दिनो से नही हुआ था, और रेलवे की सेवाओं के लिए देश के विभिन्न भागा मे आर्थिक विकास के कारण बढ़ी हुई मांग पूरी करने के लिए जो न्यूनतम आवश्यक यन्त्रादि चाहिए थे, उनकी प्राप्ति के लिए इस व्यय की व्यवस्था की गई थी। रेल-लाइनो को बढ़ाने के अतिरिक्त रेलों पर व्यय के कार्यक्रम में इजनो, मालगाडी और यात्री डिब्बो तथा अन्य आवश्यक सामान का देश म निर्माण भी शामिल था। जैसा कि पष्ठ ४६६ की तालिका से स्पष्ट है, १९५० ५१ से १९५५ ५६ तक इजनों का उत्पादन ३ से १५०, यात्री डिब्बो का ७७९ से ४३८०, माल डिब्बों का २९२४ से ३०,००० तक बढाना था। यात्रियो के लिए रेल की सुविधा ६ करोड, ५० लाख मील से, जितनी कि १९५० ५१ मे थी, बढाकर १९५५ ५६ में १० करोड, ८० लाख मील करनी थी और लाए जाने वाले माल का भार ६ करोड, १० लाख टन से बढ़ाकर १२ करोड टन होना था।

नौ परिवहन का लक्ष्य यह था कि भारतीय जलपोतो की धारिता ३ ८४,००० टन मे बढ़ाकर ६०० ००० टन कर दी जाय। सडको की योजना के अन्तगत पहले से आरम्भ किये गए निर्माण काय को पूरा करने के अतिरिक्त ४५० मील लम्बी नई सडकों का निर्माण ४८ नये पुलो का निर्माण बहुत-से छोटे छोटे पुलो का निर्माण तथा २२०० मील लम्बी पुरानी सडको की मरम्मत करना भी था।[1] आयोग का मत था कि वतमान विमान-परिवहन कम्पनियाँ आर्थिक दृष्टि से अलग अलग स्वतन्त्र रूप से सफलतापूवक काय करने मे असमर्थ हैं, इसलिए उसने उनको मिलाकर एक कर देने का सुझाव दिया था। योजना में वतमान कम्पनियो को क्षति-पूर्ति देने के लिए तथा नये विमान खरीदने के लिए ९ ५ करोड रुपया रखा गया था। आयोग ने ५० करोड रुपये प्रत्येक गाँव में, जिसकी जनसख्या २ ००० या उससे अधिक हो, एक डाकखाना खोलने के लिए और बड-बडे नगरो मे टलीफ़ोन की सुविधा दने के लिए नियत किया था।

सिंचाई और विद्युत—यह विचार था कि सिंचाई के अन्तगत भूमि का क्षेत्रफल ५ करोड एकड से बढाकर ६ करोड ९९ लाख एकड कर दिया जायगा। योजना का ध्येय यह था कि पहले सिंचाई की उन योजनाओं को पूरा किया जाय जो पहले से आरम्भ की जा चुकी हैं और यह प्रस्ताव किया गया कि कुल ४०१ करोड रुपया योजना-काल म सिंचाई के विकास पर व्यय किया जाय।[2] इन योजनाओं को इस ढग पर अवस्थानबद्ध करना था कि सिंचाई और बिजली की सुविधाओं का लाभ उत्तरोत्तर बढ़ता रहे। छोटी सिंचाई-योजनाओं को योजना म विशेष महत्त्व का स्थान दिया गया। इन छोटी योजनाओ से एक करोड एकड अतिरिक्त भूमि को तथा मध्यम और बड़ी-बड़ी योजनाओं से ६९ लाख एकड अतिरिक्त-भूमि के सींचे जाने की

१ प्रथम पचवर्षीय योजना, पृष्ठ ४८० ।

२ इसमें १७ करोड रुपये की वह राशि भी सम्मिलित है जो बाढ नियन्त्रण के लिए तथा अन्य प्रयोगात्मक परियोजनाओं के लिए नियत की गई थी।

आशा थी। इस प्रकार सींची जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल १९५१ में १६ प्रतिशत से बढ़कर १९५६ में २० प्रतिशत हो जाता।

यह विचार था कि २६० करोड़ रुपये के व्यय से बिजली का उत्पादन २३ लाख किलोवाट से बढ़कर ३५ लाख किलोवाट हो जायगा। नगरों की विद्युत्-शक्ति की सदा बढ़ती हुई आवश्यकता को पूरा करने के अतिरिक्त योजना में यह भी व्यवस्था थी कि ५,००० और २०,००० के बीच की जनसंख्या वाले गाँवों में भी बिजली पहुँचा दी जाय।

उद्योग—भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि योजना के अन्तर्गत कुल व्यय का अधिकांश कृषि के लिए सुरक्षित किया गया और केवल ७.६ प्रतिशत, अर्थात् १७९ रुपया ही औद्योगिक विकास के लिए रखा गया। आयोग ने उद्योगों के विकास में निम्नलिखित प्राथमिकता-क्रम का सुझाव दिया—(१) उत्पादक-वस्तुओं (प्रोड्यूसर गुड्स) के उद्योगों-जैसे पटसन, प्लाईवुड और उपभोग-वस्तुओं के उद्योगों-जैसे सूती कपड़ा, चीनी, साबुन तथा वनस्पति की वर्तमान उत्पादन-शक्ति का पूर्णत प्रयोग किया जाय, (२) पूँजी-गत माल और उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों जैसे लोहा, इस्पात, एलम्यूनियम, सीमेंट, उर्वरक, स्थूल रसायन तथा मशीनी औजारों की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि की जाय, (३) उन औद्योगिक इकाइयों को, जिन पर कुछ पूँजी पहले से ही व्यय की जा चुकी है पूरा किया जाय, और (४) नये उद्योगों, जैसे खड़िया मिट्टी से गन्धक बनाने की स्थापना की जाय।

योजना में यह व्यवस्था थी कि केन्द्रीय और राज्य-सरकारों के नियन्त्रण में औद्योगिक योजनाओं पर ९४ करोड़ रुपये का व्यय हो। इस बात का भी प्रबन्ध किया गया था कि लोहे और इस्पात का एक नया कारखाना खोला जाय जिस पर ६ वर्षों में लगभग ८० करोड़ रुपया खर्च होगा। योजना काल में १५ करोड़ रुपया तो सरकार द्वारा खर्च होगा, और यह आशा की गई थी कि और १५ करोड़ देशी और विदेशी पूँजी से प्राप्त हो जायगा। आयोग ने विभिन्न उद्योगों के प्रतिनिधियों की सलाह से ४२ संगठित उद्योगों के लिए विस्तृत कार्यक्रम तैयार किए। यह आशा थी कि पाँच वर्ष के काल में गैर-सरकारी क्षेत्र के उद्योगों पर लगभग २३३ करोड़ रुपया खर्च किया जायगा, जिसका लगभग ८०% पूँजी पूँजीगत-माल तथा उत्पादक-वस्तुओं के उद्योगों, मुख्यतः लोहा और इस्पात-परियोजनाओं, तेल साफ करने के कारखाना तथा सीमेंट एलम्यूनियम उर्वरक, स्थूल रसायन तथा शक्ति मद्यसार आदि के कारखानों में लगाई जायगी।

औद्योगिक विकास के ध्येय १९४८ के औद्योगिक नीति-सम्बन्धी वक्तव्य में व्यक्त कर दिये गए थे, और गैर-सरकारी क्षेत्र पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखने के लिए उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम १९५१[1] के अन्तर्गत अनुज्ञप्तियाँ (लाइसेन्स) देने की प्रणाली प्रारम्भ कर दी गई। उद्योगों को तीन मुख्य भागों में

---

[1] १९४८ और १९५६ के औद्योगिक नीति-वक्तव्य का विस्तृत वर्णन इस अध्याय के §४१ और §४३ में किया गया है। §४२ भी देखिये।

बाँटा गया—(१) हथियार और गोला बारूद, अणु शक्ति के उद्योग, नदी घाटी योजनाएँ और रेलवे आदि, जो राज्य के एकाधिकार के उद्योग थे, (२) वे उद्योग जो राज्य के कड़े नियन्त्रण मे रहते थे, जैसे लोहा और इस्पात, विमान, टेलीफोन, तार, बेतार के तार जलपोत निर्माण, तथा खनिज तेल आदि, और (३) बाकी उद्योग, जिनका विकास ग़ैर सरकारी उद्यम पर छोड़ दिया गया था। उद्योगो के उचित विनियमन के लिए सरकार ने यह अधिकार ले लिया था कि यदि कोई उद्योग कुशलता से अथवा जनता के हित के लिए कार्य न करे तो सरकार उस उद्योग को अपने अधिकार में ले लेगी।

आयोग ने ३० करोड रुपया[1] छोटे पमाने के उद्योगो और ग्राम-उद्योगों के विकास के लिए नियत किया था। इनके अन्तगत करघे का बुनाई खादी, धान कूटने, घानी पेरने, दियासलाई बनाने दस्तकारी, रेशम व रेशम के कीडे पालने और नारियल की चटाइयाँ बनाने आदि के ग्राम उद्योग सम्मिलित किये गए थे। गाँवो के उद्योगीकरण के ढाँचे में परिवतन के दृष्टिकोण से छोटे-छोटे उद्योगो तथा ग्राम उद्योगों का विकास योजना में शामिल किया गया था। यह अनुभव किया गया कि जसे-जसे आवश्यकताएँ बढती जायेंगी और उत्पादन की प्रविधि विकसित होती चलेगी, छोटे छोटे दस्तकारी के काम विकसित होकर छोटे उद्योगों का रूप धारण कर लेंगे। सरकार ने वतमान ग्राम उद्योगो की सहायता और इनके सगठन में सहायता के लिए निश्चित कायवाही करने का निश्चित किया, जिससे कि एक उन्नतिशील और कुशल विकेन्द्रित क्षेत्र का विकास हो जो कि एक ओर कृषि उद्योग स और दूसरी ओर बड़े पमाने के उद्योगा से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो।

सामाजिक सेवाएँ—इस सवव्यापी शीषक के अन्तगत आने वाले कार्यों की सूची नीचे की तालिका में दी गई है।

शिक्षा के कायक्रम का ध्येय साक्षरता की प्रतिशतता बढाना था। १६५१ में साक्षर लोगा की सख्या केवल १७ २ प्रतिशत थी। इसका ध्येय यह भी था कि हर स्तर पर शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएँ समाज के प्रत्येक वग के लोगा को दी जायें, गाँवो और नगरो में असमानताएँ दूर कर दी जायें निरथक व्यय का बन्द कर दिया जाय और प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएँ दी जायें।

	करोड़ रुपये
शिक्षा	१६९[2]
स्वास्थ्य	१४०
गृहनिर्माण	४९
पिछड़े वग के लोगों और अनुसूचित जातियों का कल्याण	३२
श्रम तथा श्रम-कल्याण	७
पुनर्वास	१३६
कुल योग	५३३

१ मूल योजना के प्रकाशन के बाद इसे और अन्य आंकड़ों में परिवर्तन कर दिया गया था।
२ इसमें सामाजिक कल्याण के लिए निश्चित किया हुआ ५ करोड़ रुपया भी सम्मिलित है।

आशा थी। इस प्रकार सींची जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल १९५१ में १६ प्रतिशत से बढ़कर १९५६ में २० प्रतिशत हो जाता।

यह विचार था कि २६० करोड़ रुपये के व्यय से बिजली का उत्पादन २३ लाख किलोवाट से बढ़कर ३५ लाख किलोवाट हो जायगा। नगरों की विद्युत्-शक्ति की सदा बढ़ती हुई आवश्यकता को पूरा करने के अतिरिक्त योजना में यह भी व्यवस्था थी कि ५,००० और २०,००० के बीच की जनसंख्या वाले गाँवों में भी बिजली पहुँचा दी जाय।

उद्योग—*भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है, इसलिए यह स्वाभाविक ही था* कि योजना के अन्तर्गत कुल व्यय का अधिकांश कृषि के लिए सुरक्षित किया गया और केवल ७.६ प्रतिशत अर्थात् १७९ रुपया ही औद्योगिक विकास के लिए रखा गया। आयोग ने उद्योगों के विकास के निम्नलिखित प्राथमिकता-क्रम का सुझाव दिया—(१) उत्पादक-वस्तुओं (प्रोड्यूसर गुड्स) के उद्योगों जैसे पटसन, प्लाईवुड और उपभोग-वस्तुओं के उद्योगों जैसे सूती कपड़ा, चीनी, साबुन तथा वनस्पति की वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूर्णतः प्रयोग किया जाय, (२) पूँजी-गत माल और उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों, जैसे लोहा, इस्पात, एलम्यूनियम सीमेंट, उर्वरक, स्थूल रसायन तथा मशीनी औज़ारों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि की जाय, (३) उन औद्योगिक इकाइयों को, जिन पर कुछ पूँजी पहले से ही व्यय की जा चुकी है पूरा किया जाय, और (४) नये उद्योगों, जैसे खड़िया मिट्टी से गंधक बनाने की स्थापना की जाय।

योजना में यह व्यवस्था थी कि केन्द्रीय और राज्य-सरकारों के नियन्त्रण में औद्योगिक योजनाओं पर ९४ करोड़ रुपये का व्यय हो। इस बात का भी प्रबन्ध किया गया था कि लोहे और इस्पात का एक नया कारखाना खोला जाय जिस पर ६ वर्षों में लगभग ८० करोड़ रुपया खर्च होगा। योजना काल में १५ करोड़ रुपया तो सरकार द्वारा खर्च होगा, और यह आशा की गई थी कि और १५ करोड़ देशी और विदेशी पूँजी से प्राप्त हो जायगा। आयोग ने विभिन्न उद्योगों के प्रतिनिधियों की सलाह से ४२ संगठित उद्योगों के लिए विस्तृत कार्यक्रम तैयार किये। यह आशा थी कि पाँच वर्ष के काल में गैर सरकारी क्षेत्र के उद्योगों पर लगभग २३३ करोड़ रुपया खर्च किया जायगा जिससे लगभग ८०% पूँजी पूँजीगत-माल तथा उत्पादक-वस्तुओं के उद्योगों, मुख्यतः लोहा और इस्पात परियोजनाओं, तेल साफ करने के कारखानों तथा सीमेंट, एलम्यूनियम, उर्वरक, स्थूल रसायन तथा शक्ति मद्यसार आदि के कारखानों में लगाई जायगी।

औद्योगिक विकास के ध्येय १९४८ के औद्योगिक नीति-सम्बन्धी वक्तव्य में व्यक्त कर दिये गए थे, और गैर-सरकारी क्षेत्र पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखने के लिए उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम १९५१[1] के अन्तर्गत अनुज्ञप्तियाँ (लाइसेंस) देने की प्रणाली प्रारम्भ कर दी गई। उद्योगों को तीन मुख्य वर्गों में

---

[1] १९४८ और १९५६ के औद्योगिक नीति-वक्तव्य का विस्तृत वर्णन इस भाग के ६११-६९(?) में किया गया है। ६४७ भी देखिये।

बाँटा गया—(१) हथियार और गोला बारूद, अणु-शक्ति के उद्योग, नदी घाटी योजनाएँ और रेलवे आदि, जो राज्य के एकाधिकार के उद्योग थे, (२) वे उद्योग जो राज्य के कड़े नियन्त्रण में रहते थे, जैसे लोहा और इस्पात विमान, टेलीफ़ोन तार, बेतार के तार, जलपोत निर्माण, तथा खनिज तेल आदि, और (३) बाकी उद्योग, जिनका विकास ग़ैर-सरकारी उद्यम पर छोड़ दिया गया था। उद्योगों के उचित विनियमन के लिए सरकार ने यह अधिकार ले लिया था कि यदि कोई उद्योग कुशलता से अथवा जनता के हित के लिए काम न करे तो सरकार उस उद्योग को अपने अधिकार में ले लेगी।

आयोग ने ३० करोड़ रुपया[1] छोटे पैमाने के उद्योगों और ग्राम उद्योगों के विकास के लिए नियत किया था। इनके अन्तर्गत करघे का बुनाई खादी धान कूटने, घानी पेरने, दियासलाई बनाने दस्तकारी, रेशम व रेशम के कीड़े पालने और नारियल की चटाइयाँ बनाने आदि के ग्राम उद्योग सम्मिलित किये गए थे। गाँवों में उद्योगीकरण के ढाँचे में परिवर्तन के दृष्टिकोण से छोटे छोटे उद्योगों तथा ग्राम-उद्योगों का विकास योजना में शामिल किया गया था। यह अनुभव किया गया कि जैसे-जैसे आवश्यकताएँ बढ़ती जायेंगी और उत्पादन की प्रविधि विकसित होती चलेगी छोटे छोटे दस्तकारी के काम विकसित होकर छोटे उद्योगों का रूप धारण कर लेंगे। सरकार ने वर्तमान ग्राम उद्योगों की सहायता और इनके संगठन में सहायता के लिए निश्चित कार्यवाही करने का निश्चित किया, जिससे कि एक उन्नतिशील और कुशल विकेन्द्रित क्षेत्र का विकास हो जो कि एक ओर कृषि उद्योग से और दूसरी ओर बड़े पैमाने के उद्योगों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो।

सामाजिक सेवाएँ—इस सर्वव्यापी शीर्षक के अन्तर्गत आने वाले कार्यों की सूची नीचे की तालिका में दी गई है।

शिक्षा के कार्यक्रम का ध्येय साक्षरता की प्रतिशतता बढ़ाना था। १९५१ में साक्षर लोगों की संख्या केवल १७.२ प्रतिशत थी। इसका ध्येय यह भी था कि हर स्तर पर शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएँ समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों को दी जायँ गाँवों और नगरों में असमानताएँ दूर कर दी जायँ निरर्थक व्यय को बन्द कर दिया जाय और प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएं दी जायँ।

	करोड़ रुपये
शिक्षा	१६९[2]
स्वास्थ्य	१४०
गृहनिर्माण	४९
पिछड़े वर्ग के लोगों और अनुसूचित जातियों का कल्याण	३२
श्रम तथा श्रम-कल्याण	७
पुनर्वास	१३६
कुल योग	५३३

१ मूल योजना के प्रकाशन के बाद इन और अन्य आंकड़ों में परिवर्तन कर दिया गया था।
२ इसमें सामाजिक कल्याण के लिए नियत किया हुआ ५ करोड़ रुपया भी सम्मिलित है।

मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई। योजना काल में कुल विनियोग का अनुमान ३१०० करोड रुपये का है। यह विनियोग १९५० ५१ मे राष्ट्रीय आय का ४ ९४ प्रतिशत था और १९५५ ५६ मे बढकर ७ ३१ प्रतिशत हो गया। राष्ट्रीय आय के अनुपात मे घरेलू बचत इसी काल में ४ ९८ प्रतिशत से बढकर ७ ०० प्रतिशत हो गई।[1]

§६ प्रथम योजना पर व्यय—योजना पर व्यय का परिशोधित अनुमान २,३५६ करोड रुपये था, परन्तु वास्तव मे व्यय २४२ करोड रुपये कम अर्थात् केवल २,११४ करोड रुपये ही हुआ। यह इसलिए हुआ कि बहुत सी परियोजनाएँ प्रथम दो वर्षों तक लागू ही नही की जा सकी।

जैसी कि आशका थी योजना के अन्तिम अवस्थानो मे व्यय की मात्रा बहुत बढ़ गई। योजना के प्रथम वर्ष में अर्थात् १९५१ ५२ में केन्द्रीय और राज्य-सरकारो ने क्रमश १२९ ९ करोड रुपये और १२९ ० करोड रुपये व्यय किया। योजना के चौथे वर्ष विकास सम्बन्धी व्यय में अचानक वृद्धि हुई और केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारो द्वारा किये गए व्यय की राशि क्रमश ३०३ २ करोड रुपये और २१० ५ करोड रुपये हो गई। १९५५ ५६ के बजट अनुमानो के अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा ४३७ ३ करोड रुपये और राज्य सरकारो द्वारा ३९९ ५ करोड रुपये व्यय किया जाने वाला था।[2]

विभिन्न शीर्षो पर जो व्यय किया गया उसकी राशि अगले पृष्ठ पर दी गई है।[3] सामुदायिक योजनाओ बड़े पैमाने के उद्योगो छोटे पमाने के उद्योगो और कुटीर उद्योगो, गृह निर्माण तथा पुनर्वास आदि पर केन्द्र द्वारा व्यय में विशेष कमी हुई। राज्य सरकारों द्वारा व्यय में इतना अधिक कमी नहीं हुई।

§७ साधन—पृष्ठ ४६२ पर दी हुई तालिका से यह प्रकट होता है कि योजना के लिए धन कसे प्राप्त किया गया।[4]

केन्द्रीय सरकार की चालू आय के अतिरेक की स्थिति यह है कि करो की सन्तोषप्रद वसूली के कारण ८२ करोड रुपये की अतिरिक्त आय हुई थी। १९५० ५१ म वसूली ३५५ ५ करोड रुपये थी और १९५५ ५६ मे बढकर ४०६ ४ करोड रुपये हो गई। इस वृद्धि का मुख्य कारण उत्पादन शुल्को में वृद्धि थी जिनकी आय १९५१ ५२ की ८२ ४ करोड रुपये की राशि १९५५ ५६ में बढकर १२३ ४ करोड रुपये हो गई। केन्द्रीय और राज्य-सरकारो को मिलाकर १०९ करोड रुपये का घाटा हुआ।

§८ कृषि—कृषि उत्पादन में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। १९५४ ५५ में ही अन्न का उत्पादन ६ करोड ५८ लाख टन हुआ जो योजना के १९५५ ५६ के लक्ष्य ६ करोड १६ लाख टन से अधिक था। इस वृद्धि का कारण खेती के क्षेत्रफल में वृद्धि

१ रिजर्व बैंक की करन्सी और वित्त सम्बन्धी रिपोर्ट, १९५५ ५६ पृष्ठ ७ और ८५ ८७।
२ योजना आयोग की प्रगति रिपोर्ट, १९५४ ५५ (मई, १९५६), पृष्ठ ९।
३ वही रिपोर्ट, १९५४ ५५ (मई, १९५६), अनुबन्ध विवरण १।
४ वही रिपोर्ट, पृष्ठ २३ २६।

तथा खेती में नये तरीकों का अनुसरण था। अन्न की फसलों वाली भूमि का क्षेत्रफल, जो कि योजना के आरम्भ काल में २४ करोड ७० लाख एकड था, १९५४ ५५ म बढकर २७ करोड २० लाख एकड हो गया और व्यावसायिक फसलों वाली भूमि का क्षेत्रफल इसी अवधि में ४ करोड ६० लाख एकड से बढ़कर ६ करोड एकड हो गया। यदि १९४९ ५० के वर्ष को आधार मान लिया जाय तो १९५० ५१ में उत्पादन का देशनांक ९६ था और वह १९५५ ५६ म बढकर ११५ हो गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना पर व्यय
(आँकड़े करोड रुपयों में हैं)

मद	केन्द्र द्वारा		राज्यों द्वारा	
	वास्तविक व्यय	निर्धारित व्यय (जिसमें समायोजन सम्मिलित है)	वास्तविक व्यय	निर्धारित व्यय (जिसमें समायोजन सम्मिलित है)
कृषि और सामुदायिक विकास				
कृषि	७५ ५	७८ २	१०६ ७	११६ ७
पशु पालन (जिसमें डेरी तथा दुग्धवितरण सम्मिलित है)	४ १	३ १	१४	१८८
सहकारिता	२ ८	१ ०	६	६ ४
वन	० ३	० ५	५ १	६ ३
मत्स्य-पालन	१ ०	१ ०	१ [illegible]	१ ०
ग्राम विकास	—	—	१० १	१३ ४
सामुदायिक परियोजनाएँ	३६ ६	९० ०	—	—
स्थानीय निर्माण कार्य	१४ ०	१५ ०	—	—
योग	१३७ ७	१८८ १	१५० ८	१६८ ९
सिंचाई और बिजली				
बहुमुखी योजनाएँ	२८३ ६	३५८ ६	—	—
सिंचाई योजनाएँ	—	—	११३ १	१८८ ९
बिजली की योजनाएँ	—	—	१६७ ५	१०१ ८
योग	२८३ ६	३५५ ६	३६६ ०	३८८ ४

परिवहन और संचार				
रेलवे	२६७ ५	२६७ ५	—	—
सड़कें	३६ ४	४१ २	१०१ ६	६१ ३
सड़कों द्वारा परिवहन	१ ६	—	१० ३	८ ६
नौ परिवहन	२१ ३	२१ १	—	—
बन्दरगाहें	३४ ३	४० ०	१ ६	१ ६
देश के अन्दर जल परिवहन	० ४	० २	—	—
असैनिक विमान परिवहन	२६ ८	२६ ६	—	—
डाक व तार	४१ १	५० ०	—	—
प्रसारण	५ ४	६ ३	—	—
मौसम विज्ञान विभाग	० ५	० ६	—	—
समुद्र पार संचार	० ८	१ ०	—	—
योग	४३६.६	४५४ ६	११४ ०	१०० १
उद्योग				
बड़े पैमाने के उद्योग	३६ ४	१०४.६	१३ ५	१७ ३
छोटे पैमाने के उद्योग और कुटीर उद्योग	८ ४	१७ ५	११ ०	१२ ३
वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान	६ ६	६ २	—	—
खानों का विकास	१ ०	१ ०	—	—
योग	५५ ५	१४६ ७	२४ ५	२६ ७
सामाजिक सेवाएँ				
शिक्षा	४० २	४५ ८	१२१ ३	१२३ ७
स्वास्थ्य	१६ ५	२० ३	१०२ ७	११६ ८
गृह निर्माण	२८ १	३८ ५	१० ०	१०.६
श्रम और श्रम कल्याण	२ ६	४ १	१ ७	२ ६
पिछड़ी जातियों, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों का कल्याण	७ ५	७ ०	२७ ०	२४ ८
योग	६४.६	११५ ४	२६२ ६	२८२ २
अन्य केन्द्रीय योजनाएँ				
पुनर्वास	१०५ ३	१३५ ७	—	—
भवन तथा अन्य निर्माण-कार्य	१२.६	१३ ५	—	—
वित्त मन्त्रालय के अन्तर्गत विकास कार्यक्रम	७ ३	६ २	—	—
पूर्वोत्तर सीमा एजेन्सी	२.६	४ २	—	—
अण्डमान द्वीप का विकास	० ७	३ ८	—	—
निगमों को ऋण	६ ०	१० ०	—	—
बाढ़ नियन्त्रण	१२ ८	१६ ५	—	—
दैवी विपत्तियों के लिए ऋण	१६ ८	१५ ०	—	—
विविध	—	—	१५.६	—
कुल योग	१,१०६ ४	१ ३७४ ४	६३७ ४	६८३ ४

नहीं हुई और १९५५-५६ में उसका उत्पादन वास्तव में योजना में निश्चित लक्ष्य से कम ही हुआ। १९५४-५५ में पटसन का उत्पादन १९५३-५४ की अपेक्षा अधिक बढ़ गया और यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में इसके उत्पादन की स्थिति सुधरेगी। गन्ने (गुड़) का उत्पादन भी योजना में निर्धारित लक्ष्य से कम ही रहा, पर तिलहन का उत्पादन सन्तोषप्रद हुआ।

निम्न तालिका में दिखाया गया है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में मुख्य मुख्य फ़सलों के उत्पादन में प्रति एकड़ कितने पौण्ड की वृद्धि हुई—[1]

चावल	५६६ (१९५०-५१)	८०५ (१९५३-५४)
गेहूँ	५९६ (१९४८-४९)	७१९ (१९५४-५५)
ज्वार	३०५ (१९४८-४९)	४९९ (१९५४-५५)
रुई	६१ (१९४८-४९)	९२ (१९५४-५५)

उत्पादन में वृद्धि, कृषि के तरीकों में सुधार, उर्वरक के प्रयोग, सिंचाई की बड़ी और मध्यम श्रेणी की परियोजनाओं और अनुकूल वर्षा के कारण हुई।

§९ सिंचाई—प्रथम योजना काल में सिंचाई की बड़ी और मध्यम श्रेणी की परियोजनाओं के कारण ७० लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई प्रारम्भ की गई और लगभग १ करोड़ एकड़ भूमि पर छोटी योजनाओं के फलस्वरूप सिंचाई प्रारम्भ हुई। बड़ी बड़ी बहुमुखी परियोजनाओं द्वारा सिंचाई पर भी ज़ोर दिया गया है। भाखड़ा नंगल हीराकुड, हरीके और दामोदर घाटी द्वारा लगभग २२ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई सम्भव हुई है।

§१० बिजली—इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि २३ लाख किलोवाट बिजली के स्थान पर ३४ लाख किलोवाट का उत्पादन करने की क्षमता वाली मशीनों की स्थापना और प्रतिव्यक्ति उत्पादन में १४ से २५ किलोवाट तक वृद्धि हुई। एक स्थान से दूसरे स्थान तक बिजली ले जाने की सुविधाएँ पहले की अपेक्षा दुगनी कर दी गई और २८१३ नगरों और गाँवों में बिजली पहुँचाई गई। २०,००० से अधिक आबादी वाले नगरों में से ९५% में और ५००० से २०,००० तक आबादी वाले नगरों में से ४०% में बिजली पहुँचा दी गई है। उद्योगों में बिजली का प्रयोग १९५० में २६ अरब किलोवाट था जो १९५५ में बढ़कर ४६ अरब किलोवाट हो गया। यद्यपि संशोधित योजना के अनुसार इस मद पर ६६१ करोड़ रुपया व्यय किया जाने वाला था पर वास्तव में १९५१-५६ के बीच सिंचाई और शक्ति-योजना तथा बाढ़ नियन्त्रण पर ६८६ करोड़ रुपया व्यय किया गया।

§११ भूमि सुधार—भूमि-सुधार के परिणामों का वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार से किया जा सकता है (१) इनामदार, जागीरदार, तथा ज़मींदार आदि मध्यस्थों—जिन के पास की ४३% भूमि थी, के पास केवल ८.५% भूमि ही रह गई। (२) प्रथम योजना में यह कहा गया था कि उत्पादन के मूल्य के १/४ या १/५ से अधिक लगान न्यायपूर्ण नहीं समझा जायगा। विभिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में बहुत अन्तर है

[1] ईस्टर्न इकानोमिस्ट का बजट अंक, २ मार्च १९५६, [illegible]

और किसी किसी राज्य मे तो लगान पर नियन्त्रण सम्बन्धी नियम बनाने का कोई प्रयत्न भी नही किया गया है। अस्थायी बन्दोबस्त वाले आसामियो को भूमि का स्वामी बनाने की ओर भी बहुत धीरे धीरे प्रगति हुई है। आसामियो को जमीदारी अधिकार खरीदने के साधन दिलवाने की समस्या अभी नही सुलझी है।[1] खेत पर जहाँ तक आसामी के खेती करने के अधिकार (भू धृति) का सम्बन्ध है, उसमे संतोषप्रद प्रगति हुई है। (३) प्रत्येक किसान के पास जोतो (होल्डिग्स) की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी गई है। सौराष्ट्र में एक किसान तीन जोतो को रख सकता है, और मध्यप्रदेश में अधिक से अधिक ५० एकड भूमि अपने अधिकार म रख सकता है। (४) अनेक राज्यों मे सामूहिक खेती आरम्भ की गई है, परन्तु इस आन्दोलन मे कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है।[2]

§१२ सामुदायिक विकास—योजना काल में अन्त तक १२२,९५७ गाँवा और ७ ९ करोड व्यक्तियो तक कोई १२०० सामुदायिक योजनाएँ और राष्ट्रीय विस्तार-सेवा खण्ड फल चुके थे, जबकि योजना का लक्ष्य केवल ७ ४ करोड व्यक्तियो तक पहुँचाने का था। इन पर सरकार ने ३९ ९ करोड रुपया खर्च किया और रोकड तथा वस्तुओं मे जनता का अनुदान १५ ३ करोड रुपये का हुआ जो कि सरकारी व्यय का ४०% है। निम्न आँकडो से अनुमान लगेगा कि कितना काम हुआ है।[3]

फिर से खेती योग्य बनाई गई भूमि का क्षेत्रफल (एकड)	८४२,०००
अतिरिक्त भूमि, जिस पर सिचाई आरम्भ की गई (एकड)	१,५४२,०००
ग्रामीण क्षेत्रों में निर्मित शौचालय	८० ०००
निर्मित कुएँ	२८,०००
आरम्भ किये गए नये स्कूल	१४,०००
आरम्भ किये गए नये प्रौढ शिक्षा केन्द्र	३५,०००
आरम्भ की हुई नई सहकारी समितियाँ	२७,०००
निर्मित सडकें (मीलों में)	३२,०९९
आरम्भ किये गए नये उत्पादन तथा प्रशिक्षण-केन्द्र	६८७

१९५३ ५४ तक सहकारिता आन्दोलन देश की २०.२ प्रतिशत जनता तक पहुँच चुका था। सब प्रकार की समितियो की सख्या, जोकि १९५०-५१ मे १ ६२ ००० थी, १९५३ ५४ मे बढकर १ ९८ ५९८ हो गई, जिनकी कार्य-पूँजी ३५१ ७९ करोड रुपये थी। इन सब प्रकार की समितिया की सख्या तथा उनकी पूँजी में वृद्धि के होते हुए भी यही कहा जा सकता है कि योजना ने एक सर्वतोमुखी प्रणाली की नीव डाली। योजना मे गाँव वालो को कृषि-सम्बन्धी कर्ज देने के लिए सहकारी समितियो का जो लक्ष्य निश्चित किया गया था, उसमें सफलता नहीं मिल पाई है

१ द्वितीय पचवर्षीय योजना, पृष्ठ १८४ १०।

२ इण्डिया, १९५६, पृष्ठ १६२ ६७।

३ द्वितीय पचवर्षीय योजना, पृष्ठ २३७-३८ और इण्डिया, १९५६, पृष्ठ १७४।

का उत्पादन दुगने से भी अधिक हो गया और अभ्रक मेगनेसाइट और सीसे आदि के उत्पादन में ५०% से भी अधिक वृद्धि हुई। योजना-काल में इन्जीनियरिंग और विद्युत्-सम्बन्धी उद्योग-वर्ग की प्रगति भी अपने विस्तार और उत्पादन दोनों ही दृष्टिकोणों से अच्छी रही। मशीनी औजार बनाने वाले उद्योग में १९५४ में १,५०० मशीनों का उत्पादन हुआ था और १९५५ में १८०० मशीनों का उत्पादन हुआ और हाथ के औजारों के उत्पादन में ५०% की वृद्धि हुई। नित्यप्रति की आवश्यकता की वस्तुओं, जैसे साबुन, नमक, दियासलाई, के उत्पादन में भी काफ़ी वृद्धि हुई। सरकारी क्षेत्र में निम्न उद्यमों का उल्लेख आवश्यक है—(१) सिन्द्री फर्टीलाइजर्स एण्ड केमिकल्स लिमिटेड—१९५५ में इसने ३२१,००० टन अमोनियम सल्फेट के उत्पादन द्वारा अपने लक्ष्य से अधिक उत्पादन कर लिया। (२) हिन्दुस्तान केबल्स लिमिटेड—१९५५-५६ में अनुमानित उत्पादन ५१० मील केबल का था जो कि उसके ४७० मील केबल के उत्पादन लक्ष्य से अधिक था। (३) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड—इसने अक्तूबर १९५४ में ८½ के तेजी से चलने वाले खरादों (हाई स्पीड लेथ्स) के सुघटक पुर्जों का निर्माण आरम्भ किया। (४) हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड—१९५६ तक इसने विभिन्न प्रकार के १५ जलयानों का निर्माण किया। (५) हिन्दुस्तान इन्सेक्टीसाइड्स लिमिटेड—इससे यह आशा की गई थी कि १९५६-५७ में यह प्रतिदिन २ टन कृमि नाशक का उत्पादन कर सकेगा। (६) हिन्दुस्तान एन्टीबॉयटिक्स लिमिटेड—इसने १९५५-५६ में ६० लाख मेगा इकाइयों का उत्पादन किया और जल्दी ही पिनीसीलीन और स्ट्रेप्टोमाईसीन का उत्पादन आरम्भ करेगा। (७) चितरञ्जन लोकोमोटिव फैक्टरी, इन्टीगरल कोच फैक्टरी, पेरम्बूर, नाहन फाउन्ड्री लिमिटेड तथा मध्यप्रदेश में अखबारी कागज की मिल इत्यादि कुछ सरकारी कारखाने हैं जो सफलतापूर्वक योजना काल में आरम्भ किये गए। दो पहले के कारखाना नेशनल इन्स्ट्रूमेण्ट फैक्टरी और हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड का और अधिक विकास किया गया।

प्रथम योजना-काल में सरकार ने अनेक अभिकरण (एजेन्सियाँ) स्थापित किये जिनका काम विभिन्न प्रकार से उद्योगों के लिए पूँजी का प्रबन्ध करना था। छोटे पैमाने के उद्योगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (नेशनल स्माल इन्डस्ट्रीज कॉरपोरेशन) तथा छोटे उद्योगों की सेवा करने वाली चार क्षेत्रीय संस्थाएँ स्थापित की गईं। यह निगम सितम्बर, १९५५ में आरम्भ हुआ और इसने यन्त्र और उपकरणों का छोटी किश्तों पर अपने (हायर पर्चेज) की योजना आरम्भ की। १२ राज्यों में वित्त निगमों को स्थानतः मध्यम श्रेणी के उद्योगों को पूँजी की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए की गई। ये निगम ५ लाख रुपए तक का ऋण देते हैं। मार्च १९५६ के अन्त तक उनका दिया हुआ कुल ऋण २३५.८२ लाख रुपये था।[1] सरकार बड़े उद्योगों को भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (इण्डियन इण्डस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन) द्वारा आर्थिक सहायता देती है। १९५५-५६ में दिये हुए ऋण और अग्रिम की राशि, जो अगस्त नहीं हुए

१ रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया की करेंसी और वित्त-सम्बन्धी रिपोर्ट, १९५५-५६, पृष्ठ १०८।

१४ करोड १ लाख रुपयो से अधिक ही थी। भारतीय औद्योगिक ऋण तथा विनियोग निगम (दि इण्डस्ट्रियल क्रडिट एण्ड इन्वेस्टमेण्ट कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया) की स्थापना जनवरी १९५५ मे गर-सरकारी क्षेत्र में औद्योगिक उद्यमों को ५ लाख से १ करोड़ रुपये तक के ऋण द्वारा सहायता प्रदान करने के लिए हुई। १९५५ के अंत तक इसने विभिन्न उद्योगो को लगभग ४३ लाख रुपया ऋण दिया था।

१९५४ मे सरकार ने राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (नेशनल इण्डस्ट्रियल डवेलपमेण्ट कार्पोरेशन) की स्थापना की, जिससे उद्योगो का विकास जल्दी हो सके। इस निगम ने व्यावसायिक सम्भावनाओ की जाँच करने तथा व्यक्तिगत लोगो के सहयोग से अनेक योजनाओ के कार्यान्वित करन का भार अपने ऊपर लिया है।

§१४ छोटे पमाने के उद्योग और कुटीर उद्योग—छोटे पमाने के उद्योगो और कुटीर उद्योग के विकास का काय सात क्षेत्रीय मण्डलों द्वारा किये जाने की व्यवस्था की गई है जसा कि अध्याय १३ में कहा गया है। १९५०-५१ में खादी का उत्पादन १.३ करोड रुपये के मूल्य का हुआ था और १९५५-५६ मे बढ़कर ३ करोड़ ४० लाख वर्गगज हो गया, जिसका मूल्य ५ करोड रुपये था, और सूत कातने वालों की सख्या जो १९५२-५३ मे २.६ लाख थी १९५४-५५ में बढ़कर ३.५ लाख हो गई। करघे के कपडे का उत्पादन १९५१ में ८४ करोड ३० लाख गज था और १९५५-५६ मे यह बढकर १ अरब ४५ करोड गज हो गया, जबकि १९५५-५६ का लक्ष्य १ अरब ७० करोड गज के उत्पादन का था। करघा मण्डल ने व्यक्तिगत जुलाहो को रुपया उधार देकर, ताकि वे सहकारी समितियों के सदस्य बन जायें, १९५४-५५ तक लगभग ८.८ लाख जुलाहों को सहकारी समितियों के सदस्य बना दिया। इसने एक निर्यात विपणन सस्था स्थापित की है (जिसके विपणन अधिकारी आसपास के अनेक देशो में हैं) तथा एक अखिल भारतीय करघा वस्त्र विपणन समिति भी स्थापित की है। रेशम तैयार करने और परीक्षा करने के कार्यालय कलकत्ता और बगलौर में स्थापित हुए हैं और भारत तथा जापान में कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया गया है। ये काय इस बोर्ड की सफलता के मुख्य अग हैं।

नारियल जटा मण्डल ने केरल में सहकारी समितियो को बहुत सहायता पहुँचाई। इस सहायता से ११९ प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ, २४ भूसा सम्बन्धी सहकारी समितियाँ और दो केन्द्रीय नारियल जटा विपणन समितियाँ स्थापित की गई हैं।

§१५ रेलें—प्रथम योजना-काल म रेलवे ने उखाडी हुई लाइनें फिर लगाने और नई लाइनें बिछाने पर कुल ४३२ करोड रुपया खच किया, जबकि प्रस्तावित व्यय की रकम केवल ४०० करोड रुपये की थी।[1] ३८० मील लम्बी नई रेलवे लाइनें बिछाई गई और निम्न महत्त्वशाली लाइनो पर काम जारी है—(१) चम्पा-कोरबा कोयल की खानें, (२) किवलोन एरनाकुलम[2], (३) खण्डवा हिंगोली और (४) गोप-कोटकोला।

१ इसमें १५० करोड रुपये चालू मरम्मत के लिए हैं (द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ४६१)।
२ नवम्बर, १९५६ में प्रारम्भ की गई।

रेल की पटरी, माल के डिब्बों तथा यात्रियों के डिब्बों की सामान्य वार्षिक मांग तो देश में उत्पादन से पूरी हो सकती है और बहुत शीघ्र ही इंजिनों के सम्बन्ध में भी आत्मनिर्भरता प्राप्त हो जायगी। रेलवे के सचालन में कुशलता गाड़ियों का निश्चित समय पर चलना, तथा यात्रियों (विशेषकर तीसरे दर्जे के यात्रियों) को सुविधाएँ देने आदि में पर्याप्त प्रगति हुई है।

§१६ सड़कें—योजना-काल में १०,००० मील लम्बी नई पक्की सड़कें (पहले से बनाई गई ९७,००० मील सड़कें विद्यमान हैं और २०,००० मील निम्न कोटि की सड़कें और १४७ ००० मील लम्बी कच्ची सड़कें पहले से मौजूद हैं) बनाई गईं। इसके अतिरिक्त ६४० मील लम्बी सड़कें अन्य सड़कों को मिलाने के लिए बनाई गईं और ४० बड़े-बड़े पुल राष्ट्रीय मार्गों पर बनाये गए।

§१७ नौ-परिवहन—निम्न तालिका से प्रकट होता है कि प्रथम योजना-काल में कुल कितने टन के जलयान और बने।[1]

	योजना से पहले	योजना के अन्त में
तटीय और निकटवर्ती	२१७,२०२[2]	३१२,२०२
समुद्र पार	१७३,५०५	२८३,५०५
बिना निश्चित समय के चलने वाले		
तेल ले जाने वाले		५,०००
साल्वेज टग्ज		
योग	३९०,७०७	६००,७०७

नौ-परिवहन सम्बन्धी संशोधित व्यय तथा वास्तविक व्यय योजना के अनुकूल ही था। आजकल शत प्रतिशत तटीय व्यापार, ४० प्रतिशत निकटवर्ती देशों से व्यापार और ५ प्रतिशत दूर-स्थित देशों से व्यापार भारतीय जलपोतों द्वारा ही किया जाता है। समुद्र-पार के ६ मार्गों पर भारतीय जलपोत चलते रहते हैं, जिनमें से ४ मार्गों पर माल ले जाते हैं और दो पर यात्री और माल दोनों।

§१८ बन्दरगाहें—योजना-काल के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में अनेक कार्य हुए जो निश्चित ही सफलता को द्योतक हैं—जैसे काण्डला देश की छठी मुख्य बन्दरगाह बनी, जिसमें चारों मास के लादने-उतारने की क्षमता २ करोड़ टन से बढ़कर २ करोड़ ५० लाख टन हो गई। बम्बई में तेल के समुद्री स्टेशन का निर्माण हुआ, जहाँ पर बड़े से-बड़ा तेलवाहक जहाज खड़ा हो सकता है। कोचीन में एक नई कायन और डम की जेट्टी बनाई गई और कलकत्ता में ४००० मजदूरों के लिए बस्ती बनाई गई।

[1] द्वितीय पंचवर्षीय योजना पृष्ठ ४८१।
[2] यह अनुमान पृष्ठ ४५२ पर दिए गए आंकड़े में शुद्धि करके बताया गया है।

§१९ असैनिक विमान परिवहन—भारतीय विमान निगम (इण्डियन एयर लाइन्स कारपोरेशन) के पास अब लगभग १०० हवाई जहाजों का बेड़ा है और ये विमान मुख्य मुख्य नगरों को जाते हैं। इस प्रकार उसमें वायु-पथ का विस्तार लगभग १६ ६८५ मील है। एयर इण्डिया इन्टरनेशनल के पास ९ हवाई जहाज हैं, जिससे विमान १५ देशों को भेजे जाते हैं और वायु-पथ का विस्तार २३,४८३ मील है।

§२० डाक सेवाएँ—योजना के १०,००० नये डाकखाने खोलने के लक्ष्य से कहीं अधिक डाकखाने खोले गए। अब डाकखाना की सख्या ३६,००० से बढकर ५४,९०० हो गई है। दो मील के घेरे में स्थित गाँवों के समूहों में, जिनकी आबादी २,००० है, एक डाकखाना खोल दिया गया है। योजना-काल में गाँवों में १,८०० डाकखाने खोले गए। छः बड़े-बड़े नगरों में चलते फिरते डाकखाने काम कर रहे हैं। अन्तर्देशीय विमान-डाक की सेवा लगभग देश के सभी नगरों में प्राप्त हो गई है। योजना काल में तार-घरों की सख्या मे १,३२० की वृद्धि करके वह ४,६१२ कर दी गई और टेलाफ़ोनों की सख्या १ ६८ ००० से बढ़ाकर २,७०,००० कर दी गई। टेलीफोन के ५३९ पुर्जों में ५३७ पुर्जे अब भारत में ही बनने लगे हैं। रेडियो टेलीफ़ोन का सम्बन्ध १७ देशों से स्थापित कर दिया गया है।

§२१ शिक्षा—योजना में व्यय किये जाने की निश्चित धन राशि का ९५ प्रतिशत से कुछ अधिक अर्थात् लगभग १६१ ५ करोड रुपये का व्यय किये जाने पर शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। निम्नलिखित आंकडों से प्रगति का पता चलता है।[१]

	१९५० ५१	१९५५ ५६
विभिन्न आयु-वर्ग के बच्चों के लिए स्कूल में पढ़ने की सुविधाएं		
६ ११	१,८६,८०,००० (४२ प्रतिशत)	२,४८,१२,००० (५१ प्रतिशत)
११ १४	३३,७०,००० (१३ ६ प्रतिशत)	५०,९५,००० (१९ २ प्रतिशत)
१४ १७	१४,५०,००० (६ ४ प्रतिशत)	२३,०३,००० (९ ४ प्रतिशत)
सस्थाएं		
प्राइमरी/जूनियर बेसिक	२,०९,६७१	२,७४,०३८
जूनियर बेसिक	१,४००	८,३६०
मिडिल/सीनियर बेसिक	१३,५९६	१६,२७०
सीनियर बेसिक	३५१	१,६४५
हाई/हायर सेकेण्डरी	७,२२८	१०,६००
बहुमुखी	—	२५०
हाई स्कूल जिन्हें हायर सेकेन्डरी कर दिया गया	—	४७
विश्वविद्यालय	२६	३१

१ द्वितीय पचवर्षीय योजना, पृष्ठ ५०१-५०२।

इंजीनियरिंग		
संस्थाएँ, डिप्लोमा और डिग्री के स्तर की	१०५	१२८
डिग्री प्राप्त और डिप्लोमा प्राप्त व्यक्तियों की संख्या	३,८२६	६,५६०
प्रौद्योगिकी		
संस्थाएँ, डिप्लोमा और डिग्री के स्तर की	६७	६१
डिग्री-प्राप्त और डिप्लोमा प्राप्त व्यक्तियों की संख्या	८३०	११३०

§२२ स्वास्थ्य—प्रथम योजना में स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रगति निम्न तालिका से प्रकट होती है।[1]

	१९५०-५१	१९५५-५६
चिकित्सा संस्थाएँ	८,६००	१०,०००
मरीजों के रहने की सुविधा	१,१३,०००	१,२५,०००
मेडिकल कालेज	३०	४२
विद्यार्थियों के दाखिले की वार्षिक संख्या	२,५००	३,५००
डॉक्टर	५६,०००	७०,०००
नर्सें (सहायक नर्सें तथा दाइयों सहित)	१७,०००	२२,०००
दाइयाँ	१८,०००	२६,०००
स्वास्थ्य निरीक्षक	६००	८००
नर्स-दाइयाँ और सहायक दाइयाँ	४,०००	६,०००
स्वास्थ्य-सहायक और सफाई निरीक्षक	३,५००	४,०००

जनता की मृत्यु-संख्या १६ १ से घटकर १३ ४ प्रति हजार हो गई है। शिशु मृत्यु-संख्या १९५० में १२७ प्रति हजार थी और वह १९५२ में घटकर ११६ प्रति हजार हो गई है और जीवन अवधि का औसत, जो १९४६ में २७ वर्ष था, बढ़कर १९५४ में ३२ वर्ष हो गया है।

§२३ श्रम—योजना से मजदूरों को बहुत लाभ हुआ है। बहुत से राज्यों में कारखानों में काम करने वाले और २०० रुपये प्रतिमास से कम पाने वाले मजदूरों की वार्षिक आय के औसत में वृद्धि हुई जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट है।[2]

	१९५१	१९५५
बिहार	१,२४० ८ रु०	१,४७१ ० रु०
बम्बई	१,२०० ५ "	१,३४६ ४ "
मद्रास	६६४ १ "	८०४ ७ "
उत्तर प्रदेश	६६० ४ "	१,०१६ ३ "
दिल्ली	१,२१२ ६ "	१,३११ ३ "
पश्चिमी बंगाल	६४२ ३ "	९६३ ५ "

1. द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ५३४ और ५३८।
2. इंडिया १९५६, पृष्ठ ३१०।

वास्तविक आय में वृद्धि देशनांका की तुलना से प्रकट होती है। १९५० में आय का देशनाक ११६ ६ था जोकि १९५३ मे बढ़कर १३५ ८ हो गया।

जहाँ तक रोजगार के अवसर प्रदान करने की बात है, परिणाम निराशाजनक ही रहा। कुल काम चाहने वाले मजदूरो की सख्या में ९० लाख की वृद्धि हुई, जिनमें से योजना के कारण केवल ४० लाख मजदूरो को काम मिल सका।

§२४ **द्वितीय पंचवर्षीय योजना**—प्रथम पचवर्षीय योजना का स्वरूप उन परिस्थितियो से निर्धारित हुआ जिनमें वह बनाई गई थी। डॉ० जॉन मथाई ने ठीक ही कहा है कि वह 'आंशिक विकास का कार्यक्रम है। सामुदायिक योजनाओं को छोड़कर, प्रथम योजना की प्रत्येक परियोजना अंशत राष्ट्रीय सरकार के सत्ता सभालने के पहले ही बनाई और कुछ हद तक कार्यान्वित भी की जा चुकी थी। द्वितीय योजना वास्तव म एक योजना है जो सम्पूर्ण है और जिसका ध्येय देश के आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू का सामजस्य करना है। यह प्रथम योजना की तरह अनेक स्वतन्त्र योजनाओं का सग्रथन नही है।"

प्रथम योजना का काल समाप्त होने से बहुत पहले ही योजना आयोग ने द्वितीय योजना के सम्बन्ध में सोचना आरम्भ कर दिया था। फ़रवरी, १९५६ में एक रूपरेखा तयार की जा चुकी थी और उसका अन्तिम रूप लोकसभा के समक्ष १५ मई, १९५६ को प्रस्तुत किया गया।

योजना के विशिष्ट ध्येय निम्न हैं—(१) राष्ट्रीय आय में उपयुक्त वृद्धि (२५ प्रतिशत) करना ताकि देश के रहन सहन का स्तर ऊँचा हो सके, (२) भारी और मूल उद्योगो पर विशेष जोर देते हुए देश का तीव्र गति से औद्योगीकरण करना, (३) रोजगार के नये अवसरों का बहुत अधिक विस्तार करना (१ करोड अतिरिक्त लोगों को रोजगार प्रदान करना), और (४) लोगों की आय तथा सम्पत्ति म असमानता को कम करना और आर्थिक शक्ति का अधिक समान बँटवारा करना।

§२५ **योजना की रूपरेखा और उस पर व्यय**—इस योजना के अन्तगत सरकारी और गर सरकारी क्षेत्र में कुल ७,२०० करोड रुपये के व्यय का विचार है। सरकारी क्षेत्र में ४,८०० करोड रुपया व्यय किया जायगा, जिसमें से ३,८०० करोड रुपया उत्पादक-सम्पत्ति में और १,००० करोड रुपया चालू विकास कार्यों पर व्यय होगा।[1] गर-सरकारी क्षेत्र मे कुल २,४०० करोड रुपया व्यय किये जाने की आशा की जाती है। निम्न तालिकाओं से पता चलता है कि सरकारी क्षेत्र में विभिन्न शीर्षकों पर कुल व्यय किस प्रकार वितरित किया गया है। प्रथम तालिका यह बतलाती है कि आर्थिक विकास की विभिन्न शाखाओं पर व्यय का किस प्रकार बटवारा किया गया है, साथ ही साथ तुलना की सुविधा के लिए प्रथम योजना के आँकडे भी दिये गए हैं।[2]

१ ये लिखते समय के अन्तिम सरकारी आंकडे हैं, परन्तु साथ-साथ इस अध्याय का §४८ भी देखिए।

२ द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ५१-५२।

मद	केन्द्र द्वारा (करोड़ रुपयों में)	राज्यों द्वारा (करोड़ रुपयों में)	योग (करोड़ रुपयों में)
कृषि और सामुदायिक परियोजनाएँ	६५	५०२	५६८[1]
सिंचाई और बिजली	१०५	८०८[2]	९१३
उद्योग और खनन	७४७	१४३	८९०
परिवहन और संचार	१२०३	१८२	१,३८५
सामाजिक सेवाएँ	३९६	५४९	९४५
विविध	४३	५६	९९
योग	२,५५९	२२४०	४८००[3]

आशा है कि गैर-सरकारी क्षेत्र में लगभग २,४०० करोड़ रुपये का व्यय होगा—

संगठित उद्योग और खनन	५७५ करोड़ रुपये
बागीचे, बिजली के कारखाने और रेलवे के अतिरिक्त अन्य परिवहन	१२५ " "
निर्माण	१,००० " "
कृषि, ग्राम तथा छोटे पैमाने के उद्योग	३०० " "
स्टाक	४०० " "

§२७ योजना और राष्ट्रीय आय—दूसरी योजना के काल में राष्ट्रीय आय में वृद्धि की जो आशा है, वह निम्न तालिका में दी गई है। आप यह देखेंगे कि राष्ट्रीय आय, जोकि १९५५-५६ में १०,८०० करोड़ रुपये थी, १९६०-६१ में बढ़कर (मूल्य-स्तर स्थिर मानते हुए) १३,४८० करोड़ रुपये हो जायगी अर्थात् लगभग २५% की वृद्धि होगी। इसका यह अर्थ होगा कि प्रति व्यक्ति आय १८ प्रतिशत बढ़ जायगी (१९५५-५६ में २८१ रुपये थी और १९६०-६१ में ३३१ रुपये हो जायगी)। प्रथम योजना में प्रति व्यक्ति आय में केवल ११% की वृद्धि (अर्थात् २५३ रुपये से २८१ रुपये) हुई थी। विनियोग, घरेलू बचत तथा उपभोग पर व्यय के सम्बन्ध में १९५०-५१ तथा १९५५-५६ की तुलना में द्वितीय योजना-काल के अन्त की स्थिति भी दी गई है।[4]

१ इसमें राज्यों को राष्ट्रीय विस्तार सेवा तथा सामुदायिक परियोजनाओं के लिए [illegible] भाग—[illegible] करोड़ रुपया—भी सम्मिलित है।
२ अण्डमान और निकोबार द्वीप, पूर्वोत्तर सीमान्त और पाण्डिचेरी सम्मिलित हैं।
३ दामोदर घाटी निगम पर केन्द्रीय सरकार द्वारा व्यय सम्मिलित है।
४ द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ७४-७५। ये आँकड़े करोड़ रुपयों में हैं और इनकी गणना १९५२-५३ के मूल्य-स्तर के आधार पर की गई है।

मद	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१
(१) राष्ट्रीय आय	९,११०	१०,८००	१३,४८०
(२) वास्तविक विनियोग	४४८	७९०	१४४०
(३) विदेशी स्रोतों से आने वाला धन	—७	३४	१३०
(४) वास्तविक घरेलू बचत (२-३)	४५५	७५६	१,३१०
(५) उपभोग व्यय (१-४)	८,६५५	१०,०४४	१२,१७०
(६) विनियोग राष्ट्रीय आय के प्रतिशत अनुपात में (२ का १ के सम्बन्ध में प्रतिशत)	४ ९४	७ ३१	१० ६८
(७) घरेलू बचत राष्ट्रीय आय के अनुपात में (४ का १ के सम्बन्ध में प्रतिशत)	४ ९८	७ ००	९ ७

देश की अर्थ-व्यवस्था में औसत उपभोग का स्तर राष्ट्रीय आय की अपेक्षा कम तीव्रता से बढ़ेगा, क्योंकि घरेलू आय का एक बड़ा अंश बचाया जायगा और उसका विनियोग किया जायगा। विनियोग कार्यक्रम के लिए घरेलू बचत मे विशेष वृद्धि करनी होगी। वर्तमान ७ प्रतिशत की बचत के स्थान पर १० प्रतिशत की बचत करनी होगी। इसके लिए यह मान लेना होगा कि १,१०० करोड़ रुपये तक विदेशी पूँजी अवश्य प्राप्त हो सकेगी। इन पूर्व धारणाओं के साथ यह कहा जा सकता है कि उपभोग म २१% की वृद्धि हो सकेगी जबकि प्रथम योजना में केवल १७% की वृद्धि हुई थी।

राष्ट्रीय आय में वृद्धि, जिससे विभिन्न क्षेत्रों के विकास का अनुमान लगता है, निम्न तालिका म दिखलाई गई है।[1]

मद	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	प्रतिशत वृद्धि	
				१९५१-५६ में	१९५६-६१ में
कृषि तथा सम्बन्धित धन्धे	४,४५०	५,२३०	६,१७०	१८	१८
खनन	८०	९५	१५०	१९	५८
कारखाने आदि	५९०	८४०	१ ३८०	४३	६४
छोटे उद्यम	७४०	८४०	१,०८५	१४	३०
निर्माण	१८०	२२०	२९५	२२	३४
व्यापार, परिवहन और संचार	१,६५०	१,८७५	२,३००	१४	२३
व्यवसाय और सेवाएँ (जिसमें सरकारी प्रशासन सम्मिलित है)	१,४२०	१,७००	२,१००	२०	२३
कुल राष्ट्रीय उत्पादन	९,११०	१०,८००	१३,४८०	१८	२५
प्रति व्यक्ति आय रुपयों में	२५३	२८१	३३१	११	१८

§२८ उत्पादन लक्ष्य—द्वितीय योजना-काल में गैर-सरकारी क्षेत्र म जितने धन का विनियोग किया जाना है, उसके आधार पर उत्पादन के मुख्य लक्ष्य निम्नलिखित

१ द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ७४ ७५। ये आँकड़े करोड़ रुपयों में, १९५२ ५३ के मूल्य स्तर के आधार पर दिये गए हैं।

मद	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९५५-५६ की तुलना में १९६०-६१ में प्रतिशत वृद्धि
अस्पताल में मरीजों के रहने के स्थान (हजार)	११३.०	१२५.०	१५५.०	२४
डॉक्टरों की संख्या (हजार)	५९.०	७०.०	८२.५	१८
नर्सों की संख्या (हजार)	१७.०	२२.०	३१.०	४१
दाइयाँ (हजार)	१८.०	२६.०	३२.०	२३
नर्स-दाई और दाइयाँ (हजार)	४.०	६.०	४१.०	५८३
स्वास्थ्य सहायक और सफाई निरीक्षक (हजार)	३.५	४.०	७.०	७५

§२६ साधन—द्वितीय पचवर्षीय योजना पर व्यय करने के लिए जिन वित्त-साधनों की आवश्यकता है वे निम्न तालिका मे दिये गए हैं—[१]

चालू आय के अतिरेक से	८००	
१९५५-५६ में करों की दर से		३५०
अतिरिक्त करारोपण द्वारा		४५०
जनता से ऋण द्वारा	१२००	
बाजार से ऋण		७००
छोटी बचत		५००
बजट के अन्य साधन	४००	
रेलवे से प्राप्त		१५०
भविष्य निधि (प्राविडेण्ट फण्ड) तथा अन्य जमा निधियाँ		२५०
विदेशों से प्राप्त साधनों से	८००	
घाटे की अर्थ व्यवस्था द्वारा	१२००	
अन्तर जो कि अतिरिक्त साधनों से पूरा किया जायगा	४००	
	४८००	

१९५५-५६ की दर से करारोप करने से केन्द्रीय और राज्य-सरकारों की आय द्वितीय पचवर्षीय योजना अवधि में ५,००० करोड रुपये होगी। अनुमान है कि कुल व्यय लगभग ४,६५० करोड रुपये होगा और इस प्रकार ३५० करोड रुपया विकास-योजनाओं पर व्यय के लिए बच जायगा। अतिरिक्त करो से ४५० करोड रुपये की आय प्राप्त करने का लक्ष्य है जिसमें से केन्द्रीय और राज्य-सरकारों को अलग अलग २२५ करोड रुपया प्राप्त होने की आशा है। इस प्रकार इस साधन से ८०० करोड रुपया प्राप्त हो सकेगा, जोकि देश के कुल साधनो का केवल छठा अश है। परन्तु यह पर्याप्त नहीं है, इसलिए घाटे की अर्थ-व्यवस्था को कम करने के लिए, ऋण तथा नये करों के आरोप द्वारा और धन इकट्ठा करना होगा। जनता से जो ऋण

१ ये आँकड़े करोड़ रुपयों में केवल सरकारी क्षेत्र में (केन्द्र तथा राज्यों द्वारा) व्यय का अनुमान बतलाते हैं।

केन्द्रित होने पर स्थानान्तरित होना न पड़ेगा तथा इस परिणामस्वरूप भारी आर्थिक और सामाजिक घाटा न उठाना पड़ेगा।

§३२ सिद्धान्त और नीति—(१) विकेन्द्रीकरण—भूमि पर जनसंख्या के अत्यधिक भार को हल्का करने का सबसे सरल उपाय यह है कि गाँवों या उनके निकट ही कृषि के अतिरिक्त रोज़गार के अन्य उत्पादक साधनों की व्यवस्था की जाय। इसके लिए ग्रामवासियों को स्वयं अपने कौशल, साधन तथा संगठन का विकास करना आवश्यक होगा। इसलिए यह प्रबन्ध आवश्यक होगा कि जब आधुनिक और अधिक कुशल उत्पादन के ढंगों में प्रयोग आरम्भ किया जाय तो वही लोग नव ढंग से काम करने का अवसर पाएँ जो गाँवों में काम कर रहे हैं। यदि ऐसा न होगा तो नगर के लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने में गाँव वालों की इस कठिनाई का अनुचित लाभ उठायेंगे।

ग्राम-उद्योगों का विकास और आधुनिकीकरण छोटे छोटे उद्योगों की इकाइयों को बड़े-बड़े गाँवों और छोटे-छोटे नगरों के आसपास फैलाने से बड़ी मितव्ययता से हो सकता है। इस प्रकार धीरे धीरे औद्योगिक क्रिया-कलाप का जो ढाँचा बनेगा वह गाँवों के समूहों के रूप में होगा, जिसके प्रत्येक समूह का एक औद्योगिक केन्द्र निकटवर्ती नगर में होगा। नगर के ये छोटे-छोटे केन्द्र बड़े केन्द्रों से उसी ढंग पर सम्बन्धित होंगे। इस प्रकार सारी व्यवस्था सूत्राकार होगी जिसका आधार समृद्ध ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था होगी।[1]

(२) गाँवों में बिजली पहुँचाना—विकेन्द्रित व्यवस्था के आर्थिक और औद्योगिक पहलू सस्ते मूल्य पर विद्युत् शक्ति की प्राप्ति पर ही निर्भर हैं। आजकल विद्युत् की दरें कम मात्रा में बिजली का उपयोग करने वालों तथा गाँव के रहने वालों की अपेक्षा अधिक मात्रा में बिजली का प्रयोग करने वालों तथा नगर के रहने वालों के अधिक अनुकूल हैं। विद्युत् शक्ति के उत्पादन वितरण तथा बिक्री की नीति विकेन्द्रीकरण की नीति के अनुकूल बनायी जानी चाहिए। बिजली की मूलभूत महत्ता के कारण केवल व्यापारिक लाभ हानि के ही दृष्टिकोण से विद्युत् शक्ति योजनाओं के कार्यान्वित करने की नीति निर्धारित नहीं की जानी चाहिए।

(३) लाइसेंस देना—औद्योगिक संयन्त्रों और विस्तार के लिए जिनका छोटे पैमाने के उद्योगों के सम्बन्ध में विकास कार्यक्रम पर प्रभाव पड़ता हो लाइसेंस देने की शक्ति राज्य-सरकारों को दी जानी चाहिए। प्रत्येक परामर्श समिति में ग्रामोद्योगों तथा छोटे उद्योगों का पर्याप्त मात्रा में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

(४) नियोजित पूर्ति—यह आवश्यक है कि ग्रामीण उत्पादन के लिए सहकारी क्रय-विक्रय समितियों द्वारा कच्चे माल यन्त्रादि तथा अन्य आवश्यक प्रसाधनों की

१ छोटे और छोटे पैमाने के उद्योगों की समस्या [illegible] कि उनके [illegible] छोटे छोटे नगर बनें, और नगरों और गाँवों के बीच सन्तुलन स्थापित करने की [illegible] इसके [illegible] विशेष रूप से [illegible] के [illegible] को [illegible]। ([illegible], १९५५, पेज ८८)।

पूर्ति का प्रबन्ध किया जाय। प्रारम्भिक क्रय विक्रय समितियाँ देश की सहकारी व्यवस्था का मुख्य अंग होनी चाहिएँ, ताकि वे ग्राम तथा छोटे पमाने के उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। यह सहकारी व्यवस्था कृषि उत्पादन के विपणन तथा देश की सामान्य सहकारी ऋण-व्यवस्था से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होनी चाहिए। उपयुक्त लाभ प्रदान करने तथा छोटे उद्योगों के उत्पादन के लिए बाजार निश्चित करने के लिए इन सहकारी समितियों को सदा निश्चित मूल्य पर उत्पाद खरीदने के लिए तयार रहना चाहिए। आरम्भ मे राज्य की ओर से उन्हें इस ढंग पर काम करने के लिए आश्वासन दिलाना आवश्यक होगा।

जब सहकारी विकास तथा भाण्डागार निगम की स्थापना के लिए अधिनियम बन जायगा तब ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिए कि ग्राम तथा छोटे उद्योगों के उत्पादन का विपणन भी उसके कार्यों के अन्तगत आ जाय।

(५) वित्त के साधन और स्रोत—आरम्भ म ग्राम तथा छोटे उद्योगो के लिए पर्याप्त मात्रा म स्थायी तथा कायवहन पूंजी का प्रबन्ध राज्य को ही करना पडेगा। जहाँ कहीं राज्य वित्तीय निगम मौजूद हैं, मशीनो और यन्त्रों के खरीदने के लिए अथवा कार्यों की स्थापना के लिए सारी सरकारी पूंजी इन्हीं सस्थाओ की मारफत प्राप्त होनी चाहिए। राज्य के वित्तीय निगमो का प्रयोग छोटे उद्योगो को दीघकालीन ऋण देने के लिए भी करना चाहिए। इन निगमो का यथासम्भव उपयुक्त सहकारी सस्थाओं का प्रयोग (क) सहायता के लिए प्राप्त प्राथनापत्रो के गुण दोषो की जाँच के लिए, (ख) सम्बन्ध स्थापित करने के लिए, और (ग) वसूली करने का प्रबन्ध करने के लिए, करना चाहिए। चूँकि ग्राम्य विकास-सम्बन्धी सम्पूर्ण ऋण-व्यवस्था समेकित सेवा है इसलिए आर्थिक सहायता के लिए कृषि तथा उद्योग सम्बन्धी उन्हीं सरकारी सस्थाओं का प्रयोग पूर्णरूपेण किया जाना चाहिए। सामान्य नीति तो ऐसी होनी चाहिए कि सहकारिता के आधार पर सगठित छोटे पमाने के उत्पादनों के लिए वित्त की व्यवस्था कृषि कायक्रम के विकास की व्यवस्था द्वारा की जाय। सामान्यत राज्य बक के साधनो का प्रयोग तभी किया जाना चाहिए जबकि निकटतम स्थित सहकारी वित्तीय सस्था सहकारी औद्योगिक समितियों की आवश्यकता को पूरा न कर सकती हो। इस काय के लिए यह आवश्यक होगा कि कोई ऐसी प्रभावशाली सस्था बनाई जाय जो निरन्तर राज्य बक तथा सहकारी सस्थाओं मे विचार विनिमय करती रहे। रिजव बक राज्य बैंक राज्यो के वित्तीय निगम तथा केन्द्रीय सहकारी बैंक को ग्राम तथा छोटी मात्रा म उत्पादन करने वाले उद्योगों को वित्तीय सहायता देने के सम्बन्ध मे मतसम्मति से स्वीकृत नीति बना लेनी चाहिए। जब तक इस प्रकार छोटे पमाने पर उत्पादन करने वाली सस्थाओं को उधार देने के लिए एक समन्वित व्यवस्था नहीं हो पाती, तब तक सीधे राज्य द्वारा ऋण देना अत्यन्त आवश्यक होगा। कृषि सम्बन्धी सहकारी सस्थाओं की अपेक्षा औद्योगिक सहकारी सस्थाओ की हिस्सा पूंजी में राज्य का सम्मिलित होना और भी अधिक आवश्यक है। ग्रामीण उधार सर्वेक्षण रिपोट में कहा गया है कि कुटीर उद्योग धन्धों के सहकारिता के आधार पर विकास के लिए राष्ट्रीय कृषि उधार

निधि और राष्ट्रीय विकास निधि का प्रयोग किया जाय। छोटे पैमाने के उद्योगों को ऋण देने के लिए सामान्य वित्तीय संस्थाओं को भी—जिनमें राज्य बैंक, राज्यों के वित्तीय निगम तथा व्यापारी बैंक सम्मिलित हैं—मार्ग ढूँढ निकालने चाहिए।

§३२ सुझाये गए उपायों की रूपरेखा—जिन उपायों की सिफारिश कार्वे समिति ने की थी उनका ध्येय एक स्थायी स्थिति पर पहुँचने का है, जहाँ से कि नये ढंग के विकेन्द्रित छोटे उद्योगों का ढाँचा बनेगा। जहाँ पर आधुनिक ढंग के उद्योग परम्परागत छोटे पैमाने के उद्योगों के साथ साथ—जिनमें बहुत बड़ी संख्या में मजदूर लगाये हुए हैं—चल रहे हैं, वहाँ आधुनिक उद्योगों का एक विशेष स्तर के बाद विस्तार कम से कम उस समय तक के लिए रोक देना चाहिए जब तक कि परम्परागत उद्योगों का पुनर्स्थापन और पुनरुद्धार न हो जाय।[1] इस पर भी बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों की अपेक्षा सुधरे हुए विकेन्द्रित उद्योगों का प्रसार होना चाहिए। जहाँ पर परम्परागत उद्योगों की इकाइयाँ बड़ी संख्या में नहीं हैं वहाँ बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों को प्रारम्भ करने अथवा उन्हें साहस दने के स्थान पर औद्योगिक दृष्टिकोण से कुशल विकेन्द्रित इकाइयों को अवसर देना चाहिए।

दूसरी सिफारिशें परम्परागत उद्योगों की आर्थिक, औद्योगिक तथा श्रम व्यवस्था के सुधार के सम्बन्ध में हैं।

तीसरे समिति ने यह सिफारिश की कि उत्पादन के निर्धारित लक्ष्य को पूरा करने की सुविधा पर्याप्त प्रोत्साहन द्वारा, बड़े क्रम में अभिमान, बिक्री क्षेत्र की निश्चितता तथा मूल्य में अन्तर द्वारा दी जानी चाहिए।

समिति ने बड़े पैमाने के उद्योगों पर उत्पादन-शुल्क लगाकर छोटे पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन देने का सुझाव दिया। इन शुल्कों के तीन ध्येय होने चाहिएँ—(१) छोटे पैमाने के उद्योगों के पुनर्स्थापन के लिए धन एकत्रित करना, (२) सरकार की उत्पादन पर नियन्त्रण लगाने की नीति के कारण (जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन सीमित हो जाता है) और मूल्य बढ़ जाते हैं जो अतिरिक्त लाभ बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वालों को हो, उसे ले लेना और (३) छोटी मात्रा में उत्पादन करने वालों के हित में मूल्य में अन्तर निश्चित करना।

अन्त में समिति ने यह मत प्रकट किया कि आर्थिक और सामाजिक स्थायी आय तथा बाह्य मितव्ययताओं के सम्बन्ध में भी सुविधाएँ, जैसे कुशल परिवहन व्यवस्था, द्रव्य तथा उधार, पानी तथा शक्ति की पूर्ति और औद्योगिक प्रशिक्षण तथा सलाह देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

सारांश यह है कि छोटे उद्योगों के सम्बन्ध में औद्योगिक नीति के पक्ष में निम्न

---

[1] इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि ग्राम या छोटे पैमाने के उद्योग का एक सुरक्षित क्षेत्र कर दिया जाय क्योंकि ऐसा करना स्थायी रूप से सम्भव न होगा। [illegible] स्थिति में उचित एवं निश्चित दशाओं में अनुचित हो सकता है। दूसरे, [illegible] [illegible] के विस्तार को सीमित कर देने से और [illegible] आवश्यकता देने से [illegible] को भी प्रश्न हो सकता है। (रिपोर्ट, पेज ७४)

तक हैं। (१) पूँजी माल का उत्पादन करने वाले उद्योगों का विकास करने से, जिनमे कि बहुत अधिक मात्रा मे विनियोग की आवश्यकता होती है, उपभोग की वस्तुओ की माँग बढती है जिनका उनके द्वारा उत्पादन नही होता। फिर भी मूल उद्योगो, जैसे यातायात, खनन आदि, के विकास म यथासम्भव अधिक से अधिक विनियोग करना, और उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन करने वाले उद्योगो पर कम से कम पूँजी का लगाना आवश्यक है। आवश्यक उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन कम पूँजी अथवा छोटे पैमाने के उद्योगो के ज़िम्मे डाल देना चाहिए। (२) छोटे उद्योग सारे देश में फैले हुए हैं इसलिए उत्पादन में वृद्धि तथा क्रय शक्ति भी सवत्र फैली हुई है। इसलिए आर्थिक विकास की प्रेरणा स्वत सवत्र देश मे व्याप्त हो जायगी और कुटीर उद्योगों को दिये हुए प्रोत्साहन का विशेष लाभ ग्राम्य क्षेत्र तथा छोटे-छोटे नगर उठाएँगे। गाँव और नगर का आर्थिक अन्तर घट जायगा और आर्थिक शक्ति का एकाधिकार और अत्यधिक केंद्रण रुक जायगा। दूसरे शब्दो मे, धीरे धीरे समाज का ढाँचा समाजवादी रूप धारण करने लगेगा।[1]

§३४ कार्वे रिपोर्ट पर डा० बी० के० मदान का मत—डॉ० बी० के० मदान ने कार्वे रिपोर्ट पर अपने टिप्पण में निम्न बातें कही थी—(१) समिति के मत में मुख्य उद्देश्यपूर्ण रोजगार है और उन्नतिशील प्रविधि के प्रयोग तथा उत्पादन में वृद्धि इसी शर्त पर होनी चाहिए कि उनका रोजगार पर कोई विपरीत प्रभाव न पडे। (२) उन्नतिशील प्रविधि से श्रम के प्रयोग मे मितव्ययता आती है और सम्भव है इसके कारण उन क्षेत्रो में, जहाँ सुधार किया गया है, अस्थायी रूप से रोजगार में कमी आ जाय। आवश्यकता इस बात की है कि रोजगार की समस्या पर सारी योजना की दृष्टि से विचार किया जाय और केवल किसी एक क्षेत्र मे रोजगार की सुरक्षा का प्रश्न सामने न रखा जाय। (३) यदि हम तुरन्त रोजगार बढ़ाने पर ही आवश्यकता से अधिक ध्यान देने के कारण उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन के लिए कम कुशल प्रविधियों के प्रयोग की सिफारिश करते हैं, तो उत्पादन की मात्रा तथा लोगों की आय मे वृद्धि रुक जायगी और परिणाम स्वरूप विभिन्न प्रकार के उत्पादन तथा रोजगार को दूसरी ओर नही लगाया जा सकेगा और यही बढ़ती हुई आय के सदर्भ म विकास के मुख्य अग और साधन हैं। (४) परम्परागत काम करने वाले मजदूरों को उनके घर पर ही काम देन से जिसकी कि सिफारिश रिपोर्ट मे भी गई है, मजदूरों की गतिशीलता का अभाव तो दूर नहीं होगा और न मजदूरो को उत्तरोत्तर कुशल प्रविधिया को अपनाने के लिए प्रोत्साहन ही मिलेगा। (५) समिति ने बिना इस समस्या का विश्लेषण किये अथवा प्रयोग किये हो यह कहा है कि भारत की विचित्र परिस्थिति म आधुनिक प्रविधि को द्रुत गति से प्रयोग में लाने से कुल रोजगार पर उसकी क्षतिपूर्ति करने वाला प्रभाव जल्दी दिखाई न पडेगा। समिति ने भारत की तथाकथित विचित्र स्थिति के अपर्याप्त आधार पर

---

१ इस सम्बन्ध में अधिक शक्तिशाली पर कम व्यक्त प्रभाव जो नीति निर्धारण को प्रभावित कर रहा है, वह गांधीवाद के सामाजिक आदर्श स्थापित करने का है, जिसका उद्देश्य विकेन्द्रीकरण और गाँवों की आत्मनिर्भरता की ओर है और यन्त्रचालित उद्योगों के विरुद्ध है।

ही यह कहकर कि उद्योग में प्रौद्योगिक दृष्टि से कुशल ढंग पर उत्पादन की सीमाओं आदि के प्रतिबन्ध लगाए जायें, विकास की सामान्य प्रक्रिया से उलटी बात कह दी है, जिसका प्रभाव दूरगामी होगा। (६) उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों पर अधिकतम सीमा का नियन्त्रण लगाने का ध्येय उपभोग की वस्तुओं की अतिरिक्त माँग को छोटे पैमाने के उद्योगों की ओर प्रेरित करने का है। छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास के लिए विपणन, आवश्यक प्रसाधनों की पूर्ति, वित्तीय सहायता और गृह निर्माण द्वारा तथा दस्तकारी उद्योगों को अनुदानों और ऋणों से सहायता पहुँचाकर उनकी उन्नति के लिए प्रयत्न करने की सकारात्मक सिफारिश की गई है। समिति की यह सिफारिश बहुत ही अप्रयोगात्मक है। इसको कार्यान्वित करने के लिए बहुत ही बड़ी व्यवस्था की आवश्यकता होगी। (७) बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों के विस्तार की सीमा निर्धारित कर देने से छोटी मात्रा के उद्योगों में अकुशल प्रविधि के प्रयोग के स्थायी हो जाने का भय है। बड़े पैमाने के उद्योगों का नियमित विकास वास्तव में छोटे उद्योगों की कुशलता बढ़ायेगा तथा उनके विकास को प्रोत्साहित करेगा। बड़े उद्योगों की कुशलता के लिए जो प्रतिस्पर्धा आवश्यक है वह तभी हो सकती है, जबकि उनका विस्तार किसी सीमा तक सम्भव बनाया जाय। (८) छोटे उद्योगों की समस्या को सहायता और रोजगार में वृद्धि की दृष्टि से देखना उनके माल के लिए एक सुरक्षित विक्रय-बाजार की स्थापना करना मात्र है। यह भावना दिन प्रतिदिन बढ़ने वाली स्पर्धा के साथ मेल नहीं खाती जिसके बीच हमें रहना और विकसित होना है। (९) समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित करने का परिणाम अपनी विदेशी विनिमय की कठिनाइयों को स्थायी बना देना होगा और इससे हमारे लिए मशीनों आदि का आयात करना, जिस पर पंचवर्षीय योजना की सफलता निर्भर है बहुत ही कठिन हो जायगा। (१०) द्वितीय योजना के अन्तर्गत विकास-कार्यक्रम का एक अंश उपभोग वस्तुओं के बड़े पैमाने के उद्योगों के लिए मशीनों के निर्माण करने का भी है। यदि इन उद्योगों को विस्तृत होने का अवसर न दिया गया तो मशीनों के निर्माण करने और उद्योगों को असीमित समय के लिए बेकार रखने का क्या प्रयोजन? (११) आय के बढ़ने पर उपभोक्ता की वस्तुओं की माँग का ढाँचा बदल जायगा। उदाहरणार्थ ऐसे अधिक महीन कपड़े की माँग बढ़ेगी जो साधारणतया करघों द्वारा तो बनाये नहीं जा सकते। समिति ने समस्या के इस पहलू पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया है। (१२) यदि बड़े पैमाने के उद्योगों के ढाँचे पर प्रभावशाली ढंग से सीमा नियन्त्रण छोटे उद्योगों के संगठन सम्भव बनाने के लिए किया गया तो देश के दीर्घकालीन विकास को अवश्य आघात पहुँचेगा। (१३) समिति के प्रस्तावों में रोजगार के सम्बन्ध में होने वाले लाभ के वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। उदाहरण के लिए यदि मिलों द्वारा कपड़ा के उत्पादन के वर्तमान स्तर में वृद्धि न की गई तो यह अनुमान किया जाता है कि माँग के उत्पादन में जो १६ लाख टन की वृद्धि हुई है, वह हाथ से पूरा जायगा और तब रोजगार पर उसका जो प्रभाव होगा उसका अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु भाग दूसरी ओर

साफ करने के उद्योगो के उत्पादन पर रोक लगा देने की प्रशासन-सम्बन्धी कठिनाइयाँ इतनी अधिक होगी कि उन पर विजय न पाई जा सकेगी। यही बात इस प्रस्ताव पर भी लागू होती है कि योजना काल में जितने वस्त्र की अतिरिक्त आवश्यकता होगी वह सब करघो द्वारा निर्मित किया जाय। सारे देश मे फले हुए लाखो जुलाहो के लिए सूत, वित्त तथा आवश्यक प्रसाधनो की व्यवस्था करना भी एक बहुत कठिन काम होगा। (१४) समिति के सुझावो का आधार आत्मनिर्भर ग्राम्य अर्थ व्यवस्था है। वर्तमान परिस्थिति मे विशेषीकरण तथा व्यवसायीकरण में वृद्धि अवश्यम्भावी है, अन्यथा हमारे देश की बढ़ती हुई जनसख्या के लिए जीवित रहना असम्भव हो जायगा। (१५) समिति के इस सुझाव से, कि उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन मे आधुनिक प्रविधि का तुरन्त प्रयोग आर्थिक स्थायी व्यय का पहले से प्रबन्ध न करने के कारण सम्भव न होगा यह प्रकट होता है कि समिति ने इस बात पर ध्यान नही दिया है कि आर्थिक स्थायी व्यय का एक जाल पहल से ही बन रहा है।[1]

§३५ छोटे पमाने के उद्योगो और ग्रामोद्योग सम्बन्धी नीति पर अन्य टिप्पणियाँ—हम डा० मदान के विचारो से सहमत हैं और सरकार से यह कहते कि ग्राम्य और छोटे पैमाने के उद्योगो के प्रति अपनी नीति पर पुनर्विचार करे, क्योकि हमें भय है कि इस नीति से औद्योगिक विकास मे बहुत बाधा पडेगी। ससार के किसी भी देश में, चाहे वहाँ नियोजित अर्थ व्यवस्था हो अथवा न हो बेकारी की समस्या को अधिक उन्नतिशील प्रविधियो की अपेक्षा जान-बूझकर अकुशल प्रविधियो द्वारा नही सुलझाया गया है। आधुनिकतम उत्पादन की प्रणालियो के अपनाने से आर्थिक विकास अवश्यम्भावी है और उसके कारण जो थोडी बहुत बेकारी उत्पन्न हो जाय, उसके निवारण का प्रयत्न स्वतन्त्र रूप से किया जाना चाहिए।[2]

कम प्रभावशाली ढगो के स्थान पर निरन्तर अधिक प्रभावशाली ढगो के अपनाने से सम्पत्ति का अधिक उत्पादन तथा पूँजी का अधिक एकत्रीकरण होता है और

---

१ यद्यपि समिति ने स्वयं ही पर्याप्त मात्रा में सामाजिक आर्थिक स्थायी व्यय के प्रबन्ध की आवश्यकता पर जोर दिया है, और फिर भी वह ऐसे विकास की सिफारिश करती है, जिसमें उनके प्रयोग द्वारा पूरा लाभ न उठाया जायगा।

२ हमें इस बात से शिक्षा मिलेगी कि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देश मशीनों के उपयोग मे स्वत-सुधार के प्रश्न को किस प्रकार सुलझाते हैं। सोवियत सरकार ने हाल ही (१९५९) में प्रत्येक उद्योग के सम्बन्ध में इस उपाय के प्रयोग करने का निश्चय किया है और प्रविधि विज्ञा की मांग को पूरा करने के लिए जिसको इतनी बड़ी मात्रा में मशीनों के उपयोग के कारण आवश्यकता पड़ेगा लगभग २० लाख आदमियों को प्रशिक्षित करने का निश्चय किया है। इगलैण्ड में सरकारी विज्ञान और औद्योगिक अन्वेषण विभाग ने हाल ही में उद्योग मशीनों के लगाने पर एक रिपोर्ट निकाली है, जिसमें इस बात की सलाह दी गई है कि जो सार्थ उस उपाय का प्रयोग करें, उन्हें अपनी औद्योगिक नीति और जन शक्ति की सोच-समझकर योजना बना लेना चाहिए और मजदूर-सघों से बराबर हर अवसर पर सलाह लेते रहना चाहिए और इस बात को निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि मजदूर-वर्ग अपने ऊपर इसके प्रभाव को ठीक से समझते हैं कि नहीं। इन बातों में यह विचार निहित है कि कम कुशल ढगों से अधिक कुशल ढगों को अपनाने में कम-से-कम समय लगना चाहिए।

ध्येय से मेल खाती है। इससे मजदूरों की गतिशीलता को कम करने का प्रोत्साहन मिलता है, जिससे निवारण की हम सब से शिक्षा दी जा रही है। जो आर्थिक विकास भारत में हुआ है वह उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन करने वाले आधुनिक उद्योगों की वृद्धि के कारण ही हुआ है और इसके कारण गाँवों की अतिरिक्त जन संख्या नगरों की ओर आ रही है। यह एक वाञ्छनीय प्रवृत्ति है। जो नीति इस प्रवृत्ति को उलट देना चाहती है उसे कोई उचित नहीं मान सकता।

यदि ग्रामोद्योग और छोटे पैमाने के उद्योग पंचवर्षीय योजना में निर्धारित उत्पादन-लक्ष्य को पूरा न कर सके, तो बड़ी जटिल स्थिति हो जायगी, जिससे सारी योजना की सफलता खटाई में पड़ जायगी और सम्भवतः मुद्रा प्रसार अबाध गति से हो जायगा। सरकार को बढ़ते हुए मूल्यों, कम होते हुए निर्यात, और देश के उपभोग के लिए वस्त्र की आकस्मिक कमी को रोकने के लिए विशेष उपायों से काम लेना पड़ा है। (२८,६०० मशीनी करघों की स्थापना की अनुमति दी गई है ताकि कपड़े के निर्यात की माँग आंशिक रूप से पूरी हो सके) यह सत्य है कि बड़े पैमाने के उद्योगों में इतनी शक्ति का आधिक्य है कि उसका प्रयोग ग्राम और छोटे पैमाने के उद्योगों द्वारा योजना के उत्पादन-लक्ष्य में होने वाली कमी को पूरा करने के लिए किया जा सकता है। परन्तु इस बात की कोई गारण्टी नहीं कि इस शक्ति के आधिक्य को, बड़े उद्योगों के प्रति सरकार की सहानुभूतिपूर्ण नीति हुए बिना कायम रखा जा सकता है।

ग्रामोद्योगों और छोटे पैमाने के उद्योगों को जब तक आर्थिक अनुदान दिया जा रहा है और अन्यथा संरक्षण दिया जा रहा है, तब तक हम यह नहीं कह सकते कि वे यथार्थ में रोजगार के अवसर प्रदान कर रहे हैं। सच पूछा जाय तो जो लोग उनमें लगे हुए हैं उनके बारे में हम यह नहीं कह सकते कि वे अपनी रोजी कमा रहे हैं बल्कि यह कहना चाहिए कि वे दान द्वारा सहायता प्राप्त कर रहे हैं। सरकार का छोटे उद्योगों के पुनस्स्थापन का कार्यक्रम बहुत ही अनिश्चित और कमजोर है और उसकी सफलता की आशा करना मुश्किल है। यह सत्य है कि औद्योगिक दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए देशों की अर्थ-व्यवस्था में भी दस्तकारों का स्थान महत्त्वपूर्ण है।[1] प्रायः सर्वत्र ऐसा इसलिए होता है कि छोटे उद्योगों को अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं, जैसे बाजार का निकटतम सम्पर्क, उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का ठीक-ठीक ज्ञान, तथा उनकी माँग का स्वरूप (उदाहरणार्थ कलात्मक वस्तुओं की माँग अथवा ऐसी वस्तुओं की माँग जो व्यक्तिगत रुचियों का सन्तुष्ट करने वाली है) जिसके कारण उन्हें या तो किसी से प्रतिस्पर्धा करनी ही नहीं पड़ती और यदि करनी पड़ती है तो उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। उन और उद्योगों को, जिनके आगे सफल रहने की सम्भावना है अस्थायी रूप से सहायता देना न्यायसंगत होगा। परन्तु इस देश के ऐसे उद्योगों को, जिनके वर्तमान परिस्थिति में जीवित रहने की कोई सम्भावना

1 तुलना के लिए 'इण्डियन इकनॉमिक जर्नल' के जनवरी, १९५६ अंक में [illegible] का लेख 'स्मॉल स्केल इंडस्ट्रीज' देखिए।

नही, जल्दी से-जल्दी नष्ट हो जाने देना चाहिए। व्यवस्था के अस्त-व्यस्त होने तथा कठिनाइयो को कम करने के लिए, उनकी समाप्ति की गति को धीमा करना उचित है परन्तु बाह्य साहाय्य द्वारा उनको कायम रखना देश की अर्थ-व्यवस्था के गले में सदा के लिए पत्थर बाँध देने के समान होगा, जो सर्वथा अनुचित है।

कार्वे समिति ने इस बात की चेतावनी दी है कि औद्योगिक बेकारी को रोकने और उत्पादन करने वाली इकाइयो का पूर्ण प्रयोग करने लिए इस बात को ध्यान मे रखना आवश्यक है कि जब नये सिरे से पूँजी का विनियोग किया जाय तो वह नये और उन्नतिशील यन्त्रो मे अथवा बहुत कम परिवर्तन द्वारा यन्त्रों में सुधार करने के लिए ही किया जाय, और ये नये सुधार ऐसे होने चाहिए कि उनका प्रयोग अधिक उन्नतिशील प्रविधियों में किया जा सके और वे विकास के प्रारम्भिक अवस्थान मे ही पुराने न पड जायें। ये बातें कहना तो सरल है पर करना कठिन है। व्यवहार में इस प्रकार के किसी नये सुधार के बारे में इन सभी बातो का प्रबन्ध कर लेना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है और परिवर्तन तथा सुधार बहुधा किसी-न किसी निहित स्वार्थ से सम्बद्ध होते हैं इसलिए इस प्रकार का सुधार अत्यधिक धीमा होगा। इस प्रकार यह कहना भी लाभदायक नही कि "सरकार की नीति का ध्येय यह होना चाहिए कि वह इस बात का प्रबन्ध करे कि विकेन्द्रित क्षेत्र के उद्योगो मे इतनी शक्ति हो कि वे आत्मनिर्भर हो सकें और उसके विकास को बडे पमाने के उद्योगो के विकास से सम्बद्ध कर दिया जाय।"[१] यह इसलिए कि इस बात का कोई सबूत नही है कि विकेन्द्रीकरण के लिए चुने हुए उद्योग, जिन्हें सरकारी अनुदान प्राप्त है, अन्ततागत्वा आत्मनिर्भर हो जायेंगे। बडे पमाने के उद्योगो के विकास में बाधा डालने को, ताकि छोटे पमाने के उद्योगो के विकास का मार्ग सरल हो जाय, अनुकूलन का ढग तो नहीं कहा जा सकता। छोटे उद्योगो को देश के आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण भाग लेना है यह तो सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु हमारा विचार है कि उनको प्रोत्साहन देने के लिए चुनने में अधिक मौलिक विचार करने की आवश्यकता है और सारी योजना पर अधिक सोच विचार करके तत्परता से इस कार्य को हाथ मे लेना आवश्यक है। कृत्रिम साहाय्य द्वारा प्राचीन उद्योगों को केवल इसलिए कायम रखना कि उनमे अधिक लोग लगे हुए हैं, राष्ट्रीय शक्ति का अपव्यय कहा जायगा। इसका अर्थ यह होगा कि आप कम से-कम असुविधा की राह पकड रहे हैं और राष्ट्रीय शक्ति का उपयोग कम लाभकारी प्रयोजनो के लिए कर रहे हैं। यह बिलकुल उल्टी बात है कि घटिया प्रविधियो को अधिक अच्छा समझा जाय और उनके उत्तरोत्तर विकास के लिए धीमे तथा सन्दिग्ध उपायों पर निर्भर किया जाय, और अच्छी प्रविधियो को जो पहले से स्थापित हो चुकी है, प्रोत्साहन न दिया जाय।

हमारी नीति बडे पमाने के उद्योगो पर प्रतिबन्ध लगाने के स्थान पर उनके अधिकतम विकास करने की होनी चाहिए। छोटे उद्योगों के विकास के लिए अधी-

१ द्वितीय पंचवर्षीय योजना पृष्ठ ४३३।

मित क्षेत्र पड़ा हुआ है। उदाहरण के लिए, यदि ये बड़े कारखानों के लिए आवश्यक पुर्जों का निर्माण करने वाले सहायक उद्योग बन जायें तो इनका बहुत विकास हो सकता है। बड़े और छोटे दोनों प्रकार के कारखानों में इस प्रकार के विस्तार से रोजगार के अधिक अवसर प्राप्त हो सकते हैं। राष्ट्र की बिजली परिवहन और संचार-साधनों की आवश्यकता असीमित है, और इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा अधिक लोगों को रोजगार दिलाने के दृष्टिकोण से सरकारी कारखानों का खोला जाना सर्वथा न्यायसंगत समझा जायगा।

साधारण ग़ैर-सरकारी उद्यमों में तो लाभ की मात्रा सर्वोपरि होती है परन्तु राष्ट्रीय विकास का ढाँचा निश्चित करने में उचित कसौटी तो समस्त देश का सर्वतोमुखी कल्याण होना चाहिए न कि केवल व्यक्तिगत आर्थिक लाभ। ऐसा करने में अनेक विरोधी बातों या परस्पर मेल रखना आवश्यक होगा जो प्रायः सभी ठीक न ठीक हैं किन्तु उनमें से किसी एक को निर्णायक नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, केन्द्रीकरण से स्पष्टतया कुछ मितव्ययता होगी लेकिन हमें उसकी तुलना सामाजिक व्यय में विकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप होने वाली बचत से करनी होगी। व्यय तथा मितव्ययताओं की मात्रा का अनुमान लगाने के लिए यह आवश्यक होगा कि पहले यह निर्णय किया जाय कि किस उपाय को चुना जाय, और इस प्रकार के निर्णय पर किसी प्रकार के पक्षपात तथा पूर्वधारणा का प्रभाव नहीं होना चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि छोटे उद्योगों के सम्बन्ध में द्वितीय योजना का कार्यक्रम इस प्रकार के पक्षपातरहित और सभी प्रकार के संगत तत्वों की पूरी तरह जाँच का परिणाम है। इसलिए वर्तमान नीति का औचित्य संदिग्ध है, जो अन्य देशों की विकास-नीति से नितान्त भिन्न है।

§३६ बेकारी की प्रकृति और विस्तार[1]—द्वितीय योजना के प्रारम्भ में कहा गया है कि इसका एक मुख्य ध्येय बेकारी को जितनी जल्दी सम्भव हो सके और अधिक चित दस वर्ष के भीतर दूर कर देना है। इस योजना में कहा गया है कि रोजगार के अवसर प्रदान करने के तीन पहलू हैं, जिनका प्रभाव तीन प्रकार के लोगों पर पड़ता है अर्थात् (१) वे व्यक्ति जो आजकल गाँवों और नगरों में बेकार हैं (२) लगभग एक करोड़ व्यक्ति जो स्वाभाविक रूप से मजदूरों की संख्या में अगले पाँच वर्षों में २० लाख प्रतिवर्ष की दर से बढ़ जायेंगे, और (३) कृषि तथा घरेलू व्यवसाय वाले आंशिक रूप से बेकार व्यक्ति।

भारत में एक और दूसरे स्थान में तीन प्रकार के कारण हैं—(१) पूंजी के प्रयोग की सीमा, और (२) आत्मनिर्भरता की सीमा तथा आर्थिक विकास की गति। इसके अतिरिक्त तीसरा कारण (३) गाँव और नगर की अर्द्ध-बेकारी के कारण, विशेष रूप से संगठित औद्योगिक वित्तीय और व्यापारादि शाखाओं और कृषि तथा दस्तकारी उद्योग वाले गाँवों के बीच अन्तर पर निर्भर है और अन्त में (४)

---

[1] इस भाग में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पाँचवें अध्याय का उपयोग किया गया है।

हमारे देश मे बहुत बडी सख्या में दूर दूर आर्थिक उद्यम फले हुए हैं जो कि बहुत छोटे हैं और जिनमें व्यवस्थापक स्वय मजदूरों की तरह काम करते हैं।

रोजगार की समस्या पर प्रत्येक क्षेत्र के लिए अलग विचार करना पडेगा और उसके लिए अलग नीति बनानी पडेगी। इसके बाद ही विभिन्न नीतियो के प्रभावो को समेकित करने का प्रयत्न किया जा सकता है।[१] शिक्षित बेकारो की समस्या के निराकरण के लिए विशेष रूप से अन्य प्रयत्न करने होंगे। अत्यधिक पिछडे हुए और दलित क्षेत्रो के लिए तो स्थानीय लोगो के हित और पहलकदमी के आधार पर विशेष कार्यक्रम बनाने होंगे, और इससे पहले स्थानीय मानवीय तथा प्राकृतिक साधनो के सम्बन्ध में सर्वेक्षण करना होगा और आकडे भी इकट्ठे करने होंगे। भारतवर्ष की बेकारी की समस्या के सम्बन्ध में किसी उपयुक्त नीति का निर्धारण, बेकारी की प्रकृति और विस्तार तथा बेकारी पर विभिन्न प्रकार के विनियोगो के प्रभाव के सम्बन्ध में जानकारी के अभाव के कारण, अँधेरे में माग टटोलने के समान है। रोजगार केन्द्रों (एम्प्लायमेंट एक्सचेंज) से जो जानकारी प्राप्त होती है वह मुख्यत नगरों के सम्बन्ध मे होती है और उसके क्षेत्र मे सीमित होने के अतिरिक्त उसमे अन्य दोष भी हैं। उदाहरण के लिए, एक बडी सख्या में बेकार व्यक्ति अपने को इन केन्द्रो में रजिस्टर नही कराते और कुछ जो रजिस्टर करा लेते हैं, बेकार नही हैं पर अन्य अच्छी नौकरियों की तलाश में हैं। इन केन्द्रो से प्राप्त जानकारी से, जसी भी है यह पता लगता है कि प्रथम योजना-काल में बेकारो की सख्या में बराबर वृद्धि हुई है और इसलिए इस दृष्टिकोण से यह योजना असफल ही रही। योजना आयोग के सुझाव पर राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (नेशनल सेम्पिल सर्वे) ने जो प्रारम्भिक सर्वेक्षण नागरिक बेकारी के सम्बन्ध मे किया था, उससे यह पता लगता है कि नगरो में बेकारों की सख्या २८ लाख के लगभग है। इस सख्या मे से यदि अस्थायी (फ्रिक्शनल) बेकारी की सख्या घटा दी जाय तो हम नगरो के बेकारो की सख्या २५ लाख मान सकते हैं। अनुमान है कि अगले पाँच वर्षों मे नगरों में लगभग ३८ लाख और बेकार व्यक्ति बढ जायेंगे।

कृषि श्रम जाँच के अनुसार १६५०-५१ में गाँवो मे बेकारों की सख्या लगभग २८ लाख थी। हमें इस अनुमान को स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए क्योकि प्रथम पचवर्षीय योजना में ग्राम्य विकास की योजनाओं पर काफी जोर दिया गया था, इसलिए योजना ने निश्चय ही ग्राम्य-बेकारी को और बढ़ने से रोका है।

निम्न तालिका मे बताया गया है कि बेकारी को बिलकुल समाप्त करने के लिए दूसरी पचवर्षीय योजना के काल में रोजगार के कितने अवसर प्रदान करने की व्यवस्था करनी होगी।

---

१ पचवर्षीय योजना के निर्माण-सम्बन्धी पत्र, अर्थशास्त्रीय मण्डल, १९५५, पृष्ठ ५२१।

	नगरीय क्षेत्रों में (लाखों में)	ग्राम्य क्षेत्रों में (लाखों में)	कुल योग (लाखों में)
नये लोगों के लिए	३८	६२	१००
पहले से जिन बेकार लोगों को काम चाहिए।	२५	२८	५३
कुल	६३	९०	१५३

§३७ द्वितीय योजना में काम के अवसरों का अनुमान—रोजगार के सम्बन्ध में राज्य सरकारों और मन्त्रालयों द्वारा दी गई जानकारी और गैर सरकारी क्षेत्र के लिए प्रस्तावित लक्ष्यों के आधार पर रोजगार के जो अतिरिक्त अवसर उत्पन्न होंगे उनका विवरण निम्न तालिका में दिया गया है।[1]

निर्माण	२१,००,०००
सिंचाई और बिजली	५१,०००
रेलवे	२,८१,०००
अन्य परिवहन और संचार	१,८०,०००
उद्योग और खनन	७,५०,०००
कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योग	४,५०,०००
वन, मत्स्य पालन, राष्ट्रीय विस्तार सेवाएँ तथा सम्बन्धित योजनाएँ	४,१३,०००
शिक्षा	३,१०,०००
स्वास्थ्य	१,१६,०००
अन्य सामाजिक सेवाएँ	१,४२,०००
सरकारी नौकरियाँ	४,३४,०००
अन्य सेवाएँ, जिनमें वाणिज्य और व्यवसाय, कुल का ५२% के हिसाब से शामिल है	१०,०४,०००
कुल योग	७१,०३,०००

बेकारी को पूर्ण रूप से दूर करने के लिए १ करोड़ ५० लाख से अधिक व्यक्तियों को रोजगार के अवसर[2] मिलने चाहिएँ (जैसा कि §३६ की तालिका में दिखाया गया है), परन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना के फलस्वरूप ८० लाख से भी कम व्यक्तियों को रोजगार मिलने की आशा की जा सकती है।

ग्राम्य मापदण्ड के अनुसार योजना के अन्तर्गत सिंचाई की नई सुविधाओं के कारण जिस नई भूमि पर खेती आरम्भ होगी उससे पूरे समय के रोजगार के अवसर कुछ बढ़ जायेंगे। इसी प्रकार शारीरिक श्रम द्वारा भूमि को खेती योग्य बनाने की योजनाओं, केन्द्रीय ट्रैक्टर संस्था और अन्य संस्थाओं की योजनाओं, बागानों के विकास और विस्तार तथा उद्यान-व्यवसाय आदि से भी रोजगार के कुछ अधिक अवसर

१ दूसरी पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ ११५।

२ 'काम के अवसर' में मजूरी या वेतन पर काम करना और स्वयं काम करना भी शामिल है। [illegible] 'मुख्यतः योजना के फलस्वरूप बढ़े हुए [illegible] [illegible] के अवसर—विशेषकर स्वयं काम करने वालों के लिए काम के [illegible] [illegible] सरकारी [illegible] और समाज-सेवाओं के क्षेत्र में मजूरी व वेतन पर काम करने वालों के लिए [illegible] रोजगार [illegible] [illegible] कि इससे देश के [illegible] बेकारी [illegible] हो सकता।" ([illegible], १९५५, [illegible])।

मिलने की आशा की जा सकती है। इस प्रकार पूरे समय का रोजगार लगभग १६ लाख और व्यक्तियो को प्राप्त हो सकता है। नये मजदूरों की इस संख्या के एक करोड होने का अनुमान है। इनमे अधिकतर ऐसे परिवारो में से होंगे जो अपनी जीविका के लिए भूमि पर ही निर्भर रहते हैं। यह समस्या नये कामो को ढूंढ लेने की नही है, वरन् अतिरिक्त रोजगार देने की है जिससे कि आय में वृद्धि हो सके। स्वतन्त्र रूप से खेती करने वालों में से कम-से कम आधे अपना भरण-पोषण मुख्यत अपर्याप्त मजूरी से करते हैं, जो कि वे खेती से अपनी नगण्य आय बढाने के लिए अतिरिक्त काम करके प्राप्त करते हैं। यदि अतिरिक्त रोजगार के अवसर उचित स्थानो पर और उचित समय पर प्राप्त हो सकें, अथवा ऐसा अतिरिक्त रोजगार मिल सके जिससे कुछ आय हो सकती हो, तो सम्भव है इस वर्ग के लोगो की कुछ सहायता हो सके। यदि कृषि श्रम तथा छोटे उद्योगो मे लगे हुए मजदूरो को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो देश की मजदूर जनता का ८०% इस क्षेत्र में आ जायगा। इस वर्ग के लोगों का एक बहुत बडा अंश बेकार रहता है, लेकिन उनके बारे मे यह पता नहीं चलता कि वे बेकार हैं, क्योकि वे अपने भरण-पोषण के लिए कुछ भी नही कमाते। उदाहरण के लिए, बहुत से लोगो का सम्बन्ध खेती से है, पर वे उसके उत्पादन में कोई सहयोग नही देते। इस प्रकार आंशिक बेकारी अथवा प्रच्छन्न बेकारी का अनुमान १९५१ की जनसंख्या रिपोर्ट मे 'कमाने वाले आश्रितो'[1] के वर्ग में रखे गए व्यक्तियो की संख्या से लगता है। आंशिक बेरोजगारी के विस्तार की बात तो अधिकांश अनुमान पर ही निर्भर है, परन्तु उत्पादन और आय-सम्बन्धी जानकारी के आधार पर आंशिक बेकारी ४९ लाख व्यक्ति-वर्षों के बराबर है।

क्योंकि इस देश में अधिकांश बेकारी प्रच्छन्न रूप की है इसलिए समस्या के विस्तार तथा निराकरण के उपायो के प्रभाव का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। परन्तु हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि द्वितीय योजना का रोजगार की स्थिति पर हितकर प्रभाव होगा, यद्यपि यह भी निश्चित ही है कि हमारे भरसक प्रयत्न भी इस समस्या को पूर्णरूपेण सुलझाने में सफल न हो सकेंगे। अपने सीमित साधनो तथा अन्य कठिनाइयो के देखते हुए, यदि हम द्वितीय योजना-काल के अन्त तक इस समस्या को अधिक बिगडने से भी बचा सके तो बडे सन्तोष और प्रसन्नता की बात होगी।

§३८ शिक्षित बेकार—आजकल नगरों के शिक्षित लोगो में बेकारी १९३० १९३९ के मन्दी के काल की अपेक्षा कही अधिक है। १९५५ में योजना आयोग ने शिक्षित वर्ग में बेकारी दूर करने हेतु कार्यक्रम तयार करने के लिए एक अध्ययन दल बनाया। शिक्षितो की परिभाषा में मैट्रीक्युलेशन तक अथवा उसके बराबर स्तर तक शिक्षा प्राप्त किये हुए लोग अथवा उसके आगे तक शिक्षित लोग सम्मिलित

१ 'कमाने वाले आश्रित' वे लोग कहे जाते हैं, जो पूर्ण रूप से अपनी आजीविका नहीं प्राप्त करते और अपने भरण पोषण के लिए आंशिक रूप में दूसरों पर निर्भर रहते हैं।

किए गए थे। इस अध्ययन-दल का अनुमान था कि १९५५ से १९६० तक के पाँच वर्षों में शिक्षित बेकारों में १४.५ लाख की वृद्धि हो जायगी। शिक्षित बेकारों की वर्तमान संख्या ५.५ लाख के लगभग है। इस प्रकार बेकारी दूर करने के लिए द्वितीय योजना के पाँच वर्षों में २० लाख व्यक्तियों (१४.५ लाख+५.५ लाख) को रोजगार मिलना चाहिए। आशा है कि द्वितीय योजना में सरकारी क्षेत्र की परियोजनाओं में लगभग १० लाख व्यक्तियों को काम मिल सकेगा। गैर सरकारी क्षेत्र में लगभग २ लाख व्यक्ति काम पा सकेंगे। २.४ लाख के लिए अगले ५ वर्षों में लोगों के रिटायर होने से जगहें निकल आयेंगी। इस तरह १० लाख, २ लाख और २.४ लाख व्यक्तियों के लिए रोजगार की व्यवस्था हो जाने पर भी ५.६ लाख बेकार बच रहेंगे। दूसरे शब्दों में, द्वितीय योजना के अन्त में भी शिक्षित बेकारों की संख्या उतनी ही रह जायगी जितनी कि आरम्भ में थी।

शिक्षित बेकारों के प्रश्न पर विचार करते समय यह देखना आवश्यक है कि किस प्रकार की शिक्षा पाये हुए बेकारों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी है। इस समस्या के दो पहलू हैं—प्रादेशिक तथा व्यावसायिक, जिन पर अलग अलग विचार होना चाहिए।

शिक्षित लोगों में भी अपने घर से दूर नौकरियाँ स्वीकार करने की प्रवृत्ति के अभाव के कारण बहुधा ऐसा होता है कि किसी किसी रोजगार-केन्द्र में विशेष प्रकार के शिक्षित बेकारों का आधिक्य होता है जबकि दूसरे केन्द्रों में उन लोगों का अभाव होता है। इसलिए काम करने वालों को ऐसे क्षेत्र से, जहाँ उनका बाहुल्य है, अभाव वाले क्षेत्रों में जाने के लिए प्रभावशाली उत्तेजन और सुविधा प्रदान करना भी एक आवश्यक समस्या है। जहाँ तक व्यावसायिक पहलू का सम्बन्ध है, काम करने वालों की माँग को निर्धारित करना तथा उनकी पूर्ति की व्यवस्था करना बड़ी सोच-समझ का काम है।

§ १६. अध्ययन-दल के सुझाव—वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए अध्ययन-दल ने शिक्षित लोगों के लिए काम के कुछ नये प्रकारों का सुझाव दिया। उसने सिफारिश की कि उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में सहकारिता को विस्तृत करके अधिक से अधिक शिक्षित लोगों को काम दिया जाय। उसने यह भी सुझाव दिया कि छोटे पैमाने के कुछ उद्योग स्थापित किये जायें (जैसे हाथ के औजारों का निर्माण करने वाले उद्योग, खेल का सामान बनाने वाले उद्योग, फर्नीचर बनाने वाले उद्योग इत्यादि, सहायक उद्योग जैसे ढलाई के कारखाने, मोटरगाड़ियों की दुकानें, बिजली से पालिश करने वाली दुकानें आदि और मरम्मत का काम करने वाले उद्योग जैसे साइकिल और मोटर की मरम्मत करने वाली दुकानें इत्यादि)। इस दल ने सरकारी ढंग पर माल के परिवहन की योजना का भी सुझाव दिया है जिसके अनुसार प्रति गाड़ी प्रति समिति के हिसाब से १,२०० समितियाँ नगरों में ही चलने के लिए और २५ गाड़ी प्रति समिति के हिसाब से नगरों के बीच चलने वाली २४० समितियाँ स्थापित की जायें। इसने बुनियादी शिक्षा वाले शिक्षा-शिविरों की भी सिफारिश की। इसके साथ शिक्षित लोगों को व्यापारिक भाग के प्रति

रुचि पैदा हो और उनकी व्यक्तिगत प्रवृत्ति का ज्ञान हो सके।

निम्न तालिका से पता चलता है कि विभिन्न योजनाओं[1] पर कितना व्यय होगा और उनके फलस्वरूप कितने व्यक्तियों को रोजगार मिल सकेगा।

योजनाएँ	कुल अनुमानित व्यय (करोड़ रुपये)	प्राप्ति (करोड़ रुपये)	वास्तविक लागत (करोड़ रुपये)	रोजगार (संख्या)
छोटे पैमाने के उद्योग[2]	८४.०	५८.३	२५.७	१,५०,०००
सहकारी ढंग पर वस्तुओं का परिवहन	२०.०	१८.०	२.०	३२,०००
राज्य-सरकारों की योजनाएँ	१६.०	९.५	६.५	५३,०००
काम और शिक्षा कैम्प	७.१	×	७.१	×
कुल योग	१३०.१	८५.८	४४.३	२,३५,०००

अध्ययन दल ने सरकारी नौकरियों में भरती के ढंग को सुधारने के लिए कुछ सुझाव दिये। उसने यह सुझाव दिया कि उन जगहों में नियुक्ति जिनमें समान योग्यताओं की आवश्यकता है एक परीक्षा के आधार पर हो जो निश्चित समय पर सदा हुआ करे और परीक्षा फल के अनुसार परीक्षार्थियों की सूची तैयार की जाय और उसी सूची में से नियुक्ति की जाय। जो परीक्षार्थी इस सूची में सम्मिलित न होंगे, वे तुरन्त *जान जायेंगे कि उनके लिए जान की कोई सम्भावना नहीं है और वे अन्य नौकरियों* की खोज करने लगेंगे बजाय इसके कि वे उसी आसरे बैठे प्रतीक्षा करते रहें। इस दल ने एक विश्वविद्यालय रोजगार विभाग खोलने की भी सिफ़ारिश की ताकि उच्च विशेष शिक्षा प्राप्त लोग उपयुक्त कामों पर लगाये जा सकें और उन शिक्षित काम ढूँढने वाले लोगों के रहने और खाने का प्रबन्ध किया जा सके जिन्हें काम की तलाश में दूर स्थित नगरों में जाना पड़े।

शिक्षित लोगों की बेकारी का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि हमारी *शिक्षा प्रणाली का ध्येय अभी तक सरकारी कर्मचारियों का उत्पादन रहा है* और इसीलिए शिक्षितों में दफ्तरों में काम करने के योग्य लोगों की संख्या भी अत्यधिक रही है। ऐसे लोगों की संख्या उनकी माँग की अपेक्षा कहीं अधिक है।[3] हमारी शिक्षा

१ द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ १२३।

२ ग्रामोद्योगों से भिन्न।

३ 'विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या १९३१ में ७८,००० थी और १९५० में बढ़कर ४,४४,००० हो गई और माध्यमिक स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या १८ लाख से ५७ लाख हो गई। यह निश्चय ही है कि काम करने के अवसरों की संख्या में वृद्धि इस वर्ग के लोगों की संख्या के अनुपात में नहीं हुई है।'' (१९वें कृषि आर्थिक सम्मेलन में रिज़र्व बैंक के गवर्नर श्री रामाराव द्वारा उद्घाटन के समय दिये हुए भाषण का एक अंश, जो दिसम्बर १९५४ में हुआ था)। पृष्ठ ४७१ की तालिका में दिये हुए आँकड़ों के अनुसार सेकेण्डरी स्कूल के विद्यार्थियों की संख्या १९५१ में ४८ लाख है न कि ५७ लाख फिर भी राव साहब का कथन कि काम करने के अवसरों में वृद्धि शिक्षा के उस अनुपात में नहीं हुई, बिल्कुल सत्य ठहरता है।

प्रणाली अत्यधिक साहित्यिक है और इसमें व्यवसायों की शिक्षा बहुत कम प्राप्त होती है। अनेक समितियों और आयोगों ने, जिन्होंने १९३४ से लेकर इस प्रश्न की जाँच-पड़ताल की है, निरन्तर यही आरोप लगाया है।[1] यदि यह मान भी लिया जाय कि शिक्षा प्रणाली में अधिक विविधता थी, तो भी शिक्षित लोगों के लिए अभी हाल के समय तक रोजगार बहुत ही सीमित था। आजकल देश के आर्थिक विकास के लिए निश्चित प्रयत्न आरम्भ हो गया है, इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के प्रश्न को देश की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं के साथ सम्बद्ध कर दिया जाय और जहाँ तक सम्भव हो, ऐसे शिक्षित लोगों की वृद्धि रोकी जाय जो वातावरण से मेल नहीं खाते।

हाल ही में यह निश्चय किया गया है कि अध्ययन दल ने जिन योजनाओं का सुझाव दिया है उनके प्रति जनता की प्रतिक्रिया मालूम करने के लिए प्रारम्भिक परियोजनाएँ (पायलट प्रोजेक्ट्स) शुरू की जायें। छोटे पैमाने के उद्योगों के सम्बन्ध में श्रीगणेश किया गया है। इसके अन्तर्गत वे योजनाएँ आ जायेंगी, जिनसे कि पंचवर्षीय योजना के प्रथम वर्ष के अन्त तक १०,००० शिक्षित व्यक्तियों को रोजगार मिलेगा। सर्वप्रथम, १,००० युवकों के लिए काम तथा प्रशिक्षण कैम्प खोले गए हैं और फिर बाद में ५०० गाड़ियों की सहायता से सहकारी माल परिवहन योजना आरम्भ की जायगी। कार्य समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिए जो राशि नियत की गई थी, उसका उपयोग छोटे पैमाने के उद्योगों में प्रारम्भिक योजनाओं के लिए किया जायगा। प्रशिक्षण-कैम्पों तथा सहकारी माल परिवहन योजना के लिए धन शिक्षित बेकारों के सम्बन्ध की विशेष योजनाओं के लिए निश्चित ५ करोड़ रुपये की राशि में से लिया जायगा।

§४० घाटे की अर्थ-व्यवस्था—ऐसी अर्थ-व्यवस्था में, जहाँ आयोजित विकास की व्यवस्था की जा रही हो, विकास-योजनाओं पर किया गया व्यय आंशिक रूप में तत्काल अथवा शीघ्र ही उत्पादन की वृद्धि में लक्षित होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि कुल उत्पादन में वृद्धि होती है जिसके आधार पर समुदाय में मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जा सकती है।[2] घाटे की अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में यह विचार (जबकि प्रश्न मुद्रा की कमी का है जो कि साधनों की कमी से भिन्न बात है) सामान्यतः सर्वमान्य है। हमारे पास कोई ऐसा सूत्र नहीं है जिसके आधार पर मुद्रा प्रसार के भय के बिना उधार निर्माण की मात्रा निर्धारित की जा सके। विनियोग व्यय से आय बढ़ती है

१ १९२५ की बंगाल बेकारी समिति ने शिक्षा-प्रणाली का निम्न शब्दों में वर्णन किया है—यह प्रणाली उस कीप या ??? है जिसका ऊपरी सिरा चौड़ा है और जिसका व्यास ऊपर से नीचे तक बराबर घटता है। इसमें कोई शाखाएँ नहीं हैं और सबसे ऊपर का छेद बहुत ही संकीर्ण है। आवश्यकता तो ऐसे वृक्ष की है जिसकी शाखाएँ विशेष स्थानों से जितना और सम्भव हो सके, फल रहा हो, केवल शीर्ष पर पहुँचकर ही न फैलें। (रिपोर्ट, पैरा २१)

२ अर्थशास्त्र-सम्बन्धी [illegible] १९५५, पैरा १०। भारत में घाटे की अर्थ-व्यवस्था का ढंग सरकार द्वारा रिज़र्व बैंक से ऋण लेना अथवा अपने रोकड़ बकाये में से लेना है।

और इस वृद्धि का एक अंश जनता की बडी-बडी रोकड बचत मे लग जाता है। घाटे की अर्थ व्यवस्था और उधार के निर्माण की मात्रा उत्पादन मे वृद्धि की दर से, जो अतिरिक्त रोकड जमा करने की मांग तथा विनियोग की मात्रा के कारण होगी, अधिक न होनी चाहिए। यद्यपि हम मोटे तौर पर घाटे की अर्थ-व्यवस्था की उचित सीमा बता सकते हैं, पर उधार की मात्रा, जिसकी कि किसी परिस्थिति विशेष में देश की अर्थ व्यवस्था के चालू रखने के लिए आवश्यकता होगी, निश्चित रूप से जान लेने का कोई भी उपाय नहीं है। इसके लिए हमे अनुभव प्राप्त अर्थशास्त्रियो, व्यापारियो और बैंकरो के निर्णय पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। दु ख की बात यह है कि जो इस विषय मे जानकारी रखते हैं, वे एकमत नही हैं। इस बात का एक उदाहरण द्वितीय पचवर्षीय योजना में घाटे की अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे दी हुई विभिन्न रायें हैं। योजना के अन्तर्गत घाटे की अर्थ-व्यवस्था १,२०० करोड रुपये तक होगी। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के विशेषज्ञो के विचार में यह अत्यधिक है। उनके विचार में अधिकाधिक ३०० या ४०० करोड़ रुपये की सीमा ही उचित है। उनके मतानुसार योजना के अन्तर्गत घाटे की प्रस्तावित अर्थ व्यवस्था के फलस्वरूप मुद्रा में १० प्रतिशत प्रतिवर्ष वृद्धि होती चलेगी, चाहे हम यह भी मान लें कि बैंक के उधार पर उसका कोई प्रभाव न पडने दिया जायगा। पांच वर्ष के समय में इस प्रकार की वृद्धि उनके मत में निश्चय ही मुद्रा प्रसार को जन्म देगी।

अगस्त, १९५६ में विश्व बैंक शिष्टमण्डल जिसके नेता श्री टामस बसिवर्ड्रिव थे का भी यह मत था कि द्वितीय पचवर्षीय योजना का सरकारी क्षेत्र का कार्यक्रम इतना अधिक है कि वह पांच वर्ष में पूरा नही हो सकता और उन्होंने भारत सरकार से अनुरोध किया कि घाटे की अर्थ-व्यवस्था करने में सावधानी से आगे बढ़े। एक दूसरे विशेषज्ञ निकोलस काल्डोर के मतानुसार, घाटे के व्यय का भार, जो देश की अर्थ व्यवस्था वहन कर सकती है, १५० करोड रुपये प्रतिवर्ष से अधिक नहीं हो सकता।[1] प्रोफेसर बी० आर० शिनाय ने तो घाटे की अर्थ व्यवस्था की उपयुक्त सीमा और भी कम रखी है जो कि कुल ३२० करोड रुपये से अधिक नहीं है। साधारण विश्वास है कि घाटे की अर्थ व्यवस्था बहुत कठिनाई में ही पडकर और बहुत ही अधिक सावधानी से करनी चाहिए और हमें सदा अपने प्रभावशाली उपाय तैयार रखने चाहिए, ताकि जैसे ही मुद्रा प्रसार के चिह्न दिखाई पड़ें, उनका प्रयोग किया जाय। भारतवर्ष के लिए इलाज के बजाय परहेज अधिक अच्छा रहेगा क्योंकि जब एक बार मुद्रा प्रसार हमारे देश जैसे अविकसित देशो में आरम्भ हो जाता है तो मुद्रा तथा वित्त सम्बन्धी उपाय उसको दबा नही सकते।

इसलिए हमें मुख्यत करों और ऋण पर निर्भर रहना होगा और घाटे की अर्थ व्यवस्था का, जितना कम हो सके सहारा लेना होगा। मुद्रा प्रसार के जोखिम को उठाने के स्थान पर हमें योजना के विकास-लक्ष्य को कम करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए, अथवा कार्यक्रम को अधिक वर्षों तक जारी रखना चाहिए।

१ काल्डोर रिपोर्ट, पृष्ठ ७।

इस सम्बन्ध में हमें कुछ जिम्मेदार समालोचकों के इस विचार पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिए कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य अत्यधिक ऊँचे हैं। द्वितीय योजना के अनुसार पूँजी का वास्तविक सृजन १९६०-६१ में पहली योजना के अंतिम वर्ष अर्थात् १९५५-५६ की अपेक्षा लगभग ६३ प्रतिशत अधिक होगा। यह वृद्धि १२ प्रतिशत प्रतिवर्ष से कुछ अधिक होगी। इसी प्रकार योजना-काल में राष्ट्रीय आय में ५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की आशा भी प्रथम योजना काल की २.५ प्रतिशत की वृद्धि की तुलना में बहुत अधिक है।[1] हमें अपने लक्ष्य निश्चित करते समय अपनी बचत करने की कम शक्ति को भुलाना नहीं चाहिए जिसके कारण विनियोग बहुत साधारण दर में ही सम्भव हो सकेगा और इसलिए यह उचित होगा कि हम विकास की योजना में सोची हुई गति की तुलना में धीमी गति से ही संतुष्ट हों। हम विकास व्यय पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि व्यय प्राप्त अथवा अप्राप्त वित्तीय साधनों की सीमा से आगे न निकल जाय।[2]

घाटे की अर्थ-व्यवस्था का तात्कालिक परिणाम यह होगा कि लोगों के पास मुद्रा की मात्रा बढ़ जायगी, मूल्य-स्तर ऊँचा हो जायगा और उसके फलस्वरूप उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन की गति में वेग आ जायगा। एक क्षेत्र के मूल्य में वृद्धि दूसरे क्षेत्र में फैल जायगी। इसका अर्थ यह होगा कि प्रारम्भ में राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत विकास-योजनाओं पर व्यय का जो अनुमान लगाया गया था, वह बदल जायगा और उनके लिए अधिकाधिक धन का प्रबन्ध करना पड़ेगा। यदि उत्पादन में अत्यधिक देर हो गई अथवा मात्रा में कमी आ गई तो मुद्रा प्रसार के सारे दोष उत्पन्न हो जायेंगे। ये दोष निम्नलिखित हैं—धन का अत्यधिक मात्रा में वास्तविक सम्पत्ति (विशेषकर नगरों में) और विदेशी विनिमय में लगाना, विनियोग का पूँजी[3] वस्तुओं के उत्पादन के स्थान पर उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में प्रयुक्त होना, स्थायी मूल्य वाली वस्तुओं, जैसे सोने के रूप में धन इकट्ठा करके रखना, विदेशों के साथ शोधन सन्तुलन में कठिनाई इत्यादि।[4]

---

१ [illegible] (अप्रैल १९५५) में छपे लेख में प्रो० डा० आर० [illegible], पेज १०।

२ वित्त मंत्री, श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास [illegible] सुजीन ब्लैक के ८ सितम्बर १९५६ के पत्र के उत्तर में कहा था कि भारत की परिस्थिति में आर्थिक स्थिरता कायम रखना आर्थिक विकास से अधिक महत्वपूर्ण है, [illegible] विकास की प्रगति की दर पर निर्भर है। हम यह बात मानते हैं, परन्तु यह कहना चाहिए कि [illegible] मुद्रा प्रसार होगा तो उससे अधिक [illegible] स्थिति दिकी न रहेगी।

३ मुद्रा प्रसार में बहुत से लोगों को अनुचित लाभ प्राप्त होता है और कुछ [illegible] अधिक [illegible] हो जाता है, जिससे बड़ी असमानता [illegible] विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है और आर्थिक विकास के लिए [illegible] होता है।

४ मूल्यों की वृद्धि का निर्यात व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता है। विदेशी विनिमय [illegible]

घाटे की अर्थ-व्यवस्था से उत्पन्न मुद्रा प्रसार ऐसे उपायों का अनुसरण करने से ही दूर हो सकता है, जो अतिरिक्त मुद्रा को चलन में आने से रोक सकें अथवा मूल्यों पर अपना प्रभाव डालने से रोक सकें। उदाहरण के लिए, इस वृद्धि को या तो करों द्वारा या ऋण द्वारा जनता से ले लिया जाय अथवा जनता स्वयं अपनी अतिरिक्त आय को खर्च करने के बजाय बचाकर रखे। भारत जैसे गरीब देश में इन उपायों का अनुसरण कठिन है, जहाँ लोगों की अत्यावश्यक माँगें भी पूरी नहीं हो पाती। यह आशा व्यर्थ है कि लोग जिनकी जीवन की आवश्यकताएँ सदा से ही अतृप्त रही हैं, व्यय के सम्बन्ध में आत्म संयम से काम लेंगे।[1] मूल्य नियन्त्रण के उपायों का भी प्रभावशाली रूप से प्रयोग करना कठिन है क्योंकि नियन्त्रण को यदि और कोई नहीं तो कम से कम प्रशासन की कठिनाइयों के कारण सर्वव्यापी नहीं बनाया जा सकता। किसी एक क्षेत्र में मूल्यों को नियन्त्रण में रखा जा सकता है परन्तु वे दूसरे क्षेत्र में अत्यधिक बढ़ सकते हैं और धीरे धीरे सभी वस्तुओं का मूल्य बढ़ जायगा।

§४१. १९४८ का औद्योगिक नीति संकल्प—स्वतन्त्रता के बाद से भारत सरकार की औद्योगिक नीति ६ अप्रैल १९४८ का जारी किये हुए औद्योगिक नीति संकल्प पर आधारित है। संकल्प में कहा गया था कि तात्कालिक उद्देश्य यह है कि देश के साधनों का पूरा उपयोग करके उत्पादन बढ़ाकर और सभी को रोजगार का अवसर देकर शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाएँ बढ़ाई जायँ और जीवन-स्तर ऊँचा किया जाय।

संकल्प में कहा गया था कि उद्योगों के विकास में राज्य का कर्तव्य उत्तरोत्तर अधिक क्रियाशील होगा चाहे राज्य की व्यवस्था और साधन उद्योगों के सम्बन्ध में तत्परता से उसे काम न करने दें। अभी कुछ समय तक राज्य को वर्तमान उद्यमों को अपने हाथ में लेकर चलाने की अपेक्षा, अपने क्रियाकलाप को बढ़ाकर और अन्य क्षेत्रों में उत्पादन की अन्य इकाइयाँ प्रारम्भ करके राष्ट्रीय सम्पत्ति में अधिक तेजी से योगदान करना पड़ेगा। सरकार का सम्पूर्ण एकाधिकार निम्नलिखित पर रहेगा—(१) हथियार और गोला-बारूद का उत्पादन, (२) अणु शक्ति का उत्पादन और उस पर नियन्त्रण (३) रेल-परिवहन का स्वामित्व और प्रबन्ध, और (४) आपात (इमरजन्सी) की स्थिति में कोई भी उद्योग जो देश की सुरक्षा के लिए महत्त्व का है। निम्न उद्योगों के सम्बन्ध में राज्य अपने से ही पूर्ण रूप से इस बात का जिम्मेदार होगा कि वह नये उद्यम प्रारम्भ करे सिवाय उन स्थानों के जहाँ कि राष्ट्रीय हित के लिए यह आवश्यक समझा जाय कि गैर सरकारी व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो—(१) कोयला (सामान्यतया भारतीय कोयला क्षेत्र-समिति की सिफारिश को स्वीकार किया जायगा) (२) लोहा और इस्पात (३) हवाईजहाज निर्माण (४) जलयान निर्माण, (५) टेलीफोन, तार और बेतार के तार के यन्त्रों का निर्माण, केवल रेडियो सेट छोड़

इसके कारण विदेशी पूँजी को आकर्षित करना तथा मशीनों तथा विकास योजनाओं के लिए अन्य आवश्यक सामग्री का प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

[1] मुद्रा-प्रसार के कारण मूल्यों में वृद्धि रोकने के लिए माल विदेशों से अधिक मात्रा में मंगाया जा सकता है। परन्तु हो सकता है कि इसके लिए पर्याप्त मात्रा में विदेशी विनिमय की सुविधा का अभाव हो।

कर और (५) खनिज तेल। विशेष उद्योगों के वर्तमान उद्यमों को दस वर्ष में विकास करने की अनुमति दी गई थी, जिस अवधि के अन्त में स्थिति पर पुनः विचार किया जायगा और क्षति पूर्ति की गारंटी दी जायगी।

विद्युत् शक्ति के उत्पन्न करने और वितरण करने के काम को छोड़कर (जिसके लिए अलग विनियामक विधान था) इस शर्त पर बाकी सब उद्योग सामान्यतः गैर सरकारी क्षेत्र के लिए इस बात पर छोड़ दिये गए कि वे सन्तोषजनक उन्नति करें। इस क्षेत्र के एक अंग का आयोजन, जो 'महत्त्वशाली मूल उद्योगों का प्रतिनिधि कहा जा सकता है', और विनियमन केन्द्रीय सरकार इस आधार पर करेगी कि उनमें काफ़ी विनियोग आवश्यक है, या उनमें अधिक प्रौद्योगिकीय कुशलता चाहिए या उनके स्थान के बारे में केन्द्र का नियन्त्रण होना चाहिए। ये उद्योग निम्न हैं—नमक, मोटरगाड़ियाँ और ट्रैक्टर, मोटरें आदि (प्राइममूवर), विद्युत् सम्बन्धी इन्जीनियरिंग, अन्य भारी मशीनें आदि, मशीन सम्बन्धी उपकरण, स्थूल रसायन, उर्वरक, भेषज और औषधियाँ, इलेक्ट्रो केमिकल्स उद्योग, अलौह (नान फ़रस) धातुएँ, रबड़ की वस्तुएँ, शक्ति मद्यसार और उद्योगों में काम करने वाला अल्कोहल, सूती और ऊनी कपड़े, सीमेंट, चीनी, कागज़ तथा अखबारी कागज, नौवहन और विमान-परिवहन, खनिज-पदार्थ और सुरक्षा-सम्बन्धी उद्योग। सरकार ने बहुमुखी योजनाओं को कार्यान्वित करने का अधिकार अपने पास रखा और आवश्यक औषधियों तथा कृत्रिम तेल (सिन्थेटिक ऑयल) के बनाने का काम अपने अधिकार में ले लेने का इरादा किया।

परन्तु इन सिद्धान्तों के पूर्ण रूप से माने जाने में बहुत सी त्रुटियाँ रही हैं। उदाहरण के लिए, लोहे और इस्पात के नये कारखाने की स्थापना गैर-सरकारी उद्यमों पर छोड़ दी गई है, जो आवश्यक पूँजी जुटा सकें। उन्हें कुछ विशेष आश्वासनों के अन्तर्गत रहते हुए तेल-परिष्करणियों की स्थापना की अनुमति दे दी गई है। सरकार ने यह भी विश्वास दिलाया है कि २५ वर्ष तक तेल-परिष्करणियों के राष्ट्रीयकरण की कोई सम्भावना न होगी और अनेक घोषणाओं से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रीयकरण का भय अब हट गया है।

४२ उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम १९५१—१९५१ के उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम के अन्तर्गत, जो ८ मई १९५२ से लागू हुआ था, बागान उद्योगों को छोड़कर देश के सभी महत्त्वपूर्ण उद्योग सरकार के अधीन आ गए। यह अधिनियम ३७ अनुसूचित वस्तुओं के निर्माण से सम्बन्धित उद्योगों पर लागू हुआ, जिसमें निम्नलिखित हैं—हवाई जहाज, हथियार और गोला-बारूद, कोयला, लोहा और इस्पात, टेलीफ़ोन, रेल के तार और बेतार के यन्त्र, गणित सम्बन्धी और वैज्ञानिक उपकरण, पेट्रोलियम, उत्पादन, जलयान, चीनी, पटसन, सूती और ऊनी कपड़े, मोटरगाड़ियाँ, सीमेन्ट, बिजली के लम्प, पंखे और मोटरें, स्थूल रसायन, बड़ी मशीनें, इंजन, मशीनी औज़ार, बिजली की मशीनें, अलौह धातुएँ, कागज़, भोजन और पोषणीयाँ, शक्ति मद्यसार और उद्योग में काम आने वाला अल्कोहल, रबड़ की बनी वस्तुएँ, चमड़ा और चमड़े के बने सामान, वनस्पति-तेल, कृषि-सम्बन्धी औज़ार

बैटरी, बाइसिकल, हरीकेन लालटेन, इण्टरनल कम्बस्चन इंजिन, पम्प, रेडियो सैट, सीने और बुनने वाली मशीनें, छोटे छोटे औजार, काच और मिट्टी के बर्तन। इस अधिनियम के अनुसार (१) इन वस्तुओ के निर्माण करने वाले उद्यमो के स्वामियों को सरकारी दफ्तर मे अपने को रजिस्टर करवाना आवश्यक है। (२) नये उद्यमो की स्थापना और पुरानों का अत्यधिक विस्तार वर्जित है, जब तक कि वे केन्द्रीय सरकार द्वारा आवश्यक शर्तों के अनुसार लाइसेन्स न प्राप्त कर लें। (३) केन्द्रीय सरकार को अधिकार है कि वह (क) इनकी जाँच पडताल करे निर्देश दे और यदि कही पर मान्य स्तर से उत्पादन गिर जाय अथवा ऐसा कुप्रबन्ध हो कि उपभोक्ताओ को नुकसान पहुँचने का भय हो, तो उन पर अपना अधिकार कर ले, (ख) एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् की स्थापना करे, जिसका काम अनुसूचित उद्योगो को, उनके विकास और विनिमयन के सम्बन्ध में सलाह देना हो, (ग) हर एक प्रकार के उद्योगो के समूहों के लिए विकास परिषदो की स्थापना करे।

§४३ ३० अप्रल, १९५६ का औद्योगिक नीति सकल्प—इस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि १९४८ के प्रस्ताव के बाद जो आठ वर्ष बीते हैं उनमे कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और बातें हुई हैं, जैसे विधान का बनना, जिसके अन्तर्गत लोगो को कुछ मौलिक अधिकार दे दिये गए हैं और राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तो का वर्णन कर दिया गया है, जिनसे कि ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होगी, जिसमे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय होगा। दिसम्बर १९५४ में ससद् ने समाजवादी ढग के समाज की स्थापना अपना आदर्श स्वीकार कर लिया है और इसका यह अर्थ समझा गया कि लोक-लाभ सामरिक (स्ट्रेटेजिक) महत्त्व तथा मौलिक महत्त्व वाले सभी उद्योग अन्य आवश्यक उद्योगो के साथ, जिनमे इतने विनियोग की आवश्यकता है जोकि केवल राज्य ही कर सकता है, सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत रहने चाहिए। कुछ कठिनाइयों के कारण उन उद्योगो में से, जिनका ऊपर बताए कारणों के आधार पर राज्य को पूरा उत्तरदायित्व ले लेना चाहिए था, केवल सबसे अधिक महत्त्व वाले उद्योगो को ही चुनने के लिए विवश होना पड़ा।

इस समस्या के सभी पहलुओं पर विचार कर लेने के बाद, योजना आयोग की सलाह से भारत सरकार ने उद्योगों को उनके चलाने में राज्य के भाग के विचार से तीन वर्गों में बाँटा। पहले वर्ग में वे उद्योग आते हैं जिनका भावी विकास पूर्ण रूप से राज्य की जिम्मेदारी होगी। दूसरे वर्ग में वे उद्योग आते हैं जो धीरे धीरे राज्य के अधिकार में आ जायेंगे और जिनमे उद्यमो की स्थापना मे राज्य पहलकदमी करेगा लेकिन उसमें गैर सरकारी उद्यम से भी राज्य के प्रयत्नों मे सहयोग देने की आशा की जाती है। तीसरे वर्ग में बाकी सब उद्योग रखे गए जिनका विकास सामान्यतया गैर सरकारी क्षेत्र के उद्यम और पहलकदमी पर छोड़ दिया गया। इस क्षेत्र में उद्यमों को राज्य की सामाजिक और आर्थिक नीति के अनुरूप होना चाहिए और उनका विनियमन तथा नियन्त्रण १९५१ के उद्योग (विकास और विनियमन) अधिनियम

सकता है।" बहुत सी बड़ी-बड़ी परियोजनाओं, जैसे भाखड़ा-नांगल परियोजना, में प्रबन्ध में फिजूलखर्ची, कुप्रबन्ध और भ्रष्टाचार की शिकायतों को देखते हुए यह बात मानना कठिन है। यह कथन कि सरकारी स्वामित्व और प्रबन्ध से आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण, जोकि व्यक्तिगत उद्यमों की विशेषता है, कम होता है बिना सोचे समझे स्वीकार नहीं किया जा सकता। शक्ति का सरकारी नौकरों तथा राजनीतिज्ञों के हाथ में केन्द्रित होना भी उतना ही बुरा है जितना कि व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित होना।

सरकार गैर-सरकारी उद्यमों की, अपने बारे में स्वयं निर्णय करने की शक्ति का अतिक्रमण किये बिना ही विधान बनाकर या अन्य उपायों द्वारा, गैर-सरकारी उद्यमों का विनियमन कर सकती है उन पर नियन्त्रण रख सकती है, उनके विकास का निर्देशन वाञ्छनीय दिशाओं में कर सकती है और उनके कुछ दोषों को दूर कर सकती है।[1] उदाहरण के लिए, गैर-सरकारी क्षेत्र के संगठित उद्योगों में विनियोग की आवश्यक राशि निश्चित करने के लिए पूंजी के निगम पर नियन्त्रण, आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध, भिन्नक करारोपण नीति, ऋण की व्यवस्था, मूल्यों में आयोजित वृद्धि तथा अन्य उपायों का प्रयोग करने से लाभ हो सकता है।

सरकार ने तीव्र गति से आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीयकरण की नीति को आवश्यक घोषित कर दिया है। यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि सफलतापूर्वक कृषि का पुनरुद्धार करने और औद्योगीकरण की दृढ़ नींव डालने के लिए यह आवश्यक है कि देश के प्राप्य साधनों के प्रयोग में लाने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो और यह तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि उन सब महत्त्वपूर्ण स्थानों पर सरकार का अधिकार नहीं होता, जहाँ अधिकतम मात्रा में बचत होती है जैसे बड़े पैमाने के उद्योग, बैंकिंग, बीमा, बड़े पैमाने पर आयात और निर्यात और कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओं का थोक व्यापार, जैसे अन्न। दीर्घकालीन समेकित विकास—जिसके अन्तर्गत आयोजित तथा अवस्थान-बद्ध कार्यक्रम आते हैं—तब तक नहीं हो सकता जब तक कि देश के मुख्य आर्थिक क्रियाकलाप पर सरकार का सम्पूर्ण अधिकार नहीं होता।

ऐसा कहा जाता है कि यदि हमारा ध्येय समाजवादी और समता पर आधारित समाज की स्थापना करना है, तो सरकारी क्षेत्र का उत्तरोत्तर विकास अत्यन्त आवश्यक है। इसका कारण यह है कि बिना सरकारी क्षेत्र को विस्तृत किये, बड़े बड़े नियोजित विकास-कार्यों की प्रवृत्ति कुछ लोगों के हाथ में आर्थिक शक्ति केन्द्रित करने की हो जाती है और उनके लिए आवश्यक त्याग का बोझ सभी पर समान रूप से नहीं पड़ता। वे उद्योग जो आवश्यक हैं और जिनमें उच्च स्तर के विनियोग की आवश्यकता

---

[1] सरकार गैर-सरकारी उद्यमों के दोषों को दूर कर सकती है पर सरकारी उद्यमों के दोषों को दूर करने के लिए हमारे पास कोई भी उतना प्रभावशाली उपाय नहीं है।

भारत सरकार पर जनता की आलोचना का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि हम एक ऐसी अवस्था में हैं, जिसमें एक विशाल दल का राज्य है, जिसमें एक दानव की शक्ति है और बहुधा वह अपनी शक्ति का दानव के समान प्रयोग करने के लिए उत्साहित हो जाता है।

होती है जो राज्य ही कर सकता है, उनको भी सरकारी क्षेत्र में रहना चाहिए। यदि राष्ट्रीयकरण उपयुक्त बातो को ध्यान मे रखते हुए सोच समझ के साथ किया जाय तो वह वाञ्छनीय तथा उचित होगा। परन्तु इसे सारे आर्थिक और सामाजिक दोषों के लिए रामबाण नही समझना चाहिए।[1]

§ ८५ कृषि का मूल योग—द्वितीय योजना में साधारणतया उद्योगो पर जोर दिया गया है, फिर भी यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि बढ़ती हुई जनसंख्या, बढ़ती हुई आय और आहार-पोषण के निम्न स्तरो का ध्यान रखते हुए कृषि उत्पादन मे वृद्धि करने के प्रयत्न को ढीला नही करना चाहिए। पूंजी की वस्तुओं का उत्पादन करने मे लगे हुए मजदूरो की वर्द्धमान संख्या के लिए अन्न का अधिक उत्पादन आवश्यक है। मूल्यो को न बढ़ने देने के लिए और मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति के प्रभाव को रोकने में कृषि उत्पादन के आधिक्य की विशेष महत्ता है। उद्योगो को चालू रखने के लिए और निर्यात-व्यापार को विकसित करने के लिए कच्चे माल की भी आवश्यकता होती है। इसलिए यदि हमें योजना-कार्यक्रम को सुगमता से चलाना है तो खाद्यान्न तथा कच्चे माल दोनो का भाण्डार बढ़ाना आवश्यक होगा। इस सर्वविदित सत्य के दुहराने की आवश्यकता नही है कि कृषि तथा उद्योग एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं और परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। जैसे कृषि के लिए उद्योग आवश्यक हैं, वैसे ही उद्योगो के लिए कृषि आवश्यक है। औद्योगिक विकास कृषि-उत्पादो के लिए बाजार को जन्म देता है, और उसकी आवश्यक जरूरतो की वस्तुओं की पूर्ति करता है, जैसे कृषि सम्बन्धी यन्त्रादि और उर्वरक। यह अतिरिक्त जनसंख्या को कृषि से हटाकर उद्योगो में लगाता है और इस प्रकार बचे हुए लोगों की आर्थिक स्थिति को सुधारता है।[2]

मई, १९५६ मे द्वितीय योजना की रूपरेखा पर विचार करते हुए राष्ट्रीय विकास परिषद् ने यह मत प्रकट किया कि कृषि उत्पादन के योजना में प्रस्तावित लक्ष्यो को बढाना आवश्यक है। यह महसूस किया गया कि योजना के अन्तर्गत औद्योगीकरण के कार्यक्रम के कारण कृषि उत्पादन की मांग बढ़ेगी जिससे बिना मूल्य स्तर बढ़ जायगा। प्रत्येक राज्य की कृषि विकास-योजना का पुनर्निरीक्षण किया जाय ताकि उन्नत बीज की मात्रा, उर्वरको का प्रयोग, सिंचाई, भूमि-संरक्षण आदि की वृद्धि का कार्यक्रम कम से कम समय मे अधिक से अधिक उत्पादन बढ़ा सके।

१ इंग्लैण्ड में मजदूर-दल के क्षेत्रों में भी राष्ट्रीयकरण के लिए जोश कम हो गया है, क्योंकि इस क्षेत्र में जो प्रयोग किये गए हैं उनके परिणाम प्रत्याशित परिणामों से बहुत कम हुए हैं।

२ बहुधा यह कहा जाता है कि भूमि से मोह की भावना इतनी दृढ़ होती है कि लोग भूखों रहना पसन्द करेंगे पर भूमि नही छोड़ेंगे और औद्योगिक विकास भूमि पर भार को कोई विशेष कम नहीं सकता। इस सम्बन्ध में बहुधा सुना जाता है कि कृषि एक वृत्ति मात्र ही नहीं है वरन् जीवन यापन का एक ढंग है। प्रत्येक व्यवसाय जीवन यापन का ढंग कहा जा सकता है। जब लोग किसी एक के आदी हो जाते हैं तो उनकी प्रवृत्ति परिवर्तन का विरोध करने की हो जाती है। भूमि से चिपटे रहने की भावना यद्यपि बहुत बलवती है, फिर भी उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है, जैसा कि इस बात से प्रकट होता है कि नगर के कारखानों में काम करने वाले अधिकतर मजदूर गांव के निवासी ही हैं।

(फाउण्डेशन) के सरकारी प्रशासन-सम्बन्धी सलाहकार हैं "भारत सरकार की गणना संसार की लगभग बारह उच्चकोटि की सरकारों में की है।"[1] इस टिप्पणी का कुछ अर्थ भी लगाया जा सकता है और कुछ नहीं भी लगाया जा सकता। यदि हम इस बात को स्वीकार करें, जैसा कि हमें करना चाहिए—कि ईमानदारी और प्रभाव के दृष्टिकोण से हमारे प्रशासन को ब्रिटेन के स्तर तक पहुँचने के लिए बहुत अधिक उन्नति करनी है तो हमारे लिए आत्म सन्तुष्टि का कोई कारण नहीं है। हमें यह मानना पड़ेगा कि सरकारी प्रशासन के बहुत से गम्भीर दोषों और त्रुटियों को दूर करना हमारे लिए उतना ही दुष्कर है जितना कि महत्त्व का है, विशेषकर ऐसे समय जब कि द्वितीय योजना में अन्तर्गत केन्द्रीय और राज्यों को महान् उत्तरदायित्व स्वीकार करने पड़े हैं। यह तो स्पष्ट है कि योजना कितनी ही सावधानी से क्यों न बनाई गई हो, फिर भी किसी आन्तरिक शक्ति के बिना तो यह सफल होगी नहीं। उसके लिए तो उपयुक्त प्रशासन-व्यवस्था आवश्यक है। ज्यों-ज्यों योजना का कार्य आगे बढ़ेगा और उसका विस्तार होगा, प्रशासन-सम्बन्धी कठिनाइयाँ सामने आती जायेंगी। प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं के अभाव के अतिरिक्त सबसे अधिक गम्भीर दोष, जिसका निराकरण अत्यावश्यक है, कुशल व्यवस्था की कमी पूरी करना है, जिसके कारण आजकल हर और विकास कार्य में बाधा पड़ रही है। इस समय इस रोग को बहुत अधिक महसूस किया जा रहा है, क्योंकि स्वयं काम चलाने की विकेन्द्रित व्यवस्था और सहकारिता के कार्य को योजनाबद्ध उन्नति का आवश्यक उपाय मान लिया गया है। इस नीति के अन्तर्गत ऐसे कार्य आते हैं, जैसे पूर्ति का कुशलता से वितरण करना, उत्पादन को एकत्रित करना, भाण्डागारों में रखना तथा वित्तीय प्रबन्ध करना, प्राविधिक निर्देशन तथा देख रेख करना आदि। इसलिए एक प्रभावी प्रशासन-व्यवस्था की स्थापना का कार्य शीघ्रातिशीघ्र करना है।

वर्तमान प्रशासन-व्यवस्था आरम्भ में अंग्रेजों ने औपनिवेशिक राज्य का कार्य चलाने के लिए स्थापित की थी। उसका आदर्श पुलिस दल जैसा था और उसका ध्येय केवल यह था कि देश में अमन-चैन कायम रखकर ब्रिटिश राज-सत्ता को सदा बनाये रखा जाय। इस व्यवस्था के उपायों का आधार अबन्ध नीति (लेसे फेयर) था और वह इस सिद्धान्त के आधार पर चलती थी कि सामाजिक रीति रिवाजों में हस्तक्षेप न किया जाय, क्योंकि उससे विद्रोह हो जाने का डर था।[2] परिणाम यह हुआ है कि हमारे सरकारी कर्मचारी पुरानी ब्रिटिश परम्परा के अनुयायी हैं, सदा अपने को अधिकार रखते हैं नये-नये विचारों पर अमल नहीं करते और इस प्रकार प्रशासन जड़वत् हो गया है।[3] अब समय इस बात का आ गया है कि प्रशासकों की

1. पाल एच० एप्पलबी लिखित 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया' पृष्ठ ८, [illegible]
2. [illegible] द्वारा लिखित 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड इकनॉमिक डेवेलपमेंट, पृष्ठ [illegible]
3. [illegible] कर्मचारियों का [illegible] करने का दूसरा कारण यह है कि सभी प्रशासन में [illegible] [illegible] है और [illegible] में [illegible] है। [illegible] [illegible] की [illegible] है, [illegible] [illegible] रही है।

धारणा पूर्णरूपेण बदल दी जाय और व्यवस्था के ढंग और प्रणाली को नया रूप दिया जाय। हाल में इस विषय के प्रति पर्याप्त ध्यान दिया गया है और योजना-आयोग ने द्वितीय योजना के कार्यक्रम के कार्यान्वित किये जाने के सम्बन्ध में इस प्रश्न पर काफी विचार किया है। उनके विचारों का सारांश हम नीचे दे रहे हैं।[1]

§५० प्रशासन कार्य का वर्गीकरण—योजना आयोग ने प्रशासन-कार्य को निम्न वर्गों में बाँटा है— (१) प्रशासन में ईमानदारी लाना, (२) प्रशासन तथा प्रविधि सम्बन्धी पदाली (कॉडर) की स्थापना करना और रचनात्मक सेवा कार्य करने का अवसर और प्रेरणा देना, (३) जो कार्य किये जाने हैं, उनके सम्बन्ध में प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता का अनुमान लगाना, हर क्षेत्र में अधिक संख्या में प्रशिक्षण के कार्यक्रमों की व्यवस्था करना, और प्रशिक्षण के साधनों से (जिनमें सरकारी और गैर सरकारी संस्थाएँ तथा औद्योगिक और अन्य संस्थाएँ सम्मिलित हैं) काम लेना, (४) काम करने की तेज कुशल और मितव्ययी प्रणालियों की खोज करना, निरंतर देख रेख की व्यवस्था करना, और समय समय पर इन ढंगों तथा उनके परिणामों को परखने का बन्दोबस्त करना, (५) कृषि उद्योग में लगे हुए छोटे उत्पादकों, राष्ट्रीय विस्तार परियोजनाओं तथा सामुदायिक परियोजनाओं और छोटे ग्राम-उद्योगों को प्राविधिक तथा आर्थिक सहायता पहुँचाना, (६) ऐसी संस्थाओं की व्यवस्था करना जो कुशलतापूर्वक सरकारी उद्यमों, जैसे व्यापारिक और औद्योगिक उद्यमों, परिवहन सेवाओं तथा नदी घाटी योजनाओं आदि का प्रबन्ध ठीक ढंग से कर सकें, (७) स्थानीय समुदायों तथा सर्वसाधारण का सहयोग प्राप्त करना, ताकि सरकार द्वारा कृषि तथा सामाजिक सेवाओं पर जो कुछ व्यय किया जा रहा है, उससे अधिक लाभ उठाया जा सके, और (८) प्रबन्ध और प्रविधि-सम्बन्धी कर्मचारियों की पूर्ति द्वारा अर्थ व्यवस्था के सहकारी क्षेत्र को दृढ़ बनाना और सहकारी वित्तीय तथा विपणन सम्बन्धी संस्थाओं की स्थापना करना।

§५१ ईमानदारी और कुशलता—हाल में केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों द्वारा प्रशासन में भ्रष्टाचार को जड़ से मिटा देने के कुछ उपाय किये गए हैं। अनेक राज्यों ने भ्रष्टाचार विरोधी विभागों की स्थापना की है जो विभिन्न मात्रा में सफलता से काम कर रहे हैं।[2] १९३७ की वेजवुड समिति ने बेईमानी के प्रचलित रहने के सम्बन्ध में कहा था कि "वह एक ऐसा दोष है जो कि केवल रेलवे और अन्य सरकारी नौकरियों में ही फैला हुआ है।'[3] रेलवे भ्रष्टाचार जाँच समिति (१९५३ ५५) ने यह स्वीकार किया था कि रेलवे में भ्रष्टाचार की जाँच करने पर उसे बहुत दुःख हुआ और उसके दुःखी होने का कारण भी है।[4] समिति ने इस दोष को दूर करने के लिए

१ द्वितीय पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ १२६ २७।

२ रेलवे भ्रष्टाचार जाँच समिति (१९५३-५५) ने यह कहा था कि "इस संस्था ने जिन मामलों पर कार्यवाही की वे सबके नगण्य थे" और कि, इसका कार्य लगभग पूर्णत ऐसे कर्मचारियों और ऐसे मामलों तक सीमित रहा जो निम्न कोटि के और बड़े सफर्स्ट थ। (रिपोर्ट, पैरा १८२)

३ रेलवे भ्रष्टाचार जाँच समिति की रिपोर्ट, पैरा १ में उद्धृत।

४ रिपोर्ट, पैरा २६८।

बहुत सी सिफ़ारिशों को और रेलवे मन्त्रालय ने बड़े-बड़े मामलों पर तथा गजटेड अफ़सरों के विरुद्ध मामलों को निपटाने के लिए एक भ्रष्टाचार विरोधी संगठन भी स्थापित किया। विभिन्न रेलवे अपनी ओर से इसी प्रकार के उपायों से काम लेने पर विचार कर रही हैं। समिति ने यह सुझाव भी दिया कि जनता के मत को पुष्ट न कर सकने के लिए प्रयोग में लाए जाने वाले भ्रष्टाचार के ढंगों का भण्डाफोड़ कर देना चाहिए और इस बात का प्रचार करना चाहिए कि नागरिकों के कर्तव्य और अधिकार क्या हैं। भ्रष्टाचार के दोषी सरकारी कर्मचारियों को जो सजा दी जाय, उसका भी प्रचार होना चाहिए।

भ्रष्टाचार की बुराई बहुत फैली हुई है। केवल रेलवे में ही नहीं वरन् प्रत्येक नौकरी में रिश्वत तो नित्यक्रिया बन गई है और रेलवे समिति ने जो कारण और उपाय बताए हैं वे समुचित संशोधनों के साथ पूर्णतया भारत की प्रत्येक सरकारी विभाग की नौकरियों पर लागू होते हैं।[1] प्रथम पंचवर्षीय योजना में प्रशासन में देश [illegible] और [illegible] एकता पर जोर दिया गया था। योजना में यह कहा गया था कि भ्रष्टाचार को दूर करने का मुख्य उपाय अफ़सरों की सतर्कता ही हो सकता है और यह सुझाव दिया गया था कि प्रत्येक विभाग के अध्यक्षों को सावधानी से अपने विभागों के कार्यों की छानबीन करनी चाहिए और जहाँ-कहीं भ्रष्टाचार का अवसर हो उसे बन्द कर देने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

भ्रष्टाचार का एक मुख्य स्रोत यह है कि मामलों पर जल्दी निर्णय नहीं किया जाता। यह सत्य है कि सरकारी दफ़्तरों की [illegible] ढीलाढाली या दीर्घसूत्रता की शिकायत बहुधा प्रशासन की कठिनाइयों की अज्ञानता पर आधारित होती है। हो सकता है कि कभी कभी कार्य प्रणाली सम्बन्धी यथाचार का आवश्यक आधिक्य ही शीघ्र निर्णय लेने में बाधक हो, पर यह कभी न भूलना चाहिए कि प्रशासन की कार्य प्रणाली बड़े लम्बे अनुभव का परिणाम है।[2] जिन्हें प्रशासन का अनुभव नहीं है वे यह सोचते हैं कि कार्य प्रणाली की ये यथाविधियाँ बड़ी आसानी से दूर की जा सकती हैं या कम की जा सकती हैं। परन्तु यदि यह काम अनुभवहीनता से किया जाय तो बड़ी उलझन और व्यतिक्रम पैदा हो जायगा। इस एक कारण को छोड़कर हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अधिनीत मामलों के निर्णय में देर, बिना किसी उचित कारण के होती है और इसे कम करने के प्रश्न पर तुरन्त ध्यान देना आवश्यक है। न केवल

---

१ श्री [illegible] का कहना है "भारत सरकार [illegible] उन दस-बारह सरकारों में से है जहाँ बेईमानी बहुत अधिक मात्रा में है।" ([illegible] द्वारा लिखित 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया', पृष्ठ ५०) इस कथन का [illegible] में [illegible] सकता है, [illegible] दस-बारह सरकारों के नाम बताए जावें और यह पता चले कि उनमें भारत का दर्जा कितना है। [illegible] का तात्पर्य इतना [illegible] है तो हम इसे स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि हमें मालूम है कि [illegible] में भ्रष्टाचार [illegible] है।

२ "लाल फीताशाही (रेडटेप) [illegible] कार्य प्रणाली [illegible] है [illegible] को [illegible] [illegible] तथा [illegible] की अपेक्षा [illegible] से सम्बन्धित हो।" ([illegible] द्वारा लिखित 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया', पृष्ठ ७)

अनावश्यक कठोर प्रक्रिया से बचना ही आवश्यक है वरन् सरकारी कर्मचारियों में शीघ्रता तथा अविलम्बता और पारस्परिक सहयोग से काम करने की भावना विकसित होनी चाहिए।

भ्रष्टाचार का मिटा देना कठिन काम है क्योंकि सामान्यतः यह चरित्र का एक अंश है और जनता को यह सिखाना है कि असुविधा सहन करके भी इसका विरोध करना चाहिए और सरकार को इसे मिटा देने के प्रयत्न में सम्पूर्ण सहयोग देना चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि इस दिशा मे व्यक्तिगत प्रयत्न की अपेक्षा संस्थाओं का प्रयत्न अधिक सफल होगा। इस सन्दर्भ मे तथा रेलवे सेवा की समस्या के सम्बन्ध में भ्रष्टाचार जाँच समिति ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि रेलवे कर्मचारी संघ ने अपने सदस्यो मे प्रचलित भ्रष्टाचार के प्रति कोई गम्भीर ध्यान नही दिया तथा व्यापार मण्डल (चेम्बर ऑफ़ कामर्स) और अन्य व्यापारिक संघों ने व्यापारी-समुदाय को भ्रष्टाचार बढाने से रोकने और रेलवे कर्मचारियों द्वारा अपने सदस्यों से लूट खसोट से बचाने का कोई प्रयत्न नही किया।

केन्द्रीय गृह मन्त्रालय ने हाल में एक प्रशासन निगरानी विभाग की स्थापना की है। इस विभाग के निर्देशन में प्रत्येक मन्त्रालय और विभाग के विशेष निगरानी अधिकारियों को वर्तमान विभागों तथा उनकी प्रक्रिया की जाँच करनी होगी, ताकि वे उन कारणों को, जो भ्रष्टाचार का अवसर प्रदान करते हैं, पूर्ण रूप से मिटा दें अथवा जितना कम हो सके कर दें। जिन मामलों से जनता का सम्बन्ध है, उन अधिकारियो को यह निर्देश दिया गया है कि वे प्रक्रिया के नियमो को, जो आसानी से जाने जा सकते हैं, जानकारी सबको करा दें।

स्वतन्त्रता के बाद से सरकारी सेवाओं का बहुत विस्तार हुआ है और उसे देखकर कोई यह कह सकता है देश को प्रशासन सेवा के आधिक्य की बीमारी हो गई है। फिर भी, सरकार के कर्तव्यो मे महान् वृद्धि को देखते हुए, जोकि अब जन कल्याण राज्य होने के कारण हुई है, यह कहा जा सकता है कि इस शिकायत में कुछ तथ्य है कि वास्तव मे सरकारी विभागों में कर्मचारियो की अत्यधिक कमी है। यह मान लेने का कि बहुत से सरकारी विभागो की कुशलता बढ़ाने की गुंजाइश है यह मतलब नहीं है कि लगभग प्रत्येक विभाग मे कर्मचारियो की संख्या घटाना अविलम्ब रूप से आवश्यक नही है। इस सम्बन्ध में हमें यह मालूम होना चाहिए कि अखिल भारतीय प्रशासन सेवा का अब राज्य तथा केन्द्रीय सरकार में अधिक उत्तर दायित्व उठाना पड़ रहा है। हाल ही में यह निर्णय किया गया है कि उनकी संख्या मे ६०० से अधिक की वृद्धि—कुछ को तरक्की देकर और कुछ को नये सिर से नियुक्त करके—की जाय।

जैसे जैसे द्वितीय योजना का काम बढ़ेगा विभिन्न परियोजनाओं पर अधिका धिक व्यय भी किया जायगा। अतः धन का अपव्यय बचाने तथा उसका पूर्ण प्रयोग कर सकने के लिए प्रत्येक संगठन में खास, नियमण तथा आंतरिक कुशलता निरीक्षण (ऑडिट) की उपयुक्त प्रणाली आवश्यक है। राष्ट्रीय विकास परिषद् ने योजना के

सरकार लगाती है। राष्ट्रीय इन्स्ट्रूमेन्ट्स फैक्टरी, दि इंटेगरल कोच फैक्टरी और चितरञ्जन लोकोमोटिव फैक्टरी आदि विभागीय प्रबन्ध के उदाहरण हैं। कम्पनी व्यवस्था सिन्द्री उर्वरक फैक्टरी, हिन्दुस्तान केबल्स आदि में स्वीकार कर ली गई है। दामोदर घाटी योजना और वायु सेवाएँ सविहित (स्टेटुटरी) निगम हैं।

§५३ राज्यों में योजना व्यवस्था—योजना सम्बन्धी कार्यों में बढ़ती हुई जटिलता और उनके प्रसार को देखते हुए राज्यों में सम्बंधित संस्थाओं का दृढ़तापूर्वक विस्तार आवश्यक है, और कुछ राज्यों में तो इस ओर कदम बढ़ाया भी गया है। सबसे आवश्यक बात, जिसकी ओर ध्यान देना जरूरी है आर्थिक विभागों और आंकड़ों से सम्बन्धित कर्मचारियों की वृद्धि करना तथा उनको योजना के विभागों से सम्बद्ध कर देना है।

योजना के बनाने तथा उसके कार्यान्वित करने में जिलों तथा राज्य के स्तर पर प्रमुख गैर सरकारी व्यक्तियों को शामिल किया जाता है। राज्य विधानसभाओं तथा संसद् के सदस्य जिले की विकास-समितियों तथा योजना सलाहकार समितियों के काम में भाग लेते हैं और उनमें से कुछ तो राज्यों के योजना बोर्डों में भी काम करते हैं।

§५४ राष्ट्रीय और राज्य-योजनाओं का वार्षिक पुनरीक्षण—पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने में परिवर्तनशीलता आवश्यक भी है और लाभकारी भी। यदि हम मूल आर्थिक परिस्थितियों तथा विश्व व्यापी कारणों—जैसे कि सामग्री का आयात और विदेशी विनिमय की सम्भाव्य परिवर्तनशीलता—के दृष्टिकोण से देखें तो यह बात और भी अधिक ठीक ठहरती है। प्रत्येक बजट के पश्चात् आगे के वर्ष के लिए निश्चित योजना को विशद रूप से प्रकाशित करने के निर्णय का तात्पर्य यह है कि द्वितीय योजना को कार्यान्वित करने में अनम्यता न रहे और वस्तु स्थिति के अनुसार योजना में परिवर्तन किये जा सकें।

§५५ जनता द्वारा योगदान और सहयोग—प्रजातन्त्रवादी योजना में सफलता के लिए जनता का सहयोग और अंशदान पूर्ण रूप से होना अत्यन्त आवश्यक है। अविकसित अर्थ-व्यवस्था में, जहाँ जन शक्ति के महान् स्रोत हैं जिनसे काम नहीं लिया जाता, लोगों की स्वयं-सेवा और श्रम द्वारा योजना के निश्चित किये हुए ध्येयों की प्राप्ति बहुत अधिक सीमा तक सम्भव है। इस ध्येय को सामने रखकर प्रथम पंचवर्षीय योजना में एक स्थानीय विकास कार्यक्रम के लिए १५ करोड़ रुपये की राशि नियत की गई थी। यह कार्यक्रम लोगों में ग्राम विकास के लिए उत्साह उत्पन्न करने तथा ग्रामवासियों को अपने ही श्रम से औषधालय बनाने, गाँव की सड़कें बनाने, पुलियाँ, कुएँ तथा सिंचाई के छोटे छोटे साधन बनाने के लिए तत्पर करना था। द्वितीय योजना का ध्येय भी प्रथम योजना की तरह यह था कि देश के नवयुवकों को विकास कार्यक्रम में सम्मिलित होने का अवसर मिले और नवयुवकों के शिविरों, श्रम-सेवाओं और संस्थाओं, जैसे राष्ट्र-छात्र सेना (नेशनल कैडेट कोर) सहायक-छात्र-सेना (आग्जिलरी कैडेट कोर), भारत स्काउट एण्ड गाइड्ज़, द्वारा लाभकारी काय

और विकास मण्डलों तथा तालुकों के लिए विकास-समितियाँ स्थापित कर दनी चाहिएँ। जिला विकास परिषद् में (१) राज्य विधानसभा और ससद, (२) नगरपालिकाओं तथा ग्राम्य-स्थानीय सस्थाओं, (३) सहकारी आन्दोलन, (४) ग्राम-पचायतों और (५) समाज-सेवा करने वाली बड़ी सस्थाओं के प्रतिनिधि और जिलाधीश, उसके सहकारी सब डिवीजनल तथा जिले के विभिन्न विकास विभागों के प्रमुख अफसर हो सकते हैं।

जिला विकास परिषद् के निम्न कर्तव्य होंगे—(१) राज्य की पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष के विकास-कार्यक्रम बनाने के सम्बन्ध में परामर्श देना, (२) प्रगति का पुनरीक्षण करना, (३) विकास-योजनाओं को शीघ्र पूरा करने के उपायों की सिफारिश करना, (४) शिक्षकों और विद्यार्थियों सहित जनता को भाग लेने और सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित करना, (५) सहकारी समितियों और पचायतों के विकास में सहायता करना, (६) छोटी मात्रा में बचत करने के आन्दोलन को प्रोत्साहित करना, (७) पचायतों की सामान्य रूप से देख रेख करना, (८) जनता को सभी प्रदर्शनियों और गोष्ठियों द्वारा शिक्षित करने के अवसर प्रदान करना, और (९) पचायत के सदस्यों को सहकारी समितियों का प्रशिक्षण देना।

विकास समितियों के भी यही कर्तव्य होने चाहिए। इनके सदस्य विकास विभागों के अधिकारी, बड़ी-बड़ी समाज सेवा सस्थाओं के मनोनीत व्यक्ति, ग्राम-पचायतों, स्थानीय नगर-सस्थाओं और ग्राम बोर्डों, सहकारिता आन्दोलन के प्रतिनिधि और राज्य विधान सभाओं और सम्बद्ध क्षेत्रों से संसद के सदस्य होंगे।

§६० कर्मचारियों की आवश्यकता तथा प्रशिक्षण कार्यक्रम—विकास-कार्य में आशानुरूप प्रगति लाने के लिए यह जरूरी है कि विकास की प्रत्येक अवस्था में आवश्यक कर्मचारी पर्याप्त सख्या में मिल जायें। निम्न वर्णन प्रथम योजना में विभिन्न प्रकार के कर्मचारियों के अभाव के सम्बन्ध में है।

इञ्जीनियर—द्वितीय योजना में यह विचार था कि प्राविधिक शिक्षा की सुविधाओं के विकास के लिए ५० करोड़ रुपया व्यय किया जाय, जिससे कि इञ्जीनियरों सुपरवाइजरों तथा ओवरसीयरों इत्यादि की संख्या बढ़ाई जाय। आशा थी इसके परिणामस्वरूप इञ्जीनियरिंग की शिक्षा देने वाली सस्थाएँ जो कि क्रमश १२८ थीं बढ़कर १५५ हो जायेंगी और डिग्री प्राप्त करने वाले इंजीनियरों की संख्या ३ ६०० से, जो १९५५ में थी, बढ़कर १९६० में ५ ४०० और डिप्लोमा प्राप्त करने वालों की संख्या ४ ६०० से ९ ५०० हो जायगी। यह वृद्धि किसी प्रकार भी पर्याप्त नहीं है और लगभग २ ३०० और डिग्री प्राप्त इञ्जीनियरों तथा लगभग ६ ००० डिप्लोमा प्राप्त करने वालों की आवश्यकता होगी।[1]

[1] यह निश्चय किया गया है कि ६० नये डिप्लोमा [illegible] और १८ नए डिग्री [illegible] खोले जायें। [illegible], १९५७ में अखिल भारतीय टेक्निकल शिक्षा परिषद ने [illegible] (जिनमें ५ इंजीनियरिंग कालेज, ११ [illegible] टेक्नोलॉजिकल [illegible] [illegible] [illegible] इंजीनियरिंग [illegible] [illegible] [illegible] १९६० [illegible]

कारीगर—योजना के लिए कारीगरों की शिक्षा भी उतना ही महत्त्व रखती ह। श्रम मन्त्रालय देश भर में इस प्रकार का प्रशिक्षण देने वाली संस्थाएँ चलाता है। प्रशिक्षण तथा रोजगार सेवा समिति (ट्रेनिंग एण्ड एम्प्लायमेंट सर्विस आगनाइजेशन कमेटी) ने यह सिफारिश की है कि प्रशिक्षण को अधिक लाभकारी बनाने के लिए निम्न बातें होनी आवश्यक हैं—(१) श्रमिकों को प्रशिक्षण देने का उत्तरदायित्व उद्योग पर होना चाहिए, परन्तु साथ-ही-साथ सरकार को निरन्तर मूल प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधाएँ देते रहना चाहिए, (२) प्रशिक्षण-केन्द्रों को केन्द्रीय सरकार के अधिकार से राज्य सरकारों के अधिकार मे दे देना चाहिए, ताकि दोनों का ठीक से समन्वय हो सके, (३) गैर-सरकारी उद्योगो के लिए कानून द्वारा यह अनिवार्य कर देना चाहिए कि वे अपरेंटिसो को प्रशिक्षित करें, और (४) केन्द्रीय सरकार को इस समस्या से सम्बन्धित आँकड़े एकत्रित करने चाहिएँ।

पशु चिकित्सक—६,००० पशु चिकित्सक डॉक्टरो की आवश्यकता की पूर्ति वर्तमान कालेजों में दुहरे शिफ्ट चलाकर तथा ४ नये कालेज और १० नये अल्पकालिक विशेष स्कूल खोलकर पूरी की जायगी।

वन विज्ञान—देहरादून और कोयम्बटूर के कालेजों के विस्तार तथा निम्न स्तर के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए स्कूल खोलकर आवश्यकता पूरी करने का विचार किया गया है।

भूमि-संरक्षण—केन्द्रीय भूमि संरक्षण बोर्ड के केन्द्रों तथा हजारीबाग में दामोदर घाटी निगम द्वारा खोले हुए केन्द्रों म भूमि संरक्षण सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है।

सहकारिता—विभिन्न स्तरो पर लगभग २५,००० सहकारियों की आवश्यकता है। मध्य स्तर के कर्मचारियों की कमी को रोकने का प्रयत्न करना बहुत ही आवश्यक है। सहकारी समितियों के सदस्यों को सहकारिता के सिद्धान्तों और प्रणाली की शिक्षा देने के लिए चलते फिरते प्रशिक्षण दलों की व्यवस्था की गई है।

कृषि तथा सम्बन्धित कर्मचारी—इंजीनियरिंग के अतिरिक्त खेती के प्रशिक्षण की सुविधाओं के बढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। द्वितीय योजना के काल मे, जहाँ तक कृषि विज्ञान मे स्नातकों की आवश्यकता का प्रश्न है लगभग ६,८०० स्नातक अर्थात् जितने वर्तमान शिक्षा-सुविधाओं के आधार पर मिल सकते हैं, उनसे लगभग १,००० अतिरिक्त स्नातकों की आवश्यकता पड़ेगी। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए वर्तमान कालेजो मे अधिक छात्रों के प्रशिक्षण का प्रयत्न किया जा रहा है और कुछ नये कालेज खोले जाने की भी योजना है। ऐसी संस्थाओं की संख्या म वृद्धि की जा रही है जो मूल कृषि-सम्बन्धी तथा विस्तार योजना-सम्बन्धी शिक्षा देती हैं जिससे कि राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास-कार्यक्रमों में काम करने के लिए ३८,००० ग्राम-सेवकों (विलेज लेवल वर्कर्स) की माँग पूरी हो सके। यह प्रस्ताव

इन विद्यार्थियों की वार्षिक संख्या ७,५०० डिग्री प्राप्त स्नातक और ४,००० डिप्लोमा प्राप्त व्यक्ति की होगी।

महत्व देने की है, अर्थात् जिसका परिणाम यह है कि प्रत्येक स्तर के सरकारी कर्मचारी निर्णय लेने के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने मे डरते हैं और इसलिए स्वीकृति प्राप्त करने और सलाह लेने का एक लम्बा और दीर्घसूत्री ढंग अपनाया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक निर्णय का भागी होता है बहुत कम काम होने देता है और जो कुछ होता है वह भी बहुत धीरे धीरे हो पाता है। ('ख' पृष्ठ ८२)

हम इसमे सहमत हो सकते हैं कि महालेखा परीक्षक और संसद दोनो की ही प्रवृत्ति बडी छोटी छोटी बातो में हस्तक्षेप करने की होती है, अथवा उन बातो में हस्तक्षेप करते हैं जिन्हे वे अपने विशेषज्ञ स्वरूप के कारण अच्छी तरह नही समझते। पर इसके साथ ही लेखा परीक्षण के महत्त्व पर जितना जोर दिया जाय कम है। अनियमितता तथा फिजूलखर्ची रोकने के लिए महालेखा-परीक्षक तथा संसद दोनो ही के द्वारा बराबर सजगता अत्यन्त आवश्यक है।

श्री एप्पलबी ने योजना आयोग की प्रशासन तथा नियन्त्रण के पुनरीक्षण में सीधे प्रयत्न की प्रवृत्ति का अनुचित समझा है और यह सुझाव दिया है कि उसे अपने नियमित कर्तव्य तक ही सीमित रहना चाहिए जोकि कार्यों की सफलता का मूल्यांकन ही है। ('ख', पृष्ठ ३१) योजना के अन्तर्गत परियोजनाओ को शीघ्रता तथा सन्तोषप्रद ढंग से पूरा करने में एक सबसे बडी कठिनाई है जिसकी ओर श्री एप्पलबी ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। वह कठिनाई हमारे वर्तमान विधान की सरचना के कारण है, जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार का प्रशासन अधिकार मूलत कम है। इसका परिणाम यह है कि केन्द्रीय सरकार को बहुत से राष्ट्रीय महत्त्व के क्षेत्रो में राज्यों के प्रशासन पर प्रभाव डालने, उसमे समन्वय लाने, सम्मेलन करने, योजनाओं का अध्ययन करने और घोषणाएं करने तक ही सन्तोष करना पडा है। परन्तु वह राज्यो को न तो निर्देश दे सकती है, न उन पर नियन्त्रण रख सकती है और न उन्हें पूर्ण रूप से उत्तरदायी ही बना सकती है। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण इतना अधिक कर लिया गया है कि इसमें सन्देह है कि भविष्य में भारत एक प्रभावी राष्ट्रीय इकाई रहेगा।

जहाँ तक सरकारी औद्योगिक और व्यापारिक उद्यमो के प्रशासन का सम्बन्ध है, श्री एप्पलबी उन्हे पर्याप्त स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं। सरकार को केवल बहुत बडे महत्त्व की बातों में ही हस्तक्षेप सीमित रखना चाहिए। प्रजातन्त्र में मूल नियन्त्रण का अधिकार तो सरकार के ही हाथो में रहता है। श्री एप्पलबी गैर सरकारी व्यक्तियों को संचालक मण्डलो के सदस्य बनाने के पक्ष में नहीं हैं। उनका विचार है कि यदि उनसे सलाहकारों की तरह काम लिया जाय तो अधिक अच्छा होगा। लेकिन चूँकि सरकारी कर्मचारियो को व्यापारिक अनुभव नहीं होता, इसलिए यह आवश्यक है कि इन मण्डलो में कुछ विशेषज्ञ व्यक्ति रहें।[१]

श्री एप्पलबी ने प्रशासन सेवा के कर्मचारियों की योग्यता दृष्टिकोण, नियुक्ति के ढंग, तथा वेतनादि के सम्बन्ध में आलोचना की है। उनका कहना है कि इस देश

१ श्री एप्पलबी की रिपोर्ट पर दक्षिण प्रो० डा० बी० ... का लेख 'टाइम्स आफ इंडिया', १६ सितम्बर १९५६।

में प्रशासन अत्यधिक सामन्तवादी, अत्यधिक किताबी और बुद्धिवादी है और उसमें प्रशासन, कार्यनीलता तथा मानव-सम्पर्क सम्बन्धी ज्ञान बहुत कम है और वे वर्तमान कर्मचारियों के अधिकारों की रक्षा करने में बड़े तत्पर हैं। अधीनस्थ कर्मचारियों के काम करने की शक्ति के विकास के प्रति, जो एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात है, बहुत कम ध्यान दिया जाता है।" इसके अतिरिक्त काम के भार तथा उनके वेतन में कोई स्थिरता दिखाई नहीं पड़ती। कुछ विभागों में आवश्यकता से अधिक कर्मचारी हैं और अन्य में आवश्यकता से कम। सरकारी नौकरियों में नियुक्ति के लिए आवश्यक योग्यता सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं तथा लोक-सेवा आयोग की वर्तमान प्रक्रिया के कारण बहुत से योग्य लोग नौकरियाँ नहीं पा सकते। जल्दी नियुक्ति हो सके, इस उद्देश्य से यह सिफारिश की गई है कि उपयुक्त व्यक्तियों के नाम रजिस्टर किये जायें। आजकल जब नियुक्ति की आवश्यकता पड़ती है तभी विज्ञापन छपाने से लगाकर परीक्षा तक के समय का अपव्यय करने वाली सारी कार्यविधियाँ दुहराई जाती हैं। ('ख', पृष्ठ २३ २४) प्राय लोग यह भी नहीं समझते कि कर्मचारियों की कुशलता को अधिक तम सीमा तक विकसित करने तथा प्रभावी बनाने के लिए पर्याप्त वेतन देना अत्यन्त आवश्यक है। बिना भेद भाव किये ही समानता देना आत्म प्रवञ्चना है। ('क', पृष्ठ २६)।

§६२ परियोजना अनुमान—योजना की सफलता की सबसे अधिक आवश्यक बात प्रगति का पुनरीक्षण करने के लिए किसी स्वतन्त्र संस्था की व्यवस्था है। जिन लोगों का उत्तरदायित्व योजनाओं को आरम्भ करने का है, उनकी यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे अप्रिय सत्य को छिपाने का प्रयत्न करते हैं, और जहाँ प्रगति नहीं हुई है वहाँ प्रगति दिखाते हैं। जहाँ अनुमान लगाने और कार्य करने में भूल हो गई है उसके कारण हुई हानि को छिपाते हैं, पर इस प्रवृत्ति का जोरों से विरोध करना चाहिए। इस सम्बन्ध में बम्बई के लोक निर्माण विभाग के रिटायर्ड सुपरिटेण्डिंग इंजीनियर राव बहादुर एन० एस० जोशी और कर्नाटक कालेज, धारवाड़ के डॉ० बी० आर० ठनके की पुस्तक 'इर्रीगेशन एण्ड एग्रीकल्चर इन दि फ़र्स्ट फ़ाईव ईयर प्लान एन अप्रेज़ल (१९५४)' का हवाला दिया जा सकता है। इस पुस्तक में ऐसे अनेक उदाहरण दिये गए हैं जिनमें लागत का अनुमान कम तथा उत्पादन का अनुमान अधिक किया गया है।[1]

यह सोचकर बड़ी उलझन होती है कि ऐसे उदाहरण सारे देश में हैं। आवश्यकता

१ बम्बई राज्य की घाटप्रभ लेफ्ट बैंक केनाल के उदाहरण से हमें पता लगता है कि १९५४-५५ में वास्तव में जितनी भूमि सींची गई वह १२,०२३ एकड़ थी, जबकि अनुमान ४० ००० एकड़ का लगाया गया था। १९५५-५६ के वहाँ आँकड़े १३,३६६ एकड़ (वास्तविक) तथा ४५,००० एकड़ (अनुमान) थे। लोअर ताप्ती घाटी योजना और भी आश्चर्यजनक उदाहरण उपस्थित करती है। इसके सम्बन्ध में वहाँ आँकड़े १९५४ ५५ में ६६८ एकड़ (वास्तविक), २६१,००० एकड़ (अनुमानित) थे और १९५५ ५६ में ५ ७७५ एकड़ (वास्तविक) और ३६१,००० एकड़ (अनुमानित) थे। दामोदर घाटी योजना में १९५५-५६ में सींची जाने वाली भूमि का अनुमान ५६५,००० एकड़ किया गया था, जबकि वास्तव में ११,३७१ एकड़ भूमि सींची गई।

इस बात पर विशेष ध्यान देने की है कि लागत और परिणाम दोनों के सम्बन्ध में विश्वास योग्य अनुमान लगाए जायँ। साथ ही यह बात भी कम महत्त्व की नहीं कि ऐसी व्यवस्था की जाय कि प्रगति पर दृष्टि रखी जाय, परिणाम जाँचे जायँ और गलतियाँ और असफलताएँ छिपाए बिना समय समय पर पूरी और ठीक ठीक रिपोर्ट दी जाय।[1]

---

१ आँकड़ों के विशेषज्ञ बहुधा 'भूल के अवसर' का निर्देश करते हैं जो कि उनके अनुमानों में रह सकता है। परन्तु वे जो जान-बूझकर वास्तविक बातों को घटा बढ़ाकर बताते हैं, वे यह नहीं बताते कि उन्होंने क्या बढ़ाया या घटाया है।

परिशिष्ट १

अनुपूरक बजट, नवम्बर १९५६

३० नवम्बर १९५६ को वित्त मन्त्री ने अनुपूरक बजट प्रस्तुत किया, जिसमें ऊँची दर से कर तथा सीमा शुल्क लगाने की प्रस्थापना थी जिनसे पूरे वर्ष भर में १६ करोड रुपये की आय होने की सम्भावना थी। वित्त मन्त्री ने निम्न उपायों की घोषणा की—

✓ प्रत्यक्ष कर—पूंजी-लाभ पर लगाया जाने वाला कर ज्यों-का-त्यों रहेगा परन्तु कुछ वर्तमान विमुक्तियां हटा दी जायेंगी। पूंजी-लाभ पर लगाए जाने वाले कर की दर आय-कर जैसी होगी, लेकिन करदाता की आय में साल भर के पूंजी लाभ का एक तिहाई जोड़कर कर लिया जायगा।

✓ जो कम्पनियां अपनी प्रदत्त पूंजी के ६ प्रतिशत से अधिक लाभांश देती हैं उन पर अधि-कर की दर बढ़ा दी जायगी।

जिन कम्पनियों को अवक्षयण तथा विकास के लिए जो छूट मिलती थी उसे कम्पनियों की आय का आगणन करने के लिए उसमें फिर से जोड दिया जायगा, जब तक कि एक निश्चित राशि रिजर्व बैंक अथवा सरकारी खजाने में कर निर्धारण वर्ष के ३० जून के पहले जमा न कर दी गई हो। यह इस बात के लिए है कि कर-मुक्त निधियों का प्रयोग औद्योगिक विकास के लिए किया जाय, न कि इधर उधर व्यय कर दिया जाय।

इस जमा धन राशि पर, जोकि वर्तमान और पुराने लाभ का कुछ प्रतिशत निश्चित की जायगी, ब्याज मिलता है और वह पूर्णत अथवा अंशत कम्पनी की प्रार्थना पर वापस की जा सकती है यदि सरकार को यह विश्वास हो जाय कि यह धन योजना के कार्यों के विस्तार में ही व्यय किया जायगा।

✓ उन औद्योगिक कम्पनियों, जिनके हिस्सेदारों की संख्या सीमित है के लाभांश के वितरित किये जाने की न्यूनतम सीमा को ६० प्रतिशत से घटाकर ५० प्रतिशत कर दिया जायगा।

सीमा शुल्क—विलासिता की बहुत सी वस्तुओं पर, जिनमें शराब सम्मिलित है, आयात शुल्क २५ से बढ़ाकर ५० प्रतिशत कर दिया जायगा जिससे कि ७० लाख रुपये की वार्षिक आय होगी।

मोटर साइकिलों स्कूटरों, दीवार घड़ियों और घड़ियों पर आयात शुल्क बढ़ा

दिया जायगा जिससे कि ५० लाख रुपये की वार्षिक आय होगी।

ऐसी वस्तुओं पर, जैसे तारकोल द्वारा निर्मित रंग तथा विशेष प्रकार की मशीनें जिन पर वर्तमान आयात शुल्क कम है और जिनका देश में उत्पादन अच्छी प्रगति कर चुका है आयात शुल्क लगाया जायगा। कुछ वस्तुओं के सम्बन्ध में जो रिआयत दी गई है वापस ले ली जायगी। इससे १८० लाख रुपये की वार्षिक आय का अनुमान किया गया था।

नकली रेशम के सूत पर बढ़ाये गए आयात शुल्क से १६० लाख रुपये वार्षिक आय होगी।

केन्द्रीय उत्पादन शुल्क—देशी नकली रेशम के सूत पर उसी प्रकार उत्पादन शुल्क में वृद्धि द्वारा प्रतिवर्ष ७० लाख रुपये आय होगी और स्टेपल के धागे और सूत पर २ आना प्रति पौण्ड का उत्पादन शुल्क भी लगाया जायगा।

भारत में बनी बहुत महँगी किस्म की मोटरकारों पर प्रति कार ३००० रुपये उत्पादन शुल्क लगाया जायगा, जिससे ८० लाख वार्षिक आय होगी। छोटी मोटर कारों और ट्रकों पर इसका कोई प्रभाव न होगा।

हुण्डियों पर स्टाम्प-शुल्क काफी बढ़ा दिया जायगा। लेकिन इससे प्राप्त अतिरिक्त आय राज्यों को दे दी जायगी।

परिशिष्ट २

१९५६ के वित्त-आयोग का अन्तरिम पचाट

संघ और राज्यों के बीच करों से प्राप्त आय के बँटवारे की जाँच करने के लिए, भारत सरकार द्वारा नियुक्त वित्त आयोग ने अपनी अन्तरिम सिफारिशें १९५६ के अन्त में प्रकाशित की। (देखिए अध्याय २२, §७) ये सिफारिशें, जिन्हें भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया था, १९५७ ५८ के आर्थिक वर्ष के सम्बन्ध में हैं।

यह निश्चय किया गया कि निगम कर को छोड़कर, जिसमें संघीय प्रदेशों से प्राप्त आय अथवा उनसे प्राप्त आय शामिल नहीं थी जो संघ सरकार की आय में जुड़ती, आय कर की कुल वास्तविक प्राप्ति का ५५% राज्यों को बाँट दिया जाय। आयोग की योजना के अन्तर्गत बम्बई राज्य को आय कर की वितरित की जाने वाली कुल राशि का अधिकतम अर्थात् १८ ९१ प्रतिशत मिलेगा। उत्तर प्रदेश का स्थान दूसरा होगा, उसे १५ ५९% मिलेगा और पश्चिमी बंगाल का तीसरा, जिसे ११ ४८% मिलेगा। जम्मू और कश्मीर को १ ०१ अर्थात् सबसे कम प्राप्त होगा। अन्य राज्यों को निम्नलिखित प्रतिशत हिस्सा प्राप्त होगा—आन्ध्र प्रदेश ८ ०१, आसाम २ २३, बिहार ९ ३१, केरल ३ ६, मध्य प्रदेश ५ ०९ मद्रास ७ ९५, मैसूर ५ ९३, उड़ीसा ३ ४६, पंजाब ३ ९६ और राजस्थान ३ ४७। संघीय प्रदेशों को एक प्रतिशत आय प्राप्त होगी।

कृषि भूमि को छोड़कर, अन्य सम्पदा कर के वितरण के सम्बन्ध में आयोग ने यह सिफ़ारिश की कि इस सम्बन्ध में भी उन्हीं सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाय जो आय-कर के वितरण पर लागू किये गए हैं।

दियासलाई तम्बाकू और वनस्पति उत्पादों पर संघ द्वारा लगाये गए उत्पादन शुल्क का ४०% राज्यों में वितरित किया जायगा। इसमें उत्तर प्रदेश को सबसे अधिक अर्थात् १२% प्राप्त होता है, उसके बाद बम्बई का स्थान आता है जिसे १३ ५९% प्राप्त होता है। बिहार को ११ ०४% आन्ध्र प्रदेश को ८ ९२%, आसाम को २ ५८% केरल को ३ ८६%, मध्य प्रदेश ६ १७%, मद्रास ८ ५८% मैसूर ५ ४४%, उड़ीसा ४ १७% पंजाब ४·६% राजस्थान ४ ३४%, पश्चिमी बंगाल ७ ४९% तथा जम्मू और कश्मीर १ २५% मिलेगा।

पश्चिमी बंगाल को जूट और जूट से बने माल के निर्यात शुल्क में हिस्से के बदले में अनुदान के रूप में १५२ ६६ लाख रुपया मिलेगा। अन्य राज्यों को निम्न

राशियाँ प्राप्त होगी—आसाम ७५ ०० लाख, बिहार ७२ ३१ लाख और उडीसा १५ ०० लाख रुपया।

अनुसूचित आदिम जातियो के कल्याण की विकास योजनाओ का व्यय पूरा करने के लिए राज्य सरकारो को आयोग ने भारत की सचित निधि मे से निम्न राशियों का अनुदान देने की सिफारिश की—आन्ध्र २४ लाख आसाम १०० लाख बिहार ८० लाख बम्बई १३० लाख, केरल ४१ लाख, मध्य प्रदेश २५१ लाख, मद्रास ५ लाख, मैसूर ८६ लाख उडीसा १०७ लाख पजाब १६३ लाख, राजस्थान ११८ लाख पश्चिमी बगाल ८३ लाख तथा जम्मू और काश्मीर १७५ लाख रुपये।

अस्थायी सिफ़ारिशें करने मे आयोग ने इस बात का प्रयत्न किया कि विभिन्न राज्यो के सम्बन्ध मे यथासम्भव वर्तमान स्थिति बनाई रखी जाय। उन राज्यों के सम्बन्ध में जो पुनर्संगठन से प्रभावित नही हुए थे, आय-कर का प्रतिशत भाग तथा उत्पादन शुल्क का प्रतिशत भाग उतना ही बना रहा, जितने की सिफारिश प्रथम वित्त आयोग ने की थी। जम्मू और कश्मीर राज्य के इस योजना मे सम्मिलित कर लिये जाने से जो थोडा बहुत परिवर्तन करना आवश्यक था और उसे कर लेने की अनुमति थी।

जो राज्य राज्य पुनर्संगठन अधिनियम १९५६ तथा बिहार और बगाल (राज्य-क्षेत्रो का स्थानान्तरण) अधिनियम, १९५६ से प्रभावित हुए थे, उनके सम्बन्ध मे आयोग ने आय-कर तथा उत्पादन शुल्क के वितरण के सम्बन्ध में परिवर्तित प्रतिशत स्वीकार कर लिया था जोकि उन अधिनियमो में और बिहार और बगाल (राज्य क्षेत्रों का स्थानान्तरण) अधिनियम के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा निर्गमित आदेश में विहित था।

अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण के लिए राज्यों को दिये जाने वाले अनुदानो के सम्बन्ध में आयोग ने पहले के भाग 'ग' राज्यों को दी हुई सहायता को भी शामिल कर लिया था, जो उन्हे केन्द्रीय आय से अपनी आय की कमी को पूरा करने के लिए प्राप्त होती थी। यह सुविधा उन राज्यों को भी प्राप्त थी जिनमें भाग 'ग' राज्य मिला दिये गए थे।

आयोग ने वर्तमान अनुदानो को, जो प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए दिये गए थे साधारण अनुदान मान लिया था। लेकिन इस बात का आयोग की अन्तिम सिफारिशों पर कोई प्रभाव न पडेगा। इसके अतिरिक्त आयोग ने वर्तमान अनुदानो को उन परिवर्तनो के साथ आगे चालू रखने की सिफारिश की जो १९५६ के राज्य पुनर्संगठन अधिनियम और बिहार तथा पश्चिमी बगाल (प्रदेश स्थानान्तरण) अधिनियम, १९५६ की धारा २१ के अन्तर्गत निर्गमित आदेश के अनुसार किये गए थे।

परिशिष्ट ३

जीवन बीमे का राष्ट्रीयकरण

जीवन बीमे के राष्ट्रीयकरण के प्रति पहला कदम १६ जनवरी, १९५६ को जीवन बीमा (आपातकालीन उपबन्ध) अध्यादेश जारी करके उठाया गया। इस अध्यादेश के अन्तर्गत सरकार ने भारतीय तथा विदेशी जीवन बीमा-व्यापार का प्रबन्ध अपने हाथों में ले लिया और जीवन-बीमा निगम की स्थापना तक प्रबन्ध के स्थानान्तरण की देख रेख करने के लिए संरक्षकों की नियुक्ति कर दी। फरवरी, १९५६ में जीवन-बीमा निगम विधेयक लोकसभा में रखा गया मई १९५६ में पास किया गया और १ जुलाई, १९५६ से लागू हो गया। डाकघर जीवन-बीमा निधि तथा सरकारी कर्मचारियों की वर्तमान अनिवार्य जीवन-बीमा योजनाओं को छोड़कर, बाकी सब प्रकार का बीमा-व्यापार निगम करता है, जिसमें पूँजी निष्क्रयण व्यापार, निश्चित वार्षिकी व्यापार तथा भारत और विदेशों में पुनर्बीमा व्यापार सम्मिलित हैं। निगम की प्रारम्भिक पूँजी ५ करोड़ रुपये की है, जो सरकार ने दी है और उसने सब कम्पनियों की आस्तियाँ तथा देयता अपने ऊपर ले ली है। यद्यपि सरकार जनता के हित सम्बन्धी नीति के मामले में निगम का पथ प्रदर्शन करेगी, फिर भी निगम व्यापारिक सिद्धान्तों पर काम करेगा।

निगम वास्तव में १ सितम्बर, १९५६ को प्रारम्भ किया गया और उसकी व्यवस्था इस प्रकार थी—

निगम कार्यालय

पश्चिमी क्षेत्र (प्रधान कार्यालय बम्बई)	दक्षिणी क्षेत्र (प्रधान कार्यालय मद्रास)	पूर्वी क्षेत्र (प्रधान कार्यालय कलकत्ता)	केन्द्रीय क्षेत्र (प्रधान कार्यालय कानपुर)	उत्तरी क्षेत्र (प्रधान कार्यालय दिल्ली)
मण्डल	मण्डल	मण्डल	मण्डल	मण्डल
शाखायें	शाखायें	शाखायें	शाखायें	शाखायें
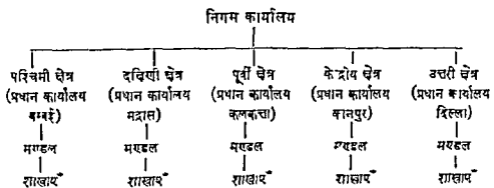
निगम के २ प्रबन्ध संचालक २ अधिशासी संचालक और १४ अन्य संचालक हैं। इन सबको केन्द्रीय सरकार मनोनीत करती है। नीति सम्बन्धी सब मामलों और

विनियोगो का निणय निगम स्वय करता है और विनियोगों का निणय विनियोग समिति की सलाह पर किया जाता है।

हिस्सेदारो को क्षति-पूर्ति देने की व्यवस्था उनके पिछले आवटन के आधार पर की गई थी। क्षति पूर्ति के सम्बन्ध में झगडो का निणय करने के लिए एक न्याया धिकरण (ट्रिब्यूनल) की स्थापना कर दी गई है, जिसका अध्यक्ष हाई कोट अथवा सुप्रीम कोट का कोई जज अथवा अवकाश प्राप्त जज होगा। उसके तीन अन्य सदस्य होंगे जिनकी नियुक्ति सरकार करेगी।

३१ अक्तूबर, १९५५ को ११२ कम्पनियाँ केवल जीवन बीमा का काम कर रही थी और ५३ कम्पनियाँ जीवन-बीमा तथा अन्य प्रकार का बीमा कर रही थीं। इनकी कुल आस्तियाँ ३०१ ३३ करोड रुपया थी। इसका ४५ प्रतिशत केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो की प्रतिभूतियो के रूप में था।

परिशिष्ट ४

विदेशी पूँजी

§१ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—भारत का वर्तमान औद्योगिक और व्यावसायिक विकास अंग्रेजी उद्यम का परिणाम है, जिसे अंग्रेजी युग में सरकार की पूर्ण सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त थी। जब १९२३ में भारत ने संरक्षण की नीति अपनाई तो लोगों को यह भय हुआ कि संरक्षण की छाया में विदेशी उद्यम सदा के लिए स्थायी हो जायेंगे। यह भय निराधार नहीं था। इसका सबूत भारतीय नामधारी जैसे बहुत से इण्डिया लिमिटेड उद्यमों के स्थापित हो जाने से मिलता है। इस प्रकार के शक्तिशाली उद्यम लीवर ब्रदर्स (इण्डिया) लिमिटेड, केल्टेक्स (इण्डिया) लिमिटेड, डनलप रबर कम्पनी (इण्डिया) लिमिटेड और इम्पीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज (इण्डिया) लिमिटेड आदि हैं। आर्थिक उद्यम के बहुत से क्षेत्रों, जैसे बैंकिंग, नौ-परिवहन बीमा, रबर, चाय और कॉफी के बाग़ लगाना, जूट का सामान बनाना आदि में अभी तक विदेशी पूँजी का बहुत बड़ा भाग है। स्वतन्त्रता के पहले विदेशी पूँजी के विरुद्ध जो तर्क उपस्थित किये जाते थे, वे निम्न थे—(१) लाभ बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों को भेज दिया जाता है, (२) विदेशी साथ अपने ही देश के संचालकों की नियुक्ति अधिक पसन्द करते हैं, (३) आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में विदेशी पूंजीपति भारत की राष्ट्रीय भावनाओं के विरोधी हैं।

इन आपत्तियों को दूर करने के लिए विदेशी पूँजी पर बहुत से प्रतिबन्धों के लगाने का प्रस्ताव किया गया था, जैसे—(१) विदेशी कम्पनियों का निर्माण तथा रजिस्ट्री भारत में होना चाहिए और उनकी पूँजी भी रुपयों में होनी चाहिए जिससे भारतीय उनमें पूँजी लगा सकें और यूरोपीय व्यापारियों के मन में भारत के राष्ट्रीय हित के विकास के प्रति सहानुभूतिपूर्ण भावना उत्पन्न हो सके। (२) कम्पनियों के हिस्सों का एक भाग भारतीयों के विनियोग के लिए सुरक्षित छोड़ दिया जाना चाहिए ताकि संचालन में भारतीयों का भी पर्याप्त मात्रा में हाथ रह सके। (३) कुछ प्रतिशत संचालक भारतीय होने चाहिएँ। (४) विदेशी कम्पनियों के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए कि वे भारतीयों को प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधाएं प्रदान करें और यदि न करें तो उनको समुचित दण्ड दिया जाय।

१९२१ २२ के राजकोषीय आयोग तथा १९२४ में विदेशी पूँजी समिति ने विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में अनुसरण की जाने वाली उपयुक्त नीति के प्रश्न की जाँच की।

ये दोनो सस्थाएँ विदेशी पूँजी पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष मे थीं, ❑
भारतीय राष्ट्रीय नेताग्रो द्वारा बताये उपायो से कम कठोर थे। पर
कठोर उपायो में से कोई भी वास्तव में लागू नही किया गया। इसके वि
के भारत सरकार अधिनियम के कारण विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में किस ❑
भी व्यवस्था असम्भव हो गई जो भेदभावयुक्त समझी जा सकती हो।

§२ स्वतन्त्रता के पश्चात—स्वतन्त्रता के पश्चात् से भारतीयो का मत विदेशी पूँजी के पक्ष में हो गया है, क्योकि अब उसका सम्बन्ध विदेशी आर्थिक प्रभुता से नही रह गया है और भारत को अब अपनी पचवर्षीय योजनाओं के कार्यान्वित करने के लिए विदेशी पूँजी और प्रौद्योगिक अनुभव की आवश्यकता है। १९४८ के औद्योगिक नीति सकल्प में कहा गया था कि यह तो ठीक है कि देश में तेजी से औद्योगीकरण के लिए विदेशी पूँजी और उद्यम को लाना विशेषकर प्रौद्योगिक और अनुभव का लाना हितकर होगा, लेकिन यह भी आवश्यक है कि जिन स्थितियो म वे भारतीय उद्योगो में भाग ले सकेंगे, उन्हें राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से सावधानी से नियमित करना चाहिए। साधारणतया स्वामित्व और प्रभावी सचालन का अधिकतर भाग भारतीयों के हाथ में होना चाहिए, परन्तु अपवादों मे राष्ट्रीय हित की रक्षा के लिए शक्ति प्राप्त की जायगी। हर हालत मे इस बात पर जोर दिया जायगा कि भारतीयों को प्रशिक्षण अवश्य दिया जाय ताकि आगे चलकर वे विदेशी विशेषज्ञो का स्थान ले सकें।

परन्तु अनुभव से थोडे ही दिनों मे यह पता चल गया कि प्रतिबन्ध लगाने की भावना से दिये गए इस वक्तव्य में विदेशी पूँजी के विनियोग में कठिनाइयों का ध्यान नही रखा गया था। इसलिए ६ अप्रेल, १९४९ को प्रधान मन्त्री ने ससद् में एक वक्तव्य दिया जिसमे निम्न बातो का विश्वास दिलाया गया था—(१) वतमान विदेशी उद्यमों पर ऐसे प्रतिबन्ध नही लगाये जायँगे जो भारतीय उद्यमो पर नहीं लगाए जा सकते। (२) लाभ के विदेशो मे भेजने की जो सुविधाए दी जा रही है, वे मिलती रहेंगी। (३) अधिकांश स्वामित्व तथा सचालन भारतीयो के ही अधिकार में हो इस सम्बन्ध मे कोई कठोर नियम लागू नही किया जायगा।

किसी नये उद्यम को, जिसमें विदेशी पूँजी लगी हो, अनुमति देने के लिए भारत सरकार की निम्नलिखित कसौटियाँ हैं (१) उद्यम पूर्ण रूप से वित्तीय, व्यापारिक अथवा क्रय विक्रय करने वाला ही न हो। (२) उद्यम का कार्यक्रम वास्तविक निर्माण का होना चाहिए। (३) विनियोग उन क्षेत्रों म होना चाहिए जिनमें देशी विनियोग अपर्याप्त हो, अथवा जिनके लिए प्रौद्योगिक अनुभव अप्राप्य हों। (४) विनियोग स आयात घटाकर अथवा निर्यात बढ़ाकर, विदेशी विनिमय की बचत होनी चाहिए। (५) इन योजनाओ से उत्पादन शक्ति बढ़नी चाहिए। (६) भारतीयो को प्रौद्योगिक तथा प्रशासन सम्बन्धी उच्च पदो पर काम करने के लिए प्रशिक्षण की पर्याप्त सुविधाएँ देनी चाहिएँ।

निम्न तालिका से पता चलता है कि भारत में अन्य देशों की अपेक्षा विदेशी

विनियोग की राशि कम है।[1]

देश	वर्ष	विदेशी विनियोग		जनसंख्या (करोड़)	प्रति व्यक्ति विनियोग (डालरों में)
		करोड़ डालर	करोड़ रुपये		
आस्ट्रेलिया	१९५५	३८.७	१८४	८	४५
कैनेडा	१९५५	६००.०	२,८५०	१.४	४००
जापान	१९५४	१०५.०	४९९	८.२	१३
मेक्सिको	१९५४	५२.३	२४८	२.७	१९
पश्चिमी जर्मनी	१९५४	२७.८	१३२	५.०	६
ब्रिटेन	१९५४	१२४.१	५९१	५.०	२५
वेनेजुएला	१९५४	९८.१	४६७	.५	१९६
भारत	१९५३	६.५	३१	३६.०	०.१८

प्रथम पचवर्षीय योजना के सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने मे विदेशी सहायता का बहुत हाथ रहा है। मलेरिया पर नियन्त्रण के उपकरण, नल-कूपों का सामान, रेलवे के इंजन डिब्बे आदि तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के लिए आवश्यक प्रसाधन अमरीकी प्राविधिक सहायता योजना (यू० एस० टैकनिकल कोऑपरेशन असिस्टेंस स्कीम) के अन्तर्गत प्राप्त २९ करोड़ रुपये की सहायता से खरीदे गए थे। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से प्राप्त ६२ करोड़ रुपयों के ऋण का प्रयोग बोकारो-कोनार योजना के लिए आवश्यक वस्तुओं के खरीदने में किया गया था। कनेडा की सरकार से प्राप्त अनुदान का प्रयोग मयूराक्षी योजना के लिए विद्युत् उपकरण खरीदने में किया गया था और अन्य सहायताओं का भी विभिन्न योजनाओं पर प्रयोग किया गया।

६३ भारत की विदेशी देयता—३१ दिसम्बर १९५३ को भारत की दीर्घकालीन विदेशी देयता की राशि १०३६ करोड़ रुपया थी। इस राशि में से 'सरकारी क्षेत्र' पर, जिसमें सरकारी और अर्द्ध-सरकारी संस्थाएँ सम्मिलित थीं, ५८३ करोड़ रुपये और गैर-सरकारी' क्षेत्र पर ४५३ करोड़ रुपये की राशि निकलती थी।

गैर-सरकारी क्षेत्र की देयता दो प्रकार के विनियोग के रूप मे थी—(१) 'पत्रोद्दह' ढंग की, जिनके अन्तर्गत वे विनियोग आते है, जो उनसे प्राप्त आय के ही लिए किये गए हैं, और (२) 'प्रत्यक्ष' ढंग की, जिनके अन्तर्गत वे विनियोग आते हैं जो स्वामित्व के साथ-साथ प्रबन्ध और नियन्त्रण का अधिकार भी प्रदान करते हैं। पत्रोद्दह' देयता की राशि ७० करोड़ रुपये की और 'प्रत्यक्ष' विनियोग की राशि ३४६ करोड़ रुपये के लगभग थी।

'न्याय्य मूल्य' के आधार पर (जो कि बाजार-मूल्य के विपरीत कहीं-कहीं कम होता है) गैर-सरकारी क्षेत्र में विनियोजित ४५३ करोड़ रुपये में से व्यापारिक कार्यों में ४१९ करोड़ रुपये का विनियोग हुआ था। इसमें से ८२ प्रतिशत (३४७

[1] जी० एच० नॉमल्यूक 'वो कैन यूज़ फ़ारेन कैपिटल एण्ड स्टिल रहे फ्री' (टाइम्स आफ इण्डिया, २६ जनवरी, १९५६)।

करोड रुपया) ब्रिटिश विनियोग था, जिसमें से ८६ प्रतिशत अर्थात् २६७ करोड रुपया प्रत्यक्ष विनियोग था। दूसरा सबसे अधिक विनियोग करने वाला देश अमरीका था जिसका कुल विनियोग ३१ करोड रुपये के लगभग था, जिसका अधिकांश कारखानों और व्यावसायिक उद्यमों में प्रत्यक्ष' रूप से किया गया था। अन्य महत्वपूर्ण देश पाकिस्तान मलाया, लंका, स्विटजरलण्ड कैनेडा और बर्मा थे और उनके विनियोग का कुल योग लगभग १७ करोड रुपये था। बाकी ३४ करोड का विनियोग अल्प कालीन देय धन था, जिसके अन्तर्गत जमा धन, ऋण, कम्पनियों तथा उनकी शाखाओं का पारस्परिक लेन-देन और परक्राम्य विलेख (नेगोशिएबल इन्स्ट्रूमेन्टस) आदि थे।

निम्न तालिका से पता चलता है कि (१) विदेशी प्रत्यक्ष विनियोग द्वारा किस प्रकार का व्यवसाय चलाया जाता है (उदाहरणार्थ विदेशी साथ जिनकी शाखाएँ भारत में हैं अथवा भारत में स्थित ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनियाँ हैं) और 'पत्रोद्वह' विनियोग द्वारा चलाये जाने वाले व्यवसाय कौन-कौनसे हैं।[1]

व्यापार	शाखाएँ	प्रत्यक्ष	पत्रोद्वह	कुल योग
निर्माण				
जूट और नारियल जटा के बने सामान	९ ६७	१ ९३	३ ६९	१५ २९
बिजली का सामान	४ ३६	६ ८९	० ७५	१२ ००
खनिज तैल और उससे बनी वस्तुएँ	९ ५२	० ०५	० १२	९ ६९
सिगरेट और तम्बाकू	—	२५ ३३	० ३१	२५ ६४
व्यापार				
खनिज तैल और उससे बना सामान	६५ ३५	१ ८२	० २३	६७ ४०
उपयोगिताएँ	३६ १५	—	१ १५	३७ ३०
परिवहन	८ ६८	२ ३०	२ २६	१३ २४
वित्तीय विनियोग	० १९	८ ९०	७ ०३	१६ १२
बागान				
चाय	६३ ३०	० ७९	६ ७४	७० ८३
विविध	२ १४	१५ ९७	७ ६१	२५ ३२
				२९२ ८३

१९५२ में भारत सरकार ने (एक समझौता न्यूयार्क की स्टैण्डर्ड वैकुम आयल कम्पनी के साथ और दूसरा बर्मा शैल समूह की तेल कम्पनियों के साथ) बम्बई में दो तेल-परिष्करणियों की स्थापना के लिए समझौते किये। इन परिष्करणियों की सामर्थ्य क्रमशः १२ लाख और २० लाख टन की होगी और जिस पर क्रमशः १७ करोड और

[1] विश्व बैंक द्वारा प्रकाशित 'सर्वे ऑफ इण्डियाज फारेन लाइबिलिटीज एण्ड एसेट्स, पृष्ठ ७६। आंकड़े करोड रुपयों में हैं।

३३ करोड़ रुपया व्यय किया जाय। बाद मे विशाखापट्टम मे तेल-परिष्करणी की स्थापना के लिए केल्टेक्स (इण्डिया) लिमिटेड के साथ भी इसी प्रकार का समझौता किया गया। इस परिष्करणी की वार्षिक सामर्थ्य अनुमानतः ६७५,००० टन तेल की होगी। इस प्रकार तीनों की सम्मिलित सामर्थ्य ३० लाख टन से कुछ अधिक हो जाती है जिसमें कुल विदेशी विनियोग ६२.५ करोड़ रुपये से कुछ अधिक ही होगा।

बड़े पमाने पर विदेशी विनियोग के तीन और उदाहरण हैं—(१) रूरकेला का इस्पात कारखाना, जो पश्चिमी जर्मनी की क्रुप्स एण्ड डिमाग कम्पनी दल के सहयोग से स्थापित होगा, (२) भिलाई का कारखाना, जो सोवियत रूस की सरकार के सहयोग से स्थापित होगा, और (३) दुर्गापुर का कारखाना, जो एक ब्रिटिश इस्पात कम्पनी-दल के सहयोग मे होगा।

सरकारी क्षेत्र की दीर्घकालीन देयता का लेखा निम्नलिखित तालिका से प्रकट होता है (लाख रुपयों में)।[1]

स्रोत	ऋण	प्रतिभूतियां			विविध	कुल योग
		विदेश में भुगतान की जाने वाली	मनोनीत, प्रतिनिधि, अथवा संरक्षक की हैसियत से रखी हुई	ब्याज न पाने वाली और जो परक्राम्य नहीं हैं		
आस्ट्रेलिया	—	—	१०	—	—	१०
बर्मा	—	—	१०१	—	—	१०१
कैनेडा	—	—	१६	—	—	१६
लंका	—	—	२३८	—	—	२३८
पश्चिमी जर्मनी	—	—	—	—	३०७	३०७
जापान	—	—	१	—	१९३	१९४
मलाया	—	—	२०	—	—	२०
न्यूज़ीलैण्ड	—	—	१२	—	—	१२
पाकिस्तान	—	२,८३५	८२	—	—	२,९१७
स्विटजरलैण्ड	—	—	१५	—	४	१९
ब्रिटेन	२,६३३	२६	३७१	—	१८,४४३[2]	२१,४७१
अमरीका	९,०३२	—	७८	—	—	९,११०
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि	—	—	—	२१,२६०	—	२१,२६०
विकास और पुनर्निर्माण का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक	२,१६०	—	—	—	—	२,१६०
अन्य	—	—	३३९	—	६५	४०४
योग	१३,८२५	२,८६१	१,२८७	२१,२६०	१९,०१२	५८,२४५

१ रिज़र्व बैंक द्वारा १९५५ में प्रकाशित 'सर्वे ऑफ इण्डियाज़ लायबिलिटीज़ एण्ड एसेट्स', पृ० ४०।

२ इसमें से १८० ६६ करोड़ रुपया पेंशनों की देयता का पूंजीकृत मूल्य है।

केन्द्रीय सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक के नाम निगमित प्रतिभूतियो का मूल्य २१२ ६० करोड रुपया था और पेन्शन की देयता १८० ९६ करोड रुपये की थी। ये दोनो मिलाकर कुल देयता का ३/५ वाँ भाग होती हैं, जिस पर कोई ब्याज नही मिलता। बाकी देयता अमरीका और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक से प्राप्त ऋण (१११ ६७ करोड रुपया) और केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारो और विदेश में स्थित अन्य सरकारी सस्थाओ की प्रतिभूतियाँ ह (४१ ४८ करोड रुपये)। यहाँ भी सबसे अधिक देयता ब्रिटेन के प्रति है, उसके बाद अमरीका तथा पकिस्तान आते हैं।

§४ भारत की दीर्घकालीन विदेशी आस्तियाँ—३१ दिसम्बर, १९५३ को भारत की दीर्घकालीन आस्तियाँ १,१७५ करोड रुपये थी, जिसमे से १,११२ करोड रुपय की आस्तियाँ सरकारी क्षेत्र मे और बाकी ६३ करोड रुपये की गैर सरकारी क्षेत्र में थी।

सरकारी क्षेत्र की आस्तियाँ

१ सरकारी प्रतिभूतियाँ	३४७ करोड रुपये
२ बर्मा और पाकिस्तान पर ऋण	३०० करोड रुपये
३ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास तथा पुनर्निर्माण बैंक मे जमा किया हुआ भाग	२२९ करोड रुपये

गर सरकारी क्षेत्र की आस्तियाँ

१ सरकारी प्रतिभूतियाँ	२९ करोड रुपये
२ ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनियो के हिस्से और ऋण पत्र	११ करोड रुपय
३ अचल सम्पत्ति	१२ करोड रुपये
४ साधारण ऋण और अग्रिम	७ कराड रुपये

देयता की तरह हमारी आस्तियाँ भी ब्रिटेन और पाकिस्तान मे ही केन्द्रित हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कुल आस्तियो का केवल १ प्रतिशत ही व्यापार में विनियोजित है परन्तु देयता का ४० प्रतिशत विनियोजित है।

यद्यपि विदेशी वित्त के मुख्य स्रोत सरकारें और सस्थाएँ हैं, फिर भी कुछ सहायता विदेशी पूँजीपतियो के भारतीय उद्यमा मे तकसगत तथा पारस्परिक लाभ देने वाली शर्तों पर सम्मिलित होने से प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार के सहयोग तथा शर्तों पर, जिन पर व्यक्ति ऋण देना स्वीकार करत हैं सरकार को विशष आपत्ति रहती है और इस बात की सवत्र शिकायत है कि सरकारी हस्तक्षेप ऐसे मामले में अत्यधिक तथा अवरोधक होता है। ऐसा विचार किया जाता है कि दोना पक्षो को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए ताकि वे पारस्परिक सन्तोषप्रद समझौते पर पहुँच सकें। एक औसत भारतीय व्यापारी अपन हित के प्रति पूर्णत सजग रहता है और किसी विदेशी से लाभप्रद सौदा कर लेने की पूरी क्षमता रखता है। सरकारी नियन्त्रण की जटिल कार्यविधि से अनावश्यक दर लगती है और सरकारी कर्मचारियों में, जा

नियमों के कठोर लौह-ढांचे में काम करते हैं, उस लोच का अभाव है जिसकी जटिल सौदों के करने में अत्यन्त आवश्यकता होती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश के कल्याण की बहुत सी योजनाएँ पूरी नहीं हो पातीं। इसीलिए सरकार ने विदेशी व्यक्तिगत विनियोग सम्बन्धी नीति तथा कार्यविधि की पूरी तौर से जाँच करने का विचार किया है।

ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों और वित्त प्रबन्धकों के शिष्टमण्डल के एक सदस्य श्री जे० मेकाटने ने ६ दिसम्बर, १९५६ को कोयम्बटूर में भाषण देते हुए कहा कि विदेशी पूँजीपतियों को अब "वैसा लाभ प्राप्त नहीं हो सकता जैसा कि पहले हुआ करता था"। अब वे केवल 'उपयुक्त लाभ' की आशा भर करते हैं। उन्हें भय तो केवल 'झुंझला देने वाले नियन्त्रण', राष्ट्रीयकरण की 'राजनीतिक धारणाओं' और 'दण्डात्मक करों' का है। यह तो सरकार का कर्तव्य है कि वह इस बात पर विचार करे कि इस भय को मिटाने के लिए क्या किया जा सकता है। जहाँ तक करों के आरोपण का प्रश्न है, विदेशी पूँजीपति के लिए एक कठिनाई यह है कि उसे दुहरा आय-कर देना पड़ता है। उसे भारतवर्ष में अधिकतम दर से आय-कर देना पड़ता है और अपने देश में भी देना पड़ता है। हाल में इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ उपाय किये गए हैं। ब्रिटेन तथा जर्मनी के पूँजीपतियों के लिए, जो यहाँ विनियोग करना चाहते हैं, ऐसी व्यवस्था कर ली गई है जिससे विदेशियों को दोनों देशों की आयकर-दर के अन्तर के बराबर छूट दे दी जाती है।

वर्तमान सरकारी नीति के अन्तर्गत विदेशी पूँजी केवल उन उद्योगों में ही लगाई जा सकती है जो वास्तव में निर्माण का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार चाहती है कि पूँजी का आयात मशीनों के रूप में हो। इसलिए कभी-कभी कठिनाई पड़ जाती है। इसका यह अर्थ है कि मशीनें उसी देश में खरीदी जायें जहाँ का व्यक्ति पूँजी लगाना चाहता है चाहे दूसरे देश में वे मशीनें सस्ती ही क्यों न मिलें। और फिर विनियोग करने वाले विदेशी के लिए विशेषकर विदेशी वित्तीय सहायता देने वाले कार्यालयों के लिए यह सदा सरल नहीं होता कि आवश्यक मशीनों के खरीदे जाने की व्यवस्था कर सकें। ऐसी संस्थाओं पर ये शर्तें पूरा करने के लिए जोर नहीं देना चाहिए, जिनमें कुछ और अच्छी बातें हों।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह पूर्व धारणा है कि लगभग उसकी कुल वित्तीय आवश्यकता का १५ प्रतिशत विदेशों से पूँजी के रूप में प्राप्त होगा। इसलिए विदेशी पूँजी की महत्ता योजना का मूलाधार है न कि दूर की बात। अनेक आवश्यक परियोजनाएँ जोकि विकास-कार्यक्रम का अंग हैं सफलतापूर्वक कार्यान्विति के लिए विदेशी पूँजी की प्राप्ति और विदेशी विनिमय पर निर्भर करती हैं। १९५६ में सरकार ने विश्व बैंक से काफ़ी ऋण माँगा था, जिसको वह किश्तों में चाहती थी ताकि योजना के कार्यान्वित होने के काल में जैसे-जैसे आवश्यकता हो, धन मिलता जाय। बाद में विश्व बैंक के अध्यक्ष ने भारत के वित्त-मन्त्री को अपने एक पत्र में भारतीय औद्योगिक नीति पर टीका की, जिसको कुछ लोगों ने अनावश्यक और अत्यधिक हस्त

क्षेप करने वाली समझा।[1] ऐसी स्थिति में उन सिद्धान्तो का सक्षेप मे विवरण करना असगत न होगा जो कि विश्व-बैंक को वित्तीय सहायता के लिए आवेदनो पर विचार करते समय अपनाने चाहिएँ।

यह तो कोई कहने की बात नही है कि बैंक को ऋण देते समय एक व्यावसायिक का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। ऋणों की अनुमति देते समय इस बात की सावधानी से जाँच करनी चाहिए कि कही ऋण लेने वाला ऋण चुकाने से मुकर न जाय। फिर भी यह आशा है कि ऋण पाने की योग्यता जानने के लिए आर्थिक दृष्टिकोण होना चाहिए न कि राजनीतिक और किसी हालत में भी किसी देश के प्रति पक्षपात अथवा विरोध की भावना उसके आदर्शों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय नीति आदि के कारण नही दिखानी चाहिए। बैंक को सामान्यत मित्रता और उदारता का व्यवहार करना चाहिए, पिछड़े देशो के विकास के प्रति विशेष रुचि प्रदर्शित करनी चाहिए और उनमे ऐसी बातो की माँग नही करनी चाहिए, जिनका पूरा करना उनके लिए बहुत ही कठिन है। उसका व्यवहार उसके मान्य कर्त्तव्यो के अनुकूल होना चाहिए, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय ऋण देने की प्रणाली को पहले की अपेक्षा दृढ़तर नीव पर स्थापित करने और भेदभाव रहित करने का है।

दो विश्व-युद्धों के कारण पिछड़े हुए देशों में विदेशी विनियोग की स्थिति मे बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन हो गए हैं। १९वी शताब्दी और २०वी शताब्दी के प्रथम चरण में मुख्य ऋण देने वाला देश ब्रिटेन था। उसके दूर देशो तक फैले हुए साम्राज्य के कारण अंग्रेज पूँजीपतियों को अपने अधीन देशा के साधनो का अनुचित लाभ उठाने का अवसर था। इस प्रकार विनियोग करने मे उनका ध्यान अपने निजी लाभ की ओर होता था, और सयोगवश ही उन देशो को कुछ लाभ भी हो जाता था। दो महायुद्धो के कारण अमरीका के अतिरिक्त सभी देश जिनमें ब्रिटेन भी है, निर्धन हो गए। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इन देशो मे, विदेशो में विनियोजित किये जाने के लिए कुछ भी पूँजी न बची थी। सारी पूँजी की अपने ही देश मे पुनर्निर्माण के लिए आवश्यकता थी। उसी समय उधार लेने वाले पिछड़े देशो की महान् राजनीतिक जागृति के कारण ये देश, विदेशी पूँजी के प्रयोग के ढग की, जो अब तक वे रोक उनके साधनों का अनुचित लाभ उठा रहे थे, आलोचना करने लगे। वे विदेशी पूँजी के लाभ को स्वीकार तो करते थे किन्तु अब पूँजी के विनियोग के तरीके तथा शर्तों पर अपना मत प्रगट करने के लिए जोर देने लगे, क्योंकि उनका मुख्य ध्येय अपने देशवासियों का कल्याण तथा आर्थिक विकास था। इन कारणों से पिछड़े हुए देश विनियोग तथा लाभ उठाने के आकर्षक क्षेत्र नहीं रह गए।

वर्तमान परिस्थित में व्यक्तिगत विनियोजक दूर देश के किसी विनियोग मे निहित जोखिम का अनुमान नही लगा सकते। विश्व-सस्थाएँ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक आदि को इस सम्बन्ध मे अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं। ऐसी सस्थाओ पर अमरीका का विशेष प्रभुत्व है जोकि उनका सबसे अधिक धनी और

[1] देखिए, अध्याय २३, §४४।

नियमों के कठोर लोह-ढांचे में काम करते हैं, उस लोच का अभाव है जिसका जटिल सौदों के करने में अत्यन्त आवश्यकता होती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश के कल्याण की बहुत सी योजनाएँ पूरी नहीं हो पाती। इसीलिए सरकार ने विदेशी व्यक्तिगत विनियोग सम्बन्धी नीति तथा कार्यविधि की पूरी तौर से जाँच करने का विचार किया है।

ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों और वित्त प्रबन्धकों के शिष्टमण्डल के एक सदस्य श्री जे० मेकाटने ने ६ दिसम्बर, १९५६ को कोयम्बटूर में भाषण देते हुए कहा कि विदेशी पूँजीपतियों को अब "वैसा लाभ प्राप्त नहीं हो सकता जैसा कि पहले हुआ करता था"। अब वे केवल 'उपयुक्त लाभ' की आशा भर करते हैं। उन्हें भय तो केवल 'झुंझला देने वाले नियन्त्रण, राष्ट्रीयकरण की 'राजनीतिक धारणाओं' और 'दण्डात्मक करों' का है। यह तो सरकार का कर्तव्य है कि वह इस बात पर विचार करे कि इस भय को मिटाने के लिए क्या किया जा सकता है। जहाँ तक करों के आरोपण का प्रश्न है, विदेशी पूँजीपति के लिए एक कठिनाई यह है कि उसे दुहरा आय-कर देना पड़ता है। उसे भारतवर्ष में अधिकतम दर से आय-कर देना पड़ता है और अपने देश में भी देना पड़ता है। हाल में इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ उपाय किये गए हैं। ब्रिटेन तथा जर्मनी के पूँजीपतियों के लिए, जो यहाँ विनियोग करना चाहते हैं, ऐसी व्यवस्था कर ली गई है जिससे विदेशियों को दोनों देशों की आयकर-दर के अन्तर में बराबर छूट दे दी जाती है।

वर्तमान सरकारी नीति के अन्तर्गत विदेशी पूँजी केवल उन उद्योगों में ही लगाई जा सकती है जो वास्तव में निर्माण का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार चाहती है कि पूँजी का आयात मशीनों के रूप में हो। इसलिए कभी-कभी कठिनाई पड़ जाती है। इसका यह अर्थ है कि मशीनें उसी देश में खरीदी जायँ जहाँ का व्यक्ति पूँजी लगाना चाहता है, चाहे दूसरे देश में वे मशीनें सस्ती ही क्यों न मिलें। और फिर विनियोग करने वाले विदेशी के लिए विशेषकर विदेशी वित्तीय सहायता देने वाले कार्यालयों के लिए, यह सदा सरल नहीं होता कि आवश्यक मशीनों के खरीदे जाने की व्यवस्था कर सकें। ऐसी संस्थाओं पर ये शर्तें पूरा करने के लिए जोर नहीं देना चाहिए, जिनमें कुछ और अच्छी बातें हों।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह पूर्व धारणा है कि लगभग उसकी कुल वित्तीय आवश्यकता का १५ प्रतिशत विदेशों से पूँजी के रूप में प्राप्त होगा। इसलिए विदेशी पूँजी की महत्ता योजना का मूलाधार है न कि दूर की बात। अनेक आवश्यक परियोजनाएँ जोकि विकास-कार्यक्रम का अंग हैं, सफलतापूर्वक कार्यान्विति के लिए विदेशी पूँजी की प्राप्ति और विदेशी विनिमय पर निर्भर करती हैं। १९५६ में सरकार ने विश्व बैंक से काफी ऋण माँगा था, जिसको वह किश्तों में चाहती थी ताकि योजना के कार्यान्वित होने के काल में जैसे-जैसे आवश्यकता हो, धन मिलता जाय। बाद में विश्व बैंक के अध्यक्ष ने भारत के वित्त मन्त्री को अपने एक पत्र में भारतीय औद्योगिक नीति पर टीका की, जिसको कुछ लोगों ने अनावश्यक और अत्यधिक हस्त

क्षेप करने वाली समझा।[1] ऐसी स्थिति में उन सिद्धान्तों का संक्षेप मे विवरण करना असंगत न होगा जो कि विश्व-बैंक को वित्तीय सहायता के लिए आवेदनो पर विचार करते समय अपनाने चाहिएं।

यह तो कोई कहने की बात नही है कि बैंक को ऋण देते समय एक व्यावसायिक का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। ऋणों की अनुमति देते समय इस बात को सावधानी से जाँच करनी चाहिए कि कहीं ऋण लेने वाला ऋण चुकाने से मुकर न जाय। फिर भी यह आशा है कि ऋण पाने की योग्यता जानने के लिए आर्थिक दृष्टिकोण होना चाहिए न कि राजनीतिक और किसी हालत में भी किसी देश के प्रति पक्षपात अथवा विरोध की भावना उसके आदर्शों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय नीति आदि के कारण नहीं दिखानी चाहिए। बैंक को सामान्यत मित्रता और उदारता का व्यवहार करना चाहिए, पिछड़े देशों के विकास के प्रति विशेष रुचि प्रदर्शित करनी चाहिए और उनसे ऐसी बातो की माँग नहीं करनी चाहिए, जिनका पूरा करना उनके लिए बहुत ही कठिन है। उसका व्यवहार उसके मान्य कर्त्तव्यो के अनुकूल होना चाहिए, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय ऋण देने की प्रणाली को पहले की अपेक्षा दृढ़तर नींव पर स्थापित करने और भेदभाव रहित करने का है।

दो विश्व युद्धों के कारण पिछड़े हुए देशों में विदेशी विनियोग की स्थिति मे बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन हो गए हैं। १९वीं शताब्दी और २०वी शताब्दी के प्रथम चरण में मुख्य ऋण देने वाला देश ब्रिटेन था। उसके दूर देशों तक फैले हुए साम्राज्य के कारण अंग्रेज पूँजीपतियों को अपने अधीन देशों के साधनो का अनुचित लाभ उठाने का अवसर था। इस प्रकार विनियोग करने मे उनका ध्यान अपने निजी लाभ की ओर होता था, और संयोगवश ही उन देशो को कुछ लाभ भी हो जाता था। दो महायुद्धो के कारण अमरीका के अतिरिक्त सभी देश जिनमें ब्रिटेन भी है निर्धन हो गए। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इन देशो में, विदेशो में विनियोजित किये जाने के लिए कुछ भी पूँजी न बची थी। सारी पूँजी की अपने ही देश मे पुनर्निर्माण के लिए आवश्यकता थी। उसी समय उधार लेने वाले पिछड़े देशों की महान् राजनीतिक जागृति के कारण ये देश, विदेशी पूँजी के प्रयोग के ढंग की, जो अब तक ये रोक उनके साधनो का अनुचित लाभ उठा रहे थे, आलोचना करने लगे। वे विदेशी पूँजी के लाभ को स्वीकार तो करते थे, किन्तु अब पूँजी के विनियोग के तरीके तथा शर्तों पर अपना मत प्रगट करने के लिए जोर देने लगे, क्योंकि उनका मुख्य ध्येय अपने देशवासियो का कल्याण तथा आर्थिक विकास था। इन कारणों से पिछड़े हुए देश विनियोग तथा लाभ उठाने के आकर्षक क्षेत्र नहीं रह गए।

वर्तमान परिस्थित में व्यक्तिगत विनियोजक दूर देश के किसी विनियोग में निहित जोखिम का अनुमान नही लगा सकते। विश्व-संस्थाएँ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक आदि को इस सम्बन्ध मे अधिक सुविधाएँ प्राप्त है। ऐसी संस्थाओं पर अमरीका का विशेष प्रभुत्व है जोकि उनका सबसे अधिक धनी और

१ देखिए, अध्याय २१, ई५४।

शक्तिशाली सदस्य है, और इस बात पर सन्देह निराधार नहीं कि इनकी नीति पर अमरीका की राजनीतिक धारणा की छाया है। अधिकांश ऋण सरकारों द्वारा अन्य सरकारों को ही दिया जाता है। सबसे बडा ऋणदाता अमरीका है। यहाँ राजनीतिक और सैनिक स्वार्थ की भावना का प्रभाव निश्चित रूप से दिखाई पड रहा है, और इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि अमरीका उन्हीं देशों को ऋण देता है जो उसके साथी हैं या सोवियत रूस के विरोधी हैं, बजाय उन देशों के जो भारत की तरह तटस्थ हैं या किसी गुट में शामिल होना नहीं चाहते।[1] कुछ दिनों से अमरीका और सोवियत रूस में इस सम्बन्ध में विशेष प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई है और वे प्रत्येक तटस्थ देश से मैत्री करने के लिए उसे वित्तीय तथा औद्योगिक सहायता देने में होड लगा रहे हैं। इस सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्वी बराबर के नहीं हैं, क्योंकि दोनों में से अमरीका अधिक शक्तिशाली है। इसलिए भारत आशा कर सकता है कि उसे अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के लिए अमरीका से निरंतर और पर्याप्त मात्रा में सहायता मिलती रहेगी।[2]

१ इस बात को अस्वीकार करना मूर्खता होगी कि अमरीका जैसे धनी देश भारत जैसे निर्धन देशों को विशुद्ध परोपकार की भावना से प्रेरित होकर सहायता देते हैं।

२ दिसम्बर, १९५६ की नेहरू आइज़नहावर वार्ता के बाद से यह आशा बढ़ गई है, क्योंकि दोनों देश एक-दूसरे के दृष्टिकोण तथा नीति को पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझने लगे हैं।

परिशिष्ट ५

पुनर्गठित राज्य

राज्य पुनर्गठन अधिनियम के अनुसार, जो १ नवम्बर, १९५६ से लागू हुआ, निम्न राज्यों की स्थापना हुई—

राज्य	क्षेत्रफल वर्गमीलों में	जनसंख्या[1]
भाग 'क' राज्य		
आन्ध्र प्रदेश	१,०५,९६२	३,१२,६०,१३३
आसाम	८५,०१२	९०,४३,७०७
बिहार	६७,१६४	३,८७,७९,५६२
बम्बई	१,९०,९१९	४,८२,६५,२२१
केरल	१५,०३५	१,३५,४९,११८
मध्यप्रदेश	१,७१,२०१	२,६०,७१,६३७
मद्रास	५०,११०	२,९९,७४,९३६
मैसूर	७४,३४७	१,९४,०१,१९३
उड़ीसा	६०,१३६	१,४६,४५,९४६
पंजाब	४७,४५६	१,६१,३४,८९०
राजस्थान	१,३२,०७८	१,५९,७०,७७४
उत्तर प्रदेश	१,१३,४०९	६,३२,१५,७४२
पश्चिमी बंगाल	३३,९५८	२,६३,०६,६०२
योग	११,४६,७८७	३५,२६,१९,४६१
भाग 'ख' राज्य		
जम्मू और काश्मीर	९२,७८०	४०,२१,६१६
भाग 'ग' राज्य		
अण्डमान और नीकोबार द्वीपू	३,२१५	३०,९०१
दिल्ली	५७८	१७,४४,०७२
हिमाचल प्रदेश	१० ९०४	११,०९,४६६

१ १९५१ की जनगणना।

२ १९४१ की जनगणना (जिसमें आदिम जाति क्षेत्र शामिल नहीं है)।

राज्य	क्षेत्रफल वर्गमीलों में	जनसंख्या
लक्का द्वीप, मिनीक्वाय और अमीन द्वीप	१०	२१,०३५
मनीपुर	८,६२८	५,७७,६३५
पाण्डिचेरी, माही, कारीकल, यनाम	१६६	३,१७,२५६
त्रिपुरा	४,०३२	६,३६,०२६
योग	२७,५६३	४४,३६,४६७
कुल योग	१२,६७,१३०	३६ १०,८०,५४४

पश्चिमी वगाल और बिहार की सीमा, पश्चिमी वगाल और बिहार (राज्य क्षेत्र स्थानान्तरण) अधिनियम, १९५६ द्वारा नियत की गई।

परिशिष्ट ६

दशमिक मुद्रा

भारतीय टंकन (संशोधन) अधिनियम, १९५५ के अन्तर्गत भारत सरकार दशमिक मुद्रा प्रणाली को चालू कर सकी और बाद में सरकार ने यह अधिसूचना निकाली कि दशमिक मुद्रा का चलन १ अप्रैल, १९५७ से आरम्भ हो जायगा। धीरे-धीरे पूर्ण परिवर्तन हो जायगा और इसकी अवधि ३ वर्ष की होगी। इस बीच पुराने सिक्के वापस ले लिये जायेंगे और उनके स्थान पर नये निर्गमित किये जायेंगे।

दो आना, एक आना, आध आना और एक पैसे के सिक्के धीरे धीरे लुप्त हो जायेंगे, जिनके ठीक बराबर का कोई सिक्का नई दशमिक प्रणाली में न होगा। उनका स्थान क्रमश: १०, ५, २ और १ नये पैसे के सिक्के ले लेंगे। ये सिक्के वास्तव में १ अप्रैल, १९५७ से ही चालू हो गए हैं। सरकार की योजना इसी के साथ अधिक मूल्य वाले सिक्का-२५, ५० और १०० नये पैसे के मूल्य वाले सिक्कों—के निर्गमन की है। जब तक ये नये सिक्के निर्गमित नहीं किये जाते, वर्तमान चवन्नी, अठन्नी और रुपया चलन में रहेंगे।

सिक्कों के विभिन्न मूल्य निम्न होंगे—

१ नया पैसा	२५ नये पैसे
२ नये पैसे	५० नये पैसे
५ नये पैसे	१०० नये पैसे
१० नये पैसे	

यद्यपि सामान्य व्यापारिक प्रयोजनों के लिए यह निश्चय किया गया कि दोनों प्रकार के सिक्के साथ-ही साथ १ अप्रैल, १९५७ से उस समय तक चलन में रहेंगे जब तक कि पुराने सिक्के पूर्ण रूप से वापस न कर लिये जायें, परन्तु सरकारी हिसाब १ अप्रैल, १९५७ से ही नये सिक्कों में होना आरम्भ हो गया है।

दशमिक सिक्का का प्रयोग नाप की इकाइयों में भी दशमिक प्रणाली के प्रयोग किये जाने की ओर पहला कदम है।

पारिभाषिक शब्दावली

हिंदी—अंग्रेजी

अंशदान Contribution
अकुशलता Inefficiency
अखाद्य तेल Non edible Oils
अखिल भारतीय ग्रामीण साख (ऋण) सर्वेक्षण All India Rural Credit Survey
अग्रिम Advances
अतिरेक Surplus
अध्यादेश Ordinance
अधिकर Supertax
अधिकोष Banking
अधि भार Surcharge
अधिनियम Act
अधिमान Preference
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि International Monetary Fund
अन्तर्राष्ट्रीय योजना दल International Planning Team
अन्तर्विभाजन Subdivision
अनुदान Grants
अनुपस्थायिता Absenteeism
अनुमति पत्र Licence
अनुसूची Schedule
अनुसूचित बैंक Scheduled Bank
अनुसंधान Research
अनुज्ञप्ति Licence
अपखण्डन Fragmentation
अपील न्यायालय Appellate Tribunal
अबाध नीति Laissez faire Policy
अभिकरण Agency
अभिसमय Convention
अर्थशास्त्र Economics
अर्थ साहाय्य Subvention
अवधि Team
अवमूल्यन Devaluation
अवक्षयण Depreciation
अस्थायी Temporary
अस्थायी बेकारी Frictional Unemployment
आंकड़े Figures, Data
आगम Receipts
आधारभूत Basic, fundamental
आन्तरिक आवास प्रवास Internal Migration
आन्दोलन Movement, Campaign
आर्थिक जोत Economic holding
आय Income, Revenue, Receipts
आयात Import
आयोग Commission
आयोजन Planning
आवटन Allocation
आवास Housing
इकाई Unit
उड्डयन Aviation
उत्पादन Production
उत्पादन शक्ति Productivity
उत्पादन शुल्क Excise Duty
उद्विकास Evolution
उत्तराधिकार Succession
उद्देश्य Objective, Purpose

उधार Credit
उधार पट्टा Lend lease
उद्यम Enterprize
उद्यमी Entrepreneur
उद्योग Industry
उद्योग रक्षा नीति Fiscal Policy
उपज Yield
उपसमिति Sub-Committee
उपाय Measures
उर्वरक Fertilizer
ऋण Loan, Advances, Credit
ऋणिता Indebtedness
ऋणपत्र Debentures
एकक Unit
एकीकरण Integration
औजार Implements
औद्योगिक विवाद/विग्रह Industrial Disputes
कटौती Deduction
कर Tax
करदेय क्षमता Taxable Capacity
कर निधारण Assessment
कर-बाधता Incidence
कराधान Taxation
कर्मचारी Personnel, Employees
कर्मचारी राज्य बीमा निगम Employees State Insurance Corporation
कल्याण कार्य Welfare activities
क्रम पद्धति Slab System
क्रमबन्धन Grading
कारक Factor
कारखाना Factory
कारखाना-अधिनियम Factory Acts
कारण Factor
कुटीर उद्योग Cottage Industry
कुशलता Efficiency
केन्द्रीय बैंक Central Bank
कोष Fund, Chest
कृषि Farming

कृषि Agriculture
कृत्रिम Artificial
खण्ड पद्धति Step System
खाद Manure
खानें Mines
गैर-सरकारी क्षेत्र Private Sector
ग्राम सेवक Village level workers
ग्रामीण Rural
ग्रामोद्योग Village Industry
घनत्व Density
घाटा Deficit
घाटे की अर्थ व्यवस्था Deficit financing
घिसाई Depreciation
चमड़ा रंगने का उद्योग Tanning Industry
चलन Circulation
चलार्थ Currency
छँटनी Retrenchment
छूट Remission
छोटे पैमाने के उद्योग Small scale Industry
जनसंख्या Population
जनाधिक्य Over population
जमा Deposit
जलपथ Waterways
जलविद्युत् Hydro-electric Power
जाँच Enquiry
जिला बोर्ड District Board
जीवन की आशा Expectation of life
जीविका Livelihood
जोत Holding
टंकन Coinage
टंकनशाला Mint
टकसाल Mint
ढाँचा Pattern
तदर्थ *Ad hoc*
तेजी Boom
तेल निकालने का उद्योग Oil Milling Industry
दर Rates

दस्तकारी Handicrafts
दाय Inheritance
दशमिक सिक्के Decimal Coinage
दीवानी कानून Civil law
नगरपालिका Municipality
नदी घाटी योजनाएँ / परियोजनाएँ River valley Projects
नमूना Pattern
निगम Corporation
निधि Fund
नियम Rule
निर्यात Export
नियोजक Employer
निरोधा Quarantine
निवृत्ति वेतन Pension
निष्क्रयण Redemption
निक्षेप Deposit
नीति Policy
न्यायाधिकरण Tribunal
न्यायालय Court, Tribunal
न्यूनतम पारिश्रमिक अधिनियम Minimum Wages Act
नौवहन Shipping
पचवर्षीय योजना Five Year Plan
पचाट Award
परमानुगृहीत राष्ट्र Most favoured Nation
पराक्रमण Devolution
परियोजना Project
परिवहन Transport
परिवार आयोजन Family Planning
परिषद् Board Council
परीक्षणावधि Probation
पशु-चिकित्सक कर्मचारी Veterinary personnel
पशुधन Livestock
पत्रोद्‌भव आस्तियाँ Portfolio assets
पारिश्रमिक Wages, Emoluments
पुनम निष्ठापन Rehabilitation
पुनर्वास Rehabilitation
पुनस्थापन Rehabilitation
पुनर्समूहीकरण Regrouping
पूँजी-लाभ-कर Capital gains tax
पौण्ड पावना Sterling balances
प्रकार Quality
प्रणाली System
प्रत्यक्ष कराधान Direct taxation
प्रतिगामिता Regression
प्रतिभूति Guarantee, Security
प्रति व्यक्ति Per capita
प्रदेश Region
प्रबन्ध Management
प्रभाव Impact
प्रवासी श्रम Emigrant labour
प्रशासन Administration
प्रशासनिक सुधार Administrative Reform
प्रशिक्षण Training
प्रशिक्षणार्थी Apprentice
प्रशुल्क Tariff
प्रसार Broadcasting
प्रसूति-लाभ Maternity Benefits
प्रगामिता Progression
प्राप्ति Receipts
प्रारम्भिक सहकारी समिति Primary Cooperative Society
फसल Crop
बचत-का सञ्जन Mobilization of Savings
बड़े पैमाने के उद्योग Large scale Industry
बहु उद्देश्यीय Multipurpose
बहु-प्रयोजनीय Multipurpose
बीमा Insurance
बुनियादी Basic
बेकारी Unemployment
भविष्य निधि Provident Fund
भाण्डागार Warehousing
भार Weights

भारत का राज्य बैंक State Bank of India
भुगतान Payment
भू धृति Land Tenure
भू-बंधक बैंक Land Mortgage Banks
भूमि का कटाव Soil erosion
भूमि-संरक्षण Soil conservation
भू-राजस्व Land Revenue
मुआविजा Compensation
मण्डल Board
मजदूर संघ Trade Union
मजूरी Wage
मन्दी Depression
मद Item
मधुमक्खी पालन Bee keeping
मशीनी औजार Machine Tools
महानुमाप उद्योग Large-scale Industry
मध्यागार व्यापार Entrepot trade
माप Measures
माल के डिब्बे Wagons
मालगुजारी बन्दोबस्त Revenue Settlement
मालिक Employer
मालिक श्रमिक समिति Works Committee
मिलबन्दी Lock out
मुद्रा विस्फीति Deflation
मुद्रास्फीति Inflation
मूल्यानुसार *ad valorem*
मूल्यों का उतार-चढ़ाव Price movements
मौलिक Fundamental
मौसमी Seasonal
यातायात Communications, Traffic
यात्री डिब्बे *Coaching vehicles*
योजना Scheme, Plan, Project
रसायन Chemical
रक्षा Protection
रक्षित कोष Reserve
राज्य क्षेत्र Territory
राष्ट्रीय आय National income
राष्ट्रीयकरण Nationalization
राष्ट्रीय मार्ग National Highways
राष्ट्रीय विस्तार सेवा National Extension Service
रोजगार Employment
लगान Land Revenue
लघु उद्योग Small scale Industry
लाभांश Dividend
लेखा Account
लेखा परीक्षण Auditing
वर्गीकरण Classification
वर्ष भर चलने वाले कारखाने Perennial Factories
वाणिज्यिक Commercial
वार्षिकी Annuity
विकास Development
विकेन्द्रीकरण Decentralization
वित्त व्यवस्था Public finance
विदेश-गमन Emigration
विदेशी व्यापार Foreign trade
विधान Law, Legislation
विधेयक Bill
विनिमय बैंक Exchange Bank
विनिमय-दर *Exchange rate*
विनियम Regulation
विनियोग Investment
वेतन Salary
विपणन Marketing
विप्रेषण Remittance
विभेदकारी Discriminate
विमान Aircraft
विमति टिप्पण Note of Dissent
वृत्ति Trade
व्यपगत Lapse
व्यय *Outlay*
व्यवहार Practice
व्यवस्था Settlement
व्यवसाय Trade

व्यापार Trade
व्यापार संतुलन Balance of trade
शक्तियाँ Powers
शीर्ष Head
शीर्ष बैंक Apex Banks
शुल्क Duty
श्रम Labour
श्रम विधान Labour legislation
श्रम-सम्बन्ध Labour relations
संक्रमण काल Transition
संक्रमणकालीन Transitional
संग्रहन Storage
संचय Pool
संचार Communications
संयुक्त स्कन्ध / पूँजी बैंक Joint Stock Banks
संरचना Composition
संरक्षण Protection
संविधि Statute
संविहित Statutory
संस्था Organization, Association
संस्थान Establishments
संसाधन Resources
सम्पदा शुल्क Estate Duty
सर्वतोमुखी Integrated
सर्वेक्षण Survey
समझौता Conciliation
सम दर Flat rate
सम मूल्य Par value
समन्वय Co-ordination
समाज Society
समायोजन Adjustment
समाशोधन संस्था Clearing House
समिति Committee
समुचित संशोधनों के साथ *Mutatis mutardis*
समुदाय Community
सरकारी ऋण Public Debt
सरकारी क्षेत्र Public Sector
सहकारी Co-operative
सहकारी ऋण / उधार समिति Co-operative Credit Society
सहकारिता Co-operation
सहायक Subsidiary
सहायता अनुदान Grants-in aid
सांख्यिकी सामग्री Statistical data
साख Credit
साधन Resources
साम्राज्यीय अधिमान Imperial preference
सामाजिक बीमा Social Insurance
सामुदायिक परियोजना / योजना Community Projects
सामुदायिक विकास Community Development
साथ Company, Firm
साहूकार Moneylender
साहाय्य Subsidy
साक्ष्य Evidence
सिंचाई Irrigation
सिक्के Coins
सूदखोरी Usury
स्थगन Suspension
स्थानीय निकाय Local bodies
स्थायित्व Stabilization
स्थायी Permanent
स्वयंसेवी संस्थाएँ Voluntary organizations
स्वर्ण पिंड मान Gold Bullion Standard
स्वर्ण विनिमय मान Gold exchange standard
स्वामित्व अधिकार Proprietary rights
स्वायत्त शासन Local self Government
स्रोत Resources
हड़ताल Strike
हवाई जहाज Aircraft
हस्तशिल्प Handicrafts
हाथकरघा Handloom
हिस्से Stock, Shares
हुंडी Bill

क्षतिपूर्ति Compensation
क्षेत्र Zone
क्षेत्रफल Area
त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन Tripartite Labour Conferenece
ज्ञापन Memorandum

अंग्रेजी—हिंदी

Absenteeism अनुपस्थितिता
Account लेखा
Act अधिनियम
Ad hoc तदर्थ
Adjustment समायोजन
Administration प्रशासन
Administrative Reforms प्रशासनिक सुधार
ad valorem मूल्यानुसार
Advances अग्रिम, ऋण
Agencies एजेंसियाँ, अभिकरण
Agriculture कृषि
Aircraft विमान, हवाई जहाज
All India Rural Credit Survey अखिल भारतीय ग्रामीण साख (ऋण) सर्वेक्षण
Allocation आवंटन
Annuity वार्षिकी
Apex Banks शीर्ष बैंक
Appellate Tribunal अपील-न्यायालय
Apprentice प्रशिक्षणार्थी
Area क्षेत्रफल
Artificial कृत्रिम
Assessment कर निर्धारण
Association सभा, संस्था
Auditing लेखा-परीक्षण
Aviation उड्डयन
Award पंचाट
Balance of Trade व्यापार-संतुलन
Banking अधिकोषण
Basic बुनियादी, आधारभूत
Bee keeping मधुमक्खी पालन
Bill हुण्डी, अधिनियमक
Board मंडल, परिषद्, बोर्ड
Boom तेजी
Broadcasting प्रसार
Campaign आन्दोलन
Capital gains tax पूँजी-लाभ-कर
Central Bank केन्द्रीय बैंक
Chemical रसायन
Chest कोष
Circulation चलन
Civil law दीवानी कानून
Classification वर्गीकरण
Clearing house समाशोधन संस्था
Coaching Vehicles यात्री डिब्बे
Coinage टंकन
Coins सिक्के
Commercial वाणिज्यिक
Committee समिति
Communications संचार, यातायात
Community समुदाय
Community Development सामुदायिक विकास
Community Projects सामुदायिक परियोजना/योजना
Commission आयोग
Conciliation समझौता
Contribution अंशदान
Convention अभिसमय
Company संघ, कम्पनी
Compensation क्षतिपूर्ति, मुआविजा
Composition संरचना
Co-operation सहकारिता
Co operative सहकारी

Co operative Credit Society सहकारी ऋण/उधार समिति
Coordination समन्वय
Corporation निगम
Cottage Industry कुटीर उद्योग
Council परिषद्
Credit ऋण, उधार, साख
Crop फसल
Currency चलाथ
Data आंकड़े, सामग्री
Debentures ऋण पत्र
Decentralization विकेन्द्रीकरण
Decimal Coinage दशमिक सिक्के
Deduction कटौता
Deficit घाटा
Deficit financing घाटे की अर्थ-व्यवस्था
Deflation मुद्रा विस्फीति
Density घनत्व
Deposit निक्षेप, जमा
Depreciation अवक्षयण, घिसाई
Depression मन्दी
Devaluation अवमूल्यन
Development विकास
Devolution पराक्रमण
Direct taxation प्रत्यक्ष कराधान
Discriminate विभेदकारी
District Board जिला बोर्ड
Dividend लाभांश
Duty शुल्क
Economics अर्थशास्त्र
Economic Theory अर्थशास्त्र के सिद्धान्त
Economic holding आर्थिक जोत
Efficiency कुशलता
Emigrant labour प्रवासी श्रम
Emigration विदेश-गमन
Emoluments पारिश्रमिक
Employee कर्मचारी, मजदूर
Employees State Insurance Corporation कर्मचारी राज्य बीमा निगम
Employer मालिक, नियोजक
Employment रोजगार, काम
Enquiry जाँच
Entrepreneur उद्यमी
Entrepot trade मध्यागार व्यापार
Enterprize उद्यम
Establishments संस्थापन
Estate Duty सम्पदा शुल्क
Evidence साक्ष्य
Evolution उद्विकास
Exemption विमुक्ति
Exchange Bank विनिमय बैंक
Exchange rate विनिमय-दर
Excise Duty उत्पादन शुल्क
Expectation of life जीवन की आशा
Export निर्यात
Factor कारक, कारण
Factory कारखाना
Factory Act कारखाना अधिनियम
Family Planning परिवार आयोजन
Farming कृषि
Figures आंकड़े
Firm फार्म
Fiscal Policy उद्योग रक्षा नीति, राजकोषीय नीति
Five Year Plan पंचवर्षीय योजना
Fertilizer उवरक
Flat rate सम-दर
Foreign trade विदेशी व्यापार
Fragmentation अपखण्डन
Frictional Unemployment अस्थायी बेकारी
Fund निधि, कोष
Fundamental मौलिक
Gold Bullion Standard स्वर्ण पिंड मान
Gold Exchange Standard स्वर्ण-विनिमय-मान
Grading श्रेणीबन्धन
Grants अनुदान

Grants in aid सहायता-अनुदान
Guarantee प्रतिभूति
Handicrafts हस्तशिल्प, दस्तकारी
Handloom हाथकरघा
Head शीर्ष
Holding जोत
Housing आवास
Hydro-electric Power जलविद्युत्
Impact प्रभाव
Imperial preference साम्राज्यीय अधिमान
Implements औजार
Import आयात
Incidence कर-पाद्यता
Indebtedness ऋणता
Industrial Disputes औद्योगिक विवाद विग्रह
Industry उद्योग
Inefficiency अकुशलता
Inflation मुद्रास्फीति
Inheritance दाय
Irrigation सिंचाई
Insurance बीमा
Integrated सर्वतोमुखी
Integration एकीकरण
Internal Migration' आन्तरिक आवास प्रवास
International Monetary Fund अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि
International Planning Team अन्तर्राष्ट्रीय योजना दल
Investment विनियोग
Item मद
Joint Stock Banks संयुक्त स्कन्ध बैंक संयुक्त पूँजी बैंक ।
Labour श्रम
Labour Legislation श्रम विधान
Labour relations श्रम-सम्बन्ध
Laissez faire Policy अबाध नीति
Land Mortgage Banks भू-बन्धक बैंक
Land Revenue भू राजस्व, लगान
Land Tenure भू धृति
Lapse व्यपगत
Large Scale Industry महानुमाप, बड़े पैमाने के उद्योग
Law विधान, कानून
Legislation विधान
Lend Lease उधार पट्टा
Licence अनुज्ञप्ति, अनुमतिपत्र, लाइसेंस
Livelihood जीविका
Livestock पशुधन
Loan ऋण
Local bodies स्थानीय निकाय
Local Self Government स्वायत्त शासन
Lock-out मिलबन्दी
Machine Tools मशीनी औजार
Management प्रबन्ध
Manure खाद
Marketing विपणन
Maternity Benefits प्रसूति लाभ
Measures उपाय, माप
Memorandum ज्ञापन
Mines खानें
Minimum Wages Act न्यूनतम पारिश्रमिक अधिनियम
Mint टकसाल, टंकनशाला
Mobilization of Savings बचत का संग्रहण
Moneylender साहूकार
Most favoured Nation परमानुगृहीत राष्ट्र
Movement आन्दोलन
Multipurpose बहु उद्देशीय, बहु प्रयोजनीय
Municipality नगरपालिका
Mutatis mutandis समुचित संशोधनों के साथ
National Extension Service राष्ट्रीय विस्तार सेवा

National Highways राष्ट्रीय मार्ग
National income राष्ट्रीय आय
Nationalization राष्ट्रीयकरण
Non edible Oils अखाद्य तेल
Note of Dissent विमति टिप्पण
Objective उद्देश्य
Oil Milling Industry तेल निकालने का उद्योग
Ordinance अध्यादेश
Organisation संस्था
Outlay व्यय
Overpopulation जनाधिक्य
Par value सम मूल्य
Pattern नमूना, ढांचा
Payment भुगतान
Pension निवृत्ति वेतन
Per capita प्रतिव्यक्ति
Perennial Factories वर्ष भर चलने वाले कारखाने
Permanent स्थायी
Personnel कर्मचारी
Plan योजना
Planning आयोजन
Policy नीति
Pool संचय
Population जनसंख्या
Portfolio assets पत्रोद्दिष्ट आस्तियाँ
Powers शक्तियाँ
Practice व्यवहार
Preference अधिमान
Price Movements मूल्यों का उतार चढ़ाव
Primary Co-operative Societies प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ
Private Sector गैर सरकारी क्षेत्र
Probation परीक्षणावधि
Production उत्पादन
Productivity उत्पादन शक्ति
Progression प्रगामिता

Project योजना, परियोजना
Proprietary Rights स्वामित्व अधिकार
Protection रक्षण, संरक्षण
Provident Fund भविष्य निधि
Public Debt सरकारी ऋण
Public Finance वित्त व्यवस्था
Public Sector सरकारी क्षेत्र
Quality प्रकार
Quarantine निरोधा
Rates दर
Receipts आगम, प्राप्ति, आय
Redemption निष्क्रयण
Region प्रदेश
Regression प्रतिगामिता
Regrouping पुनर्संमूहीकरण
Regulation विनियम
Rehabilitation पुनर्वास, पुनर्स्थापन, पुनःप्रतिष्ठापन
Remission छूट
Remittance विप्रेषण
Research अनुसंधान
Reserve रक्षित कोष
Resources स्रोत, साधन, संसाधन
Retrenchment छटनी
Revenue Settlement भूराजस्व (मालगुजारी) बन्दोबस्त / व्यवस्था
River Valley Projects नदी घाटी योजनाएँ / परियोजनाएँ
Rule नियम
Rural ग्रामीण
Salary वेतन
Schedule अनुसूची
Scheduled Bank अनुसूचित बैंक
Scheme योजना
Seasonal मौसमी
Security प्रतिभूति
Shares हिस्से
Shipping नौ-वहन, जहाजरानी

Slab System क्रम पद्धति
Small scale Industry
लघु अनुमाप / छोटे पैमाने के उद्योग
Social Insurance सामाजिक बीमा
Society समाज
Soil Conservation भूमि संरक्षण
Soil erosion भूमि का कटाव
Stabilization स्थायित्व
State Bank of India भारत का राज्य बैंक
Statistical data सांख्यिकी सामग्री
Statute संविधि
Statutory संविहित
Step System खण्ड-पद्धति
Sterling balances पौंड पावना
Stock हिस्से
Storage संग्रहण
Strike हड़ताल
Sub-Committee उप-समिति
Sub-division अन्तर्विभाजन
Subsidiary सहायक
Subsidy साहाय्य
Subvention अर्थ-साहाय्य
Succession उत्तराधिकार
Super tax अधिकर
Surcharge अधिभार
Surplus अतिरेक
Survey सर्वेक्षण
Suspension स्थगन
System प्रणाली
Tanning Industry चमड़ा रंगने का उद्योग
Tariff प्रशुल्क
Tax कर
Taxable capacity करदेय क्षमता
Taxation कराधान
Temporary अस्थायी
Term अवधि
Territory राज्य क्षेत्र
Trade व्यापार, व्यवसाय, वृत्ति
Trade Union मजदूर संघ
Traffic यातायात
Training प्रशिक्षण
Transition संक्रमण काल
Transitional संक्रमणकालीन
Transport परिवहन
Tribunal न्यायालय, न्यायाधिकरण
Tripartite Labour Conference
त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलन
Unemployment बेकारी
Unit इकाई, एकक
Usury सूदखोरी
Veterinary Personnal
पशु चिकित्सक कर्मचारी
Village Industry ग्रामोद्योग
Village level workers ग्राम सेवक
Voluntary organization स्वयंसेवी संस्थाएं
Wage पारिश्रमिक, मजूरी
Wagons माल के डिब्बे
Warehousing मालगोदाम
Waterways जलपथ
Weights भार
Welfare activities कल्याण कार्य
Works Committee मालिक-श्रमिक समिति
Yield उपज
Zone क्षेत्र

अनुक्रमणिका